जातक

[पञ्चम खण्ड]

अनुवादक
भदन्त आनन्द कौसल्यायन



हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

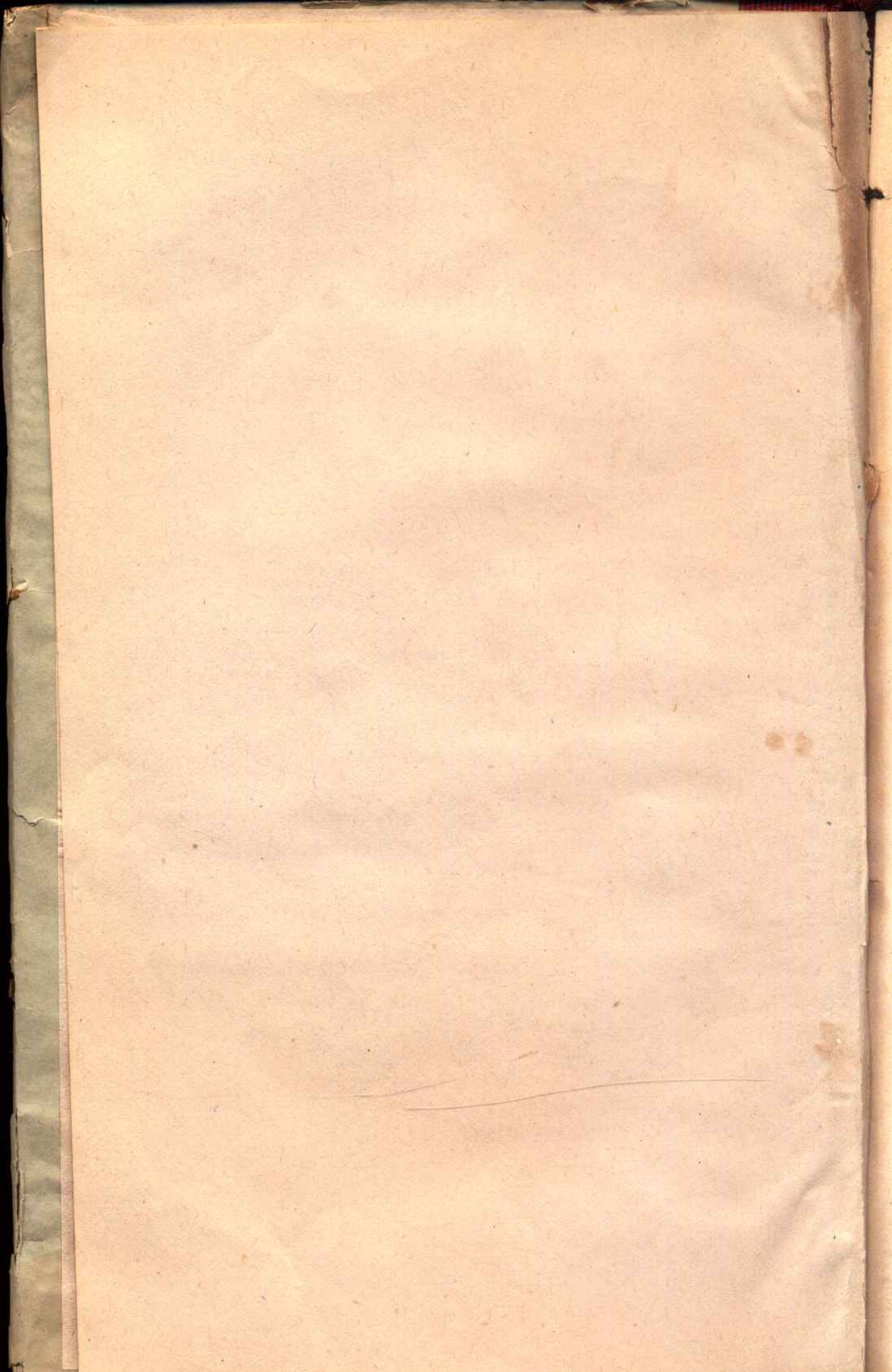
जातक

[पञ्चम खण्ड]

भदन्त आनन्द कौसल्यायन



हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग
१२-सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद



जातक

पञ्चम खण्ड

जातक

(पञ्चम खण्ड)

अनुवादक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन



शक १८१७ : सन् १८८५ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशक
डॉ० प्रभात मिश्र शास्त्री
प्रधानमंत्री : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रतियाँ : ११००
संस्करण : तृतीय
प्रकाशन वर्ष : १९९५ ई०
मूल्य : ११० रुपये मात्र



मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने जातक के पञ्चम खण्ड का प्रकाशन संवत् २०१४ में किया था। इस अनुवाद के माध्यम से जिज्ञासु पाठकों ने जातक के बौद्ध साधना, संस्कृति और आख्यान का आस्वाद प्राप्त किया है। स्वाधीन भारत में बौद्ध-साहित्य के गहन अध्ययन में अध्येता प्रवृत्त हुए हैं और जातकों की कथाओं ने सहृदय पाठकों, सुधी विद्वानों को आकर्षित किया है। अतएव जातक के सभी भागों का पुनर्मुद्रण किया जा रहा है। जातक का पञ्चम खण्ड सुधी पाठकों और तत्वान्वेषी विज्ञजनों की ज्ञान-तृप्ति हेतु प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता एवं गौरव का अनुभव करते हैं।

डॉ० भगवतीप्रसाद शुक्ल

साहित्यमन्त्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्राक्कथन

सन् ५१ में जातक का प्राक्कथन लिखते समय आशा थी कि जातक का पञ्चम खण्ड अपेक्षाकृत शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेगा। किन्तु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के नियमानुसार इस खण्ड के अनुवाद और प्रकाशन-कार्य में भी पर्याप्त समय लग ही गया।

इस खण्ड का अधिकांश अनुवाद-कार्य धर्मोदय बिहार, कालिम्पोंग में रहते समय ही हुआ और छपने के समय प्रूफादि देखने में एकाधिक-सहायकों ने मुझे अपना कृतज्ञ बनाया।

अपने अन्तेवासिक श्री दीनदयाल 'दिनेश' का मैं विशेष-रूप से कृतज्ञ हूँ।

जातक के अन्तिम खण्ड के अधिकांश का भी अनुवाद हो सका है, विश्वास है कि वह भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा।

इन दोनों खण्डों के यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित करने की व्यवस्था कर देने के लिए मैं सम्मेलन का विशेष कृतज्ञ हूँ।

धर्मोदयबिहार
कालिम्पोङ्ग
२३-७-५४

—आनन्द कौसल्यायन

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

इक्कीसवाँ परिच्छेद

अस्सीवाँ वर्ग

⊙

५०१. रोहन्त मिग जातक

"एते यूथा पतीयन्ति . . ." यह शास्ता ने वेलुवन में विहार करते समय, आयुष्मान् आनन्द के जीवन-परित्याग के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उसके जीवन-परित्याग (की कथा) अस्सीवें परिच्छेद में चुल्लहंस जातक[1] में धनपाल के दमन में आयेगी। इस प्रकार उस आयुष्मान् के शास्ता के लिए जीवन-परित्याग करने पर धर्मसभा में बातचीत चली--"आयुष्मानों! आयुष्मान् आनन्द ने शैक्ष-ज्ञान प्राप्त कर तथागत के लिए जीवन-परित्याग किया।" शास्ता ने आकर पूछा--"भिक्षुओं, यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओं, न केवल अभी, इसने पूर्व-जन्म में भी मेरे लिए जीवन-परित्याग किया है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय, उसकी खेमा नाम की पटरानी थी। उस समय बोधिसत्व हिमालय में मृग होकर पैदा हुए--स्वर्ण-वर्ण, सुन्दर। उसका छोटा भाई चित्त-मृग भी स्वर्ण-वर्ण ही था। छोटी बहन भी, जिसका नाम सुतना था, स्वर्ण-वर्ण ही थी। बोधिसत्त्व रोहन्त नाम का मृग-राज हुआ। वह हिमालय की दो पर्वत-पंक्तियाँ लाँघ कर, तीसरी पंक्ति में रोहन्त सर के पास अस्सी हजार मृगों का नेता बनाकर रहता था और अन्धे-बूढ़े माता-पिता की सेवा करता था।

वाराणसी से कुछ ही दूर स्थित एक निषाद-ग्रामवासी निषाद-पुत्र ने हिमालय में बोधिसत्व को देखा। उसने अपने गाँव वापिस आ, आगे चलकर मृत्यु के समय अपने पुत्र से कहा--"तात! हमारी कर्म-भूमि में अमुक जगह स्वर्ण-वर्ण मृग रहता है। यदि राजा पूछे तो कहना।"

एक दिन खेमा नाम की देवी ने बड़े प्रातः स्वप्न देखा। स्वप्न ऐसा था,

---

१. चुल्ल हंस जातक (५३३)

स्वर्ण-वर्ण मृग सोने के आसन पर बैठ, सुनहरी घंटियाँ बजाने के शब्द के समान मधुर-स्वर से देवी को धर्मोपदेश देता था। वह साधु, साधु' कहती हुई धर्मोपदेश सुन रही थी। मृग धर्म-कथा को बिना समाप्त किये ही, उठ कर चल दिया। वह "मृग को पकड़ो" कहती हुई ही जाग पड़ी। परिचारिकाएँ उसका शब्द सुन हँस पड़ीं--"घर के दरवाजे तथा खिड़कियाँ अच्छी तरह बन्द हैं। हवा तक के लिए जगह नहीं है। आर्या इस समय मृग पकड़वाती है।" उसे जब यह पता लगा कि "यह स्वप्न है", तो सोचा—"स्वप्न कहने पर राजा अनादर करेगा। 'दोहद' करने पर आदर से खोजेगा। तब मैं स्वर्ण-वर्ण मृग से धर्म-कथा सुनूंगी।"[1] वह रोग का ढोंग करके पड़ रही। राजा ने आकर पूछा--"भद्रे! तुझे क्या कष्ट है?"

"देव! और कुछ नहीं है, किन्तु मुझे 'दोहद' उत्पन्न हुआ है"

"क्या चाहती है?"

"देव! स्वर्ण-वर्ण धार्मिक-मृग का उपदेश सुनना चाहती हूँ।"

"भद्रे! जो है ही नहीं, उसके बारे में तुझे 'दोहद' उत्पन्न हुआ है। स्वर्ण-वर्ण नाम का मृग ही नहीं है।"

वह राजा की ओर पीठ करके पड़ रही--यदि नहीं मिलता है, तो मेरा यहीं मरण है। राजा बोला--यदि होगा, तो तुझे मिलेगा। उसने परिषद् में बैठ, **मोर जातक**[1] में कहे अनुसार ही अमात्यों और ब्राह्मणों से पूछा। यह सुन कि स्वर्ण-वर्ण मृग होता है, उसने शिकारियों को बुलवा कर पूछा---किसी ने ऐसा मृग देखा या सुना? जब उस निषाद-पुत्र ने जैसा पिता से सुना था वैसा कहा, तो राजा ने उसे 'मित्र! जब तू वह मृग लेकर आयेगा, तो मैं तेरा बड़ा सत्कार करूँगा। जा उसे ला' कहा और खर्चा देकर बिदा किया। वह बोला—"देव! यदि मैं उसे न ला सकूँगा, तो उसका चमड़ा लाऊँगा; उसे भी न ला सकूँगा, तो उसके बाल लाऊँगा। तुम चिन्ता न करो।" फिर वह घर गया और स्त्री-पुत्र को खर्चा दे, वहाँ पहुँचा। उस मृग को देखा, तो वह सोचने लगा कि किस जगह जाल बाँधने से मैं उसे फँसा सकूँगा? उसने विचार करते हुए पानी पीने की जगह को इस योग्य समझा। तब

---

१. मोर जातक (१५९)

चमड़े को मजबूत रस्सी बाँट, बोधिसत्त्व के पानी पीने की जगह पर खूँटियों पर जाल ताना। अगले दिन अस्सी हजार मृगों के साथ बोधिसत्त्व चुगने आये। 'नित्य पानी पीने के तट पर ही पानी पीऊँगा' सोच वहाँ उतरते ही बन्धन में बँध गये। तब सोचा––यदि मैं अभी "बँध जाने की आवाज" लगाऊँगा, तो जाति-मण्डली बिना पानी पिये ही डर कर भाग जायेगी। वह खूँटी से लगे रहने पर (भी) अपने को वश में रख, पानी पीता हुआ-सा बना रहा। जब अस्सी हजार मृग पानी पीकर ऊपर पहुँच गये, तो उसने बन्धन को तोड़ने के लिए तीन बार प्रयत्न किया। पहली बार चर्म छिल गया, दूसरी बार मांस, तीसरी बार नसें छिलकर जाल हड्डी से जा लगा। जब जाल नहीं तुड़ा सका, तो उसने 'पकड़े जाने की आवाज' की। मृग तीन समूहों में विभक्त होकर भागे। चित्त मृग ने जब तीनों समूहों में बोधिसत्व को न देखा, तो सोचा ––यह भय जो पैदा हुआ है, यह मेरे भाई के लिए ही पैदा हुआ होगा। यह सोच, उसने वहाँ पहुँच, उसे बँधा देखा। बोधिसत्व ने भाई को देखा, तो उसे 'भाई ! यहाँ मत ठहर ! यह खतरे की जगह है' कह उसे जाने की प्रेरणा करते हुए पहली गाथा कही––

एते युथा पतीयन्ति भीता मरणा चित्तक,
गच्छ तुवं पि, मा कंखि, जोविस्सन्ति तया सह ॥१॥

[हे चित्तक ! ये मृगों के झुण्ड मरने के भय से भागे जा रहे हैं। तू भी जा। शंका मत कर। ये तेरे साथ रहेंगे ॥१॥]

इसके आगे की तीनों गाथायें एक दूसरे के बाद कही गयी हैं––

नाहं रोहन्त गच्छामि, हदयं मे अवकड्ढति
न तं अहं जहिस्सामि, इध देस्समि जीवितं ॥२॥

[हे रोहन्त ! मैं नहीं जाता हूँ। मेरा हृदय खिचता है। मै तुझे नहीं छोड़ूँगा। मैं अपने प्राण छोड़ दूँगा ॥२॥

ते हि नून मरिस्सन्ति अन्धा अपरिनायिका,
गच्छ तुवं पि मा कंखि, जीविस्सन्ति तया सह ॥३॥

[वे हमारे अन्धे माता-पिता सेवक के अभाव में निश्चय से मर जायेंगे। तू जा। शंका मत कर। वे तेरे साथ जायेंगे ॥३॥

नाहं रोहन्त गच्छामि, हृदयं में अवकड्ढति
न तं बद्धं जहिस्सामि, इध हेस्सामि जीवितं ।।४।।

वह बोधिसत्त्व की दायीं ओर उसे सहारा देते हुए, खड़ा हुआ । सुतना नाम की मृगी ने भी भागकर जब मृगों में अपने दोनों भाइयों को नहीं देखा, तो सोचा--यह भय मेरे भाइयों के लिए ही उत्पन्न हुआ होगा । वह रुककर उनके पास गयी । उसे आते देख, बोधिसत्व ने पाँचवीं गाथा कही--

गच्छ भीरु पलायस्सु, कूटे बद्धोस्मि आयसे,
गच्छ तुवं पि, मा कंखि, जिवस्सन्ति तया सह ।।५।।

[हे भीरू ! जा भाग । मैं लोहे के बन्धन में बँधा हूँ । तू भी जा । शंका मत कर । वे तेरे साथ जायेंगे ।।५।।]

इसके बारे में पूर्व प्रकार से तीन गाथायें हैं---

नाहं रोहन्त गच्छामि, हदयं मे अवकड्ढति,
न तं अहं जहिस्सामि, इध हेस्समि जीवितं ।।६।।
ते हि नून मरिस्सन्ति अन्धा अपरिनायिका,
गच्छ तुवं पि, मा कंखि, जीवस्सन्ति तया सह ।।७।।
नाहं रोहन्त गच्छामि, हृदयं मे अवकड्ढति,
न तं बद्धं जहिस्सामि, इध हेस्सामि जीवितं ।।८।।

उसने भी वैसे ही (भागना) अस्वीकार किया और उसके बायीं ओर उसे सान्त्वना देती हुई खड़ी हुई । शिकारी ने भी जब मृगों को भागते देखा और बँध जाने की आवाज सुनी, तो समझ गया कि मृगराज बँध गया होगा । उसने काँछ कसी और मृग को मारने का शस्त्र लेकर शीघ्रता से आ पहुँचा । बोधिसत्व ने उसे आता देख, नौवीं गाथा कही--

अयं सो लुद्दको एति रुद्दरूपो सहावुधो,
सो नो वधिस्सति अज्ज उसुना सत्तियामपि ।।९।।

[यह आयुध-सहित रुद्ररूप शिकारी चला आता है । वह आज हमें तीर से भी, शक्ति से भी मारेगा ।।९।।

उसे देखकर भी चित्त मृग नहीं भागा । किन्तु सुतना अपने को सँभाल न सकने के कारण, मृत्यु से डरकर थोड़ी भागी । फिर यह सोच कि मैं दो भाइयों

को छोड़कर कहाँ जाऊँगी, अपने प्राणों का मोह छोड़, मृत्यु को सिर पर ले, आकर भाई के बायीं ओर खड़ी हो गयी। इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने दसवीं गाथा कही—

सा मुहुत्तं पलायित्वा भयट्ठा भयतज्जिता
सुदुक्करं अकरा भीरू मरणाय उपनिवत्तथ ॥१०॥

[भय के कारण, भय से डर कर थोड़ा भागी, किन्तु फिर उस भीरू ने बड़ी दुष्कर बात की। वह मरने के लिए रुक गयी ॥१०॥]

शिकारी ने आने पर जब उन तीनों को एक साथ खड़े देखा, तो मैत्री-भाव से उन्हें एक कोख से उत्पन्न भाइयों के समान मान, सोचा—मृगराज तो बन्धन में बँधा है, किन्तु ये दोनों (पाप-कर्म करने में) लज्जा, भय-बन्धन से बँधे हैं। ये इसके क्या लगते हैं ?—

उसने उन्हें पूछा—

किं नुते मे मिगा होन्ति, मुत्ता बद्धं उपासरे,
न तं चजितुं इच्छन्ति जीवितस्सपि कारणा ॥११॥

[ये मृग तेरे क्या लगते हैं, जो मुक्त होने पर भी बँधे हुए के पास खड़े हैं, जो जीवन-रक्षा के निमित्त भी तुझे छोड़ना नहीं चाहते ? ॥११॥]

बोधिसत्व ने उत्तर दिया—

भातरो होन्ति मे लुद्द सैदरिया एकमातुका,
न मं चजितुं इच्छन्ति जीवितस्स पि कारणा ॥१२॥

[हे शिकारी ! ये मेरे सहोदर सगे भाई हैं। ये मुझे, अपनी जान बचाने के लिए भी नहीं छोड़ना चाहते ॥१२॥]

उसने बोधिसत्व की बात सुनी, तो सौमनस्य के कारण और भी अधिक मृदु-चित्त हो गया। चित्त मृगराज ने उसके चित्त को कोमलता देख, कहा— "मित्र शिकारी ! तू इस मृगराज को 'मृग'-मात्र ही मत समझ। ये अस्सी हजार मृगों का राजा है, सदाचारी है, सब प्राणियों के प्रति मृदु-चित्त है, महान् प्रज्ञावान् है, अन्धे, बूढ़े माता-पिता को पालता है। यदि तू इस प्रकार के धार्मिक को मारेगा, तो तू इसे मारने के साथ माता-पिता, मुझे तथा बहिन

—इस प्रकार पाँच जनों को मारने वाला होगा। मेरे भाई को जीवन-दान दे, हम पाँचों को जीवन-दान देने वाला हो।" यह गाथा भी कही—

ते हि नून मरिस्सन्ति अन्धा अपरिनायिका,
पञ्चन्नं जीवितं देहि, भातरं मुञ्च लुद्दक ॥१३॥

[हे शिकारी। वे अन्धे, बिना सेवक के निश्चय से मर जायेंगे। (हे शिकारी!) भाई को छोड़ कर पाँचों को जीवन-दान दे ॥१३॥]

उसने उसका धार्मिक कथन सुन प्रसन्न हो, "स्वामी! मत डरें" कह बाद की यह गाथा कही—

सो वो अहं पमोक्खामि मातापेत्तिभरं मिगं,
नन्दन्तु मातापितरो मुत्तं दिस्वा महामिगं ॥१४॥

[मैं माता-पिता का पोषण करने वाले मृग को छोड़ता हूं। महा मृग को मुक्त देख कर माता-पिता अनन्दित हों ॥१४॥]

यह कह उसने सोचा—राजा का दिया ऐश्वर्य मेरा क्या करेगा? यदि मैं इस मृगराज को मारूँगा, तो या तो यह पृथ्वी ही फट जायेगी या मुझ पर बिजली गिर पड़ेगी। मैं इसे छोड़ता हूँ। वह बोधिसत्व के पास पहुँचा और खूँटी उखाड़, चमड़े की रस्सी काट दी। उसने मृगराज को उठा, पानी के पास ले जा कर लिटाया, फिर कोमल चित्त से धीरे-धीरे बन्धन खोला, नसों से नसें, मांस से मांस तथा चर्म से चर्म मिलाया। फिर पानी से रक्त धो, मैत्री-चित्त से बार-बार हाथ फेरा। उसकी मैत्री तथा बोधिसत्व की पारमिताओं के प्रताप से नसें, मांस तथा चर्म मिल गये। पाँव छवि तथा लोम से ढक गया। यह भी नहीं मालूम देता था कि अमुक जगह बन्धन बँधा था। यह देख मृग ने प्रसन्न हो, शिकारी का अनुमोदन करते हुए गाथा कही—

एवं लुद्दक नन्दस्सु सह सब्बेहि ञातिभि,
यथा हं अज्ज नन्दामि मुत्तं दिस्वा महामिगं ॥१५॥

[हे शिकारी! जैसे मैं आज महामृग को मुक्त देखकर आनन्दित हूँ, उसी प्रकार सभी रिश्तेदारों के साथ तू भी आनन्दित हो ॥१५॥]

तब बोधिसत्व को विचार हुआ कि इस शिकारी ने मुझे किसी दूसरे की आज्ञा से पकड़ा अथवा काम होने से पकड़ा? उसने पकड़ने का कारण

पूछा। शिकारी बोला—"स्वामी ! मुझे तुमसे प्रयोजन नहीं है। राजा की पटरानी खेमा तुम्हारा धर्म सुनना चाहती है। उसके लिए राजाज्ञा से मैंने तुम्हें पकड़ा।"

"मित्र ! ऐसा है, तो मुझे छोड़कर तूने भारी बात की है। आ, मुझे राजा के पास ले चल। मैं देवी को धर्मोपदेश दूँगा।"

"स्वामी ! राजागण कठोर-स्वभाव होते हैं। कौन जानता है, क्या हो ? मुझे राजा के दिये ऐश्वर्य से काम नहीं है। तू यथासुख जा।"

बोधिसत्व को फिर विचार हुआ—यह मुझे छोड़कर बड़ी बात कर रहा है। इसे ऐश्वर्य मिलने का उपाय करूँगा। उसने कहा—मित्र ! मेरी पीठ पर हाथ फेर। उसने हाथ फेरा, तो हाथ सुनहरे बालों से भर गया। "स्वामी ! इन बालों का क्या करूँ ?" "स्वामी ! इन बालों को ले जाकर 'ये उस स्वर्ण मृग के बाल हैं' कहकर, राजा और देवी को दिखा तथा मेरी जगह खड़ा हो, इन गाथाओं से देवी को धर्मोपदेश दे। इन्हें सुनते ही उसका दोहद शान्त हो जायेगा।"

उसने 'धम्मं चर महाराज' आदि दस धर्माचरण-गाथायें सिखा, पाँच शील दे, अप्रमादी रहने का उपदेश दे, बिदा किया। शिकारी-पुत्र ने बोधिसत्व को आचार्य स्वीकार कर, तीन बार प्रदक्षिणा की और चार जगहों पर नमस्कार कर बालों को कमल-पत्र में ले प्रस्थान किया। वे भी तीनों जने थोड़ी दूर पीछे जाकर, मुँह में आहार तथा पानी ले कर माता-पिता के पास गये। माता-पिता ने 'तात रोहन्त ! तू तो फँस गया था, कैसे मुक्त हुआ ? पूछते हुए गाथा कही—

कथं पमोक्खो आसि उपनीतस्मिं जीविते,
कथं पुत्त अमोचेसि कूटपासम्हा लुद्दको ॥१६॥

[जीवन मृत्यु के समीप पहुँच जाने पर कैसे मुक्त हुआ ? हे पुत्र ! तुझे शिकारी ने कूट-बन्धन से कैसे मुक्त किया ? ॥१६॥]

वे सुन बोधिसत्व ने तीन गाथायें कहीं—

भणं कण्णसुखं वाचं हदयंगं हदयनिस्सितं
सुभासिताहि वाचाहि चित्तको मं अमोचयि ॥१७॥
भणं कण्णसुखं वाचं हदयंगं हदय-निस्सितं
सुभासिताहि वाचाहि सुतना मं अमोचयि ॥१८॥
सुत्वा कण्णसुखं वाचं हदयंगं हदयनिस्सितं
सुभासितानि सुत्वान लुद्दको मं अमोचयि ॥१९॥

[कर्ण-सुख तथा हृदय से निकली हुई और हृदय को स्पर्श करने वाली सुभाषित वाणी से चित्तक ने मुझे छुड़ाया ॥१७॥ कर्ण-सुख . . . सुतना ने मुझे छुड़ाया ॥१८॥ कर्ण सुख . . वाणी को सुनकर शिकारी ने मुझे छोड़ दिया ॥१९॥]

उसके माता-पिता ने अनुमोदन करते हुए कहा--

एवं आनन्दितो होतु सह दारेहि लुद्दको
यथा मयाज्ज नन्दाम दिस्वा रोहंतं आगतं ॥२०॥

[इसी प्रकार शिकारी भी अपनी भार्या सहित आनन्दित हो, जैसे हम रोहन्त को आया हुआ देख कर प्रसन्न होते हैं ॥२०॥]

शिकारी भी जंगल से निकल, राजकुल पहुँच, राजा को प्रणाम करके एक ओर खड़ा हुआ । उसे देख राजा बोला--

ननु त्वं अवच लुद्द: मिगचम्मानि आहरि'
अथ केन तु वण्णेन मिगचम्मानि नाहरि ॥२१॥

[हे शिकारी ! क्या तूने मृगचर्म लाने को नहीं कहा था ? तू किस कारण से मृग-चर्म नहीं लाया ॥२१॥]

यह सुन शिकारी बोला--

आगमा चेव हत्यत्थं कूटपासं च सो मिगो,
अबज्झि तं च मिगराजं तञ्च मुत्ता उपासरे ॥२२॥
तस्स मे आहु संवेगो अब्भुतो लोमहंसनो,
इमञ्चाहं मिगं हञ्ञो अज्ज हस्सामि जीवितं ॥२३॥

[वह मृग मेरे हाथ में आ गया था । मेरे कूट-बन्धन में फँस गया था ! उस बँधे हुए मृगराज के पास (दूसरे) मुक्त मृग खड़े थे ॥२२॥ यह देख मुझे अद्भुत, लोमहर्षक संवेग उत्पन्न हुआ--यदि मैं इस मृग को मारूँगा, तो आज मेरी जान जायेगी ॥२३॥]

राजा आश्चर्य से बार-बार पूछने लगा--

कीदिसा ते मिगा लुद्द, कीदिसा धम्मिका मिगा,
कथं वण्णा कथं सीला, बाळहं खो ते, पसंससि ॥२४॥

[हे शिकारी ! तू उन मृगों की बहुत प्रशंसा करता है, वे मृग कैसे हैं ? वे कैसे धार्मिक हैं ? उनका वर्ण कैसा है ? उनका शील कैसा है ॥२४॥]

यह सुन शिकारी बोला--

ओदातसिंगा सुचिवाला जातरूपतचूपमा,
पादा लोहितका तेसं, अञ्जितक्खमा मनोरमा ॥२५॥

[श्वेत सींग, शुद्ध बाल, चाँदी-सी चमड़ी, लाल पाँव तथा मनोरम रंजित आँखों वाले हैं ॥२५॥]

इस प्रकार उसने, कहते ही कहते, बोधिसत्व के सुनहरे बाल राजा के हाथ में रख, उन मृगों का शरीर-वर्ण प्रकट करते हुए कहा--

एतादिसा ते मिगा देव, एदिसा धम्मिका मिगा,
मातापेत्तिभरा देव, न ते सो अभिहारयं ॥२६॥

[हे देव ! वे ऐसे मृग हैं । वे ऐसे धार्मिक मृग हैं । हे देव ! वे माता-पिता का पोषण करने वाले हैं । इसलिए (मैं) उसे नहीं लाया ॥२६॥]

इस प्रकार उसने बोधिसत्व, चित्त मृग तथा सुतना मृगी के गुण कह कर 'महाराज ! मुझे उस मृगराज ने अपने बाल दे कर 'मेरे स्थान पर खड़े हो कर देवी को दस धर्माचारण गाथाओं से उपदेश देना' 'आज्ञा दी' कहा और स्वर्ण-आसन पर बैठ उन गाथाओं से[1] धर्मोपदेश दिया । देवी का दोहद शान्त हो गया । राजा ने प्रसन्न हो शिकारी-पुत्र को बहुत ऐश्वर्य देते हुए ये गाथायें कहीं--

---

१ धम्म चर महाराज मातापितुसु खत्तिय,
इध धम्मं चरित्वान राजा सग्गं गमिस्ससि ॥१॥
धम्मं चर महाराज पुत्तदारेसु खत्तिय,
इध धम्मं . . . . ॥२॥
धम्मं चर महाराज मित्तामच्चेसु खत्तिय,
इध धम्मं . . . . ॥३॥
धम्मं चर महाराज वाहनेसु बलेसुच,
इध धम्मं चरित्वान . . . . ॥४॥
धम्मं चर महाराज गामेसु निगमेसु च,
इध धम्मं चरित्वान . . . .
धम्मं चर महाराज रट्ठेसु च जनपदेसु च,
इध धम्मं चरित्वान . . . . ॥६॥
धम्मं चर महाराज समण-ब्राह्मणेसु च,
इध धम्मं . . . . ॥७॥

वम्मि निक्खसतं लुद्द थुल्लं च मणिकुण्डलं
चतुस्सदञ्च पल्लंकं उम्मापुप्फसिरिन्निभं ॥२७॥
द्वे च सदिसियो भरिया उसभं च गवं सतं,
धम्मेन रज्जं कारेस्सं बहुकारो मे सि लुद्दक ॥२८॥
एतेहि दारं पोसेहि, मा पापं अकरा पुनं ॥२९॥

[हे शिकारी ! मैं तुझे सौ निकष देता हूँ, अति मूल्यवान् मणि-कुण्डल (देता हूँ), उम्मा (?) पुष्प की शोभा वाला चौकोर पलँग (देता हूँ) ॥२७॥ दो एक-जैसी भार्या (देता हूँ), सौ गायें और वृषभ (देता हूँ)। हे शिकारी ! तूने मेरा बहुत उपकार किया है। अब मैं धर्मानुसार राज्य करूँगा ॥२८॥ हे शिकारी ! अब तू भी फिर पाप कर्म न कर कृषि, वाणिज्य, ऋण-दान तथा उञ्छा-चर्या से परिवार का पोषण कर ॥२९॥]

उसने राजा का कहा सुना तो बोला—"देव ! मुझे गृहस्थी से काम नहीं। प्रव्रज्या की आज्ञा दें।" वह आज्ञा प्राप्त कर, राजा का दिया हुआ धन, पुत्र-स्त्री को सौंप, हिमालय जा, ऋषी-प्रव्रज्या ले, आठ समापत्तियाँ प्राप्त कर, ब्रह्म-लोकगामी हुआ। राजा ने भी बोधिसत्व के उपदेशानुसार चल, स्वर्ग प्राप्त किया। वह उपदेश हजार वर्ष चला।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओं, इस प्रकार आनन्द ने पहले भी मेरे लिए जीवन-परित्याग किया ही है' कह, जातक का मेल बैठाया। उस समय शिकारी छन्न था, राजा सारिपुत्र, देवी खेमा भिक्षुणी, माता-पिता महाराज-कुल, सुतना उप्पल-वण्णा, चित्त मृग आनन्द, अस्सी हजार मृग-समूह शाक्य-गण और रोहन्त मृगराज तो मैं ही था।

धम्मं चर महाराज मिगपक्खीसु खत्तिय,
इध धम्मं . . . . ॥८॥
धम्मं चर महाराज धम्मं सुचिण्णो सुखमावहाति
इध धम्मं . . . . ॥९॥
धम्मं चर महाराज इन्दो देवा सब्रह्मणा,
सुचिण्णेन दिवं पत्ता, मा धम्मं राज पमादो ॥१०॥

५०२. हंस जातक

"एते हंसा पक्कमन्ति . . . "यह शास्ता ने वेलुवन में विहार करते समय आनन्द स्थविर के जीवन-परित्याग के ही बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस समय भा धर्म-सभा में स्थविर के गुणों की चर्चा करते हुए भिक्षुओं से शास्ता ने आकर पूछा और "भिक्षुओं, न केवल अभी, आनन्द ने पहले भी मेरे लिए जीवन-त्याग किया है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में बहुपुत्तक नाम का राजा राज्य करता था। उसकी खेमा नाम की पटरानी थी। उस समय बोधिसत्व स्वर्ण-हंस की योनि में उत्पन्न हो, नब्बे हजार हंसों का नेतृत्व करते हुए चित्रकूट में रहते थे। तब देवी ने उक्त प्रकार से ही स्वप्न देख, राजा से स्वर्ण-हंस का धर्मोपदेश सुनने के दोहद की बात कही। राजा ने पूछा, तो पता लगा कि स्वर्ण-हंस चित्रकूट पर्वत पर रहते हैं। उसने खेमा नाम का तालाब बनाया और नाना प्रकार के खाने के धान रोपे। चारों ओर प्रति-दिन अभय-घोषणा करायी। तब एक शिकारी को हंसों को पकड़ने के लिए कहा। उसे किस प्रकार नियुक्त किया गया, उसने वहाँ कैसे पक्षियों की खोज-खबर रखी, स्वर्ण-हंसों के आ जाने पर राजा से कह कर जाल कैसे बँधवाया गया, बोधिसत्व जाल में कैसे बँध गये तथा सुमुख हंस सेनापति का तीनों हंस-समूहों में बोधिसत्व को न देख लौट पड़ना--ये सब बातें महाहंस जातक[1] में आयेंगी। इस जातक में भी बोधिसत्व ने खूँटी से बँधे जाल में फँस, खूँटी से लटकते हुए ही गरदन बढ़ा, जिधर हंस गये थे उधर देखा। जब सुमुख आता दिखाई दिया, तो आते ही उसकी परीक्षा लेने के लिए उसके आने पर तीन गाथायें कहीं--

---

[1]महाहंस जातक (५३४)

एते हंस पक्कमन्ति वक्कंगा भयमेरिता,
हरित्तव हेमवण्णा कामं सुमुख पक्कम ॥१॥
ओहाय मं ञातिगणा, एकं पासवसं गतं
अनपेक्खमाना गच्छन्ति, किं एको अवहीयसि ॥२॥
पत एव पततं सेट्ठ, नत्थि बद्धे सहायता,
मा अनीघाय हापेसि, कामं सुखुम पक्कम ॥३॥

[ये वक्रअंग हंस भय के मारे भागे जा रहे हैं। हरिदत्त-त्वच्! हे हेम वर्ण हे सुमुख! चाहे तो तू भी जा ॥१॥ मेरे रिश्तेदार मुझ अकेले को जाल में बँधा छोड़ कर, अपेक्षा-रहित हो भागे जा रहे हैं, तू अकेला क्यों रहता है? ॥२॥ उछल-उछल कर भागना ही श्रेष्ठ है। जाल में फँसे की कुछ सहायता नहीं की जा सकती। हे सुमुख! सुखी होने का प्रयत्न मत छोड़ भाग जा ॥३॥]

तब सुमुख ने कीचड़ पर बैठे गाथा कही—

नाहं दुक्खपरेतो ति धतरट्ठ तुवं जहे,
जीवितं मरणं वा मे तया सिद्धिं भविस्सति ॥४॥

[हे धृतराष्ट्र! मैं तुम्हें दुःख में पड़े हुए को नहीं छोड़ सकता। मेरा जीना अथवा मरना तुम्हारे साथ ही होगा ॥४॥]

सुमुख के इस प्रकार सिंह नाद करने पर धृतराष्ट्र ने गाथा कही—

एतद अरियस्स कल्याणं यं त्वं सुमुख भाससि।
तं च वीमंसमानोहं पत ते तं अवस्सजिं ॥५॥

[हे सुमुख! जो तू कहता है, यही आर्य के लिए कल्याणकारी। मैंने जो तुझे भागने के लिए कहा, वह तेरी परीक्षा लेने के लिए ही कहा ॥५॥]

इस प्रकार जब वे यह बातचीत कर ही रहे थे, तो डण्डा लिये शिकारी-पुत्र शीघ्रता से आया। सुमुख ने धृतराष्ट्र को आश्वासन दे, उसके सामने जा, आदर प्रकट कर, हंसराज के गुण कहे। उसी समय शिकारी मृदु-चित्त हो गया। जब उसने देखा कि वह मृदु-चित्त हो गया, तो वह फिर जा कर हंस-राज के ही पास खड़ा हो गया। शिकारी ने भी हंस-राज के पास आ छठीं गाथा कही—

अपदेन पदं याति अन्तलिक्खे चरो दिजो,
आरा पासं न बुज्झि त्वं हंसानं पवरुत्तमो ॥६॥

[अन्तरिक्ष में उड़ने वाले पक्षी बिना पैरों के आकाश में पैरों से चलने की तरह आते हैं। तू हंसों में श्रेष्ठ है। तूने दूर से जाल को नहीं देखा? ॥६॥]

बोधिसत्व ने कहा—

यदा पराभवो होत्ति दोसो जीवितसंखये,
अथ जालञ्च पासञ्च आसज्जापि न बुज्झति ॥७॥

[जब अवनति होती है, तो आदमी जीवन पर आयी हुई विपत्ति जाल और बन्धन को पास होने पर भी नहीं देखता ॥७॥]

शिकारी ने हंस-राज की कथा का अभिनन्दन कर, सुमुख से बातचीत करते हुए तीन गाथायें कहीं--

एते हंसा पक्कमन्ति वक्कंगा भयमेरिता,
हरित्तच हेमवण्ण त्वं च नं अवहीयसि ॥८॥
एते भुत्वा पिवित्वा च पक्कमन्ति विहंगमा
अनपेक्खमाना वक्कंगा, त्व एव एको उपाससि ॥९॥
किं नु तोयं दिजो होति, मुत्तो बद्ध उपाससि,
ओहाय सकुणा यन्ति, किं एको अवहीयसि ॥१०॥

[ये वक्रंग हंस भय के मारे भागे जा रहे हैं। हे हरित्-त्वच्! हे हेमवर्ण! तू इसके साथ पीछे रहता है ॥८॥ ये पक्षी खाकर-पीकर जाते हैं। हे वक्रंग! तू ही एक अपेक्षा रहित होकर पास खड़ा है ॥९॥ यह पक्षी तेरा क्या लगता है, जो तू मुक्त हुआ बँधे हुए का साथ देता है। और पक्षी छोड़कर जाते हैं। तू ही एक पीछे रहता है ॥१०॥]

सुमुख बोला—

राजा मे सो दिजो मित्तो सखा पाणसमो च मे,
नेव नं विजहिस्सामि याव कालस्स परियायं ॥११॥

[वह पक्षी हमारा राजा है, प्राण के समान (प्रिय-) मित्र है, सखा है, जब तक जीवन है, तब तक मैं इसे नहीं छोड़ूँगा ॥११॥]

यह सुन, शिकारी ने प्रसन्न-चित्त हो सोचा—यदि मैं इस प्रकार के शीलवानों के प्रति पाप करूँगा, तो पृथ्वी भी मुझे निगल जा सकती है। मुझे राजा के पास से मिले धन से क्या? इन्हें छोड़ता हूँ।' उसने यह गाथा कही—

योच त्वं सखिनो होतु पाणं चजितुं इच्छसि,
सो ते सहायं मुञ्चामि, होतु राजा तवानुगो ॥१२॥

[जो तू सखा होने के कारण प्राणों का त्याग करना चाहता है। मैं तेरे सखा को छोड़ता हूँ। राजा तेरा अनुयाई हो ॥१२॥]

इतना कह धृतराष्ट्र को फन्दे की खूँटी से उतार, (पानी के) किनारे ले जा फन्दा छुड़ाया और कोमल-चित्त से उसका लहू धो, नसें आदि ठीक कीं। उसके चित्त की मृदुता के कारण और पारमिताओं के प्रताप से उसी समय पाँवों की चमड़ी ठीक हो गयी। बन्धन-स्थान भी नहीं दिखाई देता था। सुमुख ने बोधिसत्व को देख, प्रसन्न चित्त हो, अनुमोदन करते हुए गाथा कही--

एवं लुद्दक नन्दस्सु सह सब्बेहि ञातिभि
यथहि अज्ज नन्दामि मुत्तं दिस्वा दिजाधिपतं ॥१३॥

[इस प्रकार हे शिकारी ! तू सभी रिश्तेदारों-सहित आनन्दित हो, जैसे आज मैं पक्षिराज को मुक्त देखकर आनन्दित होता हूँ ॥१३॥

यह सुन शिकारी ने कहा--"स्वामी ! जाओ" बोधिसत्व ने उसे पूछा--"मित्र ! क्या तूने मुझे अपने लिए फाँसा था अथवा अन्य किसी की आज्ञा से ?" उसने जब वह बात बतायी तब विचार किया--क्या मुझे यहीं से चित्रकूट जाना उचित है अथवा नगर ? उसने सोचा--"यदि मैं नगर जाऊँगा, तो शिकारी-पुत्र को धन मिलेगा, देवी का दोहद शान्त हो जायेगा, सुमुख का मित्र-धर्म प्रकट होगा और मैं अपने ज्ञान-बल से खेम नामक तालाब को भय-मुक्त करा सकूँगा। इसलिए नगर जाना ही उचित है।" नगर जाने का निर्णय कर कहा--"हे शिकारी ! तू हमें बहँगी से राजा के पास ले चल। यदि राजा हमें छोड़ना चाहेगा, तो छोड़ देगा।"

"स्वामी ! राजागण कठोर-स्वभाव के होते हैं। तुम जाओ।"

"मित्र ! हमने तेरे जैसे शिकारी को भी नर्म बना लिया, राजा को प्रसन्न करने में हमें क्या कठिनाई होगी। मित्र ! हमें ले ही चल।"

उसने वैसा ही किया। राजा ने हंसों को देख, प्रसन्न हो, दोनों हंसों को सुनहरे पीढ़े पर बिठा, मधुर खील खिलायी और मधु-जल पिलाया। फिर हाथ जोड़, धर्मोपदेश की प्रार्थना की। हंसराज ने उसकी सुनने की इच्छा जान, पहले कुशल-क्षेम पूछा। ये गाथायें हंस और राजा का उत्तर-प्रत्युत्तर हैं--

कच्चि नु भोतो कुसलं,
कच्चि भोतो अनामयं,
कच्चि रट्ठं इदं फीतं
धम्मेन-म-अनुसासति ॥१४॥

[क्या आप कुशल से तो हैं ? क्या आप सुखपूर्वक तो हैं ? क्या यह समृद्ध राष्ट्र धर्मानुसार अनुशासित है ? ॥१४॥]

कुसलं चेव मे हंस, अथो हंस अनामयं,
अथो रट्ठं इदं फीतं, धम्मेन अनुसासति ॥१५॥

[हे हंस ! मैं सकुशल हूँ। मैं सुख से हूँ और इस समृद्ध राष्ट्र का धर्मानुसार शासन होता है ॥१५॥

कच्चिव भोतो अमच्चेसु दोसो कोचि न विज्जति,
कच्चि आरा अमित्ता ते छाया दक्खिणतोरिव ॥१६॥

क्या तेरे अमात्यों में कोई दोषी नहीं है ? क्या तेरे शत्रु दूर हैं और दक्षिण-छाया की तरह बढ़ते नहीं हैं ? ॥१६॥]

अथो पि मे अमच्चेसु दोसो कोचि न विज्जति,
अथो आरा अमित्ता मे छाया दक्खिणतोरिव ॥१६॥

[मेरे अमात्यों में कोई दोषी नहीं है। मेरे शत्रु दूर-दूर रहते हैं और दक्षिण-छाया की तरह नहीं बढ़ते हैं ॥१७॥]

कच्चिवते सादिसी भरिया अस्सवा पियभाणिनी,
पुत्तरूपयसूपेता तवछन्दवसानुगा ॥१८॥

[क्या तेरी भार्या तेरे समान है, आज्ञाकारिणी, प्रियवादिनी, पुत्र, रूप तथा ऐश्वर्य से युक्त और तेरी इच्छा के अनुसार चलने वाली ? ॥१८॥

अथो मे सादिसी भरिया अस्सवा पियभाणिनी,
पुत्तरूपयसूपेता मम छन्दवसानुगा ॥११॥

[मेरी भार्या मेरे समान है, आज्ञाकारिणी, प्रियवादिनी, पुत्र, रूप तथा ऐश्वर्य से युक्त और मेरी इच्छा के अनुसार चलने वाली ॥१९॥]

कच्चिते बहवो पुत्ता सुजाता रट्ठवड्ढन,
पञ्ञाजवेन सम्पन्ना, सम्मोदन्ति ततो ततो ॥२०॥

[हे राष्ट्रवर्द्धन ! क्या तेरे बहुत से पुत्र उत्पन्न हुए हैं, जो प्रज्ञावान् हैं और जहाँ-तहाँ प्रसन्न रहते हैं ॥२०॥]

सतं एकोच मे पुत्ता धतरट्ठ मया सुता,
तेसं त्वं किच्च मक्खाहि, नावरज्झन्ति ते वचो ॥२१॥

[हे धृतराष्ट्र ! मेरे एक सौ एक पुत्र हैं। तू उनका कर्त्तव्य कह। वे तेरे कथन के विरुद्ध नहीं जायेंगे ॥२१॥]

यह सुन बोधिसत्व ने उन्हें उपदेश देते हुए पाँच गाथायें कहीं--

उपपन्नो पि चे होति जातिया विनयेन वा
अथ पच्छा कुरुते योगं किच्चे आपासु सीदति ॥२२॥
तस्स संहीरपञ्ञस्स विवरो जायते महा,
नत्तमन्धो व रूपानि फुल्लानि-म-नुपस्सति ॥२३॥
असारे सारयोगञ्ञू मति न त्वे व विदन्ति,
सरभो व गिरि दुग्गस्मिं अन्तररा येव सीदति ॥२४॥
हीन जच्चोपि चे होति उट्ठाता धितिमा नरो,
आचारसीलसम्पन्नो निसेव अग्गीव भासति ॥२५॥
एतं वे उपमं कत्वा पुत्ते विज्जासु वाचय,
संविरूहेथ मेधावी खेत्तबीजं व वुट्ठिया ॥२६॥

[यदि कोई 'जाति' तथा 'विनय' से युक्त भी हो, किन्तु पीछे (बुढ़ापे में) ही प्रयत्नशील हो, तो वह आपत्ति में डूब जाता है ॥२२॥ उस अस्थिर-चित्त की महान् हानि होती है। जैसे रतौन्धे की बीमारी वाला स्थूल-स्थूल रूपों को ही देख सकता है, उसी प्रकार वह भी सूक्ष्म बातों का विचार नहीं कर सकता ॥२३॥ असार वस्तु को सार मानने वाला बुद्धि को नहीं प्राप्त होता है, जैसे दुर्गम पर्वत में चलने वाला हिरन बीच में ही रह जाता है ॥२४॥ हीन-जन्मा होने पर भी यदि आदमी उत्साही और धृतिमान् होता है, तो आचार-शीलों होने पर वह रात्रि में आग की तरह प्रकाशित होता है ॥२५॥ इन्हें उपमाएँ समझ पुत्रों को विद्या पढ़ायें। जिस प्रकार वर्षा से बीज वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार उन्हें मेधावी बनायें ॥२६॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने सारी रात धर्मोपदेश दिया। देवी का दोहद शान्त हो गया। बोधिसत्त्व अरुणोदय के समय ही राजा की शीलों में प्रतिष्ठित कर, अप्रमाद का उपदेश दे, सुमुख के साथ उतर, खिड़की से निकल, चित्रकूट गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओं, पूर्व-जन्म में भी इसने मेरे लिए जीवन-परित्याग किया' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय शिकारी छन्न था। राजा सारिपुत्र। देवी खेमा भिक्षुणी। हंस-परिषद् शाक्य-गण। समुख आनन्द। हंसराज तो मैं ही था।

५०३. सत्तिगुम्ब जातक

"मिगलुद्दो महाराज..." यह शास्ता ने मद्दकुच्छि में, मृगप्रदाय में, देवदत्त के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

देवदत्त के शिला लुड़कवाने पर भगवान् के पाँव में ठीकरी लग जाने से बड़ी वेदना हुई। उसे देखने के लिए बहुत से भिक्षु इकट्ठे हुए। भगवान् ने भीड़ इकट्ठी हुई देखकर कहा--"भिक्षुओं, यह शयनासन बहुत गड़बड़ है, यहाँ भीड़ लग जायेगी। मुझे पालकी में मुद्दकुच्छि ले जाओ।" भिक्षुओं ने वैसा ही किया। जीवक ने तथागत के पाँव को अच्छा किया। भिक्षुओं ने शास्ता के बैठे ही बैठे बातचीत चलायी—"आयुष्मानों! स्वयं देवदत्त भी पापी है, उसकी परिषद् भी पापी है, इस प्रकार वह पापी पापी साथियों के साथ विचरता है।" शास्ता ने पूछा--भिक्षुओं, क्या कर रहे हो?, "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओं, न केवल अभी देवदत्त पापी है, और उसकी परिषद् भी पापी है, पहले भी देवदत्त पापी और उसकी परिषद् भी पापी ही रही है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में उत्तर-पाञ्चाल नगर में पाञ्चाल नाम का राजा राज्य करता था। बोधिसत्व जंगल में एक जंगली-पर्वत पर सेमर के वृक्ष के ऊपर शुकराज-पुत्र होकर पैदा हुए। वे दो भाई थे। उस पर्वत के ऊपर की ओर पाँच सौ चोरों का निवासस्थान चोर-ग्राम था, नीचे पाँच सौ ऋषियों का निवासस्थान आश्रम था। उन तोते के बच्चों के पर निकलने के समय बवण्डर उठा। उसकी चपेट में आकर उनमें से एक तोते का बच्चा चोर-ग्राम में चोरों के शस्त्रों के बीच गिरा। उसके वहाँ गिरने से सत्ति-गुम्ब नाम हुआ। दूसरा आश्रम में बालु में पुष्पों के बीच आ गिरा। उसके वहाँ गिरने से पुष्फक नाम हुआ। सत्ति-गुम्ब चोरों के बीच बड़ा हुआ। पुष्फक ऋषियों के।

एक दिन राजा सब अलंकारों से सज, श्रेष्ठ रथ पर चढ़, बहुत से अनुयाइयों के साथ शिकार के लिए नगर से थोड़ी ही दूर पर, अच्छी तरह फूले-फले रमणीय बन में जाकर बोला—"जिसकी ओर से मृग भाग जायेगा, उसी की गरदन।" वह रथ से उतर, छिप कर, जो जगह उसके लिए नियत की गयी थी, वहाँ धनुष ले कर खड़ा हुआ। जब आदमी मृगों को उठाने के लिए जंगल के झुण्डों को पीट रहे थे, तो एक मृग को जब भागने का रास्ता न दिखाई दिया, तो जहाँ राजा खड़ा था, वहीं से भागने की जगह देखकर कूद कर भाग गया। अमात्यों ने पूछा—"किसकी ओर से मृग भागा?" जब उन्हें पता लगा कि राजा की ओर से तो वे राजा की हँसी उड़ाने लगे। राजा अभिमान के कारण उनकी हँसी न सह सका। "अभी उस मृग को पकड़ता हूँ" कह, रथ पर चढ़ सारथी को "शीघ्र हाँकने" की आज्ञा देकर मृग के पीछे दौड़ा। रथ तेजी से जा रहा था। आदमी पीछे-पीछे न जा सके।

अकेले सारथी के साथ ही राजा मध्याह्न तक चलता गया। जब मृग न दिखा दिया, तो रुक कर उस चोर-ग्राम के पास जो रमणीय कन्दरा दिखाई दी, वहाँ उतर पड़ा। रथ से उतर कर उसने स्नान किया, पानी पिया और फिर ऊपर आया। सारथी ने रथ का कपड़ा उतार कर वृक्ष की छाया में बिछा दिया। वह उस पर लेट रहा। सारथी भी बैठ कर उसके पाँव दबाने लगा। राजा बीच-बीच में सो जाता और जाग उठता। चोर-ग्रामवासी चोर भी राजा की सुरक्षा के लिए जंगल ही चले गये। चोर-ग्राम में सत्तिगुम्ब तथा पटिकोलम्ब नाम का एक और भात

पकाने वाला आदमी—दो ही जने रह गये। उस समय सत्तिगुम्ब ने गाँव से निकलने पर राजा को सोता हुआ देखा, तो सोचा 'इसके सोते-सोते ही इसे मार कर उसके आभरण लूँगा।' उसने यह बात पोटकोलम्ब से कही—

इस बात को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने पाँच गाथायें कहीं—

मिगलुद्दो महाराज पञ्चालानं रथेसभो,
निक्खन्तो सह सेनाय ओगणो वनं आगमा ॥१॥
तत्थ अद्दसा अरञ्ञस्मिं तक्करान कुटिं कतं,
तस्सा कुटिया निक्खम्म सुवो लुद्दानि भासति ॥२॥
सम्पन्नवाहनो पोसो युवा सम्मट्ठकुण्डलो,
सोभति लोहितुण्हीसो दिवा सुरियो व भासति ॥३॥
मज्झन्तिके सम्पटिके सुत्तो राजा ससारथि,
हन्दस्साभरणं सब्बं गण्हाम सहसा मयं ॥४॥
निसीथेपि रहो दानि सुत्तो राजा ससारथि,
आदाय वत्थं मणिकुण्डलञ्च
हन्त्वान साखाहि अवत्थराम ॥५॥

[शिकार-लोभी पञ्चाल-नरेश सेना के साथ निकला और वन में अकेला रह गया ॥१॥ उसने वहाँ जंगल में चोरों के रहने के लिए बनायी गयी कुटी देखी। उस कुटी में से एक तोता निकला, जिसने ये कठोर वचन कहे—कुण्डल धारी, लाल उष्णीय वाला तरुण सवार दिन में सूर्य की भाँति प्रकाशित होता है ॥२-३॥ इस मध्याह्न के समय में राजा और उसका सारथी दोनों सो रहे हैं। हम हमला कर के उसके सब आभूषण छीन लें ॥४॥ रात्रि के समान ही अब सुनसान है। सारथी-सहित राजा सो रहा है। उसके वस्त्र और मणि-कुण्डल छीन लें और इसे मार कर शाखाओं से ढँक दें ॥५॥]

उसने निकल कर देखा। जब पता लगा कि राजा है, तो डर कर कहा—

किं नु उम्मत्तरूपो व सत्तिगुम्ब पभाससि,
दुरासदा हि राजानो अग्गि पज्जलितो यथा ॥६॥

[हे सत्तिगुम्ब! तू क्या पगले आदमी की-सी बात करता है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि के समीप नहीं जाया जा सकता, उसी प्रकार राजाओं के समीप नहीं जाया जा सकता ॥६॥]

तोते ने उसे गाथा कही--

अथ त्वं पटिकोलम्ब मत्तो थुल्लानि गज्जसि
मातरि मय्ह नग्गाय किं नुत्वं विजिगुच्छसे ॥६॥

[हे पटिकोलम्ब ! पहले तो तू मत्त हो कर बड़ी गर्जना करता था । अब मेरी माँ नग्न है, और क्या तू (चौर कर्म) से घृणा करता है ? ॥७॥

राजा की आँख खुली, तो उसने उसे उसके साथ मनुष्य-भाषा में बातचीत करते सुना । उसने सोचा--यह जगह खतरनाक है । सारथी को उठा कर उसने गाथा कही--

उट्ठेहि सम्म तरमानो, रथं योजेहि सारथि
सकुणो में न रुच्चति, अञ्ञं गच्छाम अरसम ॥८॥

[मित्र ! शीघ्र उठ । सारथी ! रथ जोत । यह पक्षी मुझे अच्छा नहीं लगता । हम दूसरी जगह चलें ॥८॥]

वह शीघ्रता से उठा और रथ जोत कर बोला—

युत्तो रथो महाराज, युत्तो च बलवाहनो
अधितिट्ठ महाराज, अञ्ञं गच्छाम अस्सम ॥९॥

[महाराज ! रथ जुत गया है, बैल जुत गये हैं । महाराज ! रथ पर चढ़े । हम अन्यत्र चलेंगे ॥९॥

उसके चढ़ते ही सैंधव घोड़े हवा की तेजी से भागे । सत्तिगुम्ब ने रथ को जाता देखा, तो भ्रान्त हो दो गाथायें कहीं—

को नु मेव गता सब्बे ये अस्मिं परिचारका
एस गच्छति पञ्चालो मुत्तो तेसं अदस्सना ॥१०॥
को दण्डकानि गण्हथ सत्तियो तोमरानिच,
एस गच्छति पञ्चालो, मा वो मुञ्चित्थ जीवितं ॥११॥

[इस आश्रम में रहने वाले मेरे सारे सेवक कहाँ चले गये ? यह पाञ्चाल उनकी दृष्टि से ओझल हुआ चला जा रहा है । धनुष लो, शक्ति लो, तोमर लो । यह पाञ्चाल चला जा रहा है । इसे जीता मत छोड़ो ॥११॥

इस प्रकार जब वह इधर-उधर दौड़ रहा था और चिल्ला रहा था, राजा ऋषियों के आश्रम में पहुँच गया । उस समय ऋषि-गण फल-मूल के लिए गये थे ।

एक 'पुष्प' तोता आश्रम में था। उसने राजा को देख, आगे बढ़ स्वागत किया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने चार गाथायें कहीं--

अथापरो पटिनन्दित्थ सुवो लोहित तुण्डको
स्वागतं ते महाराज, अथो ते अदुरागतं,
इस्सरोसि अनुप्पत्ते, यं इध अत्थि पवेदय ॥१२॥
तिण्डुकानि पियालानि मधुके कासुमारियो
फलानि खुद्दकप्पानि, भुञ्ज राजवरं वरं ॥१३॥
इदं पि पानीयं सीतं आभतं गिरिगब्भरा
ततो पिव महाराज सचे त्वं अभिकंखसि ॥१४॥
अरञ्ञे उच्छाय गता ये अस्मिं परिचारका
सयं उट्ठाय गण्हव्हो, हत्था मे नत्थि दातवे ॥१५॥

[तब लाल चोंच वाले तोते ने सन्तुष्ट होकर कहा--"महराज ! आपका स्वागत है। आपका यहाँ आना ठीक हुआ। तुम 'ईश्वर' हो। यहाँ आये हो। यहाँ जो हो आज्ञा करो ॥१२॥ तिन्दुक और पियाल के पत्ते, मधुर कासुमारी, फल छोटे और थोड़े, हे राजन् अच्छे-अच्छे चुन कर खायें ॥१३॥ हे महाराज ! यदि इच्छा हो तो पर्वत-कन्दरा से लाया हुआ यह शीत पानी है। इसे पियें ॥१४॥ जो इस आश्रम में रहने वाले सेवक हैं, वे जंगल में फल-मूल चुगने के लिए गये हैं। इसलिए आप स्वयं उठ कर ले लें, क्योंकि मेरे हाथ नहीं है, जिनसे मैं दे सकूं ॥१५॥]

राजा ने उसके स्वागत से प्रसन्न हो, दो गाथायें कहीं--

भद्रको वतायं पक्खी दिजो परमधम्मिको,
अथ एसो इतरो पक्खी सुवो लुद्दानि भासति ॥१६॥
एतं हनथ बन्धथ, मा वो मुञ्चित्थ जीवितं,
इच्चेवं विलपन्तस्स सोत्थिं पत्तोसि अस्समं ॥१७॥

[यह पक्षी अच्छा है। परं धार्मिक है। दूसरा पक्षी तो बड़ी कठोर वाणी बोलता था—इसे मारो, बाँधो। जीता मत छोड़ो। इस प्रकार उसे बोलता देख, मैं वहाँ से इस आश्रम में सकुशल आ पहुँचा ॥१७॥]

राजा की बात सुन पुप्फक ने दो गाथायें कहीं--

भातरो'स्म महाराज सोदरिया एकमातुका
एकरुक्खस्मिं संबद्धा नाना खेत्तगता उभो ॥१८॥
सत्तिगुम्बो च चोरानं अहञ्च इसिनं इध,
असतं सो सतं अहं तेन धम्मेन नो विना ॥१९॥

[महाराज ! हम दोनों एक माँ की कोख से पैदा हुए सहोदर भाई हैं। हम दोनों एक वृक्ष पर पले हैं। दोनों ने नाना क्षेत्रों में चुगा है। सत्तिगुम्ब चोरों के पास (चला गया) और मैं यहाँ ऋषियों के पास। वह असत्पुरुषों के पास, मैं यहाँ सत्पुरुषों के पास। वह भी (चोरों के) धर्म बिना नहीं है ॥१८-१९॥]

अब उस 'धर्म' की व्याख्या करते हुए दो गाथायें कहीं—

तत्थ वधो च बन्धो च निकती वञ्चनानि च
आलोपा, सहसाकारा, तानि सो तत्थ सिक्खति ॥२०॥
इध सच्चं च धम्मो च अहिंसा सञ्जमो दमो,
असनूदकदायीनं अङ्के वद्धोस्मि भारत ॥२१॥

[वह वहाँ मरना, बाँधना, ठगी, वञ्चा, ग्राम-घात तथा डाका डालना सीखता है ॥२०॥ हे भारत ! यहाँ मैं अतिथियों यो आसन तथा जल देने वालों की गोद में पला हूँ। यहाँ सत्य है, धर्म है, अहिंसा है तथा संयम है ॥२१॥]

अब राजा को धर्मोपदेश देते हुए ये गाथायें कहीं—

यं यं हि राजा भजति सतं वा यदि वा असं
सीलवन्तं विसीलं वा वसं तस्सेव गच्छति ॥२२॥
यादिसं कुरुते मित्तं यादिसं चूपसेवति
सोपि तादिसको होति सहवासो हि तादिसो ॥२३॥
सेवमानो सेवमानं सम्फुट्ठो सम्फुसं परं
सरो दिद्धो कलापं व अलित्तं उपलिम्पत्ति ॥२४॥
उपलेपभया धीरो नेव पापसखा सिया,
पूतिमच्छं कुसग्गेन यो नरो उपनय्हति
कुसापि पूतो वायन्ति, एवं बालूपसेवना ॥२५॥
तगरञ्च पलासेन यो नरो उपनय्हति
पत्तापि सुरभि वायन्ति, एवं धीरूपसेवना ॥२६॥

तस्मा फलपुट्टस्सेव ञत्वा सम्पाकं अत्तनो
असन्ते नूपसेवेय्य सन्ते सेवेय्य पण्डितो
असन्ता निरयं नेन्ति सन्ता पापेन्ति सुग्गतिं ॥२७॥

राजा ! जैसी जो संगति करता है सत्पुरुष को अथवा असत्पुरुष की, सदाचारी की अथवा दुराचारी की—वह वैसा ही हो जाता है ॥२२॥ जैसे आदमी से मित्रता करता है, जैसे आदमी की संगति करता है, वह भी वैसा ही हो जाता है, (क्योंकि) उसकी संगति ही वैसी है ॥२३॥ संगति किया जाने वाला संगति करने वाले को, स्पर्श किया जाने वाला स्पर्श करने वाले को उसी प्रकार लथेड़ देता है, जैसे विष से दग्ध तीर सारे तीरशेर-समूह को ॥२४॥ धीर पुरुष को चाहिए कि वह कलुषित हो लाने के डर से पापी की संगत न करे। जिस प्रकार यदि कोई आदमी कुशाओं के साथ सड़ी हुई मछली ले जाता है, तो उन कुशाओं से भी दुर्गन्ध आने लग जाती है—यही हाल मूर्ख की संगति का है ॥२५॥ यदि कोई आदमी पलाश के पत्तों में तगर को ले जाता है, तो उन पत्तों से भी सुगन्ध आने लग जाती है—यही हाल धीर पुरुष की संगति का है ॥२६॥ इस प्रकार अपने आप को उस दोने के ही समान समझ, पण्डित आदमी को चाहिए कि वह असत्पुरुषों की संगति न करे, सत्पुरुषों की ही संगति करे। असत्पुरुष नरक ले जाते हैं; सत्पुरुष स्वर्ग प्राप्त करा देते हैं ॥२७॥]

राजा उसके धर्मोपदेश से प्रसन्न हुआ। ऋषिगण भी आ गये। राजा ने ऋषियों को प्रणाम कर उनसे प्रार्थना की—भन्ते ! मुझ पर कृपा कर, मेरे रहने की जगह आ कर रहें। इस प्रकार ऋषियों से वचन ले, राजा अपने नगर लौटा और तोतों को मुक्त कर दिया। ऋषि भी वहाँ गये। राजा ने ऋषियों को उद्यान में बसाया और जन्म भर उनकी सेवा करता रह कर स्वर्गगामी हुआ। उसके पुत्र ने भी छत्रधारी हो, ऋषियों की सेवा की। उस वंश-परम्परा में सात राजाओं ने दान दिये। बोधिसत्व जंगल में रहते हुए ही कर्मानुसार परलोक सिधारे।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला 'भिक्षुओं, इस प्रकार पहले भी देवदत्त की मण्डली पाप-मण्डली ही रही' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय सत्तिगुम्ब देवदत्त था, चोर देवदत्त-मण्डली, राजा आनन्द, ऋषिगण बुद्ध-परिषद् और पुष्फक तोता तो मैं ही था।

५०४. भल्लाटिय जातक

"भल्लाटियो नाम अहोसि राजा....." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय मल्लिकादेवी के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उसका एक दिन शयन के बारे में राजा से झगड़ा हो गया। राजा ने गुस्से हो उसकी ओर से मुँह फेर लिया। उसने सोचा—निश्चय से शास्ता नहीं जानते हैं कि राजा मुझ से क्रुद्ध हो गया है। शास्ता को जब इसका पता लगा, तो वे अगले दिन भिक्षु-संघ सहित भिक्षाटन करने के अनन्तर राजद्वार पर पहुँचे। राजा ने आगवानी कर, भिक्षापात्र लिया और शास्ता को प्रसाद पर ले गया। वहाँ भिक्षुओं को क्रमशः बिठाया, दक्षिणा-जल दिया और श्रेष्ठ आहार परोसा। फिर भोजन समाप्त हो जाने पर वह एक ओर बैठा। "महाराज क्या बात है, मल्लिका नहीं दिखाई देती?" "अपने सुख में भूली होने के कारण।" "महाराज! क्या पूर्व-जन्म में जब तू किन्नर की योनि में पैदा हुआ था, तब एक रात किन्नरी से पृथक रह जाने के कारण सात वर्ष तक रोता-पीटता रहा था?" उसके प्रार्थना करने पर शास्ता ने पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में भल्लाटिय नाम का राजा राज्य करता था। उसको इच्छा हुई कि अंगार पर पका हुआ मृग-मांस खाये। उसने राज्य अमात्यों को सौंपा और पाँचों आयुधों से सुसज्जित हो, सुशिक्षित, अच्छी नसल के कुत्तों को साथ लिया। नगर से निकल वह हिमालय पहुँचा। वहाँ गंगा के साथ-साथ चलना आरम्भ किया। जब और ऊपर न जा सका, तो गंगा में गिरने वाली एक नदी देख, उसी के साथ-साथ चल, मृग सूअर आदि मार, उनका अंगार-पका

मांस खाता हुआ ऊँची जगह पर चढ़ा । जिस समय वह रमणीय नदी भरी रहती थी, तब छाती तक पहुँचती थी, अन्यथा घुटनों तक ही रहती । उसमें नाना प्रकार के मच्छ-कच्छुवे विचरते थे, पानी के सिरे पर रजत-वस्त्र जैसा बालू, और दोनों किनारों पर नाना प्रकार के फूल-फल के भार से झुके हुए वृक्ष थे, जिनकी छाया में पुष्प-फल के रस से मस्त नाना प्रकार के पक्षी तथा नाना प्रकार के मृग इकट्टे हो कर बैठे थे । इस प्रकार रमणीय हेमवती नदी के किनारे दो किन्नर परस्पर आलिंगन कर, चुम्बन कर, नाना प्रकार से विलाप कर रहे थे । राजा ने उस नदी के किनारे गन्धमादन पर्वत पर चढ़ते हुए उन किन्नरों को देख सोचा—यह किन्नर इस प्रकार रोते हैं, इन्हें पूछूँगा । तब उसने कुत्तों की ओर देख; चुटकी बजायी । सुशिक्षित, अच्छी नसल के कुत्ते, उस इशारे को समझ, झाड़ी में घुस कर पेट के बल लेट रहे । उसने उन्हें ध्यान-मग्न देख, धनुष तथा शेष आयुधों को खड़े हुए वृक्ष के सहारे रखा और बिना पाँव की आवाज किये धीरे-धीरे उनके पास पहुँच, पूछा—

"तुम किस कारण रोते हो ?"

इस बात को प्रकट करने के लिए शास्ता ने तीन गाथायें कहीं—

मल्लाटियो नाम अहोसि राजा
रज्जं पहाय मिगवं अचारि सो
अगमा गिरिवरं गन्धमादनं
सम्पुप्फितं किम्पुरिसानुचिण्णं ॥१॥
सालूरसङ्घञ्च निसेधयित्वा
धनुकलापञ्च सो निक्खिपित्वा
उपागमी वचनं वत्तुकामो
यत्थट्ठिता किम्पुरिसा अहेसुं ॥२॥
हिमच्चये हेमवताय तीरे
किं इधट्ठिता मन्तयव्हो अभिण्हं
पुच्छामि वो मानुसदेहवण्णे
कथं वो जानन्ति मनुस्सलोके ॥३॥

[मल्लाटिय नाम का राजा था । उसने राज्य छोड़ा और शिकार के लिए गया । वह गन्धमादन पर्वत पहुँच, जो फल-फूल से लदा था और जहाँ किन्नर

रहते थे ॥१ । उसने कुत्तों के दल को पीछे छोड़ा और धनुष तथा (तीर) समूह को रख जहाँ वे किन्नर थे, वहाँ उनसे बातचीत करने के लिए पहुँचा। चारों हेमन्तमासों की समाप्ति पर, यहाँ हेमवती नदी के किनारे खड़े होकर परस्पर क्या मन्त्रणा कर रहे हो ? हे मानुषी देहधारियों ! तुम्हें मनुष्य-लोक में क्या कहा जाता है ? ॥३॥]

राजा की बात सुन, किन्नर चुप हो गया। किन्नरी ने राजा से बातचीत की–

मल्लङ्गिरिं पंडरकं तिकूटं
सीतोदिया अनुविचराम नज्जो,
मिगा मनुस्सा व निसास वण्णा
जानन्ति नो किंपुरिसा च लुद्दा ॥४॥

[हम मल्लगिरि, पण्डरक, त्रिकूट नामक शीतोदक नदियों के तट पर घूमते हैं। हमें मृग मनुष्यवत समझते हैं, किन्तु शिकारी किन्नर कहते हैं ॥४॥]

तब राजा ने तीन गाथायें कहीं—

सुकिच्छरूपं परिदेव यव्हो
आलिंगतो चासि पियो पियाय,
पुच्छामि वो मानुसदहपण्णे
किं इध वने रोदथ अप्पतीता ॥५॥

सुकिच्छरूपं परिदेवयव्हो
आलिंगतो चासि पियो पिपाय,
पुच्छामि वो मानुसदेहवण्णे
किं इध वने विलपथ अप्पतीता ॥६॥

सुकिच्छरूपं परिदेवयव्हो
आलिंगितो चासि पियो पिपाय,
पुच्छामि वो मानुसदेहवण्णे
किं इध वने सोचथ अप्पतीता ॥७॥

[प्रेमी और प्रेमिका का आलिंगन हो रहा है तथा अति-दुःखित होकर रो-पीट रहे हो। हे मनुष्य देहधारियों ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम यहाँ जंगल में असन्तुष्ट होकर क्यों रो रहे हो ? ॥५॥ प्रेमी और प्रेमिका . क्यों विलाप कर रहे हो ? ॥६॥ प्रेमी और प्रेमिका. . .क्यों सोच रहे हो ? ॥७॥]

इसके आगे की गाथायें दोनों का परस्पर वार्तालाप हैं—

मयेकरतिं (व) प्पसिम्ह लुद्द
अकामका अञ्ञमञ्ञं सरन्ता
तं एकरतिं अनुतप्पमाना
सोचाम, सा रत्ति पुनं न हेस्सति ॥८॥

[हे शिकारी ! हम एक रात अनिच्छापूर्वक एक दूसरे को याद करते हुए पृथक रहे। उस एक रात के अनुताप को याद करते हुए सोचते हैं कि वह एक रात फिर न आये ॥८॥]

यमेकरतिं अनुतप्पथेतं
धनं व नट्ठं पितरं व पेतं
पुच्छामि वो मानुसदेहवण्णे
कथं विनावासं अकप्पयित्थ ॥९॥

[हे मनुष्य देहधारियों ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि यह जो तुम अकेले चिन्ता कर रहे हो, तो क्या तुम्हारा धन नष्ट हो गया अथवा माता-पिता मर गये ? ॥९॥]

यं इमं नदिं पस्ससि सीधसोतं
नाना दुमच्छदनं सेलकूटं
तं मे पियो उत्तरि वस्सकाले
ममं च मञ्ञं अनुबन्धति ॥१०॥

[यह जो नाना प्रकार के वृक्षों से ढकी, दो पर्वत-शिखरों के बीच, शीघ्र-गामी नदी देखते हो, मेरा प्रिय (स्वामी) यह समझ कि मेरे पीछे-पीछे आती होगी, वर्षाकाल में बाढ़ आने पर (इससे) पार हो गया ॥१०॥]

अहञ्च अंकोलकं ओचिनामि
अतिमुत्तकं सत्तलियोथिकञ्च
पियो च मे हेहिति मालभारी
अहञ्च नं मालिनी अज्झुपेस्सं ॥११॥
अहञ्च इदं कुरवकं ओचिनामि
उद्दालका पाटलि सिन्दुवारित

पियो च मे होहिति मालभारी
अहञ्च नं मालिनी अज्झुपेस्सं ॥१२॥
अहञ्च सालिस्स सुपुष्फितस्स
ओचेय्य पुप्फानि करोमि मालं
पियो च मे होहिति मालभारी
अहञ्च नं मालिनी अज्झुपेस्सं ॥१३॥
अहञ्च सालस्स सुपुप्फितस्स
ओचेय्य पुप्फानि करोमि भारं
इदं च नो होहिति सन्थरत्थं
यत्थ अज्ज णं विहरिस्सानु रत्ति ॥१४॥

[मैं इसी तीर पर) अंकोलक, अतिमुक्तक, सत्तालिय तथा ओथिक फूल चुनती रही, यही सोचकर कि मेरा स्वामी मालाधारी होगा और मैं उसकी मालिनी बन कर उसे प्राप्त होऊँगी ॥११॥ और मैं यह कुरबक, उद्दालक तथा पाटलि सिन्दुवारित चुनती रही, यही सोच कर कि मेरा स्वामी माला-धारी होगा और मैं उसकी मालिनी होकर उसे प्राप्त होऊँगी ॥१२॥ मैं सुपुष्पित शाल के फूल चुन कर माला बनाती रही, यही सोच कर कि मेरा मालाधारी होगा और मैं उसकी मालिनी होकर उसे प्राप्त होऊँगी ॥१३॥ मैंने शाल के सुपुष्पित फूल चुन कर ढेर लगाये कि ये हमारे बिछौने होंगे, जिस पर आज रात को हम विहार करेंगे ॥१४॥

अहञ्च खो अकलुं चन्दनञ्च
सिलाय पिंसामि पमत्तरूपा
पियो च मे होहिति रोमितांगो
अहञ्च नं रोसिता अज्झुपेस्सं ॥१५॥

[मैं प्रमादवश श्वेत चन्दन तथा लाल चन्दन शिला पर पीसती रही कि मेरा स्वामी अंग-लेप करेगा और मैं अंगलिप्त हो कर उसे प्राप्त होऊँगी ॥१॥]

अथागमा सलिलं सीघसोतं
नुदं साले सलले कण्णिकारे,
अपूरथ तेन मुहुत्तकेन
सायं नदी आसि मया सुदुत्तरा ॥१६॥

[तब तेज बहने वाली धार आयी और मेरे शाल, सलल तथा कर्णिका के फूल बहा कर ले गयी। उसी समय नदी भर गयी और मैं उसे पार नहीं कर सकी ॥१६॥]

उभोसु तीरेसु मयं तदा ठिता
सम्पस्सन्ता उभयो अञ्ञमञ्ञं,
सकिं पि रोदाम सकिं हसाम
किच्छेन नो अगमा संवरी सा ॥१७॥

[उस समय हम दोनों एक-दूसरे को देखते हुए दोनों किनारो पर खड़े थे। एक बार रोते थे, एक बार हँसते थे। हमारी वह रात कठिनाई से बीती ॥१७॥]

पातो च खो उग्गते सूरियम्हि
चतुक्कं नदिं उत्तरियान लुद्द
आलिंगिया अञ्ञमञ्ञं उभो
सकिं पि रोदाम सकिं हसाम ॥१८॥

[प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर जब नदी उतर कर खाली हो गयी, तब हम दोनों एक-दूसरे का आलिंगन कर, एक बार रोते थे और एक बार हँसते थे ॥१८॥]

तीह ऊनकं सत्त सतानि लुद्द
यं इध मयं विप्पवसिम्ह पुब्बे
वासेक इमं जीवितं भूमिपाल
को नोध कन्ताय बिना वसेय्य ॥१९॥

[हम जब पृथक् हुए थे, उसे हे शिकारी! तीन कम सात सौ वर्ष हुए। हे भूमिपाल! यहाँ एक वास(=एक दिन रहना) जीवन भर लगता है। बिना प्यारे के यहाँ कौन रहे? ॥१९॥

आयुञ्च वो कीवतको नु सम्म,
सचे पि जानाथ वदेथ आयुं,
अनुस्सवा वद्धतो आगमा वा
अक्खाथ मे तं अविकम्पमाना ॥२०॥

[मित्र यदि परम्परा से या बड़े बूढ़ों से सुन कर जानते हो, तो बिना घबराये अपनी आयु कहो—तुम्हारी आयु कितनी है? ॥२०॥]

आयुञ्च नो वस्स सहस्स लुद्द
न चन्तरा पापको अत्थि रोगो,
अप्पं च दुक्खं सुखं एव भिय्यो
अवीतरागा विजहाम जीवितं ॥२१॥

[हे शिकारी ! हमारी आयु सहस्र वर्ष की है और बीच में कोई पापी-रोग भी नहीं है। दुःख थोड़ा है, सुख ही अधिक है। हम मृत्यु-पर्यन्त प्रेमी रहेंगे ॥२१॥]

यह सुन राजा ने सोचा--"ये पशु योनि में उत्पन्न होकर भी एक रात के वियोग-परिणामस्वरूप सात सौ वर्ष तक रोते घूमते रहे, किन्तु मैं तीन सौ योजन का राजा होकर भी राज्य की महान् सम्पत्ति छोड़कर जंगल में भटक रहा हूं। ओह ! मेरा जीवन निष्फल है।" वह रुका और वाराणसी पहुँचा। जब अमात्यों ने पूछा कि महाराज आपने हिमालय में क्या आश्चर्य देखा, तो उसने सब हाल कह सुनाया और उसके बाद दानादि देता हुआ भोग भोगने लगा।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने यह गाथा कही—

इदञ्च सुत्वान अमानुसानं
भल्लाटियो इत्तरं जीवितंति
निवत्तथ न मिगवं अचारि
अदासि दानानि अभुञ्जि भोगे ॥२२॥

[अर्थ ऊपर आ गया है।]

इसके आगे कहते हुए दो और गाथायें कहीं--

इदञ्च सुत्वान अमानुसानं
सम्मोदथ मा कलहं अकत्थ
मा वो तपी अत्तकम्मापराधो
यथापि ते किम्पुरिसेकरत्तिं ॥२३॥
इदञ्च सुत्वान आमानुसानं
सम्मोदथ मा विवादं अकत्थ
मा वो तपी अत्तकम्मापराधो
यथापि ते किम्पुरिसेकरत्तिं ॥२४॥

[यह अमनुष्यों की बात सुनकर प्रसन्न होवो, कलह मत करो। आत्मकर्म-दोष से अनुतप्त मत हो। जिस प्रकार वे किन्नर अपने एक रात के दोष के कारण ॥२३॥
यह मनुष्यों की बात . . . . विवाद . . . . . . दोष से कारण ॥२४॥]

मल्लिका देवी ने तथागत की धर्म-देशना सुनी, तो आसन से उठकर अञ्जली जोड़ तथागत की स्तुति करते हुए अन्तिम गाथा कही—

विविधं अधिमना सुणोमहं
वचनपथं तवमत्थसंहितं
मुञ्च गिरं नुदसेव मे दरं
समण सुखावह जीव मे चिरं ॥२५॥

[मैं आपके नाना प्रकार के अर्थ-कर प्रवचनों को प्रसन्नचित्त से सुनती हूँ। आप उपदेश दें, उससे मेरी पीड़ा दूर होगी ही। हे मेरे सुखदायक श्रमण! आप चिरकाल तक जीवित रहें ॥२५॥]

इसके बाद से कोशल-राज उसके साथ मेल मिलापपूर्वक रहने लगा।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय किन्नर कोशल राजा था, किन्नरी मल्लिकादेवी थी, भल्लाटिय राजा तो मैं ही था।

५०५. सोमनस्स जातक

"को तं हिंसति हेठेति . . . . . ."यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के वध करने के प्रयत्न के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस समय शास्ता ने—"भिक्षुओं! न केवल अभी, किन्तु पहले भी इसने मेरे वध के लिए प्रयत्न किया है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कुरु देश में उत्तर पञ्चाल नगर में रेणु नाम का राजा राज्य करता था। उस समय महारक्षित नामक तपस्वी पाँच सौ तपस्वियों को साथ ले, हिमालय में रहता था। वह नमक-खटाई खाने के लिए विचारता-विचारता उत्तर पञ्चाल नगर में आ पहुँचा। वहाँ राजा के उद्यान में रहते हुए अनुयायियों सहित भिक्षाटन के लिए निकल, राज-द्वार पर पहुँचा। राजा ने ऋषियों की मण्डली को देखा, तो उनकी चर्या से प्रसन्न हो, उन्हें ले जाकर अलंकृत ऊँचे तल्ले पर बिठाया। फिर बढ़िया भोजन परोस, प्रार्थना की कि भन्ते इस वर्षाऋतु में मेरे ही उद्यान में रहें। वह उनके साथ उद्यान गया और निवास-स्थान तैयार करवा, प्रव्रजितों की उपयोगी वस्तुएँ दे, प्रणाम करके चला आया। तब से वे सभी राजभवन में ही भोजन करते थे।

राजा को कोई सन्तान न थी। वह पुत्र की कामना करता था। पुत्र न होता था। वर्षाऋतु की समाप्ति पर महारक्षित ने 'अब हिमालय रमणीय हो गया है, वहीं जायेंगे" कह राजा से विदा माँगी। राजा ने सम्मानपूर्वक विदा किया। महारक्षित रास्ते में मध्याह्न होने पर रास्ते से हटकर एक घनी छाया वाले वृक्ष के नीचे नयी घास पर अपने अनुयाइयों सहित बैठे। तपस्वियों ने बात-चीत चलायी--राजगृह के वंश की रक्षा करने वाला पुत्र नहीं है, अच्छा हो यदि राजा को पुत्र हो जाये तो उसकी परम्परा चले। महारक्षित ने भी उनकी बात-चीत सुन, ध्यान लगा कर सोचा कि राजा को पुत्र होगा अथवा नहीं? यह मालूम होने पर कि "होगा" उसने कहा—"आप लोग चिन्ता न करें। आज तड़के एक देव-पुत्र (देवलोक से) च्युत होकर राजा की पटरानी की कोख में प्रवेश करेगा।" यह सुनकर कुटिल जटाधारी तपस्वी ने सोचा अब मैं राजपरिवार का विश्वासी बनूँगा।' जब तपस्वी चलने लगे, वह रोग का बहाना बनाकर पड़ा रहा। उसे कहा गया 'आओ चलें'। वह बोला-- 'असमर्थ हूँ'। महारक्षित ने उसके लेटे रहने का कारण जान कहा--'-जब आ सके तब आना।" वह ऋषिगण को लेकर . . . . हिमालय ही चले गये।

वह ढोंगी भी रुका और जल्दी से राज-द्वार पर पहुँच, राजा को कहलाया कि महारक्षित का सेवक तपस्वी आया है। राजा ने उसे जल्दी से प्रासाद के

ऊपर बुलवाया। वहाँ वह बिछे आसन पर बैठा। राजा ने उस ढोंगी को प्रणाम कर एक ओर बैठ, ऋषियों का कुशल क्षेम पूछकर कहा--"भन्ते ! बड़ी जल्दी वापिस लौटे। किस कारण से जल्दी आये ?"

"हाँ महाराज ! ऋषियों ने सुखपूर्वक बैठे हुये बातचीत चलाई कि अच्छा हो यदि इस राजा की वंश-परम्परा की रक्षा करने वाला कोई पुत्र पैदा हो। यह बात-चीत सुन मैंने--"क्या राजा को पुत्र होगा ?" विचार करते हुए दिव्यचक्षु से देखा कि महाप्रतापी देव-पुत्र (देवलोक से) च्युत होकर सुधर्मा पटरानी की कोख में प्रवेश करेगा। कहीं अनजान में गर्भ नष्ट न कर दें इसलिए तुम्हें सूचना देने के लिये आया। अब मैंने सूचना दे दी है। महाराज ! मैं जाता हूँ। राजा ने "भन्ते ! नहीं जा सकते" कहा और प्रसन्न-चित्त हो ढोंगी तपस्वी को उद्यान ले जा, निवासस्थान की व्यवस्था की। तब से वह राजकुल में ही भोजन करने लगा। उसका नाम भी हो गया 'दिव्यचक्षु'।

उस समय बोधिसत्व ने त्रयोविंश-भवन से च्युत होकर वहीं जन्म ग्रहण किया। पैदा होने पर नाम-करण के दिन नाम रक्खा गया 'सोमनस्स कुमार'। उसका राजकुमार की तरह ही पालन-पोषण होने लगा। ढोंगी तपस्वी ने उद्यान में ही एक ओर सब्जी-तरकारी लगाकर, व्यापारियों के हाथ बेच धन इकट्ठा किया। जब बोधिसत्व सात वर्ष का हुआ तब राजा के इलाके में विद्रोह हो गया। राजा ने कुमार को दिव्यचक्षु तपस्वी की ओर से उदासीन न रहने के लिये कहा और स्वयं प्रत्यन्त देश को शान्त करने के लिये गया।

एक दिन राजकुमार जटिल तपस्वी को देखने के लिये उद्यान गया। उसने देखा कि वह एक कपड़े की गाँठ लगाकर उसे पहने है और दूसरे को ओढ़े है, तथा दोनों हाथों में पानी के घड़े लेकर शाक-तरकारी में सींच रहा है। उसने यह जान कि यह दुष्ट तपस्वी अपने श्रमण-धर्म का पालन न कर माली का काम कर रहा है, उसे "हे गृहस्थ ! माली क्या कर रहा है ?" कह लज्जित किया और बिना प्रणाम किये चला गया। दुष्ट तपस्वी ने सोचा--"यह अभी इतना विरोधी है, कौन जाने (आगे) क्या करेगा ? इसे अभी मरवा डालना उचित है।" राजा के आगमन के समय वह पत्थर की शिला को एक ओर फेंक, पानी के घड़ों को फोड़, पर्णकुटी में घास को इधर-उधर बिखेर, शरीर पर तेल पोत, पर्णशाला में जाकर सिर-मुंह ढक कर, चारपाई पर लेट रहा मानों अत्यन्त

पीड़ा-ग्रस्त हो। राजा लौटा तो नगर की प्रदक्षिणा करने के बाद बिना राज-भवन गये ही अपने स्वामी दिव्य-चक्षुधारी को देखने के लिए पर्ण-कुटी के द्वार पर पहुँचा। वहाँ ऐसी अस्त-व्यस्तता देख, 'यह क्या बात है ?' सोचते हुए उसने अन्दर जा, उसे लेटा देख, उसके पाँव दबाते हुए पहली गाथा कही—

को तं हिंसति हेठेति
किं नु दुम्मनो सोचसि
कस्स अज्ज मातापितरो रुदन्तु
क्वज्ज सेतु निहतो पठव्या ॥१॥

[कौन (तुझे) कष्ट देता है ? कौन गाली देता है ? क्या कारण है कि तू अप्रसन्न हो चिन्ता कर रहा है ? आज किसके माता पिता को रोना होगा ? आज कौन मारा जाकर पृथ्वी पर सोयेगा ? ॥१॥

यह सुन दुष्ट तपस्वी ने बड़बड़ाते हुए उठकर दूसरी गाथा कही—

तुट्ठोस्मि देव तव दस्सनेन,
चिरस्स पस्सामि तं भूमिपाल,
अहिंसको रेनुमनुप्पविस्स
पुत्तेन ते हेठयितोस्मि देव ॥२॥

[हे देव ! मैं आपको देखकर प्रसन्न हुआ। हे भूमिपाल, चिरकाल के बाद दिखाई दिये, हे रेणु ! तेरे पुत्र ने ही मुझे निर्दोष पीटा है ॥२॥

इसके आगे की गाथाओं का क्रम स्पष्ट है—

आयंतु दोवारिका खग्गबद्धा
कासाविया यंतु अंतेपुरं तं,
हन्त्वान तं सोमनस्सं कुमारं
छेत्वान सीसं वरं आहरन्तु ॥३॥

[खड्गधारी द्वारपाल आवें और जो चोर-घातक हैं वे अन्तःपुर में जाकर उस सोमनस्स कुमार को मारकर उसका सिर काट लायें ॥३॥]

पेसिता राजिनो दूता कुमारं एतदब्रुवं
इस्सरेन वितिण्णोसि, वधप्पत्तो सि खत्तिय ॥४॥

[राजा द्वारा भेजे गये दूतों ने कुमार को इस प्रकार कहा--हे राजकुमार तेरा राजा ने त्याग कर दिया है, तू मार दिया जायेगा ॥४॥]

स राजपुत्तो परिदेवयन्तो
दस अंगुलिं अञ्जलिं पग्गहेत्वा
अहंपि इच्छामि जनिन्द दट्ठुं,
जीवं पनेत्वा पटिदस्सयेथ ॥५॥

[उस राजकुमार ने रो पीट कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रार्थना की--मैं राजा को देखना चाहता हूँ। मुझे जीते जी ले जाकर दिखाओ ॥५॥]

तस्स तं वचनं सुत्वा रञ्ञो पुत्तं अदस्सयुं,
पुत्तो च पितरं दिस्वा दूरतोव अज्झभासथः ॥६॥
आगच्छु दोवारिका खग्गबद्धा
कासाविया हन्तु ममं जनिंद,
अक्खाहि मे पुच्छितो एतमत्थं
अपराधो कोनीध ममज्ज अत्थि ॥७॥

[उसकी यह बात सुन कर वे राजकुमार को राजा के पास ले गये। राजकुमार ने पिता को देखा तो दूर से ही बोला--खड्गधारी द्वारपाल आवें और हे राजन ! चोर-घातक मुझे मार डालें। लेकिन मेरे पूछने पर आप मुझे यह तो बतायें कि आज यहाँ मैंने क्या अपराध किया है ?॥६-७॥]

राजा ने "भवाग्र बहुत नीचा है, तेरा दोष उससे भी महान् है" कह उसका अपराध बताते हुए यह गाथा कही--

सायं च पातो उदकं सजाति
अग्गिं सदा परिचरणप्पमत्तो,
तं तादिसं संयतं ब्रह्मचारिं
कस्मा तुवं ब्रूसि गहपति ॥८॥

[यह सायं प्रातः जलारोहण करता है और नित्य अप्रमादि हो अग्निपूजा करता है। तू इस तरह के संयमी ब्रह्मचारी को 'गृहस्थ' क्यों कहता है ? ॥८॥]

तब राजकुमार ने "देव ! मैंने गृहस्थ को ही गृहस्थ कहा है, इसमें मेरा क्या अपराध है" कह यह गाथा कही--

ताला च मूला च फला च देव
परिग्गहा विविधा सन्तिमस्स,
ते रक्खति गोपयत अप्पमत्तो
ब्राह्मणो गहपति तेन होति ॥९॥

[हे देव ! इसके पास ताड़ हैं, जड़ें हैं और फल हैं—इस प्रकार यह नाना परिग्रह वाला है। यह उनको सँभाल रखता है, उन्हें छिपाकर रखता है। इसी तरह ही ब्राह्मण 'गृहस्थ' होता है ॥९॥]

मैंने भी इसे 'गृहस्थ' कहा, यदि विश्वास न हो तो चारों दरवाजों पर के मालियों से पुछवा लें।" राजा ने पुछवाया। वे बोले—"हाँ, हम इसके हाथ से पत्ते और फल-मूल खरीदते हैं।" उन्होंने बिक्री की सामग्री भी मँगाकर राजा के सामने रख दी। लोग उसकी पर्णशाला में भी घुस गये और साग-सब्जी की बिक्री से जो कार्षापण तथा मासक कमाये थे, उनकी ढेरी निकाल कर राजा को दिखायी। राजा ने बोधिसत्व की निर्दोषता जानकर यह गाथा कही--

सच्चं खो एतं वदसि कुमार
परिग्गहा विविधा सन्तिमस्स,
ते रक्खति गोपयतप्पमत्तो
ब्राह्मणो गहपति तेन होति ॥१०॥

[कुमार ! तू यह सत्य कहता है। इसने बहुत संग्रह किया है और अप्रमादी हो कर छिपाता है, रक्षा करता है। इसी से ब्राह्मण 'गृहस्थ' होता है ॥१०॥]

तब बोधिसत्व ने सोचा--"इस प्रकार के मूर्ख राजा के पास रहने से हिमालय में जाकर प्रव्रजित होना अच्छा है। लोगों की उपस्थित में ही इसका दोष प्रकट कर, आज्ञा ले, आज ही निकल कर प्रव्रजित होऊँगा।" उसने लोगों को नमस्कार कर निवेदन किया--

सुणन्तु मय्हं परिसा समागता
सनेगमा जानपदा च सब्बे
बालायं बालस्स बचो निसम्म
अहेतुना घातगते जनिन्द ॥११॥

[निगम तथा जनपद के सभी समागत लोग मेरी बात सुनें—यह मूर्ख राजा मूर्ख की बात सुनकर अकारण ही (मेरी) हत्या करवाता है ॥११॥]

यह कह अनुज्ञा माँगते हुए यह गाथा कही—

दळ्हस्मि मूले विसते विरूळ्हे
दुन्निक्खयो वेळु पसाखजातो
वन्दामि पादानि तवं जनिन्द
अनुजान मं पब्बजिस्सामि देव ॥१२॥

[(मैं) दृढ़, विशाल खोदे न जा सकने वाले बाँस में एक शाखा पैदा हुआ हूँ। हे राजन् ! मैं तेरे चरणों में प्रणाम करता हूँ, मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा दे दें ॥१२॥]

आगे की गाथायें राजा और पुत्र का प्रश्नोत्तर हैं—

भुञ्जस्सु भोगे विपुले कुमार
सब्बं च ते इस्सरियं ददामि,
अज्जेव त्वं कुरुनं होहि राजा,
मा पब्बाजि पब्ब्जा हि दुक्खा ॥१३॥

[हे कुमार ! तू विपुल भोगों को भोग। मैं तुझे सब ऐश्वर्य देता हूं। आज ही तू कुरु (जनपद) का राजा हो जा। प्रव्रजित मत हो, प्रव्रजित होना दुःखकर है ॥१३॥]

किं नूध देव तवं अत्थि भोगा
पुब्बेवहं देवलोके रमिस्सं
रूपेहि सद्देहि अथो रसेहि
गन्धेहि फस्सेहि मनोरमेहि ॥१४॥

[हे देव ! यहाँ तेरे पास कौन से भोग हैं ? मैं पहले ही देवलोक में दिव्य रूप, शब्द, रस, गन्ध तथा स्पर्श का आनन्द ले चुका हूँ ॥१४॥]

भुत्ता मे भोगा तिदिवस्मि देव
परिवारिता अच्छरासं गणेन,
तवं च बालं परनेय्यं विदित्वा
न तादिसे राजकुळे वसेय्यं ॥१५॥

[हे देव ! मैंने देव-लोक में (बहुत) भोग भोगे हैं। मैं अप्सराओं से घिरा रहा हूं। अब तुझे मूर्ख तथा दूसरों द्वारा (अन्धे की तरह) जिधर कोई चाहे उधर

ले जाया जा सकने वाला जान लिया है। इसलिए मैं अब ऐसे राजकुल में नहीं रहूँगा ॥१५॥]

सचाहं बालो परनेय्योहंस्मि
एकापराधं खम पुत्त मय्हं,
पुन पि चे एदिसकं भवेय्य
यथामतिं सोमनस्सं करोहि ::१६::

[हे पुत्र ! यदि मैं दूसरों का अन्धानुकरण करने वाला हूँ तो तू मेरे एक अपराध को क्षमा कर। यदि फिर मुझसे गलती हो, तो हे सोमनस्स ! जो तेरे मन में आये सो करना ॥१६॥]

बोधिसत्व ने राजा को उपदेश देते हुए आठ गाथायें कहीं--

अनिसम्म कतं कम्मं अनवत्थाय चिन्तितं
भेसज्जस्सेव वेभंगो, विपाको होति पापको ॥१७॥
निसम्म च कतं कम्मं सम्मावत्थाय चिन्तितं
भेसज्जस्सेव सम्पत्ति विपाको होति भद्रको ॥१८॥
अलसो गिही कामभोगी न साधु
असञ्ञतो पब्बजितो न साधू
राजा न साधु अनिसम्मकारी
यो पण्डितो कोधनो तं न साधु ॥१९॥
निसम्म खत्तियो कयिरा नानिसम्म दिसम्पति,
निसम्मकारिनो राजा यसो कित्ति च वड्ढति ॥२०॥
निसम्म दण्डं पणयेय्य इस्सरो,
वेगा कतं तपते भूमिपाल,
सम्मापणिधि च नरस्स अत्था
अनानुतप्पा ते भवन्ति पच्छा ॥२१॥
अनानुतप्पानि हि ये करोन्ति
विभज्ज कम्मायतनानि लोके
विञ्ञूपसत्थानि सुखुद्रयानि
भवन्ति बद्धानुमतानि तानि ॥२२॥

आगच्छु दोवारिका खग्गबद्धा
कासाविया हन्तु ममं जनिन्द
मातुच्च अंकस्मि अहं निसिन्नो
आकड्ढितो साहसा तेहि देव ॥२३॥
कट्ठकं हि सम्बाधं सुकिच्छ पत्तो,
मधुर पियं जीवितं लद्ध राज
किच्छेन अहं अज्ज वधा पमुत्तो
पब्बज्जं एवाभिमनोहं अस्मि ॥२४॥

[बिना विचारे किया गया काम और अस्थिर-चिन्तन ऐसे ही दुष्परिणाम-कारी होता है जैसे अनुचित औषधि ॥१७॥ विचार कर किया गया काम और स्थिर चिन्तन ऐसे ही अच्छा फल देता है जैसे उचित औषधि ॥१८॥ आलसी तथा काम-भोगी गृहस्थ अच्छा नहीं, असंयमी प्रव्रजित अच्छा नहीं, बिना विचारे काम करने वाला राजा अच्छा नहीं, और जो पण्डित क्रोध करता है वह पण्डित अच्छा नहीं ॥१९॥ क्षत्रिय (= राजा) को चाहिये कि विचार कर करे। दिशाओं के पति (= राजा) को चाहिए कि बिना विचारे न करे। विचार कर काम करने वाले राजा का यश और कीर्ति बढ़ती है ॥२०॥ राजा को चाहिए कि सोच-विचार कर किसी को दण्ड दे, हे भूमिपाल ! जो जल्दबाजी करता है उसे पीछे अनुताप होता है। सम्यक् प्रकार सोच-विचार कर काम करना आदमी के लिए कल्याणकारी है। उसे पीछे अनुताप नहीं होता ॥२१॥ जो सोच-विचार कर ऐसे काम करते हैं जिनके लिए उन्हें पछताना नहीं पड़ता उनके वे काम विज्ञ पुरुषों द्वारा प्रशंसित होते हैं, सुख-दायक होते हैं और वृद्धों द्वारा अनु-मोदित होते हैं ॥२२॥ हे देव ! तुम्हारी यह आज्ञा पाकर कि काषाय-वस्त्र धारी द्वारपाल खड्ग लेकर आयें और मुझे मारें, उन्होंने मुझे माता की गोद में से जबर्दस्ती खींच लिया ॥२३॥ हे राजन् ! मैं मृत्यु भय को प्राप्त हो गया था। मुझे मधुर प्रिय जीवन प्राप्त हुआ है। मैं बड़ी कठिनाई से आज वध होने से बचा हूँ। अब मैं प्रव्रज्या ही चाहता हूँ ॥२४॥]

इस प्रकार बोधिसत्व के धर्मोपदेश देने पर राजा ने देवी को बुलाकर यह गाथा कही—

पुत्तो बतायं तरुणो सुधम्मे
अनुकम्पको सोमनस्सो कुमारो
तं याचमानो न लभामि सज्ज,
अरहासि नं याचितवे तुवं पि ।।२५।।

[हे सुधर्मे ! मेरा यह सोमनस्स पुत्र कुमार है, तरुण है, करुणा-युक्त है । मैं आज इससे प्रार्थना करके इसे प्राप्त नहीं कर सकता हूँ । तेरे लिए भी यह उचित है कि तू इससे प्रार्थना करे ।।२५।।]

उसने प्रव्रज्या की प्रेरणा करते हुए गाथा कही—

रमस्सु भिक्खाचर्याय पुत्त
निसम्म धम्मेसु परिब्बजस्सु
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
अनिन्दितो ब्रह्मं उपेति ठानं ।।२६।।

[हे पुत्र ! तू भिक्षाटन करता हुआ रमण कर और धर्मों में भली प्रकार सोच-विचार कर प्रव्रजित हो। आदमी सभी प्राणियों के प्रति दण्ड-त्यागी होने से, अनिन्दित हो, ब्रह्म-पद को प्राप्त करता है ।।२६।।]

तब राजा ने गाथा कही--

अच्छरिय रूपं वत यादिसं च
दुक्खितं मं दुक्खापयसे सुधम्मे
याचस्सु पुत्तं इति वुच्चमाना
भिय्यो व उस्साहयसे कुमारं ।।२७।।

[हे सुधर्मे ! यह आश्चर्य की बात है कि मुझ दुखी को और दुखी कर रही है ! मैंने तुझे पुत्र से प्रव्रज्या से विरत रहने की प्रार्थना करने के लिये कहा और तू कुमार को और भी उत्साहित कर रही है ।।२७।।]

देवी ने फिर गाथा कही--

ये विप्पमुत्ता अनवज्जभोजिनो
परिनिब्बुता लोकं इमं चरन्ति
तं अरियमग्गं पटिपज्जमानं
न उस्सहे वारयितुं कुमारं ।।२८।।

[जो मुक्त है, जो निर्दोष भोजन करने वाले हैं, जो निर्वाण-प्राप्त अर्थात् जीवन-मुक्त हो इस लोक में विचरते हैं, मेरी उनके आर्य-मार्ग पर चलने वाले कुमार को रोकने की इच्छा नहीं होती ॥२८॥]

उसकी बात सुन राजा ने अन्तिम गाथा कही—

अद्धा हवे सेवितब्बा सपञ्ञा
बहुस्सुता ये बहुठानचिन्तिनो
येसायं सुत्वान सुभासितानि
अप्पोसुक्का वीतसोका सुधम्मा ॥२९॥

[हे सुधर्मे ! निश्चय से उन प्रज्ञावान्, बहुश्रुत, बहुत बातें विचार करने वालों की संगति करनी चाहिये जिनके सुभाषित सुनकर ही यह कुमार अल्प-उत्सुकता वाला तथा शोकरहित हो गया ॥२९॥]

बोधिसत्व ने माता-पिता को प्रणाम कर 'यदि मेरा (कोई) अपराध हो तो क्षमा करें' कहा। फिर जनता को हाथ जोड़कर हिमालयाभिमुख हुआ। जब लोग लौट गये तो मनुष्यरूप धारी देवता आये और उसे सात पर्वत-श्रेणियों के उस पार हिमालय ले गये। वहाँ उसने विश्वकर्मा द्वारा बनवाई पर्णशाला में ऋषि-प्रव्रज्या ग्रहण की। वहाँ सोलह वर्षीय राजकुल-परिचारिकाओं का रूपधारण कर देव-मण्डली ही उसकी सेवा में रत रही। उस दुष्ट तपस्वी को जनता ने पीटकर मार डाला। बोधिसत्व ध्यान प्राप्त हो ब्रह्मलोकगामी हुए।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला 'भिक्षुओं', इस प्रकार इसने पूर्वजन्म में भी मेरे वध के लिये प्रयत्न किया ही है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय का ढोंगी (तपस्वी) देवदत्त था, माता-पिता महामाया थी, रक्षित सारिपुत्र था और सोमनस्स कुमार तो मैं ही था।

५०६. चम्पेय्य जातक

"का नु विज्जुरिवाभासि. . . . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उपोसथकर्म के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस समय शास्ता ने 'उपासकों! उपोसथ-वास करके अच्छा किया, पुराने पण्डितों ने नाग-सम्पत्ति छोड़ कर भी उपोसथ-वास किया' कह उनके प्रार्थना करने पर पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में जब अंग (राष्ट्र) में अंग-राज राज्य करते थे और मगध (राष्ट्र) में मगध-राज राज्य करते, थे अंग तथा मगध राष्ट्रों के बीच चम्पा नामक नदी थी। वहाँ एक नाग-भवन था, जिस में चम्पेय्य नामक नागराजा राज्य करता था। कभी मगध राज अंगराज्य को जीत लेता, कभी अंग राजा मगध राज्य को।

एक दिन जब मगधराज का अंगराज के साथ युद्ध हुआ और वह युद्ध में हार गया तो उसने घोड़े पर चढ़कर भागते समय, अंगराज के योद्धाओं के द्वारा पीछा किये जाने के कारण पूर्व चम्पा नदी को देखकर सोचा—"शत्रु के हाथ में पड़कर मरने से नदी में डूबकर मरना अच्छा है।" वह घोड़े सहित नदी में उतर पड़ा। उस समय चम्पेय्य नागराजा पानी के अन्दर रत्न-मण्डप बनवा बड़ी भारी मण्डली के बीच में बैठा खूब पी रहा था। घोड़ा राजा के सहित पानी में डूब कर नागराजा के सामने निकला। नागराजा ने सजे-सजाये राजा को देखा तो उसने स्नेहपूर्वक आसन से उठ 'राजन्! डरें नहीं' कह उसे अपने आसन पर

बिठाया और पानी में डूबने का कारण पूछा । राजा ने यथार्थ बात कह सुनाई तब नागराज ने उसे आश्वासन दिया—"राजा, डर मत । मैं तुझे दोनों राष्ट्रों का स्वामी बनाऊँगा ।" फिर एक सप्ताह तक उसे बड़े ऐश्वर्य्य का अनुभव कर सातवें दिन मगध-राज को साथ ले, वह नागभवन से निकला । नागराज के प्रताप से मगध राज ने अङ्गराज को पकड़ कर मार डाला और दोनों राष्ट्रों पर राज्य करने लगा । उस समय से (मगध) राज और नागराज की मैत्री दृढ़ हो गई । राजा प्रतिवर्ष चम्पा नदी के किनारे रतनमण्डप बनवाकर, बहुत खर्चा कर, नागराग को बलि देता । वह अनेक अनुयायियों के साथ नागभवन से निकलकर बलि स्वीकार करता । जनता नागराजा के ऐश्वर्य को देखती ।

तब बोधिसत्व ने दरिद्रकुल में जन्म लेकर राज्यपरिषद् के साथ नदी तट पर जा, नागराज के ऐश्वर्य को देख, लोभग्रस्त हो, उसकी कामना की । वह दान दे, शील की रक्षा कर, चम्पेय्य नागराजा के मरने के सातवें दिन, (अपनी योनि से) च्युत होकर उसके रहने के प्रासाद में शैय्या-स्थान पर पैदा हुआ । उसका शरीर फूलों की माला की तरह फूला हुआ था । इसे देख उसे पश्चात्ताप हुआ और वह मरते की इच्छा करने लगा—"मेरे द्वारा किये गये कुशल कर्म के प्रताप से छह कामलोकों में, कोठे में इकट्ठे किये गये धान्य की तरह; ऐश्वर्य्य रखा है । मैंने इस कीड़े की योनि में जन्म ग्रहण किया, मुझे जीते रहने से क्या लाभ !" सुमना नामक नाग-कन्या ने उसे देखा तो सोचा कि महाप्रतापी शक्र ने जन्म ग्रहण किया होगा । उसने शेष नागकन्याओं को इशारा किया । सभी नाना प्रकार के वाद्यों सहित उसके सामने भेंट लेकर उपस्थित हुईं । उसके लिये वह नागभवन शक्रभवन हो गया । मृत्यु-विचार जाता रहा । उसने सर्प-शरीर त्याग दिया और सब अलंकारों से अलंकृत हो शैय्या पर बैठा । तब से वह महान् ऐश्वर्य्यशाली हो गया । वहाँ नाग-लोक में राज्य करते-करते आगे चलकर उसे पश्चात्ताप हुआ—"मुझे इस कीड़े की योनि में रहने से क्या लाभ ! उपोसथ व्रत करके यहाँ से मुक्त हो, मनुष्य लोक में जा (आर्य-) सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर दुःख का अन्त करूँ ।" तब से वह उसी प्रासाद में रहकर उपोसथ व्रत करने लगा । अलंकृत नागकन्यायें उसके पास जातीं । प्रायः शील टूट जाता । तब वह प्रासाद से निकल उद्यान में जाने लगा । वे वहाँ भी पहुँच जातीं । उपोसथ व्रत टूट ही जाता । वह सोचने लगा—"इस नागभवन से निकल मनुष्य लोक में जाकर मुझे उपोसथ-

व्रत करना चाहिये।" उस दिन से वह उपोसथ व्रत के दिनों में नागभवन से निकल कर एक प्रत्यन्त ग्राम के पास के महामार्ग पर एक बाम्बी के पास लेट कर उपोसथ-व्रत करता–"यदि किसी को मेरा चर्म आदि चाहिए तो वह चर्म ले आदि, यदि कोई मुझे क्रीड़ा-सर्प बनाना चाहे तो वह क्रीड़ा-सर्प बना ले।" इस प्रकार वह शरीर-दान दे, अपने फन को समेट कर पड़ रहता। महामार्ग से आने-जाने वाले उसे देखते तो गन्ध आदि से उसकी पूजा कर जाते। प्रत्यन्त-ग्रामवासी यह समझ कि यह महाप्रतापी नागराज है, उसके ऊपर मण्डप बनवा, चारों ओर बालू आदि बिखेर गन्धादि से पूजने लगे। तब मनुष्य उस बोधि-सत्व के प्रति श्रद्धावान् हो उसकी पूजा करने तथा पुत्रादि माँगने लगे। बोधि-सत्व भी उपोसथ-व्रत करता हुआ चतुर्दशी तथा पूर्णिमा के दिन बाम्बी के मुँह पर पड़ा रहकर क्रमशः नागभवन जाता। उसके इस प्रकार उपोसथ करते-करते, समय बीत गया। एक दिन सुमना पटरानी बोली—"देव ! आप मनुष्य-लोक में जाकर उपोसथ-व्रत करते हैं। मनुष्य-लोक आशङ्का और भय का स्थान है। यदि आप को कोई खतरा हो जाय तो हमें बतायें कि हम कैसे जान सकेंगी।" बोधिसत्व ने उसे मंगल पुष्करिणी के किनारे ले जाकर कहा —"भद्रे ! यदि कोई मुझे चोट मार कर कष्ट देगा तो इस पुष्करिणी का पानी गँदला हो जायगा, यदि गरुड़ पकड़ लेंगे तो पानी चला जायगा (?) यदि सपेरा पकड़ लेगा तो पानी रक्त-वर्ण हो जायगा।" इस प्रकार उसने उसे तीन चिह्न बताये और चातुर्दशी उपोसथ-व्रत ग्रहण कर, नागभवन से निकल, वहाँ पहुँच, बाम्बी के मुँह पर जा पड़ा। उसकी शरीर-शोभा से बाम्बी सुशोभित हो गई—शरीर चाँदी की माला की तरह श्वेत था, मस्तक लाल कम्बल की गेण्डुल की तरह। हाँ, इस जातक में बोधिसत्व का शरीर हल के सिरे जितना था, भूरिदत्त जातक[1] में जाँघ के जितना, सङ्खपाल जातक[2] में एक द्रोणी नौका जितना था।

तब एक वाराणसीवासी विद्यार्थी तक्षशिला जाकर लोकप्रसिद्ध आचार्य के पास मंत्र-विद्या-सीख कर उसी रास्ते अपने घर लौट रहा था। उसने बोधि-सत्व को देखकर सोचा—इस साँप को पकड़ ग्राम, निगम, तथा राजधानी

१. भूरिजात जातक (५४३)।

२. संखपाल जातक (५२४)।

आदि में तमाशा दिखाकर धन कमाऊँगा। यह सोच दिव्य औषधि खा और दिव्यमंत्र का जप कर वह उसके पास गया। दिव्य-मंत्र कान में पड़ने के समय से ही बोधिसत्व को ऐसा हो गया, मानों उसके कान में तप्त शलाका डाल दी गई हो। उसका सिर ऐसा हो गया, मानों ऊपर से रगड़ दिया गया हो। उसने फन के भीतर से सीस निकाल कर देखा कि कौन है? जब उसे एक सपेरा दिखाई दिया तो वह सोचने लगा--"मेरा विष भयानक है। यदि मैं क्रुद्ध होकर फुंकर मारूँगा तो इसका शरीर भूसे की मुट्ठी की तरह बिखर जायगा। ऐसा होने पर मेरा शील खण्डित हो जायगा। इसलिए मैं इसकी ओर नहीं देखूंगा।" उसने आँखें बन्द कर लीं और सिर को फन के अन्दर समेट कर पड़ा रहा। सपेरे ब्राह्मण ने औषधि खाई और मंत्र जापकर बोधिसत्व के शारीर पर थूक दिया। औषधि और मंत्र के प्रभाव से जहाँ-जहाँ थूक गिरा वहाँ-वहाँ फफोले-से उठे आये। तब उसने उसे पूंछ से पकड़, घसीट, लम्बा करके लिटाया, और बकरी के पैर जैसे डंडे से पीट कर दुर्बल बना दिया। फिर उसके सिर को जोर से पकड़ कर दबा दिया। बोधिसत्व ने मुंह खोला। तब उसके मुंह में थूक दिया और औषधि तथा मंत्र का जाप कर उसके दाँत को तोड़ दिये। उसका मुंह लहू से भर गया। बोधिसत्व ने इस प्रकार का कष्ट सहन करते हुए भी शील टूट जाने के डर से, आँख खोल उसकी ओर देखा तक नहीं। उसने भी नागराज को दुर्बल करने के उद्देश्य से उसकी पूंछ से लेकर उसकी हड्डियों को चूर-चूर कर देने के लिये सारा शरीर गूंध डालकर एक पट्टी की तरह लपेटा, ताँत की तरह भाँजा, पूंछ पकड़ कर पकड़ा, पछाड़ने की तरह पछाड़ा। बोधिसत्व का सारा शरीर खून से लथपथ हो गया। उसे बड़ी पीड़ा होने लगी। जब उसने देखा कि नागराज एकदम दुर्बल हो गया तो उसने लताओं की पिटारी बना उसे उसमें डाला। फिर सीमा पार के गाँव में ले जा, लोगों के बीच में तमाशा दिखाया। नील आदि वर्णों, घेरा, चौकोर आदि आकारों, तथा अणु, स्थूल आदि प्रमाणों में जैसे-जैसे ब्राह्मण चाहता वैसे-वैसे करके बोधिसत्व नाचता। वह सौ फन तथा हजार फन भी बनाता ही। जनता ने प्रसन्न होकर बहुत धन दिया। एक ही दिन में हजार कार्षापण और हजार के मूल्य की और चीजें मिलीं। ब्राह्मण ने पहले तो सोचा था कि हजार मिल जाने पर उसे छोड़ दूंगा, लेकिन धन मिलने पर उसने सोचा

कि सीमा पर के गाँव में ही इतना मिला है, राजाओं तथा राजाओं के महा-
अमात्यों के पास बहुत मिलेगा। तब यह सोच उसने गाड़ी और रथ जुतवाया।
गाड़ी में सामान लदवा और स्वयं रथ में बैठ, बड़े ठाट-बाट के साथ ग्राम-
निगम आदि में बोधिसत्व का तमाशा दिखाते हुए, वाराणसी की ओर चला।
उसने सोचा कि वाराणसी के उग्रसेन राजा को तमाशा दिखाकर, इसे छोड़ूँगा।
ब्राह्मण मेढकों को मार-मार कर नाग-राजा को देता। "यह निश्चय से मेरे
लिये ही मारता है", सोच नागराज उन्हें न खाता। तब उसे मधु और खील
दी गई। बोधिसत्व ने सोचा—"यदि मैंने यह भोजन खाया तो इस पिटारी
के अंदर ही मेरा मरना होगा।" उसने वह भी न खाया। ब्राह्मण एक महीने
में वाराणसी पहुँचा। वहाँ उसने द्वार ग्रामों में तमाशा दिखाकर बहुत धन
प्राप्त किया। राजा ने भी उसे बुलाकर कहा—"हमें भी तमाशा दिखाओ।"

"अच्छा देव ! कल पूर्णिमा के दिन आपको तमाशा दिखाऊँगा।" राजा ने
मुनादि करा दी—"कल नागराज राजांगन में नाचेगा। जनता इकट्ठी हो
कर देखे।" अगले दिन उसने राजांगन को सजवा कर ब्राह्मण को बुलवाया।
वह रत्न-पिटारी में बोधिसत्व को ले, चित्रित बिछावन पर पिटारी रख,
बैठा। राजा भी प्रासाद से उतर राजासन पर बैठा। उसे चारों ओर से लोगों
ने घेर रखा था। ब्राह्मण ने बोधिसत्व को निकाल कर नचाया। जनता अपने
को रोक न सकी। हजारों कपड़े ऊपर उछले। बोधिसत्व पर सातों रत्नों की
वर्षा हुई। उसे पकड़े एक महीना बीत गया था। इतने समय तक वह निरा-
हार ही रहा।

(उधर) सुमना ने सोचा—"मेरे प्यारे स्वामी को बहुत देर हो गई है, अब
उसे यहाँ आये, एक महीना हो गया, क्या कारण है?" उसने जाकर पुष्करिणी
देखी। उसका रंग रक्त-वर्ण था। यह सोच कि सपेरे ने पकड़ा होगा, वह
नाग-भवन से निकल बाम्बी के पास गई और जिस जगह बोधिसत्व को पकड़ा
गया था और कष्ट दिया गया था, उस स्थान को देख कर रोई पीटी। फिर
सीमा पर के गाँव में जा, पूछ कर वह समाचार जाना। फिर वाराणसी पहुँच
परिषद् के बीच में आकाश में रोती हुई खड़ी हुई। बोधिसत्व ने नाचते-नाचते
आकाश में उसे देखा। वह लज्जा के मारे पिटारी में घुस, जा लेटा। राजा
ने उसे पिटारी में घुसते देखा तो सोचा कि क्या कारण है? इधर-उधर देखते
हुए, उसे आकाश में खड़ी देख, राजा ने पहली गाथा कही—

का नु विज्जुरिवाभासि ओसधी विय तारका,
देवता नु सि गन्धब्बी, न तं मञ्ञामि मानुसिं ॥१॥

[तू बिजली की तरह अथवा ओषधि तारे की तरह प्रकाशित होने वाली कौन है ? हे गन्धर्वी । तू देवी है, तू मानुषी नहीं लगती ॥१॥]

आगे की गाथाएँ उत्तर-प्रत्युत्तर हैं--

नम्हि देवी न गन्धब्बी न महाराज मानुसी,
नागकञ्ञम्हि भदन्ते, अत्थेनम्हि इधागता ॥२॥

[न मैं देवी हूँ, न गन्धर्वी हूँ और हे महाराज ! न मैं मानुषी हूँ । हे भदन्त मैं नाग-कन्या हूँ । मैं मतलब से यहाँ आई हूँ ॥२॥]

बिब्भन्तचित्ता कुपितिन्द्रियासि,
नेत्तेहि ते वारिगणा सवन्ति,
किं ते नट्ठं, किं पन पत्थयाना
इधागता नारि, तद इङ्घ ब्रूहि ॥३॥

[तू भ्रान्त-चित्त है, तेरी इन्द्रियाँ कुपित हैं, तेरी आँखों से पानी की धार बहती है । तेरा क्या नष्ट हुआ है ? हे नारी ! तू किस चीज की प्रार्थना करती हुई यहाँ आई है ॥३॥]

यं उग्गतेजो उरगो ति चाहु
नागो ति तं आहु जनो जनिन्द
तं अग्गही पुरिसो जीविकत्थो,
तं बन्धना मुञ्च, पती ममेसो ॥३॥

[जिस उग्र तेज को 'उरग' कहते हैं, जिसे हे जनेन्द्र ! लोग 'नाग' भी कहते हैं, उसे (इस) आदमी ने जीविका के लिए पकड़ लिया, यह मेरा पति है, इसे बन्धन-मुक्त करा दें ॥४॥]

कथं नवयं बलविरियूपपन्नो
हत्थत्कं आगच्छि वनिब्बकस्स,
अक्खाहि मे नागकञ्ञे तं अत्थं,
कथं विजानेमु गहीतनागं ॥५॥

[यह बल और वीर्य्य से मुक्त नाग इस दरिद्र के हाथ कैसे आ गया ? हे नाग-कन्ये ! मुझे यह बात बतला कि मैं नाग के पकड़े जाने की बात पर कैसे विश्वास करूँ ? ॥५॥]

नगरंपि नागो भस्मं करेय्य
तथा हि सो बलविरियूपपन्नो,
धम्मं च नागो अपचायमानो
तस्मा परक्कम्म तपो करोति ॥६॥

[उनमें इतना बल और वीर्य्य है कि वह चाहे तो सारे नगर को भस्म कर दे सकता है । किन्तु वह धर्म की पूजा करने के लिए, पराक्रम कर के, तपस्या करता है ॥६॥

राजा ने पूछा––इसे इसने कहाँ पकड़ा ? उसने उसे बताते हुए कहा––

चातुद्दसिं पञ्ञरसिं च राजा
चतुप्पथे सम्मति नागराजा,
तं अग्गही पुरिसो जीविकत्थो
तं बन्धना मुञ्च, पती ममेसो ॥७॥

[चतुर्दशी तथा पूर्णिमा का उपोसथ (व्रत) करता हुआ यह चौरस्ते के पास) की बाम्बी में पड़ा रहा । उसे जीविका के लिए इस आदमी ने पकड़ लिया । इसे बन्धन से छोड़ दें, यह मेरा पति है ॥७॥]

यह कह फिर भी याचना करते हुये दो गाथायें कहीं—

सोळस इत्थिसहस्सानि आमुत्त मणिकुण्डला
वारिगेहासया नारियो तापि तं सरणं गता ॥८॥

धम्मेन मोचेहि असाहसेन
गामेन निक्खेन गवं सतेन,
ओसट्ठकायो उरगो चरातु,
पुञ्ञत्थिको मुञ्चतु बन्धनस्मा ॥९॥

[मोती तथा मणिकुण्डलवाली, सोलह हजार स्त्रियाँ—जो पानी में गृहवास करती हैं—वे भी नागराज की शरण गई हैं ॥८॥ बिना जबर्दस्ती किए,

धर्मानुसार उसे मुक्त कर दें—गाँव देकर, निकष देकर, अथवा सौ-गौवें दे कर। मुक्त-शरीर होकर सर्प घूमे। पुण्यार्थी बन्धन से मुक्त हो ॥९॥

राजा ने उसे तीन गाथायें कहीं—

धम्मेन मोचेमि असाहसेन,
गामेन निक्खेन गवं सतेन।
ओसट्ठकायो उरगो चरातु,
पुञ्ञत्थिको मुञ्चतु बन्धनस्मा ॥१०॥

[मैं बिना जबर्दस्ती किये, धर्मानुसार मुक्त करता हूँ—गाँव देकर, निकष देकर अथवा सौ-गौवें दे कर। मुक्त-शरीर होकर सर्प घूमे। पुण्यार्थी बन्धन से मुक्त हो ॥१०॥

दम्मी निक्खसतं लुद्द थुल्लं च मणिकुण्डलं।
चतुस्सदञ्च पल्लंकं उम्मापुप्फसिरिन्निभं ॥११॥

[हे शिकारी! मै तुझे सौ-निकष देता हूँ, स्थूल मणिकुण्डल और उम्मा (?) पुष्प की श्री वाला चौकोर पलंग ॥११॥]

द्वे च सादिसियो भरिया उसभं च गवं सतं।
ओसट्ठकायो उरगो चरातु,
पुञ्ञत्थिको मुञ्चतु बन्धनस्मा ॥१२॥

[दो समान रूप वाली भार्य्या, वृषभ तथा सौ-गौवें। सर्पमुक्त-शरीर होकर घूमे। पुण्यार्थी बन्धन से मुक्त हो ॥१२॥]

शिकारी ने उसे उत्तर दिया—

विनापि दाना तव वचनं जनिन्द,
मुञ्चेमु नं उरगं बन्धनस्मा।
ओसट्ठकायो उरगो चरातु,
पुञ्ञत्थिको मुञ्चतु बन्धनस्मा ॥१४॥

[बिना कुछ लिये ही, हे जनिन्द! तेरे कहने से ही हम सर्प को छोड़ देते हैं। मुक्त-शरीर होकर सर्प बिचरे। पुण्यार्थी बन्धन से मुक्त हो ॥१३॥]

इतना कह कर उसने बोधिसत्व को पिटारी से निकाल दिया। नागराज

निकला और फूलों में घुस, उस शरीर को छोड़, किसी ब्राह्मणकुमार के रूप में सज-धज कर, पृथ्वी फाड़ कर निकल आये की तरह बाहर आया। सुमना भी आकाश से उतर, उसके पास आकर खड़ी हुई। नागराज हाथ जोड़कर राजा को नमस्कार करता हुआ खड़ा हुआ।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने दो गाथायें कहीं--

मुत्तो चम्पेय्यको नागो राजानं एतद्ब्रवि,
नमोते कासिराज अत्थु नमो ते कासिवड्ढन,
अञ्जलिं ते पगण्हामि, पस्सेय्यं मे निवेसनं ॥१४॥

[चम्पेय्यक नाग से मुक्त होने पर राजा को यह कहा--हे काशीराज ! हे काशी-वर्धन ! तुझे नमस्कार है। मैं तुम्हें हाथ जोड़ता हूँ। मेरे घर को देखें ॥१४॥]

अद्धा हि दुब्बिस्ससं एतमाहु,
यं मानुसो विस्ससे अमानुसम्हि ।
सचे च मं याचसि एतमत्थं,
दक्खेमु ते नाग निवेसनानि ॥१५॥

[निश्चय से, यदि मनुष्य अमनुष्य का विश्वास करे तो इसे दुर्विश्वास कहते हैं। तो भी यदि तू याचना करता है तो हम तेरा घर देखें ॥१५॥]

उसे विश्वास दिलाने के लिए शपथ ग्रहण करते हुए बोधिसत्व ने दो गाथायें कहीं--

सचे हि वातो गिरिं आवहेय्य,
चन्दो च सुरियो च छमा पतेय्युं ।
सब्बा च नज्जो पटिसोतं वजेय्युं,
न त्वेव अहं राज मूसा भणेय्यं ॥१६॥

नभं फलेय्य उदधी पि सुस्से,
संवट्टयं भूतधरा वसुन्धरा ।
सिलुच्चयो मेरु समूलं उब्बहे,
न त्वेवाहं राज मुसा भणेय्यं ॥१७॥

[यदि वायु पर्वत को उड़ा ले जाए, यदि चन्द्रमा और सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़े, यदि सभी नदियाँ स्रोत के प्रतिकूल बहने लग जायें, तो भी हे राजन् ! मैं झूठ नहीं बोल सकता ॥१६॥ आकाश फट जाय, समुद्र सूख जाय, यह पृथ्वी सिकुड़ जाए तथा मेरु पर्वत समूल उखड़ जाय, तो भी हे राजन् ! मैं झूठ नहीं बोल सकता ॥१७॥]

बोधिसत्व के ऐसा कहने पर भी वह अविश्वासी बना रहा :--

अद्धा हि दुब्बिस्ससं एतमाहु,
यं मानुसो विस्ससे अमानुसम्हि ।
सचे च मं याचसि एतमत्थं,
दक्खेमु ते नाग निवेसनानि ॥१८॥

फिर वही गाथा कहकर "तुझे मेरा उपकार ज्ञात होना चाहिये, विश्वास करना उचित है या नहीं, यह मैं देखूंगा" प्रकट करने के लिए शेष दो गाथायें कहीं—

तुम्हे खोत्थ घोरविसा उळारा,
महातेजा खिप्पकोपी च होथ ।
मम कारणा बन्धनस्मा पमुत्तो,
अरहसि नो जानितये कतानि ॥१९॥

[तुम विपुल घोर-विष वाले हो, महा-तेजस्वी, शीघ्र ही क्रुद्ध हो जाने वाले । तुम मेरे कारण बन्धन से मुक्त हुए । हमारे (उप-) कृत को जानना उचित है ॥१९॥]

उसमें विश्वास पैदा करने के लिए बोधिसत्व ने फिर कहा--

सो पच्चतं निर घोररूपे,
मा कायिकं सातं अलत्थ किञ्चि ।
पेळाय बद्धो मरणं उपेतु,
यो तादिसं कम्मं कतं न जाने ॥२०॥

[जो ऐसे (उप-) कृत को न जाने, वह घोर-रूप नरक में पड़े, उसे किसी प्रकार का शारीरिक-सुख न मिले और वह पिटारी में बन्द होकर मरण को प्राप्त होवे ॥२०॥]

राजा ने उसका विश्वास कर उसकी स्तुति की—

सच्चपटिञ्ञा तवं एस होतु,
अक्कोधनो होहि अनूपनाहि ।
सब्बं च ते नागकुलं सुपण्णा,
अग्गिं व गिम्हासु विवज्जयन्तु ॥२१॥

[तेरी यह प्रतिज्ञा सत्य हो । तू अक्रोधी तथा द्वेष-रहित हो । तेरे सारे नाग-कुल को गरुड़ दूर से वैसे छोड़ दे जैसे आदमी ग्रीष्म-ऋतु में आग को ॥२१॥]

बोधिसत्व ने भी राजा की स्तुति करते हुए गाथा कही—

अनुकम्पसि नागकुलं जनिन्द
माता यथा सुप्पियं एकपुत्तं ।
अहं च ते नागकुलेन सद्धिं,
काहामि वेय्यावटिकं उळारं ॥२२॥

[हे जनेन्द्र ! माता अपने इकलौते प्रिय पुत्र पर जैसी कृपा रखती है, तेरी नाग-कुल पर वैसी ही अनुकम्पा है । नाग-कुल के साथ मैं तेरी खूब सेवा करूँगा ॥२२॥]

यह सुन राजा ने नागभवन जाने की इच्छा से सेना को तैयार होने के लिए कहा—

योजेन्तु वे राजरथे सुचिते,
कम्बोजके अस्सतरे सुदन्ते ।
नागे च योजेन्तु सुवण्णकप्पने,
दक्खेमु नागस्स निवेसनानि ॥२३॥

[चित्रित नाग-रथों में कम्बोज के सुशिक्षित घोड़े जोतें और सुनहरी हाथी जोतें—हम चल कर नाग के भवन देखें ॥२३॥]

यह अभिसम्बुद्ध गाथा है—

भेरिमुतंगा पणवा च संखा,
आवज्जयिसु उग्गसेनस्स रञ्ञो ।

पायासि राजा बहु सोभमानो,
पुरक्खतो नारिगणस्स मज्झे ॥२४॥

[उग्रसेन राजा के भेरी, मृदंग, ढोल तथा शंख बजने लगे। नारियों से घिरा हुआ राजा बड़े सौन्दर्य के साथ गया ॥२४॥]

उसके नगर से निकलने के समय ही बोधिसत्व ने अपने प्रताप से नागभवन में सर्वरत्नमय प्राकार तथा द्वार-कोष्ठ प्रकट कर नागभवन को जाने वाले मार्ग को सजाया। अपने अनुयायियों सहित उस मार्ग से जाते हुए राजा ने उस रमणीय प्रदेश तथा प्रासादों को देखा।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

सुवण्णचितकं भूमिं अद्दक्खि कासिवद्धनो।
सोवण्णये च पासादे वेळुरियफलकत्थते ॥२५॥

स राजा पाविसी व्यम्हं चम्पेय्यस्स निवेसनं।
आदिच्चवण्णुपनिभं कंसविज्जुपभस्सरं ॥२६॥

नाना रुक्खेहि संछन्नं नानागन्धसमेरितं।
सो पावेक्खि कासिराजा चम्पेय्यस्स निवेसनं ॥२७॥

पविट्ठम्हि कासिरञ्ञे चम्पेय्यस्स निवेसने।
दिब्बा तुरिया वज्जिसु नागकञ्ञा च नच्चयुं ॥२८॥

तं नागकञ्ञा चरितं गणेन,
अन्वारुहि कासिराजा पसन्नो।
निसीदि सोवण्णमयम्हि पीठे,
सापस्सये चंदनसारलित्ते ॥२९॥

[काशी-वर्धन राजा ने सुवर्ण खचित भूमि देखी तथा बिल्लौर के फर्श वाले स्वर्णमय प्रासाद देखे। वह राजा सूर्य-वर्ण तथा बिजली की तरह चमकने वाले चम्पेय्य नाग-भवन में दाखिल हुआ। उस काशीराज ने नाना प्रकार के वृक्षों से घिरे हुए तथा नाना प्रकार की सुगन्धियों से युक्त चम्पेय्य के नाग-भवन को देखा। जिस समय काशीराज चम्पेय्य के नाग-भवन में प्रविष्ट हुआ उस समय

दिव्य-वाद्य बजे और नागकन्याओं ने नाच किया। नागकन्याओं से घिरे हुए उस नाग-भवन में प्रसन्न-चित्त काशीराज चन्दनलिप्त, सपार्श्व स्वर्णमय-आसन पर चढ़कर बिराजमान हुआ ।।२५-२९।।]

उसके वहाँ बैठते ही उसके लिए, सोलह हजार स्त्रियों के लिए तथा शेष परिषद् के लिए श्रेष्ठ भोजन ले आये। परिषद् सहित उन्होंने सप्ताह भर दिव्य अन्न-पान का परिभोग कर, दिव्य काम-गुणों में रमण कर, सुखासन से बैठे-बैठे महासत्व का गुणगान कर पूछा—"नागराज! तू इस प्रकार की सम्पत्ति छोड़ कर मनुष्य-लोक में एक बाम्बी के सिरे पर पड़ा-पड़ा किसलिए उपोसथ-व्रत रखता है?" उसने उत्तर दिया—

उस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने कहा--

सो तत्थ भुत्वा च अथो रमित्वा,
चम्पेय्यकं कासिराजा अवोच।
विमानसेट्ठानि इमानि तुय्हं,
आदिच्च वण्णानि पभस्सरानि।
नेतादिसं अत्थि मनुस्सलोके,
किमत्थियं नाग तपो करोसि ।।३०।।

ता कम्बुकायूरधरा सुवत्था,
वट्टंगुली तम्बतलूपपन्ना।
पग्गय्ह पायेन्ति अनोमवण्णा,
नेतादिसं अत्थि मनुस्स लोके-
किमित्थयं नाग तपो करोसि ।।३१।।

नज्जो च खेमा पुथुलोममच्छा,
आदासकुन्ताभिरुदा सुतित्था।
नेतादिसं . . . . ।।३२।।

कोञ्चा मयूरा दिविया च हंसा,
वग्गुसरा कोकिला सम्पतन्ति . . ।।३३ ।।

अम्बा च साला तिलका च जम्बुयो,
उद्दालका पाटलियो च फुल्ला . . . ॥३४॥

इमा च ते पोक्खरञ्ञो समन्ततो,
दिबिया च गन्धा सततं सम्पतन्ति ।
नेतादिसं अत्थि मनुस्स लोके,
किमत्थियं नाग तपो करोसि ॥३५॥

न पुत्तहेतु न धनस्सहेतु ।
न आयुनो वापि जनन्दि हेतु,
मनुस्सयोनिं अभिपत्थयानो,
तस्मा परक्कम्म तपो करोमि ॥३६॥

[वहाँ भोजन कर तथा अभिरमण कर काशीराज नागराज से बोला—इन तेरे आदित्य-वर्ण चमकदार श्रेष्ठ भवनों के सदृश भवन मनुष्य लोक में नहीं है। हे नाग ! तू तप किसलिए करता है ? ॥३०॥ स्वर्णाभरणों से युक्त, सुन्दर वस्त्र धारण किये गोल-गोल अंगुलियों तथा रक्त-वर्ण हाथ-पैर वाली अनुपम वर्णा (नाग-कन्यायें) हाथ में ले-लेकर (सुरा) पिलाती हैं। मनुष्यलोक में ऐसी नही हैं। हे नाग ! तू तप किसलिये करता है ? ॥३१॥ ऐसी कल्याणी-नदियाँ जिनमें बडे-बड़े परों वाली मछलियाँ हैं और जिनके किनारों पर आदर्श नामक पक्षी गूंज करते हैं, मनुष्य लोक में नहीं हैं। हे नाग ! तू तप किसलिए करता है ? ॥३२॥ क्रौंच, मयूर, दिव्य हंस तथा मधुर स्वर वाले कोकिल एकत्र होते हैं। ऐसे (दृश्य) मनुष्य लोक में नहीं हैं। हे नाग ! तू तप किसलिये करता है ? ॥३३॥ आम्र, शाला, तिलक, जम्बू, उद्दालक और सपुष्पित पाटली (वृक्ष) हैं। ऐसे मनुष्यलोक में नहीं हैं। हे नाग ! तू तप किसलिये करता है ? ॥३४॥ इन पुष्पकारिणियों में चारों ओर से दिव्य सुगन्धियाँ आती हैं। ऐसी (सुगन्धियाँ) मनुष्यलोक में नहीं हैं। हे नाग ! तू तप किसलिये करता है ? ॥३५॥ न पुत्र के लिये, न धन के लिये और हे राजन् न आयु के लिए ही मैं तपस्या करता हूँ। मैं तो मनुष्य-योनि की प्राप्ति की इच्छा से पराक्रम-पूर्वक तपस्या करता हूँ ॥३६॥]

ऐसा कहने पर राजा—

त्वं लोहितक्खो विहतन्तरंसो,
अलंकतो कप्पितकेसमस्सु ।
सुरोसितो लोहितचन्दनेन,
गन्धब्बराजाव दिसा पभाससि ॥३७॥
देविद्धिपत्तोसि महानुभावो,
सब्बेहि कामेहि समंगीभूतो ।
पुच्छामि तं नागराजे तं अत्थं,
सेय्यो इतो केन मनुस्सलोको ॥३८॥

[हे नागराज ! तेरी आँखें रक्त-वर्ण हैं, तेरे कन्धे विशाल हैं, तू अलंकृत है, तेरे बाल और मूँछें कटी हैं, तू रक्त-चन्दन से लिप्त है, तू गन्धर्व-राज की तरह चारों दिशाओं को प्रकाशित करता है ॥३७॥ हे नागराज ! तू देवऋद्धि प्राप्त है, तू महाप्रतापवान् है, तू सभी काम-भोग के साधनों से युक्त है, मैं तुझसे पूछता हूँ कि इस लोक से मनुष्य लोक किस प्रकार श्रेष्ठतर है ? ॥३८॥]

उसे नागराज ने उत्तर दिया—

जनिन्द नाञ्ञत्र मनुस्सलोका,
सुद्धीच संविज्जति संयमो च ।
अहञ्च लद्धान मनुस्सयोनिं,
काहामि जातिमरणस्स अंतंति ॥३९॥

[हे राजन् ! मनुष्यलोक के अतिरिक्त और कहीं भी शुद्धि और संयम के लिये गुंजायश नहीं है । मैं मनुष्य-योनि प्राप्त कर जाति और मरण का अन्त करूँगा ॥३९॥]

यह सुन राजा बोला—

अद्धा हवे सेवितब्बा सपञ्ञा,
बहुस्सुता ये बहुठानचिन्तिनो ।
नरियो च दिस्वान तवं च नाग,
काहामि पुञ्ञानि अनप्पकानि ॥४०॥

[निश्चय से बहुश्रुत, अनेक बातों का विचार करने वाले, प्रज्ञावान् आदमी की संगत करनी चाहिये। हे नाग ! मैं तुम्हारी नाग-कन्याओं की ओर तथा तुम्हारी ओर देखकर अनेक पुण्य करूँगा ॥४०॥]

तब नागराज बोला—

अद्धा हवे सेवितब्बा सपञ्ञा,
बहुस्सुता ये बहुठानचिन्तिनो।
नरियो च दिस्वान ममं च राज,
करोहि पुञ्ञानि अनप्पकानि ॥४१॥

[निश्चय से बहुश्रुत, अनेक बातों का विचार करने वाले प्रज्ञावान् आदमी की संगत करनी ही चाहिये। हे राजन् ! आप मेरी नाग-कन्याओं की ओर तथा मेरी ओर देखकर अनेक पुण्य करें ॥४१॥]

ऐसा कहे जाने पर उग्रसेन ने जाने की इच्छा से "नागराज ! हम यहाँ चिरकाल तक रहे, अब जायेंगे" पूछा। "तो महाराज ! जितना चाहें उतना धन ग्रहण करें" कहते हुए धन देने की इच्छा से नागराज बोला—

इदं च मे जातरूपं पहूतं,
रासी सुवण्णस्स च तालमत्ता।
इतो हरित्वा सोवण्णघरानि,
[कारय] रूपियस्स च पाकारं करोन्तु ॥४२॥

मुत्ता च वाहसहस्सानि पञ्च,
वेळूरियमिस्सानि इतो हरित्वा।
अन्तेपुरे भूमियं सन्थरन्तु,
निक्कद्दमा होहिति नीरजा च ॥४३॥

एतादिसं आवस राजसेट्ठ,
विमानसेट्ठं बहु सोभमानं।
वाराणसिं नगरं इद्धफीतं,
रज्जं च कारेहि अनोमपञ्ञ ॥४४॥

[यह बहुत-सा सोना है और ताळ वृक्ष जितनी ऊँची सोने की ढेरियाँ लगी हैं। यहाँ से उसे ले-जाकर सोने के घर और चाँदी के प्राकार बनवा लो ॥४२॥ मोतियों के बिल्लौर मिश्रित पञ्च सहस्र भार यहाँ से ले जाकर अपने अन्तःपुर की भूमि पर बिछा दो, जिससे वहाँ न कीचड़ रहे और न पानी रहे ॥ ४३॥ हे प्रज्ञावान् राजन् ! वाराणसी नगर को इस प्रकार का श्रेष्ठ सुन्दर निवास-स्थान बनवा दो ॥४४॥]

राजा ने उसका कहना सुन स्वीकार किया। तब बोधिसत्व ने नाग-भवन में मुनादी करा दी—"सभी राजपुरुष जितना चाहें सोना आदि धन ग्रहण करें।' उसने अनेक सौ गाड़ियों पर लदवा कर राजा के यहाँ धन भेजा। तब राजा बड़ी भारी शान-शौकत के साथ नाग-भवन से निकल वाराणसी पहुँचा। तब से जम्बूद्वीप स्वर्ण-भूमि हो गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना लाकर यह कहा कि इस प्रकार पुराने पंडितों ने नाग-सम्पत्ति की उपेक्षा कर उपोसथ-वास किया। उस समय सपेरा देवदत्त था। सुमता राहुल-माता। उग्रसेन सारिपुत्र। चम्पेय्य नागराज तो मैं ही था।

५०७ महापलोभन जातक

"ब्रह्मलोका चवित्वान . . "यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय विशुद्ध प्राणियों के भी मलिन कर देने के बारे में कही। कथा पहले आ चुकी है। यहाँ शास्ता ने "भिक्षुओं, स्त्रियाँ शुद्ध प्राणियों को भी मलिन कर देती हैं" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

'पूर्वसमय में वाराणसी में....चूळोपलोभन जातक'[1] में कहे गये क्रम से कथा कही जानी चाहिए। उस समय बोधिसत्व ने ब्रह्मलोक से च्युत होकर काशी-नरेश

---

१. चुल्लापलोभन जातक (२६३)।

का पुत्र होकर जन्म ग्रहण किया। उसे स्त्री के गन्ध से घृणा थी। स्त्रियों के हाथ में नहीं रहता था। उसे पुरुष-वेश में ही स्तन-पान कराना होता था। ध्यान भवन में रहता था। स्त्रियों को नहीं देखता था। इसी अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने चार गाथायें कहीं—

ब्रह्मलोका चवित्वान देवपुत्तो महिद्धिको।
रञ्ञो पुत्तो उदपादि सब्बकामसमिद्धिसु ॥१॥
कामा वा कामसञ्ञा वा ब्रह्मलोके न विज्जति ॥
यवास्स तायेव सञ्ञाय कामेहि विजिगुच्छथ ॥२॥
तस्स चन्तेपुरे आसि झानागारं सुमापितं।
सो तत्थ पतिसल्लीनो एको रहसि झायथ ॥३॥
स राजा परिदेवेसि पुत्तसोकेन अट्टितो।
एकपुत्तो चायं मय्हं न च कामानि भुञ्जति ॥४॥

[एक महा ऋद्धिवान् देवपुत्र ब्रह्मलोक से च्युत होकर सभी ऐश्वर्य्यों से युक्त राजा का पुत्र होकर उत्पन्न हुआ ॥१॥ ब्रह्मलोक में काम-भोग अथवा काम-भोग सम्बन्धी संकल्प-विकल्प नहीं होते। उस ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए रहने के कारण ही उसे काम-भोग से घृणा थी। उसके अन्तःपुर में एक सुनिर्मित ध्यानागार था। वह वहाँ एकान्त में ध्यान करता था। पुत्रशोक से दुखी होकर वह राजा रोता-पीटता था——मेरा एक ही पुत्र है और उसकी काम-भोगों में रुचि नहीं है। ॥२-४॥]

पाँचवी राजा की शोक-गाथा है——

कोनु खेत्थ उपायो सो को वा जानाति किञ्चनं।
को मे पुत्तं पलोभेय्य यथा कामानि पत्थये ॥५॥

[इसका क्या उपाय है ? कौन क्या जानता है ? कौन मेरे पुत्र को लुभा काम-भोग में प्रवृत्त कर सकता है ? ॥५॥]

इससे आगे यह डेढ़ अभिसम्बुद्ध गाथा है—

अहू कुमारी तत्थेव रूपवण्णा समाहिता,
कुसला नच्चगीतस्स वादिते च पदक्खिणा।
सा तत्थ उपसंकम्म राजानं एतदब्रवी ॥

[वहीं एक नाच, गान तथा बजाने में कुशल रूप वर्ण-युक्त कुमारी थी। वह राजा के पास पहुँच कर बोली ॥]

अहं खोतं पलोभेय्यं सचे भत्ता भविस्सति ।

मैं उसे लुभा सकती हूँ, यदि उसका बाद में मेरा स्वामी बनना स्वीकृत हो ॥६-७॥

तं तथा वादिनिं राजा कुमारिं एतदब्रवी ।
त्वञ्ञेव नं पलोभेहि तव भत्ता भविस्सति ॥८॥

[इस प्रकार कहने वाली उस कुमारी को राजा ने कहा—जा तू ही उसे लुभा। वह तेरा पति होगा अर्थात् तू ही पटरानी होगी ॥८॥]

यह कह राजा ने "इसे जगह दो" कह कर उसे कुमार की सेवा में भेजा। वह प्रातःकाल ही वीणा ले जाकर, कुमार के शयन-गृह के पास खड़ी हो नाखूनों के अगले सिरे से वीणा बजा, मधुर स्वर से गा उसे लुभाने लगी।

इसी अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने कहा—

सा च अन्तेपुरं गन्त्वा बहुं कामूपसंहितं ।
हृदयंगमा पेमनीया चित्रगाथा अभासथ ॥९॥
तस्सा च गायमानाय सद्दं सुत्वान नारिया ।
कामच्छन्दस्स उप्पज्जि जनं सो परिपुच्छथ ॥१०॥
कस्सेसो सद्दो को वा सो भणति उच्चावचं बहु ।
हृदयंगमं पेमणीयं अथो कण्णसुखं मम ॥११॥
एसा खो पमदा देव खिड्डा एसा अनप्पिका ।
सचे त्वं कामे भुञ्जेय्य भीय्यो भीय्यो छादेय्युतं ॥१२॥
इंध आगच्छतोरेन अविदेरम्हि गायतु ।
अस्समस्स समीपम्हि सन्तिके मय्ह गायतु ॥१३॥
तिरोचुड्डम्हि गायित्वा झानागारम्हि पाविसि ।
बन्धि नं अनुपुब्बेन आरञ्ञमिव कुञ्जरं ॥१४॥
तस्सं कामरसं ञत्वा इस्साधम्मो अजायथ ।
अहमेव कामे भुञ्जेय्यं मा अञ्ञो पुरिसो अहु ॥१५॥

ततो असिं गहेत्वान पुरिसे हन्तुं उपक्कमि ।
अहमेव एको भुञ्जिस्सं मा अञ्ञो पुरिसो सिया ॥१६॥

ततो जानपदा सब्बे विक्कन्दिंसु समागता ।
पुत्तो त्यायं महाराज जनं हेठेत्यदूसकं ॥१७॥

तञ्च राजा विहाहेसि तम्हा रट्ठातो खत्तियो ।
यावता विजितं मय्हं न ते वत्तब्ब तावदे ॥१८॥

ततो सो भरियं आदाय समुद्दं उपसंकमि ।
पण्णसालं करित्वान वनं उञ्छाय पाविसि ॥१९॥

अथेत्थ इसिमागञ्छि समुद्दं उपरूपरि ।
सो तस्स गेहं पावेक्खि भत्तकाले उपट्ठिते ॥२०॥

तञ्च भरिया पलोभेसि पस्स याव सुदारुणं ।
चुतो सो ब्रह्मचरियम्हा इद्धिया परिहायथ ॥२१॥

राजपुत्तो च उञ्छातो वनमूलफलं बहुं ।
सायं काजेन आदाय अस्समं उपसंकमि ॥२२॥

इसी च खत्तियं दिस्वा समुद्दं उपसंकमि ।
वेहासयं गमिस्सन्ति सीदते सो महण्णवे ॥२३॥

खत्तियो च इसिं दिस्वा सीदमानं महण्णवे ।
तस्सेव अनुकम्पाय इमा गाथा अभासथ ॥२४॥

अभिज्जमाने वारिस्मिं सयं आगम्म इद्धिया ।
मिस्सीभावित्थिया गन्त्वा संसीदसि महण्णवे ॥२५॥

आवट्टनी महामाया ब्रह्मचरियविकोपना ।
सीदन्ति, नं विदित्वान आरका परिवज्जये ॥२६॥

अनला मुदुसम्भासा दुप्पूरा ता नदीसमा ।
सीदन्ति, नं विदित्वान आरका परिवज्जये ॥२७॥

यं एता उपसेवन्ति छन्दसा वा नेन वा ।
जातवेदोव सण्ठानं खिप्पं अनुदहन्ति नं ॥२८॥

खत्तियस्स वचो सुत्वा इसिस्स निब्बिदा अहु ।
लद्धा पोराणकं मग्गं गच्छतेसो विहायसं ॥२९॥
खत्तियो ग इसिं दिस्वा गच्छमानं विहायसं ।
संवेगं अलभो धीरो पब्बज्जं समरोचयि ॥३०॥
ततो सो पब्बजित्वान कामरागं विराजयि ।
कामरागं विराजेत्वा ब्रह्मलोकुपगो अहू ॥३१॥

[उसने अन्तःपुर में जाकर अनेक प्रकार के कामभोगों के संकल्प-विकल्पों से युक्त, हृदयहारी, प्रेम--भरी, सुन्दर कथा कही। उस गाती हुई नारी के स्वर को सुनकर उसके मन में काम-राग उत्पन्न हो गया। तब उसने आदमियों से प्रश्न किया—यह किसका शब्द है ? यह कौन है जो मुझे मनोहारी, प्रेम-भरी कर्ण-सुखकर वाणी सुना रहा है ? "हे देव ! यह स्त्री है, अत्यन्त क्रीड़ा करने योग्य । यदि तुम काम-भोगों का सेवन करोगे तो तुम्हें यह अधिकाधिक प्रिय लगेगी।" ॥८-११॥ "अच्छा तो समीप आकर गाये, आश्रम के समीप, मेरे पास आ कर गाये" ॥१२॥ वह निवास-गृह की दीवार के पास जाकर शयन-गृह में पहुँची । जिस प्रकार जंगल में हाथी पीछा करता है, उसी प्रकार वह क्रमशः उसका पीछा करने लगा ॥१३॥ काम-रस से परिचित हो जाने पर उसके मन में ईर्षा का भाव पैदा हो गया—मैं ही कामोपभोग करूँ, कोई दूसरा पुरुष नहीं ॥१४॥ तब तलवार लेकर वह लोगों को मारने के लिये दौड़ा--मैं ही अकेला उपभोग करूँ, कोई दूसरा आदमी नहीं ॥१५॥ तब सभी जनपद-निवासी राजा के पास आकर शिकायत करने लगे—हे राजा तेरा पुत्र निर्दोष प्रजा को कष्ट देता है ॥१६॥ उस क्षत्रिय राजा ने उसे अपने राज्य से निकाल दिया और आज्ञा दी कि जहाँ तक मेरे राज्य की सीमा है, वहाँ तक न रहे ॥१७॥ तब वह उस भार्य्या को लेकर समुद्र-तट पर पहुँचा और पर्ण-शाला बना, फलाफल के लिये वन में प्रवेश किया ॥१८॥ वहाँ समुद्र के ऊपर ही ऊपर ऋषि आया । वह भोजन के समय उसके घर में प्रविष्ट हुआ ॥१९॥ उसे उस भार्य्या ने लुभा लिया । जरा उसके दारुण-कर्म को देखो ! ब्रह्मचर्य्य से च्युत होने के कारण उसका ऋद्धि-बल जाता रहा ॥२०॥ राजपुत्र वन से बैहंगी पर बहुत से फूल-मूल लाद कर शाम को आश्रम आन पहुँचा ॥२१॥क्षत्रिय-कुमार

को देखकर ऋषि समुद्र की ओर बढ़ा। वह चाहता था आकाश में उड़ जाए, किन्तु वह समुद्र में गिर पड़ा ॥२२॥ जब क्षत्रिय-कुमार ने ऋषि को समुद्र में डूबता देखा तो उस पर दया करके ये गाथायें कहीं-॥२३॥ बिना पानी में भीगे, आकाश-मार्ग से ऋद्धि-बल से आकर, स्त्री के साथ रमण करने के कारण अब महार्णव में डूब रहा है। ये (स्त्रियाँ) जादूगरनी हैं, मायाविनी हैं, ब्रह्मचर्य्य को कुपित करने वाली हैं, डुबा देने वाली हैं--यह जानकर उन्हें दूर रखें ॥२४-२५॥ ये सन्तुष्ट न होने वाली, मधुर संभाषिणी, नदियों के समान भरी न जाने वाली और डुबा देने वाली होती है—यह जानकर इन्हें दूर ही दूर रखे ॥२६-२७॥ उत्तेजना अथवा धन के वशीभूत होकर यह जिस किसी का सेवन करती है, अग्नि की भाँति उसके आकार-प्रकार को शीघ्र-ही भस्मीभूत कर देती हैं ॥२८॥ क्षत्रिय-कुमार की बात सुनकर ऋषि को वैराग्य प्राप्त हो गया। वह अपने पहले रास्ते पर चल पड़ा और आकाशगामी हो गया। ॥२९॥ जब क्षत्रियकुमार ने ऋषि को आकाश-मार्ग से जाते देखा, तो उस धीर-पुरुष के मन में संवेग पैदा हुआ और उसकी प्रव्रजित होने की इच्छा हुई। तब उसने प्रव्रजित होकर काम-भोग की इच्छा का त्यागकर दिया और काम-राग से मुक्त होकर वह ब्रह्मलोक गामी हुआ ॥३०-३१॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला और "भिक्षुओं, इस प्रकार स्त्रियों के कारण विशुद्ध प्राणी भी मलिन हो जाते हैं" कह, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु अर्हत्व को प्राप्त हुआ। उस समय स्त्री की गन्ध से भी दूर भागने वाला कुमार मैं ही था।

५०८ पञ्च पण्डित जातक

पञ्च पण्डित जातक महाउम्मग जातक[1] में आयेगी।

---

१. महाउम्मग्ग जातक (५४६)।

५०९ हत्थिपाल जातक

"चिरस्सं वन पस्सामि . . . . ' यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय नैष्क्रम्य के बारे में कही। उस समय शास्ता ने "भिक्षुओ, न केवल अभी, तथागत ने पहले भी निष्क्रमण किया ही है" कह, पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में एसुकारी नाम का राजा था। उसका पुरोहित बचपन से उसका प्रिय सहायक था। वे दोनों अपुत्रक थे। एक दिन उन्होंने सुखपूर्वक बैठे हुए विचार किया, "हमारे पास ऐश्वर्य्य बहुत है, पुत्र अथवा पुत्री नहीं है, क्या किया जाए ?" तब राजा ने पुरोहित से कहा—"यदि तुम्हारे घर में पुत्र उत्पन्न होगा, तो मेरे राज्य का स्वामी होगा, यदि मेरे घर में पुत्र पैदा होगा तो तुम्हारे घर की सम्पत्ति का मालिक होगा॥ इस प्रकार वे दोनों परस्पर वचन-बद्ध हुए। एक दिन पुरोहित अपनी जमींदारी के गाँव में गया। वापिस लौटने पर जब वह दक्षिण-द्वार से नगर में प्रवेश कर रहा था तो उसने नगर के बाहर अनेक पुत्रों वाली एक दरिद्र स्त्री को देखा। उसके सात पुत्र थे। सभी निरोग। एक के हाथ में पकाने की हाँड़ी थी। एक के हाथ में चटाई। एक आगे-आगे चल रहा था, एक पीछे-पीछे। एक ने अँगुली पकड़ रखी थी। एक गोद में था। एक कन्धे पर बैठा था।

उससे पुरोहित ने पूछा—'भद्रे, इन बच्चों का पिता कहाँ है ?" "स्वामी ! इनका कोई एक ही निश्चित पिता नहीं है" "इस प्रकार के सात पुत्र क्या करने से मिले ?" उसे जब कोई अन्य आधार न दिखाई दिया तो उसने नगर द्वार-स्थित निग्रोध वृक्ष की ओर संकेत करके कहा—"स्वामी ! इस निग्रोध वृक्ष देवता पर रहने वाले देवता से प्रार्थना करने से मिले, इसी ने मुझे पुत्र

दिये।" पुरोहित ने उसे "तो तू जा" कह कर बिदा किया। तब स्वयं रथ से उतर निग्रोध-वृक्ष के नीचे पहुँचा। उसकी शाखा पकड़ कर हिलाई और बोला—"हे देवपुत्र! तुझे राजा से क्या नहीं मिलता? राजा प्रतिवर्ष हजार (मुद्राओं) का त्याग कर बलि देता है। तू उसे पुत्र नहीं देता। इस दरिद्र स्त्री ने तेरा क्या उपकार किया है कि उसे सात पुत्र दिये हैं। यदि हमारे राजा को पुत्र नहीं देगा, तो आज से सातवें दिन तुझे जड़ से उखड़वा कर टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा।" इस प्रकार वह वृक्ष-देवता को धमका कर चला गया। उसने इसी प्रकार अगले दिन और फिर अगले दिन लगातार छः दिनों तक धमकी दी। छठें दिन शाखा को पकड़ कर बोला—"हे वृक्ष-देवता! अब आज केवल एक रात शेष रह गई है। यदि मेरे राजा को पुत्र नहीं देगा तो कल तुझे समाप्त कर दूँगा।" वृक्ष देवता ने विचार कर इस बात की गहराई को समझा। "इस ब्राह्मण को यदि पुत्र नहीं मिला, तो यह मेरा विमान नष्ट कर देगा, इसे किस प्रकार पुत्र दिया जाए?" उसने चारों महाराजाओं के पास पहुँच यह बात कही। वे बोले—"हम उसे पुत्र नहीं दे सकते।" अट्ठाईस यक्ष-सेनापतियों के पास गया। उन्होंने भी वैसा ही उत्तर दिया। देवराज शक्र के पास जाकर कहा। उसने भी 'इसे योग्य पुत्र मिलेगा अथवा नहीं?' का विचार करते हुए चार देव-पुत्रों को देखा। वे पूर्व-जन्म में बनारस में जुलाहे हुए थे। उन्होंने जो कुछ कमाया उसके पाँच हिस्से कर के चार हिस्से खाये और एक हिस्सा इकट्ठा कर के दान दिया। वे वहाँ से च्युत होकर त्रयोत्रिंश-भवन में पैदा हुए। वहाँ से याम-भवन में। इस प्रकार ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर छः देवलोकों में सम्पत्ति का उपभोग करते हुए विचरते रहे। उस समय उनकी त्रयोत्रिंश-भवन से च्युत होकर याम-भवन जाने की बारी थी। शक्र ने उनके पास पहुँच, उन्हें बुलाकर कहा—"मित्रों, तुम्हें मनुष्य लोक जाना चाहिये, वहाँ एसुकारी राजा की पटरानी के गर्भ से जन्म-ग्रहण करो।" वे उसका कहना सुनकर बोले—"देव, अच्छा जायेंगे। लेकिन हमें राज-कुल से प्रयोजन नहीं है। हम पुरोहित के घर जन्म ग्रहण कर कुमार अवस्था में ही काम-भोगों को छोड़कर प्रव्रजित होंगे।" शक्र ने 'अच्छा' कहा और उनसे प्रतिज्ञा करा ली। फिर आकर वृक्ष-देवता से यह बात कही। उसने सन्तुष्ट हो शक्र को नमस्कार किया और अपने विमान के प्रति गमन किया।

अगले दिन पुरोहित ने भी कुछ मजबूत आदमियों को लिया और कुल्हाड़ी आदि ले वृक्ष के नीचे पहुँचा। वहाँ जा वृक्ष की शाखा पकड़ बोला—"हे देवता, आज मुझे याचना करते-करते सातवाँ दिन हो गया। अब तेरा अन्त समय आन पहुँचा।" अब वृक्ष-देवता ने बड़े ठाट-बाट के साथ पेड़ के तने की खोह में से निकल कर; उसे मधुर-स्वर से बुलाया और कहा—"ब्राह्मण, एक पुत्र की बात जाने दो, मैं तुम्हें चार पुत्र दूंगा" "मुझे पुत्र नहीं चाहिये, हमारे राजा को पुत्र दे।" 'तुम्हीं को मिलेंगे।" तो दो मुझे, और दो राजा को दो।" "राजा को नहीं, चारों तुम्हीं को मिलेंगे और तुमको भी वे केवल मिलेंगे ही, क्योंकि वे घर में न रहकर कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हो जायेंगे।" "तुम पुत्र दो, उन्हें प्रव्रजित न होने देने की हमारी जिम्मेवारी है।"

वृक्ष-देवता ने उसे वर दे अपने भवन में प्रवेश किया। उसके बाद से देवता का आदर-सत्कार बढ़ गया। ज्येष्ठ देव-पुत्र च्युत होकर पुरोहित की ब्राह्मणी की कोख में आया। नामकरण के दिन उसका नाम हस्ति-पाल रखा गया और प्रव्रजित होने से रोके रखने के लिये उसे हाथीवानों को सौंपा गया। वह उनके पास पलने लगा। उसके पदचिह्नों पर आ पड़ने के समान दूसरा च्युत होकर रानी के गर्भ में आया। उसका भी जन्म ग्रहण करने पर अश्वपाल नाम रख गया। वह साइसों के पास पलने लगा। तीसरे का नाम जन्म होने पर गो-पाल रखा गया। वह ग्वालों के साथ बढ़ने लगा। चौथे के पैदा होने पर अज-पाल नाम। वह बकरियाँ चराने वालों के साथ बढ़ने लगा। वे बड़े होने के साथ-साथ सौभाग्यशाली हुए।

उनके प्रव्रजित होने के डर से राज्य-सीमा से सभी प्रव्रजितों को निकाल दिया गया। सारे काशी-राष्ट्र में एक प्रव्रजित भी नहीं रहने दिया गया। वे कुमार कठोर-स्वभाव के थे जिस दिशा में जाते, उस दिशा में ले जाई जाने वाली भेंट लूट लेते। सोलह वर्ष की आयु होने पर हस्ति पाल के शरीर बल का ख्याल कर राजा और पुरोहित दोनों ने मिलकर सोचा—"कुमार बड़े हो गये। उनके राज्याभिषेक का समय हो गया। अब क्या करना चाहिये?" फिर सोचा, "अभिषिक्त रहने पर ये भी उद्दण्ड हो जायेंगे। तब प्रव्रजित आयेंगे। उन्हें देखकर ये भी प्रव्रजित हो जायेंगे। इनके प्रव्रजित होने पर जनता

उबल खड़ी होगी। अभी विचार कर लें। बाद में अभिषिक्त करेंगे।"

यह सोच, दोनों ने ऋषि-वेश बनाया और भिक्षाटन करते हुए हस्तिपाल कुमार के निवास-स्थान पर पहुँचे। कुमार उन्हें देख कर सन्तुष्ट हुआ, प्रसन्न हुआ। उसने पास आकर प्रणाम किया और तीन गाथायें कहीं—

> **चिरस्सं वत पस्साम, ब्राह्मणं देववण्णिनं।**
> **महाजटं भारधरं, पंकदंतं रजस्सिरं ॥१॥**
> **चिरस्सं वत पस्साम, इसिं धम्मगुणे रतं।**
> **कासायवत्थवसनं, वाकचीरं पटिच्छदं ॥२॥**
> **आसनं उदकं पज्जं, पटिगण्हातु नो भवं।**
> **अग्घे भवन्तं पुच्छाम, अग्घं कुरुतु नो भवं ॥३॥**

[मैं चिर-काल के बाद मलिन-दन्त, भस्मयुक्त; जटाधारी, भारवाही, देव-तुल्य ब्राह्मणों का दर्शन कर रहा हूँ ॥१॥ मैं चिरकाल के बाद, धर्म-रत, काषाय-वर्ण, वल्कल चीरधारी ब्राह्मणों को देख रहा हूँ ॥२॥ आप हमारा आसन, तथा पादोदक ग्रहण करें। हम आपसे यह पूज्य-वस्तु ग्रहण करने की प्रार्थना कर रहे हैं। आप यह पूज्य-वस्तु ग्रहण करें ॥३॥]

इस प्रकार उसने उनसे एक-एक कर के बारी-बारी पूछा। तब पुरोहित बोला—"तात, तू हमें क्या समझ कर ऐसा कह रहा है?"

"हिमालयवासी ऋषिगण।"

"तात, हम ऋषि नहीं हैं, यह राजा एसुकारी है और मैं तुम्हारा पिता पुरोहित।"

"तो, तुमने ऋषि-वेश क्यों बनाया?"

"तेरी परीक्षा लेने के लिए।"

"मेरी क्या परीक्षा लेते हो?"

"यदि हमें देख कर प्रव्रजित न हो, तो हम राज्याभिषिक्त करने के लिये आये हैं।"

"तात ! मुझे राज्य नहीं चाहिये, मैं प्रव्रजित होऊँगा ।"

तब उसके पिता ने "तात हस्तिपाल, यह प्रव्रज्या का समय नहीं है", कह अपने आशय के अनुसार उसे उपदेश देते हुए चार गाथायें कहीं—

अधिच्च वेदे परियेस वित्तं,
पुत्ते गेहे तात पतिट्ठपेत्वा ।
गन्धे रसे पच्चनुभुत्व सब्बं,
अरञ्ञं साधु, मुनि सो पसत्थो ॥४॥

[वेदाध्ययन कर, धनार्जन कर, हे तात, ! जो पुत्रों को राज्यादि पर स्थापित कर तथा सभी कामभोगों को भोग कर अरण्य में प्रविष्ट होता है, उसका ऐसा करना साधु है और उस मुनि की प्रशंसा होती है ॥४॥]

तब हस्तिपाल बोला—

वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो,
न पुत्तलाभेन जरं विहन्ति ।
गन्धे रसे मुच्चनं आहु सन्तो,
सकम्मुना होति फलूपपत्ति ॥५॥

[न वेद सत्य हैं और न धन लाभ सत्य है, और न पुत्र-लाभ से ही जरा का नाश होता है । सन्त पुरुषों का कहना है कि गन्ध-रस आदि काम-भोग मूर्छा हैं । अपने किये कर्म से ही फल की प्राप्ति होती है ॥५॥]

कुमार का कथन सुनकर राजा बोला—

अद्धा हि सच्चं वचनं तवेतं,
सकम्मना होति फलूपपत्ति ।
जिण्णा च माता पितरो च तवयिमे,
पस्सेय्यु तं वस्ससतं अरोगं ॥६॥

[निश्चय ही तेरा यह कथन सत्य है कि स्वकर्म से ही फल की प्राप्ति होती है । तेरे माता-पिता वृद्ध हो गये हैं । वे तुझे सौ-वर्ष तक निरोग देखें ॥६॥]

यह सुन कुमार ने "देव ! आप यह क्या कहते है ?" कह दो गाथायें कहीं—

यस्स अस्स सक्खी मरणेन राज,
जराय मेत्ती नरविरियसेट्ठ ।
यो चापि जञ्ञा न मरिस्सं कदाचि,
पस्सेय्युं तं वस्ससतं अरोगं ॥७॥
यथापि नावं पुरिसोदकम्हि,
एरेति चे नं उपनेति तीरं ।
एवम्पि व्याधी सततं जरा च,
उपनेन्ति मच्चं वसं अन्तकस्स ॥८॥

[राजन् ! जिसकी मृत्यु से मैत्री हो, हे नरवीर्य्य श्रेष्ठ ! जिसका जरा के साथ सखा-भाव हो और जो यह जानता हो कि मैं कभी नहीं मरूँगा, उसी के सौ-वर्ष तक निरोग देखने की बात कही जा सकती है ॥७॥ जिस प्रकार आदमी यदि नौका को पानी में चलाता है, तो वह उसे किनारे पर ले ही जाता है, उसी प्रकार जरा और व्याधि आदमी को मृत्यु के पास ले जाते हैं ॥८॥]

इस प्रकार इन प्राणियों के जीवन-संस्कार की तुच्छता प्रकट कर, "महा-राज, आप रहें, आपके साथ बातचीत करते ही करते व्याधि-जरा तथा मरण मेरे समीप चले आ रहे हैं, अप्रमादी बन कर रहें" कह, राजा तथा पिता को नमस्कार कर, अपने सवकों को साथ ले, वाराणसी राज्य को त्याग कर प्रव्रजित होने के उद्देश्य से निकल पड़ा । 'यह प्रव्रज्या सुन्दर होगी' सोच हस्तिपाल कुमार के साथ जनता निकल पड़ी । योजना भर का जुलूस हो गया । उसने उस जन-समूह के साथ गंगातट पर पहुँच, गंगा के जल को देख योगाभ्यास कर ध्यान लाभ किया और तब सोचने लगा—"यहाँ बहुत जनता एकत्र हो जायेगी । मेरे तीनों छोटे भाई, माता-पिता, राजा तथा देवी, सभी अनुयायियों सहित प्रव्रजित हो जायेंगे, वाराणसी खाली हो जायेगी; इनके आने तक मैं यही रहूँ ।" वह जनता को उपदेश देता हुआ वहीं रहा ।

फिर एक दिन राजा और पुरोहित ने सोचा, 'हस्तिपाल कुमार तो राज्य छोड़ कर, लोगों को साथ ले प्रव्रजित होने के उद्देश्य से जाकर गंगा-तट पर

बैठ गया, हम अश्वपाल की परीक्षा कर, उसे ही अभिषिक्त करेंगे।' वे ऋषि-वेश धारण कर उसके भी गृह-द्वार पर पहुँचे। उसने भी उन्हें देख, प्रसन्न हो, पास जाकर "चिरस्सं वत" आदि गाथायें कह वैसा ही व्यवहार किया। उन्होंने भी उसे वैसा ही उत्तर दे अपने आने का कारण बताया। उसने पूछा—"मेरे भाई हस्तिपाल कुमार के रहते उससे पहले मैं ही कैसे श्वेत-छत्र का अधिकारी होता हूँ!" उत्तर मिला—"तात? तेरा भाई, 'मुझे राज्य की अपेक्षा नहीं, मैं प्रव्रजित होऊँगा' कह चला गया।" पूछा—"वह इस समय कहाँ है?" "गंगा-तट पर।" "तात! मेरे भाई ने जिसे थूक दिया, उसकी मुझे जरूरत नहीं है। मूर्ख, तुच्छ-प्रज्ञ प्राणी ही इस क्लेश का त्याग नहीं कर सकते; किन्तु मैं त्याग करूँगा।" इतना कह, राजा तथा पुरोहित को उपदेश देते हुए उसने दो गाथायें कहीं—

पंको च कामा पलिपो च कामा,
मनोहरा दुत्तरा मच्चुधेय्या।
एतस्मिं पंके पलिपे ब्यसन्ना,
हीनत्तरूपा न तरन्ति पारं ॥९॥
अयं पुरे लुद्दं अकासि कम्मं,
स्वायं गहीतो, न हि मोक्ख इतो मे।
ओरुंधिया नं परिरक्खिस्सामि,
मायं पुन लुद्दं अकासि कम्मं ॥१०॥

[काम-भोग कीचड़ हैं, काम-भोग दलदल हैं, मनोहर हैं, दुस्तर हैं, मरण-मुख हैं। इस कीचड़ में, इस दलदल में फँसे हुए हीनात्म लोग तैर कर पार नहीं हो सकते ॥९॥ मैंने पूर्व-जन्म में रौद्र-कर्म किया। उसका उसका फल अब भोग रहा हूँ। उससे मोक्ष नहीं है। अब मैं वाणी और कर्मेन्द्रियों की रक्षा करूँगा ताकि फिर मुझसे रौद्र-कर्म न हो ॥१०॥

"आप रहें, आपके साथ बात करते ही करते व्याधि' जरा, मरण आदि आ पहुँचते हैं" कह, उपदेश दे, योजन-भर जनता को ले, निकल कर हस्तिपाल कुमार के पास ही पहुँचा। उसने आकाश में बैठ, उसे धर्मोपदेश देते हुए कहा—

"भाई ! यहाँ बड़ा जन-समूह एकत्र होगा। अभी हम यहीं रहें।" दूसरे भी 'अच्छा' कह स्वीकार किया।

फिर एक दिन राजा और पुरोहित उसी प्रकार गोपालकुमार के घर पहुँचे। उसके द्वारा भी उसी प्रकार स्वागत किये जाने पर उन्होंने अपने आने का कारण कहा। उसने भी अश्वपाल कुमार की ही तरह अस्वीकार किया। बोला—"मैं चिरकाल से खोये बैल को ढूंढ़ने वाले की तरह 'प्रव्रज्या' को ढूंढ़ता फिर रहा हूँ। बैल के पद-चिह्नों की तरह मुझे वह मार्ग दिखाई दे गया है, जिस पर भाई चला है। अब मैं उसी मार्ग से चलूंगा।"

इतना कह, यह गाथा कही—

गवं न नट्ठं पुरिसो यथा वने,
परियेसति राज अपस्समानो।
एवं नट्ठो एसुकारी मं अत्थो,
सो'हं कथं न गवेसेय्य राज ॥११॥

[हे राजन् ! जिस प्रकार वह आदमी जिसका बैल खो गया है और दिखाई नहीं देता, वह जंगल में अपने बैल को खोजता है, इसी प्रकार हे एसुकारी ! मेरा जो प्रव्रज्या रूपी अर्थ नष्ट हो गया, उसे मैं आज कैसे न खोजूं ? ॥११॥]

वे बोले—"तात गोपाल, एक दो दिन प्रतीक्षा कर। हमारे आश्वस्त होने पर पीछे प्रव्रजित होना।" उसने, "महाराज, यह नहीं कहना चाहिये कि आज करने योग्य कार्य कल करूंगा। शुभ-कर्म आज और आज ही करना चाहिये" कह शेष दो गाथायें कहीं—

हिय्यो ति हिय्यो ति पोसो परेति (परिहायति),
अनागतं नेतं अत्थीति ञत्वा।
उप्पन्नछन्दं को पनुदेय्य धीरो ॥१२॥

[जो पुरुष कल और परसों करता रहता है, उसका पतन होता है। यह जानकर कि भविष्यकाल है ही नहीं, कौन धीर-पुरुष किसी (कुशल) संकल्प को टालेगा ? ॥१२॥]

इस प्रकार गोपालकुमार ने दो गाथाओं से धर्मोपदेश दिया। फिर "आप रहें, आपके साथ बात-चीत करते ही करते व्याधि, जरा, मरण आदि आ पहुँचते हैं" कह, योजन-भर जनता को साथ ले, निकलकर, दोनों भाइयों के पास ही चला गया। हस्तिपाल ने उसे भी आकाश में बैठाकर धर्मोपदेश दिया।

फिर अगले दिन राजा और पुरोहित उसी प्रकार अजपालकुमार के घर पहुँचे। उसके भी उसी प्रकार आनन्द प्रकट करने पर उन्होंने अपने आने का कारण कह, छत्र-धारण करने की बात कही। कुमार ने पूछा—"मेरे भाई कहाँ हैं?" "वे 'हमें राज्य की अपेक्षा नहीं है' कह, श्वेत-छत्र छोड़, तीन-योजन अनुयायियों को साथ ले, निकल जाकर गंगा तट पर बैठे हैं।" "मैं अपने भाइयों के थूक को, सिर पर लिये नहीं घूमूँगा। मैं भी प्रव्रजित होऊँगा।" "तात! तू अभी छोटा है। हमारे हाथ का सहारा है। आयु होने पर प्रव्रजित होना।" कुमार ने उत्तर दिया—"आप क्या कहते हैं? क्या ये प्राणी बचपन में भी और बूढ़े होने पर भी नहीं मरते हैं? यह बचपन में मरेगा और यह बूढ़े होने पर मरेगा—इसका किसी के भी हाथ अथवा पाँव में कोई प्रमाण नहीं। मैं अपना मृत्यु-काल नहीं जानता, इसलिए अभी प्रव्रजित होऊँगा।" इतना कह दो गाथायें कहीं—

पस्सामि वोहं दहरिं कुमारिं,
मत्तूपमं केतकपुप्फनेत्तं।
अभुत्व भोगे पठमे वयस्मिं,
आदाय मच्चु वजते कुमारिं ॥१३॥
युवा सुजातो सुमुखो सुदस्सनो,
सामो कुसुम्भपदिकिण्डमस्सु—
हित्वान कामे पटिगच्छ गेहं,
अनुजान मं, पब्बजिस्सामि देव ॥१४॥

[मैं देखता हूँ कि हास-विलास-युक्त, मस्त, केतक पुष्प के समान विशाल नेत्री वाली कुमारी को, जिसने काम-भोगों को नहीं भोगा है, प्रथम आयु में ही मृत्यु ले कर चल देती है ॥१३॥ उसी प्रकार कुलीन, सुन्दर, सुदर्शन, स्वर्ण-वर्ण, तरुण को जिसकी दाढ़ी केसर की तरह बिखरी है, लेकर चल देती

है। इसलिए मैं काम-भोगों तथा घर को छोड़कर प्रव्रजित होना चाहता हूँ। आप मुझे अनुज्ञा दें ॥१४॥]

इस प्रकार कह, और "आप रहें, आपके साथ बातचीत करते ही करते व्याधि' जरा, मरण आदि आ पहुँचते हैं, " कह कर उसने दोनों को प्रणाम किया। फिर योजन भर जनता को अनुयायी बना, निकल कर, गंगा-तट पर ही जा पहुँचा। हस्तिपाल ने उसे भी आकाश में बैठ कर धर्मोपदेश दिया। 'बड़ा जन-समूह एकत्र होगा' सुन वह भी वहीं बैठ गया।

फिर अगले दिन पालथी मारे बैठे पुरोहित ने सोचा--"मेरे पुत्र प्रव्रजित हो गये। अब मैं अकेला ही मनुष्य रूपी ठूँठ होकर रह गया हूँ। मैं भी प्रव्रजित होऊँगा।" यह सोच उसने ब्राह्मणी के साथ विचार-विमर्श करते हुए यह गाथा कही—

साखाहि रुक्खो लभते समञ्ञं,
पहीनसाखं पन खानुं आहु।
पहीनपुत्तस्स ममज्ज होति,
वासेट्ठि भिक्खाचरियाय कालो ॥१५॥

[शाखा सहित होने से ही पेड़ को वृक्ष कहते हैं। शाखा-रहित पेड़ ठूँठ कहलाता है। हे वासेट्ठि ! इस समय मैं पुत्र-विहीन हूँ। इसलिए यह मेरा प्रव्रजित होने का समय है ॥१५॥]

यह कहकर उसने ब्राह्मणों को बुलवाया। साठ हजार ब्राह्मण इकट्ठे हो गए। उसने उन्हें पूछा—"तुम क्या करोगे ?" और आचार्य्य तुम ?" "मैं तो पुत्र के पास प्रव्रजित होऊँगा।" केवल तुम्हारा ही नरक गर्म नहीं हुआ है, हम भी प्रव्रजित होंगे।" उसने अस्सी करोड़ धन ब्राह्मणी को सौंपा, योजन-भर ब्राह्मण-जनता साथ ले, निकलकर पुत्र के ही पास पहुँचा। हस्तिपाल ने उस जन-समूह को भी आकाश में खड़े होकर धर्मोपदेश दिया।

फिर अगले दिन ब्राह्मणी सोचने लगी—"मेरे चारों पुत्र श्वेत-छत्र छोड़कर प्रव्रजित होने के लिए चले गए। ब्राह्मण भी पुरोहित-पद और अस्सी करोड़ धन छोड़कर पुत्रों के पास ही गया। मैं यहाँ क्या करूँगी। मैं भी पुत्रों का ही अनुगमन करूँगी।" उसने पूर्वकालीन उदाहरण को लाते हुए उल्लास गाथा कही--

अघस्मि कोञ्चा व यथा हिमच्चये,
तन्तानि जालानि पदालिय हंसा ।
गच्छन्ति पुत्ता च पती च मय्हं,
साहं कथं नानुवजे पजानं ॥१६॥

[जिस प्रकार आकाश में क्रौंच (पक्षी) जाते हैं, अथवा जिस प्रकार हिमपात के समय हंस जाल को काटकर चले गये, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पति मुझे छोड़ कर चले गये । अब मैं अपने पुत्रों का अनुकरण कैसे न करूँ ?॥१६॥]

इस प्रकार उसने "मैं ऐसे सोचती हुई भी क्यों न प्रव्रजित होऊँ ?" सोच निश्चय करके ब्राह्मणियों को बुलवाया और पूछा—"तुम क्या करोगी ?" और आर्ये ! तुम ?" "मैं प्रव्रजित होऊँगी ।" "हम भी प्रव्रजित होंऊँगी ।" उसने वह वैभव छोड़ दिया और योजन-भर अनुयायियों को साथ ले पुत्रों के पास ही गई । हस्तिपाल ने उस परिषद् को भी आकाश में बैठ धर्मोपदेश दिया ।

फिर अगले दिन राजा ने पूछा—"पुरोहित कहाँ है ?"देव ! पुरोहित और उसकी ब्राह्मणी सारा धन छोड़ दो तीन योजन अनुयायियों को साथ ले पुत्रों के पास ही चले गये ।" जिसका स्वामी नहीं, ऐसा सारा धन राजा का होता है" सोच, राजा ने उसके घर से धन मँगवा लिया ।

तब राजा की पटरानी ने पूछा, "राजा, क्या करता है ?" उत्तर मिला—"पुरोहित के घर से धन मँगवा रहा है ।" तब प्रश्न किया—"पुरोहित कहाँ है ?" उत्तर मिला—"सपत्नीक प्रव्रज्या के लिए निकल पड़ा है ।" यह बात सुनी, तो पटरानी ने सोचा—"यह राजा ब्राह्मण-ब्राह्मणी तथा चार पुत्रों द्वारा परित्यक्त मल और थूके गये थूक को मोह से मूढ़ होने के कारण, अपने घर उठवा कर मँगवा रहा है । इसे उपमा द्वारा समझाऊँगी ।" उसने कसाई-घर से माँस मँगवाया, राजांगन में ढेर लगवा दिया, और सीधा-रास्ता छोड़ जाल तनवा दिया गीध दूर से ही देखकर माँस के लिये उतरे । उनमें जो बुद्धिमान थे, उन्होंने जाल फैला देख सोचा कि भारी हो जाने पर हम सीधे न उड़ सकेंगे । वे खाया हुआ माँस भी छोड़, जाल में न फँस, सीधे उड़कर ही चले गये । किन्तु जो अन्धे-मूर्ख थे,

उन्होंने उनका परित्यक्त, वमित माँस खाया और भारी हो जाने के कारण सीधे न उड़ सके। वे जाकर जाल में फँस गये।

तब एक गीध लाकर रानी को दिखाया गया। उसने उसे लिया और राजा से समीप जाकर बोली, "महाराज आयें, राजांगन में एक तमाशा देखें।" उसने झरोखा खोला और "महाराज, इन गीधों को देखें" कह दो गाथायें कहीं--

एते भुत्वा वमित्वा च, पक्कमन्ति विहंगमा।
ये च भुत्वा न वमिंसु, ते मे हत्थत्थं आगता ॥१७॥
अवमी ब्राह्मणो कामे, ते त्वं पच्चावमिस्ससि।
वन्तादो पुरिसो राज, न सो होति पसंसियो ॥१८॥

[इनमें जो खाकर वमन कर दे रहे हैं, वे पक्षी उड़ जा रहे हैं, और जो खाकर वमन नहीं कर सकते, वे मेरे हाथ में आ फँसे ॥१७॥ ब्राह्मण ने जिन काम-भोगों का तिरस्कार किया, उन्हें तू उपभोग करने जा रहा है। हे राजन्! वमन किये हुए को खाने वाले की प्रशंसा नहीं होती ॥१८॥]

यह सुन राजा को पश्चात्ताप हुआ। उसे तीनों भव जलते हुए प्रतीत हुए। उसने सोचा कि मुझे आज ही राज्य छोड़ कर प्रव्रजित हो जाना चाहिये। उसके मन में वैराग्य पैदा हो गया। तब उसने देवी की प्रशंसा करते हुए यह गाथा कही--

पंके व पोसं पलिपे ब्यसन्नं,
बली यथा दुब्बलं उद्धरेय्य।
एवं पि मं त्वं उदतारि भोति,
पञ्चालि गाथाहि सुभासिताहि ॥१९॥

[जैसे कोई बलवान् आदमी कीचड़ अथवा दलदल में फँसे किसी दुर्बल मनुष्य का उद्धार कर दे, उसी प्रकार हे पञ्चाली! तूने सुभाषित गाथाओं द्वारा मेरा उद्धार कर दिया है ॥१९॥]

यह कह और उसी क्षण प्रव्रजित होने की इच्छा से उसने अमात्यों को बुलाकर पूछा--"तुम क्या करोगे?" "और देव! आप?" "मैं हस्तिपाल के समीप प्रव्रजित होऊँगा।" "देव! हम भी प्रव्रजित होंगे।" राजा ने बारह

योजन के वाराणसी नगर का राज्य छोड़ दिया और घोषणा कर दी कि जिन्हें जरूरत हो वे श्वेत-छत्र धारण करें। वह तीन-योजन अनुयायियों के के साथ कुमार के ही पास पहुँचा। कुमार ने उसकी परिषद् को भी आकाश में बैठ धर्मोपदेश दिया।

शास्ता ने राजा के प्रव्रजित होने की बात को प्रकाशित करते हुए यह गाथा कही—

इदं वत्वा महाराज, एसुकारी दिसम्पति।
रट्ठं हित्वान पब्बजि, नागो छेत्वा व बंधनं ॥२०॥

[यह कहकर दिशा-पति महाराज एसुकारी उसी प्रकार राष्ट्र छोड़कर प्रव्रजित हो गया, जैसे हाथी बंधन को काट डालता है ॥२०॥]

फिर एक दिन नगर में अवशिष्ट जनों ने इकट्ठे हो, राजद्वार पहुँच, देवी को सूचना करा, राज-भवन में प्रवेश कर, देवी की वन्दना की और एक ओर खड़े हो यह गाथा कही--

राजा च पब्बज्जं अरोचयित्थ;
रट्ठं पहाय नरविरियसेट्ठो।
तुवम्पि नो होहि यथेव राजा,
अम्हेहि गुत्ता अनुसास रज्जं ॥२१॥

[राजा को प्रव्रज्या अच्छी लगी। वह नरवीर्यश्रेष्ठ राज छोड़कर चला गया। अब तुम हमारी वैसी ही 'राजा' बन जाओ। हमारे द्वारा सुरक्षित रहकर राज्यानुशासन करो ॥२१॥]

उसने जनता का कहना सुन शेष गाथायें कहीं--

राजा च पब्बजं आरोचयित्थ,
रट्ठं पहाय नरविरियसेट्ठो।
अहं पि एका चरिस्सामि लोके,
हित्वान कामानि मनोरमानि ॥२२॥
राजा च . . . .
हित्वान कामानि यथोधिकानि ॥२३॥

अच्चेन्ति काला तरयन्ति रत्तियो,
वयोगुणा अनुपुब्बं जहन्ति ।
अहं पि एका चरिस्सामि लोके,
हित्वान कामानि मनोरमानि ॥२४॥
अच्चेन्ति. . . . .
हित्वान कामानि यथोधिकानि ॥२५॥
अच्चेन्ति. . . . .
सोतिभूता सब्बं अतिच्च संगं ॥२६॥

[राजा को प्रव्रज्या अच्छी लगी । वह नरवीर्य्य श्रेष्ठ राज्य छोड़कर चला गया । मैं भी मनोरम काम-भोगों को छोड़कर लोक में अकेली विचरूँगी ॥२॥ राजा को. . .। मैं भी नाना प्रकार के काम-भोगों को छोड़कर लोक में अकेली विचरूँगी ॥२३॥ काल चला जाता है, रातें गुजर जाती हैं, आयु क्रमानुसार व्यतीत हो जाती है । मैं भी मनोरम काम-भोगों को छोड़कर लोक में अकेली विचरूँगी ।।२४।। काल चला जाता है. . . । मैं भी नाना प्रकार के काम-भोगों को छोड़कर लोक में अकेली विचरूँगी ॥२५॥ काम चला जाता है. . . मैं भी सारी आसक्तियों को छोड़ शान्त-चित्त हो लोक में अकेली विचरूँगी ॥२६॥

इस प्रकार उसने इन गाथाओं से जनता को धर्मोपदेश दे अमात्य-भार्य्याओं को बुलाकर पूछा––"तुम क्या करोगी ?" "और आर्ये तुम ?" "मैं प्रव्रजित होऊँगी ।" "हम भी प्रव्रजित होंगी ।" उसने 'अच्छा' कह राजभवन के स्वर्णागार आदि खुलवाये और फिर 'अमुक स्थान पर बड़ा खजाना गड़ा है", सोने की पाटी पर लिखवा कर घोषणा की कि "यह दिया ही है; (लेने वाले) ले जायें ।' फिर उस सोने की पट्टी को ऊँचे पर खम्भे में बँधवाकर नगर में मुनादी करवा, महान् सम्पत्ति छोड़, नगर से निकल पड़ी । उस समय सारे नगर में खलबली मच गई । लोग सोचने लगे––"राजा और देवी राज्य छोड़कर प्रव्रजित होने के लिए चले गये, अब हम क्या करें ?" तब लोग भरे-भराये घर छोड़, पुत्रों को हाथ में ले निकल पड़े । तमाम दुकानें खुली की खुली रह गईं । लौटकर कोई देखने वाला न था । सारा नगर खाली हो गया । देवी भी तीन-योजन अनुयायियों को लेकर वही पहुँची ।

हस्तिपालकुमार ने उसके अनुयायियों को भी आकाश में बैठ धर्मोपदेश दिया। फिर बारह योजन अनुयायियों को साथ ले हिमवन्त की ओर चल दिया। "जब हस्तिपाल कुमार बारह योजन की वाराणसी को खाली करके, प्रव्रजित होने के लिए, जनता को लेकर हिमाचल चला जा रहा है, तो हमारी क्या गिनती है", सोच सारे काशी राष्ट्र में खलबली मच गई। आगे चलकर तीस योजन अनुयायी हो गए। वह उन अनुयायियों को ले, हिमालय में प्रविष्ट हुआ।

शक्र ने ध्यान लगाकर देखा तो उसे पता लगा कि हस्तिपाल कुमार अभिनिष्क्रमण कर निकल पड़ा। उसने सोचा, बड़ी भीड़ होगी। निवासस्थान की व्यवस्था होनी चाहिए। शक्र ने विश्वकर्मा को बुलाकर आज्ञा दी, "जा, छत्तीस योजन लम्बा और पन्द्रह योजन चौड़ा आश्रम बनाकर उसमें प्रव्रजितों की आवश्यकताएँ लाकर रख।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और गंगा-तट पर रमणीय प्रदेश में उक्त लम्बाई-चौड़ाई का आश्रम बना दिया। फिर पर्णशालाओं में पीढ़े, आसन आदि बिछा कर प्रव्रजितों की सभी आवश्यकताओं की व्यवस्था की। एक-एक पर्णशाला के द्वार पर एक-एक चन्क्रमण-भूमि, रात्रि और दिन के लिए, चूना पुता सहारे का पटड़ा, उन-उन जगहों पर नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से लदे हुए पुष्प-वृक्ष, एक एक चक्रमण-भूमि के सिरे पर एक-एक पानी भरा कुआँ, उनके पास एक-एक फल-वृक्ष। वह (वृक्ष) अकेला ही सभी प्रकार के फल देता था। यह सब देव-प्रताप से हुआ। विश्वकर्मा ने आश्रम का निर्माण कर, पर्णशालाओं में प्रव्रजितों की आवश्यकतायें रख, दीवार पर अक्षर लिखे—"जो कोई भी प्रव्रजित होना चाहे इन प्रव्रजितों की आवश्यकताओं को ले ले।" फिर अपने प्रताप से भयानक शब्द मृग, पक्षी, दुदर्शनीय अमनुष्यों को दूर करके अपने स्थान को ही चला गया।

हस्तिपाल कुमार ने डण्डी-डण्डी जाकर शक्र के दिए हुए आश्रम में प्रवेश किया और लिखे अक्षरों को देख, सोचा "शक्र ने मेरे महान् अभिनिष्क्रमण की बात जान ली होगी।" उसने द्वार खोल, पर्णशाला में प्रवेश किया और ऋषियों के ढंग की प्रव्रज्या के चिह्नों को लेकर निकल पड़ा। फिर चन्क्रमण-भूमि में उतर, कई बार इधर-उधर जा, सारी जनता को प्रव्रजित कर आश्रम का विचार किया। तब तरुण पुत्रों और स्त्रियों की बींच की जगह में पर्णशाला

दी, उसके बाद बूढ़ी स्त्रियों को, उसके बाद बाँझ स्थियों को, अन्त में चारों ओर घेर कर पुरुषों को स्थान दिया।

तब एक राजा यह सुन कि वाराणसी में राजा नहीं है, आया। उसने सजे-सजाये नगर को देख, राज-भवन में चढ़, वहाँ जहाँ-तहां रतनों के ढेर देख, सोचा—"इस प्रकार के नगर को छोड़ प्रव्रजित होने के समय से यह प्रव्रज्या महान् होगी।" उसने एक पियक्कड़ से मार्ग पूछा और हस्तिपाल के पास ही चला गया। हस्तिपाल को जब पता लगा कि वह वन के सिरे पर आ पहुँचा है, तो अगवानी कर, आकाश में बैठ धर्मोपदेश दे, आश्रम ला, सभी लोगों को प्रव्रजित किया। इसी प्रकार और भी छः राजा प्रव्रजित हुए। सात राजाओं ने सम्पत्ति छोड़ी। छत्तीस-योजन का आश्रम सारा-का-सारा भर गया। जो काम-वितर्क आदि वितर्कों में से किसी संकल्प को मन में जगह देता, महापुरुष उसे धर्मोपदेश दे ब्रह्म-विहार और योग-विधि बताते। उनमें से अधिकांश ध्यान तथा अभिज्ञा प्राप्त कर तीन हिस्सों में से दो हिस्से ब्रह्म-लोक में उत्पन्न हुए। फिर तीसरे हिस्से के तीन हिस्से करके, एक हिस्सा-ब्रह्मलोक में पैदा हुआ, एक छः काम-लोकों में, एक ऋषियों की सेवाकर मनुष्य-लोक में तीनों कुशल सम्पत्तियों में पैदा हुए। इस प्रकार हस्तिपाल के शासन में न कोई नरक में पैदा हुआ, न कोई पशु होकर पैदा हुआ, न कोई प्रेत होकर पैदा हुआ और न कोई असुर होकर पैदा हुआ।

इस ताम्रपर्णी द्वीप में पृथ्वी-चालक धर्मगुप्त स्थविर, कटकन्धकारवासी पुष्पदेव स्थविर, उपरिमण्डलकमलयवासी महासंघ-रक्षित स्थविर, मलिमहा-देव स्थविर, भग्गिरिवासी महादेव स्थविर, वामन्तपब्भारवासी महासीव स्थविर, काळाल्लि मण्डपलासी महानाग स्थविर, कुद्दाल समागम में, मूग-पक्ष समागम में, चूळ पुतसोम समागम में, अयोघरपण्डित समागम में और हस्तिपाल समागम में सबसे पीछे निकले हुए पुरुष हुए। इसीलिए भगवान् ने कहा है—

अभित्थरेथ कल्याणे—(धम्मपद ११६)

[शुभ कर्म में प्रवृत्त हो] अर्थात् शुभ-कर्म शीघ्र करना चाहिए।]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, "भिक्षुओं, न केवल अभी, किन्तु पहले भी

तथागत ने अभिनिष्क्रमण किया ही है" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय एसुकारी सुद्धोधन महाराजा था, देवी महामाया, पुरोहित काश्यप, ब्राह्मणी भद्रकपिलानी अजपाल अनुरुद्धो, गोपाल मौद्गल्यायन, अश्वपाल सारिपुत्र, शेष परिषद्, बुद्ध-परिषद् और हस्तिपाल तो मैं ही था।

५१०. ययोघर जातक

"यमेकरत्ति पठमं . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय महानिष्क्रमण के ही बारे में कही। उस समय भी "भिक्षुओं न केवल अभी किन्तु पहले भी तथागत ने महा-निष्क्रमण किया ही है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय, राजा की पटरानी ने गर्भ-धारण कर, गर्भ-काल की आवश्यकतायें प्राप्त कर, गर्भ-परिपाक हो जाने पर, प्रातःकाल के समय पुत्र को जन्म दिया। उसके पूर्व-जन्म की एक सपत्नी ने "तेरे पुत्रों को खाऊँगी" प्रार्थना कर रखी थी। वह स्वयं बाँझ थी। इसलिए उसने पुत्रवाली माता के प्रति क्रोध होने के कारण यह प्रार्थना की थी। वह यक्षिणी होकर पैदा हुई। दूसरी ने राजा की पटरानी होकर पुत्र को जन्म दिया। उस यक्षिणी को जब अवसर मिला तो वह देवी के देखते ही देखते वीभत्स रूप धारण करके वहाँ पहुँची और उस बच्चे को लेकर भाग गयी। देवी बड़े जोर से चिल्लायी--"यक्षिणी मेरे पुत्र को लेकर भागी जा रही है।" दूसरी ने भी बच्चे को मूली की तरह खा डाला और देवी को हाथों से तर्जन से डरा-धमकाकर चली गई। राजा ने सुना तो चुप हो गया कि यक्षिणी का क्या किया जा सकता है ? दूसरी बार देवी के प्रसव

का समय होने पर कड़ा पहरा बिठाया । देवी ने दुबारा पुत्र को जन्म दिया । यक्षिणी आकर उसे भी खा गई । तीसरी बार उसकी कोख में महासत्व ने जन्म ग्रहण किया । राजा ने लोगों को बुला कर पूछा––"देवी की हर संतान को एक यक्षिणी खा जाती है । क्या करना चाहिए ?" एक बोला—"यक्ष ताड़-पत्र से डरते हैं । देवी के हाथ पाँव में ताड़-पत्र बाँध देना चाहिए ।" एक दूसरा बोला––"लोहे के घर से डरते हैं । लोहे का घर बनवाना चाहिए ।" राजा ने 'अच्छा' कह अपनी राज्य-सीमा के कारीगरों को बुला कर आज्ञा दी कि "लोहे का घर" बनाओ और उन पर निरीक्षक नियुक्त किये । नगर के भीतर ही रमणीय प्रदेश में घर की स्थापना की । खम्भों से लेकर घर की सभी चीजें लोहे की ही थीं । नौ महीनों में बड़ा भारी चौकोर भवन बनकर समाप्त हुआ । वह नित्य-प्रज्वलित प्रदीप के समान था ।

राजा को जब पता लगा कि देवी का गर्भ परिपक्व हो गया, तो उसने लोहे के घर को सजवाया और देवी को लेकर लोहे के घर में प्रवेश किया । उसने वहाँ धन तथा पुण्य के लक्षण वाले पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम लोह-गृह कुमार ही रखा गया । उसे दाइयों को सौंपा, कड़ा पहरा बिठाकर, राजा ने देवी को साथ ले, नगर की प्रदक्षिणा की और अलंकृत प्रासाद में जा चढ़ा । यक्षिणी की भी पानी लाने की बारी आई और वह कुबेर के लिये पानी लाते समय मृत्यु को प्राप्त हो गई ।

बोधिसत्व लोह-गृह में ही बड़े हुए, होश सँभाली और वहीं तमाम शिल्प सीखे । राजा ने अमात्यों से पूछा—"मेरा पुत्र कब आयु-प्राप्त (बालिग) हो जायेगा ?" "देव ! सोलह वर्ष का होने पर शूर, शक्तिशाली हो जायेगा । हजार यक्षों को भी रोक सकेगा ।" यह सुन राजा ने निश्चय किया कि अब इसे राज्य दूँगा । उसने सारे नगर को अलंकृत कराया, आज्ञा दी कि उसे लोह-गृह से निकाल कर ले आओ । अमात्यों ने "देव, अच्छा" कहा और बारह योजन की वाराणसी को अलंकृत करा कर, सभी अलंकारों से विभूषित मंगल हाथी को लेकर वहाँ पहुँचे और कुमार को अलंकृत करा कर, हाथी के कन्धे पर बिठा कर बोले––"देव ! कुल-प्राप्त अलंकृत नगर की प्रदक्षिणा कर, काशीराज पिता की वन्दना करें । आज ही श्वेत-छत्र प्राप्त होगा ।" बोधिसत्व ने नगर की प्रदक्षिणा करते समय रमणीय आराम, रमणीय वर्ण, पुष्करिणी, रमणीय भूमि, तथा रमणीय प्रासाद आदि देखकर सोचा और

अमात्यों से पूछा—"मेरे पिता ने मुझे इतना समय कारागार में रखा। इस प्रकार का अलंकृत नगर देखने नहीं दिया। मेरा क्या अपराध है?" देव! तुम्हारा अपराध नहीं है। तुम्हारे दो भाइयों को एक यक्षिणी खा गई। इसी से तुम्हें पिता ने लोह-गृह में रखा। लोह-गृह से ही तुम्हारे प्राणों की रक्षा हुई।" उसने उनकी बात सुन विचार किया—"मैं दस महीने तक लोह-कुम्भी नरक में रहने की तरह अथवा गूंह-नरक में रहने की तरह माता की कोख में रहा। माता की कोख से निकलने के समय से सोलह वर्ष तक इस कारागार में रहा। बाहर देखने तक नहीं मिला। यक्षिणी से बचकर भी मैं न अजर हूँ और न अमर हूँ। मैं राज्य लेकर क्या करूँगा? राज्य पर प्रतिष्ठित होने के बाद उसे छोड़ना कठिन होता है। आज ही मैं पिता से आज्ञा ले, हिमालय में प्रवेश कर, प्रव्रजित होऊँगा। उसने नगर की प्रदक्षिणा की और राजभवन में प्रविष्ट हो राजा को नमस्कार करके खड़ा हुआ। राजा ने उसका शरीर सौन्दर्य देख, अत्यन्त स्नेह से अमात्यों की ओर देखा। वे बोले—"देव! क्या आज्ञा है?" "मेरे पुत्र को रत्नों के ढेर पर प्रतिष्ठित कर तीन शंखों से अभिषेक कर, स्वर्णमाला तथा श्वेत-छत्र धारण कराओ।" बोधिसत्व ने पिता को नमस्कार करके निवेदन किया—"मुझे राज्य नहीं चाहिए। मैं प्रव्रजित होऊँगा। मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा दें।" "तात! राज्य छोड़कर प्रव्रजित क्यों होते हो?" देव! मैं माता की कोख में दस महीने तक गूँह-नरक में रहकर, कोख से निकलने पर यक्षिणी के भय से सोलह वर्ष तक कारागार में रहा। उस समय बाहर झाँकने तक नहीं मिला। ऐसा हुआ मानों उस्सद-नरक में डाल दिया होऊँ। यक्षिणी से मुक्त हो जाने पर भी मैं अजर-अमर नहीं हो गया। मृत्यु को कोई नहीं जीत सकता। मैं (तीनों) भवों से विरक्त हूँ। जब तक बुढ़ापा और मृत्यु नहीं आते, तभी तक मैं प्रव्रजित होकर धर्माचरण करूँगा। मुझे राज्य नहीं चाहिए। देव! मुझे अनुज्ञा दें।" इतना कह उसने पिता को धर्मोपदेश देते हुए यह गाथायें कहीं—

यं एकरत्तिं पठमं गब्भे वसति मानवो
अब्भुट्ठितो व सयति स गच्छं न निवत्तति ॥१॥

[जो भी मानव माता के गर्भ में एक रात रहता है, वह उठे हुए बादल की तरह रहता है, आगे जाकर, पीछे नहीं लौटता ॥१॥]

न युज्झमाना न बलेन वस्सिता
नरा न जीरन्ति न चापि मीयरे,
सब्बं हि तं जाति जरायुपद्दुतं,
तं मे मती होति चरामि धम्मं ॥२॥

[न योधा और न बलवान ही जरा तथा मृत्यु से बचते हैं। मेरी मति है कि सभी जाति तथा जरा के आधीन हैं, इसलिये मैं धर्माचरण करूँगा ॥२॥]

चतुरंगिनि सेनं सुभिंसरूपं
जयन्ति रट्ठाधिपती पसय्ह
न मच्चुनो जयितुं उस्सहन्ति,
तं मे. . . . . . ॥३॥

[कोई कोई राजा बल से रुद्र चतुरंगिनी सेना तक को भी जीत लेते हैं, किन्तु वे मृत्यु को जीतने की बात नहीं सोच सकते। मेरी. . . .॥३॥]

हत्थीहि अस्सेहि पत्तिहि
परिवारिता मुच्चरे एकचेय्ये,
न मच्चुनो मुच्चितुं उस्सहन्ति, इत्यादि ॥४॥

[कोई कोई हाथी, घोड़ों, रथों और पैदल-सेना से घिरे होने पर बच जाते हैं। किन्तु कोई भी मृत्यु से बचने का साहस नहीं कर सकता ॥४॥]

हत्थीहि अस्सेहि रथेहि पत्तिहि
सूरा तभञ्जन्ति पधंसयन्ति
न मच्चुनो भञ्जितुं उस्साहन्ति ॥५॥

[वीर पुरुष हाथी, घोड़ों, रथों और पैदल-सेना की सहायता से शत्रु-पक्ष को तोड़ डालते हैं, नष्ट कर डालते हैं। किन्तु, वे मृत्यु को तोड़ने का साहस नहीं कर सकते ॥५॥]

मत्ता गजा भिन्नगळा पभिन्ना
नगरानि मद्दन्ति जनं हनन्ति
न मच्चुनो मद्दितुं उस्सहन्ति ॥६॥

[गंडस्थल से मद बहाने वाले मस्त हाथी नगरों का मर्दन कर डालते हैं और लोगों की हत्या कर डालते हैं। किन्तु, वे भी मृत्यु का मर्दन करने का साहस नहीं कर सकते ॥६॥]

इस्सासिनो कतहत्थापि धीरा
दूरेपाती अक्खणवेधिनोपि
न मच्चुनो विज्झितुं उस्सहन्ति ॥७॥

[धैर्यवान, कुशाल, दूर तक मार सकने वाले तथा निशाना न चूकने वाले धनुर्धारी भी मृत्यु को बींधने का साहस नहीं कर सकते ॥७॥

सरानि खीयन्ति ससेलकानना
सब्बं हि तं खीयति दीघं अन्तरं
सब्बं हि तं भञ्जरे कालपरियायं, इत्यादि ॥८॥

[सरोवर क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, शैल और कानन भी। सभी कुछ दीर्घ समय पाकर यक्ष को प्राप्त हो जाता है। सभी कुछ काल के अधीन होने से टूट-फूट जाता है. . . . ॥८॥]

सब्बेसं एवं हि नरानारीनं
चलाचलं पाणभुनोध जीवितं
पटोवं धुत्तस्स दुमो व कूलजो, इत्यादि ॥९॥

[सभी स्त्री-पुरुषों तथा प्राणियों का जीवन चंचल है, जैसे सुरापान करने वाले के शरीर का वस्त्र और नदी-तट का वृक्ष.. . .॥९॥]

दुमप्फलानेव पतन्ति मानवा
दहरा च वुद्धा च सरीरभेदा
नरियो नरा मज्झिमपोरिसा च, इत्यादि ॥१०॥

[छोटे; बड़े, तथा मध्यम आकार के नर और नारी—सभी वृक्षों से फलों के गिरने की भाँति (मृत्यु के मुँह में) गिरते हैं. . . .॥१०॥]

नायं वयो तारकराजसन्निभो,
यदब्भतीतं गतं एव दानि तं
जिण्णस्स ही नत्थि रती कुतो सुखं, इत्यादि ॥११॥

[यह आयु चन्द्रमा के समान घटकर फिर बढ़ने वाली नहीं है। जो गुजर गई वह अब गुजर ही गई। वृद्धावस्था में रति नहीं रहती, और सुख तो कहाँ रहेगा...॥११॥]

यक्खा पिसाचा अथवापि पेता
कुपिता पि त अस्ससन्ती मनुस्से
न मच्चुनो अस्ससितुस्सहन्ति, इत्यादि ॥१२॥

[यक्ष, पिशाच और प्रेत क्रोधित होने पर, मनुष्यों को फूंक से मार डालते हैं। वे भी मृत्यु को फूंक से मार डालने के लिये उत्साहित नहीं होते..॥१२॥]

यक्खे पिसाचे अथवापि पेते
कुपिते पिते निज्जपनं करोन्ति
न मच्चुनो निज्जपनं करोन्ति, इत्यादि ॥१३॥

[यक्ष, पिशाच और प्रेत कुपित होने पर भी बलिकर्म आदि द्वारा शान्त हो जाते हैं। किन्तु मृत्यु की शान्ति नहीं होती ॥१३॥]

अपराधके दूसके हेठके च
राजानो दण्डेन्ति विदित्व दोसं,
न मच्चुनो दण्डयितुस्सहन्ति, इत्यादि ॥१४॥

[राजागण अपराधियों, दोषियों तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वालों के दोष जान उन्हें दण्ड देते हैं। किन्तु, वे मृत्यु को दण्ड देने को उत्साहित नहीं होते ॥१४॥]

अपराधका दूसका हेठका च
लभन्ति ते राजिनो निज्झवेतुं
न मच्चुनो निज्झपनं करोन्ति, इत्यादि ॥१५॥]

[अपराधियों, दोषियों तथा दूसरों को कष्ट देने वालों को राजाओ से क्षमा मिल जाती है। किन्तु मृत्यु से क्षमा नहीं मिलती ॥१५॥]

न खत्तियो ति न पि ब्राह्मणो ति,
न अड्ढका बलवा तेजवापि—
न मच्चुराजस्स अपेक्खमस्थि, इत्यादि ॥१६॥

[न क्षत्रिय, न ब्राह्मण, न धनी, न बलवान् और न किसी तेजवान् की ही मृत्यु-राज को परवाह है... ॥१६॥]

सीहा च व्यग्घा च अथोपि दीपियो
पसय्ह खादन्ति विप्फन्दमानं
न मच्चुनो खादितुं उस्सहन्ति, इत्यादि ॥१७॥

[सिंह व्याघ्र और चीते भागने वाले को जबर्दस्ती खा जाते हैं। किन्तु, वे भी मृत्यु को खाने का साहस नहीं रखते ॥१७॥]

मायाकारा रंगमज्झे करोन्ता
मोहेन्ति चक्खूनि जनस्स तावदे,
न मच्चुनो मोहयितुस्सहन्ति, इत्यादि ॥१८॥

[जादूगर रंगभूमि में मायावी-पन दिखाकर उसी क्षण जनता को मुग्ध कर लेते हैं। किन्तु वे भी मृत्यु को मुग्ध नहीं कर सकते ॥१८॥

आसिविसा कुपिता उग्गतेजा
डसन्ति मारेन्ति पि ते मनुस्से
न मच्चुनो डासिन्तुं उस्सहन्ति, इत्यादि ॥१९॥

[क्रुद्ध, तेजस्वी सर्प आदमियों को डसते और उन्हें मार भी डालते हैं। किन्तु वे मृत्यु को डसने का साहस नहीं रखते ॥१९॥

आसीविसा कुपिता यं डसन्ति
तिकिच्छका तेसं विसं हनन्ति
न मच्चुनो दट्ठविसं हनन्ति ॥२०॥

[क्रुद्ध, तेजस्वी सर्प जिसे डस लेते हैं चिकित्सक उसका विष नष्ट कर देते हैं। किन्तु मृत्यु रूपी डंक के विष को कोई नष्ट नहीं करता...॥२०॥]

धम्मन्तरी वेतरणी च भोजो
विसानि हन्त्वान भुजंगमानं
सूयन्ति ते कालकता तथेव, इत्यादि ॥२१॥

[सुना जाता है कि धन्वन्तरी, वेतरणी और भोज नामक वैद्यों ने सर्पों के विष को नष्ट किया; किन्तु उनका मरना भी वैसे ही (सर्पों के काटने से ही) हुआ ॥२१॥

विज्जाधरा घोरं अधीयमाना
अदस्सनं ओसधेहि वजन्ति,
न मच्चुराजस्स वजन्तदस्सनं, इत्यादि ॥२२॥

[घोर-विद्या के अभ्यासी जादूगर, औषधि ले कर शत्रु से अदृश्य हो जाते थे। वे मृत्यु-राज से अदृश्य नहीं होते हैं ॥२२॥

धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं
धम्मो सुचिण्णो सुखं आवहाति,
एसानिसंसो धम्मे सुचिण्णे
न दुग्गतिं गच्छति धम्मचारी ॥२३॥

[धर्म धर्मचारी की रक्षा करता है। आचरण किया हुआ धर्म सुखदायक होता है। भली प्रकार आचरण किये गये धर्म का यह फल है कि धर्मचारी कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ॥२३॥

न हि धम्मो अधम्मो च उभो समविपाकिनो,
अधम्मो निरयं नेति, धम्मो पापेति सुग्गतिं ॥२४॥

[धर्म और अधर्म दोनों का समान फल नहीं होता अधर्म नरक में ले जाता है, धर्म स्वर्ग प्राप्त कराता है ॥२४॥

इस प्रकार बोधिसत्व चौबीस गाथाओं से पिता को उपदेश देकर बोला "महाराज, आपका राज्य आपका ही रहे। मुझे इसकी अपेक्षा नहीं है। आपके साथ बात करते ही करते व्याधी, जरा, मरण पास चले आते हैं। आप रहें।" इतना कह लोहे की जंजीर तोड़ डालने वाले मस्त हाथी की तरह, सुनहरा पिञ्जरा तोड़ डालने वाले सिंह के बच्चे की तरह, काम-भोगों को छोड़, माता-पिता को प्रणाम कर चल दिया।

उसका पिता भी 'मुझे भी राज्य नहीं चाहिए' कह राज्य छोड़ उसके साथ ही निकल पड़ा। उसके निकलने पर देवी, अमात्य, ब्राह्मण, गृहपति आदि और

समस्त नगरवासी घर छोड़ कर निकल पड़े। बड़ा सम्मेलन हुआ । अनुयायी बारह योजन तक थे । उन्हें ले बोधिसत्व ने हिमालय में प्रवेश किया । शक्र ने उसके अभिनिष्क्रमण की बात जान, विश्वकर्मा को बुला लाने की आज्ञा दी--"बारह योजन लम्बा और सात योजन चौड़ा आश्रम बनाओ ।" प्रव्रजितों की सभी आवश्यकताएँ लाकर दीं । उसके आगे बोधिसत्व की प्रव्रज्या, प्रवचन, ब्रह्मलोकगामी होना तथा परिषद् का नरक-गामिता से बचे रहना, सभी कुछ ऊपर लिखे अनुसार हो ।

शास्ता ने इस प्रकार यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं, तथागत ने पहले भी महाभिनिष्क्रमण किया ही है, कह" जातक का मेल बैठाया । इस समय के माता-पिता राजकुल वाले ही थे । परिषद् बुद्ध-परिषद् ही थी । अयोघर पण्डित तो मैं ही था ।

⊙

५११. किछन्द जातक

"किं छन्दो कि अधिप्पायो . . . ."यह शास्ता ने जेतवन में उपोसथकर्म के बारे में कही––

क. वर्तमान कथा

एक दिन जब बहुत से उपासक, उपासिकाएँ, उपोसथ-व्रती, धर्म सुनने के लिए आकर बैठे थे, शास्ता ने पूछा—"उपासकों, क्या उपोसथ-व्रत रक्खा है ?" "भन्ते ! हाँ !" "अच्छा किया, जो उपोसथ-व्रत किया। पुराने लोगों को आधे उपोसथ-व्रत के प्रताप से बहुत यश प्राप्त हुआ।" इतना कह उनके प्रार्थना करने पर पूर्वजन्म की कथा कही––

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय एक श्रद्धावान दान, शील तथा उपोसथ-कर्म में अप्रमादी था। उसने दूसरे अमात्य आदियों से भी दान का अनुमोदन कराया। किन्तु उसका पुरोहित चुगलखोर, रिश्वत-खोर और मुकदमे का गलत निर्णय कराने वाला था। उपोसथ व्रत के दिन राजा ने अमात्य आदि को बुलाकर उपोसथ-व्रत रखने के लिए कहा। पुरोहित ने उपोसथ-व्रत नहीं रक्खा। उसने दिन में रिश्वत लेकर, गलत निर्णय किया था। जब वह राजा के दर्शनार्थ आया तो राजा ने अमात्यों से पूछा—"तुमने भी उपोसथ-व्रत रक्खा है ?" पूछते हुए उससे भी पूछा–– आचार्य ! क्या तुमने भी उपोसथ-व्रत रक्खा है ? उसने झूठ-मूठ "हाँ" कहा और प्रासाद से उतरा।

तब उस पर एक अमात्य ने दोषारोपण किया—"क्या तुम उपोसथ के अव्रती नहीं हो ?" उसने उत्तर दिया––"मैंने समय से ही भोजन कर लिया

है। अब घर जाकर मुँह धोकर उपोसथ-व्रत ग्रहण करूँगा और शाम को खाना नहीं खाऊँगा। रात को शील का पालन करूँगा। इस प्रकार मेरा आधा-व्रत होगा।" "आचार्य्य ! अच्छा" उसने घर जाकर वैसा किया।

फिर एक दिन उसके न्यायाधीश के आसन पर बैठे रहने के समय एक सदाचरी स्त्री मुकदमे में वधी रहने के कारण घर न जा सकी। उसने सोचा 'मैं उपोसथ-कर्म का अतिक्रमण नहीं करूँगी।' समय समीप होने पर उसने मुख-प्रक्षालन आरम्भ किया। उस समय उस ब्राह्मण के पास पके हुए आमों में से एक आम लाया गया। उसने उसके व्रत की बात जानकर कहा—"इसे खाकर व्रती बनो।" उसने वैसा ही किया। बस इतना ही इस ब्राह्मण का (शुभ-) कर्म था।

वह आगे चलकर, मरने पर हिमालय प्रदेश में, कोसिकी नदी के किनारे, तीन योजन के आम्रवन में, रमणीय भूमि में, सौभाग्यवान जगह में स्वर्णवर्ण विमान में, अलंकृत शयनागार में, सोकर उठने की तरह पैदा हुआ। वह सजा-सजाया था, उत्तम रूपधारी था, सोलह हजार देवकन्याओं से घिरा हुआ था। वह केवल रात को ही उस शरीर-सम्पत्ति का आनन्द लेता था। वैमानिक प्रेत भाव के अनुरूप ही उसके कर्म का उसे वह प्रतिफल मिला था। इसलिए अरुणोदय होते ही आम्रवन में प्रवेश करता। प्रविष्ट होते ही उसका दिव्य-जन्म अन्तर्धान हो जाता। अस्सी ताड़ लम्बा शरीर प्रादुर्भूत होता। सारा शरीर जलने लगता। ऐसा होता मानों किंसुक-फूल खिला हो। दोनों हाथों में केवल एक-एक अंगुली। उनमें बड़ी कुदाल जैसे नाखून। उन नाखूनों से अपनी ही पीठ का माँस चीर कर, निकाल कर खाता हुआ, वह वेदना से पीड़ित होकर जोर-जोर से चिल्लाता हुआ, बहुत दुःख अनुभव करता। सूर्यास्त होने पर वह शरीर अन्तर्धान हो जाता और उसकी जगह दिव्य-शरीर प्रकट होता। सजी-सजाई दिव्य नर्तकियाँ नाना प्रकार के वाद्य लेकर घेर लेतीं। वह महान सम्पत्ति को भोगता हुआ दिव्य आम्रवन में दिव्य प्रासाद पर चढ़ता।

इस प्रकार उस उपोसथ-व्रती स्त्री को आम देने के परिणामस्वरूप उसे तीन योजन का आम्रवन मिला, रिश्वत लेकर गलत निर्णय देने के फलस्वरूप वह अपना माँस चीर कर खाता था, और आधे-व्रत के फलस्वरूप वह सोलह हजार नर्तकियों से घिरा हुआ केवल रातको ही ऐश्वर्य भोगता था। उस समय वाराणसी-नरेश काम-भोगों में दोष देख, ऋषियों से प्रव्रज्या-क्रम के अनुसार

प्रव्रजित हो, गंगा के निचली और रमणीय भूमि-प्रदेश में पर्णशाला बनवा, दाने चुग-चुग कर जीवन-यापन करता हुआ रहता था।

एकदिन उस आम्रवंश से घड़े छड़े जितना पका आम नदी में गिरकर धारा में बहता हुआ उस तपस्वी के उपयोग में आने वाले किनारे के सामने आ पहुँचा। उसने मुंह धोते समय उसे नदी के बीच जाते देखा। उसने पानी में तैरकर, जाकर उसे पकड़ा और आश्रम में लाकर अग्नि-घर में रखा। फिर शस्त्र से फाड़ कर यथा आवश्यकता खाकर शेष को केले के पत्तों से ढक दिया। इस प्रकार वह समाप्त होने तक रोज-रोज खाता रहा। उसके समाप्त होने पर वह कोई दूसरा फल न खा सका। रस तृष्णा के वशीभूत हो वह "उसी आम्रफल को खाने की इच्छा से" नदी के तट पर जा नदी की ओर देखता हुआ यह निश्चय करके बैठा कि आम नहीं मिलेगा तो यहाँ से नहीं उठूँगा। वह वहाँ निराहार एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, दिन तक वायु और धूप में सूखता हुआ नदी की ओर देखता बैठा रहा। तब सातवें दिन नदी देवी ने विचार करने पर इस बात को जाना, सोचा "यह तपस्वी तृष्णा के वशीभूत हो एक सप्ताह से निराहार नदी की ओर देखता हुआ बैठा है। इसे पका आम न देना अनुचित है। नहीं मिलेगा तो मर जाएगा। मैं इसे दूँगी।" उसने आकर नदी के ऊपर आकाश में ठहर उससे बात-चीत करते हुए पहली गाथा कही--

किं छन्दो किमधिप्पायो एको सम्मसि धम्मानि,
किं पत्थयानो किं एसं केन अत्थेन ब्राह्मण ॥१॥

[हे ब्राह्मण तुम्हारा क्या विचार है, तुम किस उद्देश्य से अकेले धाम में पड़े हो तुम क्या चाहते हो? क्या खोजते हो? तुम्हारा क्या मतलब है?॥१॥]

यह सुन तपस्वी ने नौ गाथाएँ कहीं--

यथां महावारिधरो कुम्भो सुपरिणामवा,
तथूपमं अम्बपक्कं वण्णगन्धरसुत्तमं ॥२॥
तं वुह्यमानं सोतेन दिस्वानमलमिज्झिमे
पाणीहि नं गहेत्वान अग्यायतनं आहरिं ॥३॥
ततो कदलिपत्तेसु निक्खिपित्वा सयं अहं
सत्थेन नं विकप्पेत्वा खुप्पिपासं अहासि मे ॥४॥

सोहं अपेयदरथो व्यन्तिभूतो दक्खमो
अस्सादं नाधिगच्छामि फलेस्वञ्ञेसु केसुचि ॥५॥
सोसेत्वा नून मरणं तं मयं आवहिस्सति
अम्बं यस्स फलं साधुं मधुरग्गं मनोरमं
यमुद्धरिं वुय्हमानं उदिस्वा महण्णवे ॥६॥
अक्खातं ते मया सब्बं यस्मा उपवसामहं
रम्मं पतिनिस्सिन्नोस्मि पुथुलोमायुता पुथु ॥७॥
त्वञ्च खो मे अक्खासि अत्तानमपलायिनी,
का वा त्वमसि कल्याणि किस्स वा त्वं सुमज्झिमे ॥८॥
रुप्पपट्टपळिमट्ठीव व्यग्घीव गिरिसानुजा
या सन्ति नारियो देवसु देवानं परिचारिका ॥९॥
या व मनुस्सलोकस्मिं रूपेनान्वागतित्थियो
रूपे ते सदिसी नत्थि देवेसु गन्धब्बमनुस्सलोके ॥१०॥
पुट्ठासि मे चारुपुब्बङ्गिब्रूहि
अक्खाहि मे नामञ्च बन्धवे च ॥११॥

[जिस प्रकार सुनिर्मित; पानी से भरा हुआ घड़ा हो, उसी प्रकार के वर्ण, गन्ध और रस से युक्त पका आम था। उसे निर्मल धारा के स्रोत में बहता देख मैं हाथ से ले आया और अग्निशाला में रखा ॥२-३॥ तब मैंने उसे केले के पत्तों में रखा और शस्त्र से काट कर अपनी भूख तथा प्यास निवृत्ति की ॥४॥ मैं पीड़ा रहित हो गया। आम समाप्त हो जाने से मुझे वह दुख सहन करना पड़ा। तब से मुझे कोई दूसरा फल अच्छा नहीं लगता ॥५॥ जिस स्वादिष्ट, मधुर, श्रेष्ठ, मनोरम फल को मैं समुद्र में से बहते जाते पकड़ कर लाया, वही फल अब मुझे सुखा कर, निश्चय मेरी मृत्यु समीप लायेगा ॥६॥ मैंने वह सारा कारण बता दिया, जिससे मैं इस अनेक मच्छों वाली, विशाल, रमणीय नदी के तट पर बैठा हूँ ॥७॥ हे उपस्थित देवी अब तुम मुझे बताओ कि तुम कौन हो और हे कल्याणी! यहाँ तुम्हारा आगमन कैसे हुआ? ॥८॥ सोने की मूर्ति के समान, व्याघ्री के समान, हे गिरि-वन-कुमारी! देव-लोक में जो देवताओं की परिचारिकायें हैं और जो मनुष्य-लोक में रूपवान् स्त्रियां

हैं उनमें से कोई भी—न देव-लोक में, न गन्धर्व लोक में और न मनुष्य-लोक में तेरे समान रूपवान् नहीं हैं ॥९-१०॥ तू मेरे द्वारा पूछी गई है, इसलिये हे सुन्दर अंगों वाली ! तू अपना नाम-गोत्र मुझे बता ॥१०॥]

तब देवी ने आठ गाथाएँ कहीं—

यं त्वं पतिनिसिन्नोसि रम्यं ब्राह्मण कोसिकिं,
साहं भुसालया वुत्था वर वारि वहोघसा ॥११॥
नाना दुमगणाकिण्णा बाहुका गिरिकन्दरा,
ममेव पमुखा होन्ति अभिसन्दन्ति पावुसो ॥१२॥
अथो बहुवनातोदा नील वारि वहिन्धरा,
बहुका नागवित्तोदा अभिसन्दन्ति वारिना ॥१३॥
तं अम्बजम्बुलबुजा नीपा ताला चुदुम्बरा
बहूनि फलजातानि आवहन्ति अभिण्हसो ॥१४॥
यञ्चिकञ्चि उभतो तीरे फलं पतति अम्बुनि,
असंसयं तं सोतस्स फलं होति वसानुगं ॥१५॥
एतदञ्ञाय मेधावी पुथुपञ्ञ सुणोहि मे,
मा रोचयमभिसंगं पटिसेध जनाधिप ॥१६॥
न चाहं वद्धवं मञ्ञे यं त्वं रट्ठाभिवद्धन,
आवेय्यमानो राजिसि मरणं अभिकंखसि ॥१७॥
तस्स जानन्ति पितरो गन्धब्बाव सदेवका,
ये चापि इसयो लोके सञ्ञतत्ता यस्ससस्सिनो,
असंसयं ते जानन्ति वद्धभूता यसस्सिनो ॥१८॥

[हे ब्राह्मण ! तू रमणीय कोसी नदी के किनारे बैठा है। मेरा निवासस्थान बाढ़ वाली नदी में है ॥११॥ नाना प्रकार के वृक्षों से घिरे हुए अनेक गिरि-कन्दर मुझे ही प्रमुख मानते हैं, और मेरे ही पास आते हैं ॥१२॥ न केवल गिरि-कन्दर किन्तु वनों से आने वाली, नील वर्णजल लाने वाली, नागों को प्रसन्न बनाने वालीं नदियाँ भी आकर मुझे भरती हैं ॥१३॥ वे आम, जामुन, कटहल, निप (?), ताड़ और गुलर (आदि) बहुत से फलों को निरन्तर बहाकर लाती हैं ॥१४॥ दोनों किनारों पर जो भी फल पानी में गिरता है,

वह निस्संदेह धारा के वशीभूत हो जाता है ॥१५॥ हे मेधावी ! हे बहुप्रज्ञ ! मेरी बात सुनो। इसे जानकर हे राजन् ! आसक्ति करना योग्य नहीं, उसका निषेध करना चाहिए ॥१६॥ हे राजर्षि ! हे राज्य की अभिवृद्धि करने वाले ! तू जो तरुण हो कर आम के लोभ के वशीभूत हो मरने की इच्छा करता है, इससे मैं तुझे विचारवान् नहीं मानता हूँ। उसके पितर, देवताओं सहित गन्धर्व और संयातात्मा तथा विचारवान् ऋषिगण निश्चयपूर्वक जान लेते हैं ॥१८॥]

तब तपस्वी ने चार गाथायें कहीं—

एवं विदित्वा विदू सब्ब धम्मं
विद्धंसनं चवनं जीवितस्स
न चीयति तस्स नरस्स पापं
सचे न चेतेति वधाय तस्स ॥१९॥

इसि पूग समञ्ञाते एवं लोक्या विदिता सति
अनरियपरिसंभासे पापकम्मं जिगिंससि ॥२०॥
सचे अहं मरिस्सामि तीरे ते पुथुस्सोणि
असंसयं असिलोको मयि पेते आगमिस्सति ॥२१॥
तस्मा हि पापकं कम्मं रक्खस्सेव सुमज्झिमे
मा तं सब्बो जनो पच्छा पकत्थासि मयि मते ॥२२॥

[इस प्रकार सभी धर्मों का ज्ञाता सभी धर्मों को जान कर और प्राणी का विनाश जानकर अपने पाप की वृद्धि का कारण नहीं होता, यदि वह प्राणी-वध की बात नहीं सोचता ॥१९॥ ऋषिगण में प्रसिद्धि प्राप्त होने पर और उस प्रकार लोक द्वारा ज्ञात होने पर, अशोभन भाषा द्वारा मुझ पर पाप का दोषारोपण करता है ॥२०॥ हे पृथुसुश्रोणी ! यदि मैं तेरे तट पर मरूँगा, तो निश्चय मुझे असिलोक नामक नरक प्राप्त होगा ॥२१॥ इसलिए हे सुमध्यमे ! मैं पापकर्म से बचता हूँ ताकि मेरे मरने पर सभी लोग मेरी निन्दा न करें ॥२२॥]

यह सुन देव-कन्या ने पाँच गाथायें कहीं—

अञ्ञातं एतं अविसह्यसाहि,
अत्तानं अम्बं च ददामि ते तं

यो दुच्चचे कामगुण पहाय
सन्तिञ्च धम्मं च अधिट्ठितो सि ॥२३॥
यो हित्वा पुब्बसंयोगं पच्छा संयोजने ठितो
अधम्मं चेव चरति पापञ्चस्स पवड्ढति ॥२४॥
एहि, तं पापयिस्सामि, कामं अप्पोस्सुको भव
उपनयामि सीतस्मि, विहराहि अनुस्सुको ॥२५॥
तं पुरफरसमत्तेहि वक्कंगेहि अरिंदम
कोञ्चा मयूरा दिविया कोयट्ठिमधुसालिया
कूजिता हंसपूगेहि कोकिलेत्थ पबोधरे ॥२६॥
अम्बेत्थ विप्पसु नग्गा पलालखलसन्निभा
कोसुम्भसललळानीया पक्कतालसिलम्बिनो ॥२७॥

[हे असहनीय को सहन करने वाले राजा ! मुझे यह बात ज्ञात हो गई। मैं तुझे आम के साथ अपने आपको भी देती हूँ। तू त्यागने में दुष्कर काम-भोगों को छोड़ कर शान्ति और धर्म में प्रतिष्ठित है। जो पूर्व-बन्धन से मुक्त हो फिर किसी तृष्णा-बन्धन में बंध जाता है, वह अधर्म आचरण करता है और उसका पाप बढ़ता है ॥२३-२४॥ आ, तुझे (वहाँ) पहुँचा दूँगी। तू उत्सुकता रहित हो। मैं तुझे शीतल-स्थल पर पहुँचा दूँगी, तू उत्सुकतारहित होकर विहार कर ॥२५॥ हे नरेन्द्र ! वह पुष्पों के रस से मदमस्त हुए पक्षियों का निवासस्थान है—क्रौञ्चों का, मयूरों का, कोयट्ठि तथा मधुशालीय दिव्य-पक्षियों का, और वहाँ हंसों के समूह कुञ्जन करते हैं तथा वहाँ कोयल-गान होता है ॥२६॥ यहाँ आम ऐसे हैं कि जिनकी डालें फलों के भार से झुकी हैं, जो मौर की अधिकता से शालों की पराल के समान हैं, जो पके ताड़-फलों के समान लटके हुए हैं ॥२७॥]

इस प्रकार आम्रवन की प्रशंसा कर और उस तपस्वी को वहाँ उतारा। फिर "इस आम्रवन में आम खा कर अपनी तृष्णा की पूर्ति कर" कह चली गई। तपस्वी आम खा, तृष्णा की पूर्ति कर (आम्रवन में) विश्राम किया। वहाँ आम्रवन में विचरते समय उस प्रेत को दुःख भोगते देख कर वह कुछ न

कह सका। किन्तु सूर्यास्त होने पर नदियों द्वारा घिरे हुए उसे दिव्य-सम्पत्ति भोगते देख कर उसने तीन गाथाएँ कहीं—

> माली तिरीटी कायूरी अंगदी चन्दनुस्सदो
> रत्तिं त्वं परिचारेसि दिवा वेदेसि वेदनं ॥२८॥
> सोळस इत्थिसहस्सानि या ते मा परिचारिका,
> एवं महानुभावोसि अब्भुतो लोमहंसनो ॥२९॥
> किं कम्मं अकरी पुब्बे पाप अत्तदुखावहं
> यं करित्वा मनुस्सेसु पिट्ठिमंसानि खादसि ॥३०॥

[तू रात को दिव्य मालाधारी होकर, दिव्य वेषधारी होकर, दिव्य आभूषणधारी होकर, दिव्य अंगों से युक्त होकर तथा चन्दन-लिप्त होकर नाना प्रकार के विषयों में रमण करता है; किन्तु दिन में वेदना को भोगता है। ये तेरी सोलह हजार स्त्रियाँ परिचारिकाये हैं, तू ऐसे महाप्रतापी है। किन्तु तू साथ ही ऐसा रोमांचकारी दुःख भी भोगता है। तूने पूर्व-जन्म में अपने आपको कष्ट देने वाला कौन-सा पाप-कर्म किया है, जिसके करने से तू अपनी ही पीठ का माँस खाता है ॥३०॥]

प्रेत ने उसे पहचान कर उत्तर दिया—"तुम मुझे नहीं पहचानते, मैं तुम्हारा पुरोहित था, यह मेरी रात की सुखानुभूति तुम्हारे आश्रय से किये गये आधे उपोसथ-व्रत का परिणाम है और यह दिन की दुःखानुभूति मेरे द्वारा किये गये पाप का ही परिणाम है—मैंने तुम्हारे द्वारा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने पर, रिश्वत ले, झूठा निर्णय दिया। उस दिन में किये गये पाप-कर्म के फलस्वरूप यह दुःख भोगता हूँ। इतना कह दो गाथायें कही—

> अज्झेनानि पटिग्गटह कामेसु गथितो अहं,
> अचरिं दीघं अद्धानं परेसं अहिताय अहं ॥३१॥
> यो पिट्ठिमसियो होति एवं उक्कच्च खादति
> यथाहं अज्ज खादामि पिट्ठिमसानि अत्तनो ॥३२॥

(वेदादि का) अध्ययन करके, कामभोगों में फँसे रहने के कारण मैंने चिरकाल तक दूसरों का अहित किया। जो चुगलखोर होता है, उसे इसी प्रकार

अपनी पीठ का मांस नोच-नोच कर खाना पड़ता है, जिस प्रकार इस समय खाता हूँ ॥३६-३७॥]

यह कह कर उसने तपस्वी से प्रश्न किया—

"तुम यहां कैसे आये ?"

तपस्वी ने विस्तारपूर्वक सारी कथा कह सुनाई ।

"भन्ते ! अब यहीं रहें, (न) जायें ।"

"नहीं रहूँगा । आश्रम को ही जाऊँगा ।"

प्रेत ने कहा, "भन्ते ! अच्छा मैं निरन्तर पका आम सेवा में पहुँचाता रहूँगा", कह अपने प्रताप से आश्रम में ले जा कर उतारा । फिर उत्कण्ठा-रहित होकर यहीं रहें, ऐसी प्रतिज्ञा लेकर चला गया । उसके बाद से प्रेत नियमपूर्वक पका आम सेवा में पहुँचाता रहा ।

तपस्वी उसे खाते रहकर, योग-विधि की सहायता से ध्यान-लाभी हो ब्रह्मलोकगामी हुआ ।

शास्ता ने उपासकों को यह धर्म-देशना सुना, (आर्य) सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया । सत्यों के प्रकाशन के अन्त में कोई श्रोतापन्न हुए, कोई सकृदागामी, कोई अनागामी । उस समय देवता उत्पल-वर्णा थी, तपस्वी तो मैं ही था ।



५१२· कुम्भ जातक

"को पातुरासि . . ." कह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय विशाखा की सुरा पीने वाली पाँच सौ सखियों के सम्बन्ध में कही।

क. वर्तमान कथा

श्रावस्ती में सुरा-उत्सव की घोषणा पर उन पाँच सौ स्त्रियों ने स्वामियों के क्रीड़ा-उत्सव की समाप्ति पर तेज सुरा तैयार कर उत्सव मनाने का संकल्प किया। वे सभी विशाखा के पास पहुँच कर बोलीं—"सखी। हम उत्सव मनायेंगी।" विशाखा बोली—"यह सुरा-उत्सव है। मैं सुरा न पिऊँगी।" सखियों का उत्तर था—"आप सम्यक् सम्बुद्ध को दान दें, हम उत्सव मनायेंगी" विशाखा ने 'अच्छा' कह उनकी बात स्वीकार की, और उन्हें उत्साहित कर, शास्ता को निमंत्रित करा, महा-दान दे, बहुत सी गन्ध-मालायें ले शाम के समय धर्म-कथा सुनने के लिए सखियों सहित जेतवन पहुँचीं। वे स्त्रियाँ सुरा पीती हुई ही, उसके साथ गईं। उन्होंने द्वार-कोष्ठ पर खड़े हो कर भी सुरा पी और तब उसके साथ शास्ता के पास पहुँची। विशाखा शास्ता को नमस्कार कर एक ओर बैठी। उसकी सखियों में से कुछ शास्ता के पास ही नाचने लग गईं, कुछ गाने लग गईं, कुछ हाथों तथा पावों को नचाने लगीं और कुछ कलह करने लगीं। शास्ता ने उनके मन में त्रास पैदा करने के लिए भौ के रोमों में से एक किरण फेंकी, घोर अन्धकार छा गया। वे डर गईं, मृत्यु-भय से भीत, उनका सुरा का नशा उतर गया। शास्ता ने बैठे आसन पर से अन्तर्धान हो, सुमेरु पर्वत पर खड़े हो, ऊर्ण-लोम से किरण फेंकी, हजार चन्द्रमा के प्रकाश-सा हो गया। शास्ता ने वहीं खड़े-ही-खड़े उनके मन में त्रास पैदा करने के लिए यह गाथा कही—

को नु हासो किं आनन्दो निच्चं पज्जलिते सति,
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ धम्मपद ॥१४६॥

[नित्य आग जल रही है। क्या हास! और क्या आनन्द! अन्धकार से घिरे होने पर भी प्रदीप नहीं खोजते (तीं) "ध० प० १४६"॥]

गाथा की समाप्ति पर वे पाँच सौ की पाँच सौ स्त्रियाँ श्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुईं। शास्ता आकर गन्धकुटी की छाया में बुद्धासन पर बैठे। विशाखा ने प्रश्न किया—"भन्ते! यह लज्जा-भय को नष्ट करने वाला सुरा-पान कब से आरम्भ हुआ?" शास्ता ने उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए (पूर्वजन्म) की बात कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय सुरा नाम का एक जंगली मनुष्य सामान लेने के लिए हिमालय की ओर गया। वहाँ एक वृक्ष पुरसा भर उग कर तीन तनों में विभक्त हो गया था। वहाँ तीनों तनों के बीच में सुरा की हाण्डी जितना गढ़ा बन गया था। यह दैव के बरसने पर पानी से भर गया। उस गढे के चारों ओर हरड़, आँवला तथा मिर्च के पेड़ थे। उनके पके फल टूट टूट कर उस गढ़े में गिरते थे। उससे थोड़ी ही दूर पर स्वयं उत्पन्न धान के पौधे थे। वहाँ से तोते धान के बालें लाकर, उस पेड़ पर बैठकर खाते थे। उसके खाते समय गिरने वाले धान और चावल भी उसमें पड़ते थे। इस प्रकार सूर्य्य की धूप से पकते रहने के कारण वह पानी रक्तवर्ण हो गया। धूप के समय प्यास के मारे पक्षीगण उसे पीते तो वे बेहोश होकर गिर पड़ते और थोड़ी देर सोते रह कर फिर चहचहाते हुए उड़ जाते। वृक्ष-कुत्तों (?) और बन्दर आदि का भी यही हाल था। जंगली मनुष्य ने इसे देख सोचा—"यदि यह विष होता तो ये मर जाते। किन्तु ये तो थोड़ी देर सो कर सुखपूर्वक चले जाते हैं। यह विष नहीं हैं।" यह सोच उसने स्वयं पिया और मदमस्त होने पर उसकी इच्छा मांस खाने की हुई। तब उसने आग जलाई और वृक्ष के नीचे गिरे तीतर, मुर्गे आदि मार कर, उसका मांस अंगारों पर पकाया। इस प्रकार वह एक हाथ से नाचता हुआ और दूसरे हाथ से मांस खाता हुआ एक-दो दिन वहीं रहा।

उससे कुछ ही दूर परे वरुण नाम का तपस्वी रहता था। जंगली आदमी अन्य दिनों में भी उसके पास जाता था। उनके मन में आया कि यह पेय पदार्थ

तपस्वी के साथ पिऊँगा । उसने एक बाँस की नलिका भरी और पके मांस के साथ पर्णशाला में जाकर बोला, "भन्ते ! यह पेय पदार्थ पियें ।।" दोनों ने मांस खाते हुए उसका पान किया । सुरा तथा वरुण के द्वारा देखा गया होने से वह पेय पदार्थ सुरा तथा वारुणी कहलाया । उन दोनो ने सोचा कि यह जीविका का एक साधन है । इन्होने बाँस की नलिकाएँ भरी और बहंगी पर रख कर सीमाप्रदेश के नगर में पहुँचे । वहाँ उन्होंने राजा को सूचना भिजवाई कि पेय पदार्थ वाले आये हैं । राजा ने बुला भेजा । वे राजा के पास पेय पदार्थ ले गये । राजा ने दो-तीन बार पान किया, तो उसे नशा चढ़ गया । उसका वह नशा एक-दो दिन ही रहा । राजा ने उनसे पूछा, "क्या और भी है ?"

"देव, है ।"

"कहाँ ?"

"देव, हिमालय में ।"

"तो लाओ ?"

वे जाकर एक-दो बार ले आये । फिर लगातार न जा सकने के कारण उन्होंने उसकी सामग्री का विचार किया । फिर उस वृक्ष की छाल से आरम्भ करके सभी चीजें मिला नगर में सुरा बनाई । नागरिक सुरा पी कर नशे में दुर्गति को प्राप्त हुए । नगर शून्य-सा हो गया ।

वे पेय पदार्थ वाले वहाँ से भाग कर वाराणसी पहुँचे, और राजा को सूचना भिजवाई कि पेय पदार्थ वाले आये हैं । राजा ने बुलवा कर खर्चा दिलवाया । वहाँ भी सुरा बनाई गई वह नगर भी उसी प्रकार नष्ट हो गया ।

वहाँ से भाग कर साकेत, और साकेत से श्रावस्ती पहुँचे । उस समय श्रावस्ती में सर्वमित्र नाम का राजा राज्य करता था । उसने उनका संग्रह कर पूछा—"क्या चाहिए ?" उत्तर मिला—"सामग्री की कीमत, चावल का आटा और पाँच सौ घड़े ।" राजा ने सब कुछ दिला दिया । उन्होंने पाँच सौ घड़ों में सुरा भर, घड़ों की रक्षा के लिए एक एक घड़े के पास एक एक बिल्ला बाँध दिया । सुरा के उबल कर उफान आने के समय घड़ों पर से चूती हुई सुरा को पी कर बेहोश हो गये । चूहे आकर उनके कान, नाक, मूँछे और पूंछ खा गये । पहरेदारों ने जाकर राजा को सूचना दी कि बिल्ले सुरा

पी कर मर गये। राजा ने दोनों जनों को विष देने वाले मान उनके सिर कटवा डाले। वे सुरा पीकर—"सुरा दें, मधुर दें" चिल्लाते हुए ही मरे।

राजा ने उन्हें मरवा कर आज्ञा दी कि घड़ों को फोड़ डालो। सुरा का नशा उतर जाने पर बिल्ले उठ कर खेलने-दौड़ने लगे। उन्हें देख राजा को सूचना दी गई। राजा ने सोचा कि यदि विष होता तो मर जाते, यह मधुर पेय-पदार्थ ही होगा। इसे पिऊँगा। उसने नगर सजवाया, राजांगण में मंडप बनवाया और अलंकृत मंडप के नीचे श्वेत-छत्र धारण किए हुए, अमात्य गणों के बीच राजसिंहासन पर बैठ सुरा पीनी आरम्भ की।

उस समय देवेन्द्र शक्र यह देखता हुआ विचर रहा था कि लोक में कौन-कौन मातृ सेवा आदि तीन सुचरित्रों का पालन करता है। उसने उस राजा को सुरा-पान करने के लिये बैठे देख सोचा—"यदि यह सुरा पियेगा तो तमाम जम्बुद्वीप नष्ट हो जायेगा, मैं कुछ ऐसा करूँगा जिससे यह सुरा न पियें।" उसने सुरा से भरा हुआ एक घड़ा हाथ की हथेली पर रक्खा और ब्राह्मण का भेष धारण कर, राजा के सामने आकाश में खड़े हो आवाज लगाने लगा—"यह घड़ा लो, यह घड़ा लो।" सर्वमित्र राजा ने उसे आकाश में खड़े होकर इस प्रकार आवाज लगाते सुन—"ब्राह्मण तू कहाँ से आया है?" पूछते हुए तीन गाथाएँ कहीं—

को पातुरासि तिदिवा नभम्हि
ओभासयं संवरिं चंदिमा व
गत्तेहि ते रस्मियो निच्छरन्ति
सतेरता बिज्जुरिव अन्तलिक्खे ॥३३॥
सो छिन्नवातं कमसी अघम्हि
वेहासयं गच्छसि तिट्ठसी च
इद्धीनु ते वत्थुकता सुभाविता
अनद्धगूनामपि देवतानं ॥३४॥
वेहासयं संकम्मागम्म तिट्ठसि
कुम्भं किणाथा ति यं एतं अत्थं
को वा तुवं किस्स वताय कुम्भो
अक्खाहि मे ब्राह्मण एतमत्थं ति ॥३५॥

[चन्द्रमा की तरह रात्रि को प्रकाशित करने वाला, त्रयोत्रिंश लोक से आकाश में आकर तू कौन प्रकट हुआ है ? अन्तरिक्ष में बिजली की तरह तेरे शरीर से "सतेरता" नाम की बिजलियाँ निकलती हैं ।।३३।। तू बिना वायु की सहायता के ही आकाश में चलता, ठहरता है । क्या तूने देवताओं की ऋद्धि प्राप्त कर ली है ?।।३४।। जो तू यह "घड़ा ले लो" कहता हुआ आकाश में आकर ठहरा है, सो तू कौन है ? यह किसका घड़ा है ? हे ब्राह्मण मुझे यह बात बता ।।३५।।]

तब शक्र ने—"तो सुन" कह सुरा के दोष बताते हुए ये गाथायें कहीं—

न सप्पिकुम्भो नपि तेलकुम्भो
न फाणितस्स न मधुस्स कुम्भो
कुम्भस्स वज्जानि अनप्पकानि
दोसे बहू कुम्भगते सुणाथ ।।३६।।

[न तो यह घी का घड़ा है, न तेल का घड़ा है, न शक्कर का घड़ा और न मधु का ही । इस घड़े में अनेक दोष हैं । इस घड़े के बहुत से दोषों को सुन ।।३६।।]

गलेय्य यं पीत्वा पते पपातं
सोब्मं गुहं चन्दनियोलिगल्लं
बहुंपि भुञ्जेय्य अभोजनेय्यं
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ।।३७।।

[जिसे पी कर लड़खड़ाए; प्रपात, गड़े, मार, तालाब अथवा जोहड़ में गिर पड़े और जिसे पी कर 'आदमी' अनेक प्रकार के अखाद्य पदार्थ खाये, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ।।३७।।]

यं पीत्वा चित्तस्मिं अनेसमानो
आहिण्डती गोरिव भक्खसारी
अनाथमानो उपगाति नच्चति
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ।।३८।।

[जिसे पी कर चित्त पर काबू नहीं रहता और 'आदमी' बैल की तरह इधर-उधर कुछ भी खाता हुआ घूमता है, बेकाबू होकर गाता और नाचता है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ।।३८।।]

यं वे पीत्वा अचेलकोव नग्गो
चरेय्य गामे बिसिखन्तरानि,
सम्मूळ्हचित्तो अतिवेलसायी
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥३९॥

[जिसे पीकर (आदमी) निर्वस्त्र, नग्न हो, गाँव की गलियों में भटकने लगता है, जिसे पीकर (आदमी) मूढ़-चित्त तथा देर तक सोते रहने वाला हो जाता है उस सुरा से भरा हुआ घड़ा ले लो ॥३९॥]

यं पीत्वा उट्ठाय पवेधमानो
सीसं च बाहं च पचालयन्तो
सो नच्चति दारु कटल्लकोव
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४०॥

[जिसे पीकर (आदमी) उठ कर काँपता हुआ, हाथ पाँव घुमाता हुआ कठपुतलों की तरह नाचता है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४०॥]

यं वे पिवित्वा अग्गिदड्ढा सयन्ति
अथो सिगालेहि पि खादितासे
बंधं वधं भोगजानिं च उपेन्ति
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४१॥

[जिसे पीकर आग से भी जल मरते हैं और गीदड़ों द्वारा भी खाये जाते हैं तथा वध-बन्धन और सम्पत्ति की हानि को प्राप्त होते हैं उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४१॥]

यं पीत्वा भासय्य अभासनेय्यं
सभायं आसीनो अपेतवत्थो
सम्मक्खितो वन्तगतो व्यसन्नो
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४२॥

[जिसे पीकर (आदमी) सभा में बैठा हुआ निर्वस्त्र होकर न बोलने योग्य बात बोलता है और जिसे पीकर वह अपनी ही उलटी से लिप्त हो दुःख को प्राप्त होता है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४२॥]

यं वे पीत्वा उक्कट्ठो आविलक्खो
ममेव सब्बापठवीति मञ्ञति,
न मे समो चातुरन्तोपि राजा
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४३॥

[जिसे पीकर अभिमानसे लाल-लाल आँखें करके (आदमी) यह समझने लगता है कि सारी पृथ्वी मेरी है और कोई चक्रवर्ती राजा भी मेरे समान नहीं है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४३॥]

मानातिमाना कलहानि पेसुणानि
दुब्बण्णिनीं नग्गयिनी पलायिनी
चोरान धुत्तानं गती निकेतो
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४४॥

[जो अभिमान पैदा करने वाली है, जो कलह पैदा करने वाली है, जो चुगलखोरी का कारण होती है, जो दुर्वर्ण करने वाली है, जो नग्न करने वाली है, जो धूर्त चोरों की गति है, उनका निकेतन है, उस सुरा से भरा हुआ घड़ा ले लो ॥४४॥]

इट्ठानि फीतानि कुलानि अस्सु
अनेकसाहस्सधनानि लोके
उच्छिन्नदायज्जकतानिमाय
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४५॥

[जिसने लोकमें हजारों की सम्पत्ति वाले समृद्धशाली कुलों को नष्ट कर दिया, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४५॥]

धञ्ञं धनं रजतं जातरूपं
खेत्तं गवं यत्थ विनासयन्ति
उच्छेदनि वित्तवतं कुलानं
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४६॥

[जो धान्य, धन, चाँदी, सोना, खेत तथा पशुओं को नष्टकर डालती है और

जो धनवान कुलों का विनाश कर देने वाली है उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४६॥

यं वे पीत्वा दुट्ठरूपो व पोसो
अक्कोसती पितरं मातरं च
सस्सुम्पि गण्हेय्य अथोपि सुण्हं
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४७॥

[जिसे पीकर दुष्ट मनुष्य माता तथा पिता को गालियाँ देता है और सास तथा पुत्रवधु का भी हाथ पकड़ लेता है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४७॥

गं वे पीत्वा दुट्ठरूपोव नारी
अक्कोसती ससुरं सामिकं च
दासम्पि गण्हे परिचारकम्पि
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥४८॥

[जिसे पीकर दुष्ट नारी ससुर तथा स्वामी को गालियाँ देती हैं और नौकर तथा दास का हाथ पकड़ लेती है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४८॥

यं वे पीत्वान हनेय्य पोसो
धम्मेठितं समणं ब्राह्मणं वा
गच्छे अपायम्पि ततो निदानं
तस्सा पुण्णं कुम्भिमं किणाथ ॥४९॥

[जिसे पीकर पुरुष कर्मचारी श्रमण, अथवा ब्राह्मण की भी हत्या कर सकता है और उसके फलस्वरूप नरक जाता है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥४९॥

यं वे पोत्वा दुच्चरितं चरन्ति
कायेन वाचाय च चेतसावा
निरयं वजन्ति दुच्चरितं चरित्वा
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥५०॥

[जिसे पीकर आदमी शरीर, वाणी अथवा मन से दुष्कर्म करता है और दुष्कर्न करके नरकगामी होता है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥५०॥]

यं वे याचमाना न लभन्ति पुब्बे
बहुं हिरञ्ञम्पि परिच्चजन्ता
सो तं पिवित्वा अलिकं भणाति
तस्सा पुण्णं कुम्भिमं किणाथ ॥५१॥

[जिस आदमी को बहुत सोना दे कर भी झूठ नहीं बुलाया जा सकता आदमी जिसे पीकर झूठ बोलता है उस सुरा से भरा यह घड़ा ले लो ॥५१॥

यं वे पीत्वा पेसने पेसियन्तो
अच्चायिके करणीयम्हि जाते
अत्थमपि सो नप्पजानाति वुत्तो
तस्सा पुण्णं कुम्भिमं किणाथ ॥५२॥

[कोई आवश्यक काम होने पर यदि किसी को कहीं भेजा जाय तो जिसे पीकर वह आदमी कही हुई बात न समझे उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥५२॥]

हिरीमनापि अहिरीकभावं
पातुं करोन्ति मदिराय मत्ता
धीरापि संता बहुकं भणन्ति
तस्सा पुण्णं कुम्भिमं किणाथ ॥५३॥

[जिसे पीकर लज्जावान आदमी भी निर्लज्ज हो जाते हैं और जिसके नशे में धीर पुरुष भी बकवास करने लग जाते हैं, उस सुरा से भरा यह घड़ा ले लो ॥५३॥

यं वे पीत्वा एकथूपा सयन्ति
अनासका थंडिलदुक्खसेय्यं
दुब्बण्णियं आयसक्यं च उपेन्ति
तस्सा पुण्णं कुम्भिमं किणाथ ॥५४॥

[जिसे पीकर आदमी बिना खाये-पिये कठोर भूमि पर गठरी बनकर गिर

पड़ता है और दुर्वर्णता तथा निन्दा को प्राप्त होता है, उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥५४॥]

बं वे पीत्वा पत्तखंधा सयन्ति
गावो कूटहतारिव
न हि वारुणिया वेगो
नरेन सुस्सहोरिव ॥५५॥

[जिसे पीकर गले में लोहा बँधे पशुओं की तरह आदमी बिना खाये-पिये सिर गिराये पड़ा रहता है और जिस वारुणी के वेग को आदमी सहन नहीं कर सकता उस सुरा (= वारुणी) से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥५५॥]

यं मनुस्सा बिवज्जेन्ति
सप्पं घोरविसं इव
तं लोके विससमानं
को नरो पातुमरहति ॥५६॥

[जिससे विषैले सर्प की तरह लोग दूर-दूर भागते हैं, दुनिया में वह विष सदृश पेय-पदार्थ किसके पीने योग्य है ? ॥५६॥

यञ्चे पिवित्वा अन्धकवेण्हुपुत्ता
समुद्दतीरे परिचारयन्ता
उपक्कमुं मुसलेहि अञ्जमञ्जं
तस्सा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ ॥५७॥

[जिसे पीकर समुद्र-तीर पर विचरण करने वाले अन्धक-वेण्हु पुत्रों ने एक दूसरे पर मूसलों से प्रहार किया उस सुरा से भरा हुआ यह घड़ा ले लो ॥५७॥]

यंचे पीत्वा पुब्बदेवा पमत्ता
तिदिवा चुता सस्सतिया समाया
तं तादिसं मज्जमिमं निरत्थकं
जानं महाराज कथं पिपेय्य ॥५८॥

[जिसे पीकर शाश्वत मायावी पूर्व-देव त्रयोत्रिंश लोक से गिर गये उस प्रकार की इस निरर्थक शराब को कोई जान-बूझ कर कैसे पियेगा ॥५८॥

न इमस्मि कुम्भस्मिं दधिवा मधुंवा
एवं अभिञ्ञाय किणाहि राज
एवं हिमं कुम्भगता मया ते
अक्खातरूपं तव सब्बमित्त ॥५९॥

[देव ! यह जानकर कि इस घड़े में न दही है और न मधु है, इसे खरीदें। हे सबमित्र ! इस प्रकार जो कुछ इस घड़े में है वह सब मैंने आपको बता दिया ॥५९॥

यह सुन राजा ने सुरा के दोष जान प्रसन्न चित्त हो शक्र की स्तुति करते हुए दो गाथाएँ कहीं—

न मे पिता वा अथवापि माता
एतादिसा यादिसको तुवं सि
हितानुकम्पी परमत्थकामो
सोहं करिस्सं वचनं तवज्ज ॥६०॥
ददामिते गामवरानि पंच
दसीसतं सत्त एवं सतानि
आजञ्ञ युते च रथे दसा इमे
आचरियो होसी ममत्थकामो ॥६१॥

[न मेरा पिता और न मेरी माता ही मेरा वैसा हितचिन्तन करने वाली है जैसा कि तू है इसलिए आज तेरा कहना करूँगा ॥६०॥ मैं तुझे पाँच श्रेष्ठ गाँव, सौ दासियाँ, सात सौ गौएँ तथा श्रेष्ठ घोड़ों वाले ये दस रथ देता हूँ। आप मेरा कल्याण सोचने वाले आचार्य बनें ॥६१॥

यह सुन शक्र ने अपना देवत्व प्रकट करते हुए आकाश में स्थित हो दो गाथाएँ कहीं—

तवेव दासीसतमत्थु राज
गामा च गावो च तवेव होन्तु

आजञ्ञयुत्ता च रथा तवेव
सक्को' हमस्मि तिदसानमिको ॥६२॥
मसोदनं सप्पीपाञ्च भुञ्ज
खादस्सु चत्वं मधुना अपूपे
एवं तुवं धम्मरतो जनिन्द
अनिन्दितो सग्गमुपेहि ठानं ॥६३॥

[राजन् ! ये सौ दासियाँ, गाँव और गौएँ तेरी ही रहें और श्रेष्ठ घोड़ों वाले रथ भी तेरे ही रहें, मैं देवताओं का इन्द्र शक्र हूँ ॥६२॥ तुम मांसोदन (=पुलाव) खाओ, घी खीर खाओ तथा मधु के साथ पुए खाओ। इस प्रकार धर्माचरण में रत तुम आनन्दित रह कर स्वर्ग लोक को प्राप्त करोगे ॥६३॥

इस प्रकार शक्र उसे उपदेश दे अपने निवास स्थान को ही चला गया। वह भी बिना सुरा पिये, सुरा के घड़ों को तुड़वा कर, शील में प्रतिष्ठित हो तथा दान दे कर स्वर्ग परायण हुआ। जम्बुद्वीप में भी क्रमशः सुरापान बढ़ गया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला जातक का मेल बिठाया। उस समय राजा, आनन्द था, शक्र तो मैं ही था।

⊙

५१३. जयद्दिस जातक

"चिरस्सं वत मे. . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक मातृ-सेवक भिक्षु के बारे में कही । वर्तमान कथा **साम जातक**[1] के समान ही है । उस समय शास्ता ने 'पुराने पण्डितों ने सुनहरी झालर वाले श्वेत छत्र को छोड़ कर भी माता-पिता की सेवा की' कह, उसके प्रार्थना करने पर पूर्वजन्म की कथा कही ।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कांम्पिल्य राज्य में उत्तर पंचाल नाम का राजा था । उसकी पटरानी ने गर्भ धारण कर पुत्र को जन्म दिया । उसके पूर्वजन्म में उसकी एक सपत्नी ने क्रोध में आकर प्रार्थना की थी कि तेरे बच्चों को खा सकूँ । उसी कामना के फलस्वरूप वह यक्षिणी होकर पैदा हुई । उसे अवसर मिला तो पटरानी की नजर के सामने ही उसने गीले मांस-पिंड सदृश कुमार को लिया और मुर-मुर करके खा कर चली गई । दूसरी बार भी वैसा ही हुआ । तीसरी बार उसके प्रसूतिका गृह में प्रविष्ट होने के समय घर के चारों ओर कड़ा पहरा बिठा दिया गया । बच्चे के पैदा होने के दिन यक्षिणी ने आकर फिर बच्चे को उठाया । पटरानी जोर से चिल्लायी—"यक्षिणी ।" हथियार-बन्द आदमियों ने पटरानी द्वारा बताये अनुसार यक्षिणी का पीछा किया । उसे खाने का मौका नहीं मिला । वह भाग कर पानी के चश्मे में घुसी । बच्चे ने उसे माता समझ उसका स्तन मुंह में ले लिया । उसके मन में पुत्र-स्नेह पैदा हो गया । वह वहाँ से भाग कर श्मशान पहुँची और बच्चे को पत्थर की गुफा में रख उसका पालन करने लगी ।

बालक के क्रमशः बड़ा होने पर वह उसे मनुष्य का मांस ला कर देने लगी ।

---

१. **सामजातक** (५४०)

दोनों मनुष्य-मांस खा कर वहीं रहने लगे। बालक यह नहीं जानता था कि वह मनुष्य की संतान है। वह अपने आपको यक्षिणी-पुत्र ही मानता था। वह अपना स्वरूप छोड़ कर अन्तर्धान नहीं हो सकता था। यक्षिणी ने उसे अन्तर्धान होने के लिए जड़ी दी। वह उस जड़ी के प्रताप से अन्तर्धान हो मनुष्य-मांस खाता हुआ विचरने लगा। यक्षिणी वैश्रवण महाराज की सेवा करने गई। वहीं उसका शरीरांत हो गया।

महारानी ने भी चौथी बार एक और पुत्र को जन्म दिया। यक्षिणी से मुक्त होने के कारण वह निरोग रहा। शत्रु-यक्षिणी को जीत कर पैदा होने से उसे जयद्दिस नाम दिया गया। बड़े होने पर सभी शिल्पों में निष्णात हो उसने छत्र धारण किया और राज्य करने लगा।

उस समय बोधिसत्व ने जयद्दिस की पटरानी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। उसका नाम अलीनशत्रु कुमार रखा गया। बड़े होने पर शिल्प सीख उपराजा बना।

उस यक्षिणी-पुत्र ने आगे चल कर लापरवाही से वह जड़ी गवाँ दी और उसके न रहने से वह अन्तर्धान न हो सकने के कारण सब की नजर के सामने श्मशान में मनुष्य-मांस खाने लगा। मनुष्यों ने यह देख, डर और भय के मारे आकर राजा को सूचना दी—देव! एक यक्ष सब की नजर के सामने ही श्मशान में मनुष्य-मांस खाता है। वह क्रमशः नगर में प्रवेश कर आदमियों को मार कर खायेगा। उसे पकड़वाना चाहिए।

राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और आज्ञा दी कि उसे पकड़ो। सेना जा कर श्मशान को घेर कर खड़ी हो गई। यक्षिणी-पुत्र नंगा था। वह घबरा गया और मृत्यु से डर कर चिल्लाता हुआ मनुष्यों के बीच आ कूदा। मनुष्य यक्ष जान भयभीत हुए और दो हिस्सों में बँट गये। वह भी वहाँ से भाग कर जंगल में जा घुसा। इसके बाद बस्ती की ओर नहीं आया। वह एक बड़े रास्ते पर के जगल के पास से गुजरने वाले मनुष्यों में से एक-एक को पकड़ कर जंगल ले जाता और वहीं मार कर खाता हुआ एक न्यग्रोध वृक्ष के नीचे रहने लगा।

एक सार्थवाह ब्राह्मण जंगल के रखवालों को हजार दे पाँच सौ गाड़ियों के साथ उस मार्ग पर चला। मनुष्य-यक्ष चिंघाड़ता हुआ वहाँ आ कूदा। भयभीत मनुष्य पेट के बल लेट गये। वह ब्राह्मण को लेकर भागा। पाँव खूँटे से टकरा जाने से जख्मी हो गया। जंगल के रखवाले पीछा कर रहे थे। वह ब्राह्मण को छोड़ जाकर अपने रहने के पेड़ के नीचे पड़ रहा। उसे वहाँ पड़े

जब सात दिन हो गये थे तब जयद्दिस राजा ने शिकार की आज्ञा दी और नगर से निकल पड़ा। उसके पड़ा । उसके नगर से निकलते ही तक्षशिला-वासी नंद नामक मातृ-पोषक ब्राह्मण प्राणियों के लिए कल्याणकारी चार गाथायों के साथ सामने उपस्थित हुआ। जयद्दिस राजा ने, लौट कर सुनूंगा, कह उसे निवास स्थान दिलवाया और शिकार के लिए चल दिया । शिकार-भूमि में पहुँच कर उसने आज्ञा दी कि जिसके पास से मृग भाग जायेगा वह उसी की गर्दन पर रहेगा । एक चितकबरा मृग उठा और राजा के ही सामने से निकल कर भाग गया । अमात्यों ने हँसी की । राजा ने तलवार ले उसका पीछा किया और तीन योजन पर जाकर उसे तलवार से काट कर दो टुकड़े कर डाले । वह उसे बहँगी पर लिये आ रहा था, कि वह मनुष्य-यक्ष के बैठने की जगह आ पहुँचा । वहाँ उसने दूब-घास पर बैठ, थोड़ा विश्राम करके फिर चलना आरम्भ किया । उस समय वह मनुष्य-यक्ष उठ कर बोला—"ठहर कहाँ जाता है ? तू मेरी खाद्य सामग्री है ।" उसने उसे हाथ से पकड़ पहली गाथा कही—

चिरस्सं वत मे उदपादि अज्ज
मक्खो महा सत्तमिभत्तकाले
कुतो सिको वासि तदिध ब्रूही
आचिख जातिं विदितो यथासि ॥६४॥

[बहुत देर के बाद आज सातवें दिन मेरे लिए भोजन की महान् सामग्री उपलब्ध हुई है। तू बता कि तू कहाँ से है, कौन है, और तेरी जाति क्या है ॥६४॥]

राजा यक्ष को देख कर डर गया । रोमांच हो जाने के कारण वह भाग न सका । लेकिन अपना होस ठिकाने रखकर उसने दूसरी गाथा कही——

पंचाल राजा मिगवं पविट्ठो
जयद्दिसो नाम यदिस्सुतो ते
परामि कच्छानि वनानि चाहं
पसदमिमं खाद ममज्ज मुञ्च ॥६५॥

[शायद तूने मेरा नाम सुना हो मैं जयद्दिस नामक पंचाल राजा हूँ और शिकार के लिए पर्वत-जंगल घूमता हूँ। आज तू इस चितकबरे मृग को खा ले और मुझे छोड़ दे ॥६५॥]

यह सुन यक्ष ने तीसरी गाथा कही——

सेनेव त्वं पणसी सस्मानो
ममेस भक्खो पसदो यं वदेसी
तं खादियानं पसदं दिघञ्ञं
खादिस्सं पच्छा न विलापकालो ॥६६॥

[यह जो तू कहता है कि मैं इस चितकबरे मृग को खा लूं तो यह तू स्वयं हिंसा करता हुआ मुझसे सौदा कर रहा है। मैं खाने की इच्छा होने पर इस चितकबरे मृग को पीछे खा लूंगा। अब यह तेरे विलाप का समय नहीं है ॥६६॥]

यह सुन राजा ने नन्द ब्राह्मण की याद कर चौथी गाथा कही—

न चत्थी मोक्खो मम निक्कयेन
गन्त्वान पच्चागमनाय पण्हे
तं संगरं ब्राह्मणस्सप्पदाय
सच्चानुरक्खो पुनरावाजिस्सं ॥६७॥

[यदि अपना शरीर बेचने से भी मेरा मोक्ष नहीं हो सकता तो जाकर पुनः लौट आने की मुझसे प्रतिज्ञा ले ले। मैं ब्राह्मण के प्रति अपना वचन पूरा कर फिर लौट जाऊँगा ॥६७॥]

यह सुन यक्ष ने पाँचवीं गाथा कही—

किं कम्मजातं अनुतप्पती तं
पत्तं समीपं मरणस्स राज
आचिक्ख मे तं अपि सक्कुणेमु
अनुजानितुं आगमनाय पण्हे ॥६८॥

[देव ! मरने के समय यह कौन सा कर्म है जो तुम्हारे अनुताप का कारण है। मुझे बतायें। सम्भव है कि मैं लौट आने की प्रतिज्ञा ले तुम्हें जाने की अनुज्ञा दे दूं ॥६९॥

राजा ने इस प्रश्न का उत्तर देते हु छठी गाथा कही—

कता मया ब्रह्मणस्स धनासा
तं संगरं पटिमोक्खं नमुत्तं
ते संगरं ब्राह्मणस्सपदाय
सच्चानुरक्खी पुनरआवजिस्सं ॥६९॥

(मैंने ब्राह्मण को धन की आशा दी थी। मैं उस दिये हुए वचन से मुक्त नहीं हूँ। मैं अपने सत्य वचन की रक्षा कर ब्राह्मण से मुक्त हो फिर लौट आऊँगा ॥६९॥

यह सुन यक्ष ने सातवीं गाथा कही--

या ते कता ब्राह्मणस्स धनासा
तं संगरं पटिमोक्खं न मुत्तं
तं संगरं ब्राह्मणस्सप्पदाय
सच्चानुरक्खी पुनरआवजस्सू ॥७०॥

[तूने ब्राह्मण को जो धन आशा दी थी और जिस दिए हुए वचन से मुक्त नहीं है, अपने उस सत्य वचन की रक्षा कर ब्राह्मण से मुक्त हो कर लौट आ ॥७०॥

इतना कह उसने राजा को विदा किया। राजा ने भी उससे विदा ले उसे आश्वासन दिया कि चिन्ता न कर मैं प्रातःकाल ही आ जाऊँगा। इतना कह रास्ते के चिन्हों को देखता हुआ वह अपनी सेना के पास पहुँचा। सेना से घिरे हुए राजा ने नगर में प्रवेश किया, और नन्द ब्राह्मण को बुला, बड़े कीमती आसन पर बैठा, गथाएँ सुन, चार हजार दिए। फिर गाड़ी में चढ़ा, मनुष्यों को आज्ञा दी कि इसे तक्षशिला ही ले जाओ और ब्राह्मण को विदा किया। दूसरे दिन चलने की इच्छा से पुत्र को बुला कर अनुशासित किया। इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने दो गाथाएँ कहीं—

मुत्तो च सो पुरिसादस्स हत्था
गन्त्वा सकं मन्दिरं कामकामी
तं संगरं ब्राह्मणस्सप्पदाय
आमन्तयी पुत्तं अलीनसतुं ॥७१॥
अज्जेव रज्जं अभिसेचयस्सु
धम्मं चर सेसु परेसुचापि
अधम्मकारो ते माहु रट्ठे
गच्छं अहं पोरिसादस्स ञत्ते ॥७२॥

[उस पुरुष-यक्ष के हाथ से मुक्त हो कर इच्छा करने वाला अपने राज-भवन में गया और ब्राह्मण को दिया वचन पूरा कर उसने अलीनशत्रु नामक

कुमार को बुलाया और कहा--आज ही राज्याभिषिक्त हो। सभी नगरों में धर्माचरण कर। राष्ट्र में तू अधम्मचारी प्रसिद्ध न हो। मैं तो आज पुरुष-राक्षस के पास जाता हूँ ॥७१॥

यह सुन कुमार ने दसवीं गाथा कही--

किं कम्म कुब्बं तव देव पादे
नाराधयिं, तद् इच्छामि सोतुं
यं अज्ज रज्जम्हि उदस्सये तुवं
रज्जं पि निच्छेय्यं तया विना अहं ॥७३॥

[हे देव ! मैंने अपने किस कर्म से आप के चरणों को अप्रसन्न किया है, यह मैं सुनना चाहता हूँ। जिसके कारण आज आप मुझे राज्य सौंप रहे हैं। मैं आपके बिना राज्य भी नहीं चाहता ॥७२॥

यह सुन राजा ने अगली गाथा कही--

न कम्मना वा वचसा व तात
अपराधितो हं तुय्हं सरामि
संधि च कत्व पुरिसादकेन
सच्चानुरक्खी पुन अहं गमिस्सं ॥७४॥

[तात मुझे याद नहीं आता कि तूने कर्म अथवा वाणी से कोई अपराध किया हो। मैंने यक्ष से संधि की है और उसी सत्य की रक्षा करने के लिए मैं फिर जाता हूँ ॥७४॥

वह सुन कुमार ने गाथा कही--

अहं गमिस्सामि इधेव होही
नत्थि ततो जीवतो विप्पमोक्खो
सचे तुवं गच्छसि येव राज
अहं पि गच्छामि उभो न होम ॥७५॥

[मैं जाता हूँ। आप यहीं रहे। वहाँ जाने पर प्राण नहीं बचेंगे। राजन् ! यदि आप वहाँ जाते ही हैं तो मैं भी चलता हूँ। ऐसा होने से हम दोनों न रहेंगे ॥७५॥]

यह सुन राजा ने गाथा कही--

अद्धा हि तात सतानेस धम्मो
मरणा च मे दुक्खतरं तद अस्स
कम्मासपादो तं यदा पचित्वा
पसय्ह खादे हितरुक्खसूले ॥७६॥

[निश्चय से हे तात ! जो तू कहता है यही सत पुरुषों का धर्म है। लेकिन मेरे लिए मरने से भी बढ़कर यह कहीं कष्टकर होगा जब वह यक्ष तीक्ष्ण वृक्ष के शूलों से चीर कर पका कर तुझे खायेगा ॥७६॥]

यह सुन कुमार ने गाथा कही—

पाणेन ते पाणं अहं निमिस्सं
मा त्वं अगा पोरिसादस्स अत्ते
अवस्स ते पाणं निमिस्सं
तस्मा मतं जीवितस्स वण्णेमीति ॥७७॥

[मैं तुम्हारे प्राण के साथ अपने प्राण को बदलता हूँ। तू यक्ष के पास मत जा। इसलिए क्योंकि मैं प्राणों का परिवर्तन करता हूँ। मैं जीवन मरण को श्रेष्ठतर मानना हूँ ॥७७॥

यह सुन राजा ने पुत्र का बल जान 'अच्छा कह स्वीकार किया कि तात जा। वह माता पिता को नमस्कार कर नगर से निकला। इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने आधी गाथा कही—

ततो हवे धितिमा राजपुत्तो
बंदित्थं मातुच्च पितुच्च पादे ॥

[तब धृतिमान राजकुमार ने माता और पिता के चरणों में नमस्कार किया।]

उसके माता, पिता, बहिन, भार्या, अमात्य और नौकर चाकर भी साथ निकल पड़े। वह नगर से निकल, पिता से रास्ता पूछ, अच्छी प्रकार समझ, माता पिता को नमस्कार कर, शेष लोगों को उपदेश दे, अकम्पित केसर सिंह की तरह मार्गारूढ़ हो, यक्ष के निवासस्थान पर पहुंचा। उसे जाता देख, माता अपने को सम्भाल न सकने के कारण पृथ्वी पर गिर पड़ी। पिता हाथों में सिर दे जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने आधी गाथा कही—

दुक्खिनिस्स माता निपती पथव्या
पितस्स पग्गहिय भुजानि कन्दतीति ॥७८॥

[इसकी दुखिया माता पृथ्वी पर गिर पड़ी और इसका पिता बाँहें पकड़ कर रोने लगा ॥]

आधी गाथा के बाद उसके पिता द्वारा दिया गया आशीर्वाद और माता, बहन तथा भार्या द्वारा की गई सत्यक्रिया प्रकाशित करने के लिये और भी चार गाथाएँ कहीं—

तं गच्छतं ताव पिता विदित्वा
परम्मुखो वन्दति पञ्जली सो
सोमो च राजा वरुणो च राजा
पजापती चन्दिमा सूरियो च
एतेहि गुत्तो पुरिसादकम्हा
अनुञ्ञातो सोत्थी पच्चेहि तात ॥७९॥

यं दण्डकारञ्ञ गतस्स माता
रामस्स, का सोत्थानं सुगुत्ता
तन्ते अहं सोत्थानं करोमि
एतेन सच्चेन सरन्तु देवा
अनुञ्ञातो सोत्थि पच्चेहि पुत्त ॥८०॥

आवी रहोपि मनोपि मनोपदोसं
नाहं सरे जातुं आलीनसत्ते
एतेन सच्चेन सरन्तु देवा
अनुञ्ञातो सोत्थी पच्चेहि भात ॥८१॥

यस्मा चमे अनधिमनोसि सामि
न चापि मे मनसा अप्पियोसि
एतेन सच्चेन सरन्तु देवा
अनुञ्ञातो सोत्थि पच्चेहि सामि ॥८२॥

[पिता ने यह जान कि मेरा पुत्र दूसरे के मुंह में जा रहा है अंजलि जोड़ देवताओं को नमस्कार किया—सोम राजा को, वरुण राजा को प्रजापति को, चंद्रमा को और सूर्य को और आशीर्वाद दिया कि हे तात ! इन देवताओं द्वारा रक्षित हो कर तू कल्याण पूर्वक लौट आ ।७९॥ जिस प्रकार दण्डकारण्य में गये राम की माता ने उसका कल्याण किया उसी प्रकार मैं तेरा कल्याण चाहती हूँ । देवता इस सत्य को याद करें और हे अनुमति से जाने वाले पुत्र ! तू कल्याणपूर्वक लौट आए ॥८०॥ मुझे निश्चय से याद नहीं है कि मैंने प्रकट अथवा अप्रकट रूप में कभी अलीनसत्य के प्रति क्रोध किया हो । देवता इस सत्य को याद करें और हे अनुमति से जाने वाले भाई, तू कल्याणपूर्वक लौट आए ॥८१॥ हे स्वामी, तुम पत्नी व्रत-धर्म में सच्चे रहे हो और मेरे भी मन से अप्रिय नहीं हो । देवता इस सत्य को याद करें और हे अनुमति से जाने वाले स्वामी ! तुम कल्याणपूर्वक लौट आओ ॥८२॥]

राजकुमार पिता के कहे अनुसार यक्ष के निवास स्थान के रास्ते पर चला । यक्ष ने भी सोचा कि क्षत्रिय बहुत मायावी होते हैं कौन जानता है क्या हो । वह वृक्ष पर चढ़ राजा के आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ बैठा रहा । उसने कुमार को आते हुए देख सोचा पिता को रोक कर पुत्र आया होगा । मुझे किसी तरह का भय नहीं है । वह पेड़ से उतर कर कुमार की ओर पीठ कर बैठ रहा । कुमार आ कर उसके सामने खड़ा हुआ तब यक्ष ने गाथा कही—

ब्रहा उजू चारुमुखो कुतो सि
नमं पजानासि वने वसन्तं
लुद्दं मं ञत्वा पुरोसादको ति
को सोत्थिमा जानमिधावजेय्या ॥८३॥

(ऊँचा, सीधा, तथा सुमुख तू कहाँ से आया है ? मुझे वन में रहने वाले को नहीं पहचानता ? यह जान कर कि मैं रौद्र हूँ और आदमियों को खाने वाला हूँ, अपना कल्याण चाहने वाला कौन जान-बूझ कर यहाँ आएगा ? ॥८३॥)

यह सुन कर कुमार ने गाथा कही—

जानामि लुद्द पुरिसादको त्वं
न तं न जानामि वने वसन्तं
अहंपि पुत्तोस्मि जयद्दिसस्स
ममज्ज खाद पितुनो पमोक्ख ॥८०॥

[हे रौद्र ! मैं जानता हूँ कि तू आदमखोर है, और तेरे इन वन में रहने की बात से अपरिचित नहीं हूँ । मैं जयद्दिस का पुत्र हूँ । आज तू मुझे खा ले । और पिता को छोड़ दे ॥८४॥]

तब यक्ष ने गाथा कही--

जानामि पुत्तोति जयद्दिसस्स
तथा हि वो मुखवण्णो उभिन्न
सुदुक्करञ्ञ्येव कतं तवेदं
यो मच्चुमिच्छे पितुनो पमोक्खा ॥८६॥

[मै जानता हूँ कि तू जयद्दिस का पुत्र है । तुम दोनों का शकल समान है । तूने यह बड़ा दुश्कर कार्य किया है कि पिता को बचा कर स्वयं मरना चाहता है ॥८५॥]

तब कुमार ने गाथा कही—

न दुक्करं किञ्चिमहेत्थ मञ्ञो
यो मत्तुमिच्छे पितुनो पमोक्खा
मातुच हेतू परलोक गम्या
सुखेन सग्गेन च सम्पयुत्तो ॥८६॥

पिता की मुक्ति के लिए मरने की इच्छा करने में मुझे कुछ भी दुश्कर नही मालूम देता । माता (–पिता) के लिए परलोक जा कर आदमी सुखपूर्वक स्वर्गलाभ करता है ॥८६॥

यह सुन यक्ष ने कुमार से पूछा--"कुमार ! ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसे मृत्यु से डर न लगता हो । तुझे डर क्यों नहीं लगता ? उसने यक्ष को उत्तर देते हुए दो गाथाएँ कहीं—

अहञ्च खो अत्तनो पापकिरियं
आवी रहो वापि सरे न जातु
संखातजगतीमरणो, हमस्मि
यथेव मे इध तथापरत्थ ॥८७॥

खादज्ज मं दानि महानुभाव
करस्सु किच्चानि इमं सरीरं
रुक्खस्सवा ते पपतामि अग्गा
छादयमानो मे यं त्वं आवेसि मंसं ॥८८॥

[निश्चय से मुझे अपनी किसी भी प्रकट अथवा अप्रकट पाप-क्रिया का स्मरण नहीं है। मैं जानता हूँ कि पैदा होने वाले का मरना अवश्यम्भावी है। मेरे लिये जैसा यहाँ है वैसा वहाँ है ॥८७॥ हे महानुभाव ! आज मुझे खाएँ। मेरे इस शरीर को काम में लगाएँ, आप चाहें तो मैं आपके सामने वृक्ष के ऊपर से गिरूँ जिससे आप इच्छानुसार मेरा मांस खाएँ ॥८८॥

यक्ष ने उसकी बात सुन सोचा कि भयभीत मन से मैं इसका माँस न खा सकूँगा। मैं इसे; उपाय-कौशल द्वारा भगा दूँगा। यह सोच उसने यह गाथा कही—

इदञ्चते रुच्चति राजपुत्त
चजासि पाणं पितुनो पमोक्खा
तस्माहिसो त्वं तरमानरूपो
सम्भञ्ज कट्ठानि जलेहि अग्गि ॥८९॥

[हे राजपुत्र यदि तुझे यह अच्छा लगता है कि तू पिता को बचाने के लिए अपने प्राण दे तो तू यथासम्भव शीघ्र लकड़ियाँ इकट्ठी कर आग जला ॥८९॥]

उसने वैसा किया और उसके पास आया। इस बात को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने दूसरी गाथा कही—

ततो हवे धितिमा राजपुत्तो
दारु समाहत्वा महन्तं अग्गिं

सन्दीपयित्वा पटिवेदयित्थ
आदीपितो दानि महायं अग्गी ॥९०॥

[तब धृतिमान राजपुत्र ने लकड़ियाँ इकट्ठी कर महान अग्नि प्रज्वलित की और सूचना दी कि मैंने आग जला दी है ॥९०॥]

यक्ष ने जब देखा कि कुमार आग जला कर आ पहुँचा तो सोचने लगा कि यह पुरुष सिंह के समान है इसे मृत्यु का भय नहीं है। मैंने इस समय तक इस प्रकार का निर्भय पुरुष नहीं देखा। उसे रोमांच हो आया और वह बैठा कुमार को बार-बार देखने लगा। कुमार ने उसकी क्रिया देख यह गाथा कही—

खादज्जमं दानि पसह्य कारी
किमं मुहु पेक्खसि हट्ठलोमो
तथा तथा तुय्हमहं करोमि
यथा यथा मं छादयमानो अदेसि ॥९१॥

[हे दुस्साहसी! आज मुझे खा। रोमांचित हो तू मुझे बार-बार क्या देखता है? मैं आज जैसे-जैसे तू कहेगा, वैसे-वैसे करूँगा। जिससे तू मुझे रुचिपूर्वक खा सकेगा ॥९१॥]

उसकी बात सुन यक्ष ने गाथा कही—

कोतादिसं अरहति खादिताए
धम्मेठितं सच्चवादिं वदञ्ञुं
मुद्धापि तस्स विप्फलेय्य सत्तधा
यो तादिसं सच्चवादिं अदेय्य ॥९२॥

[इस प्रकार के धर्म-स्थित, सत्यवादी उदार-पुरुष को कौन खा सकता है? जो इस प्रकार के सत्य-वादी को खाए, उसका सिर कट कर सात टुकड़े हो जा सकता है ॥९२॥]

यह सुन कुमार ने पूछा—"यदि मुझे खाना नहीं चाहता तो लकड़ियाँ तुड़वा कर आग क्यों जलवाई?"

"यह देखने के लिए कि भागता है अथवा नहीं।"

"तू अब मेरी क्या परीक्षा लेगा, जब मैंने पशु योनि में भी देवेन्द्र शक्र को अपनी परीक्षा नहीं लेने दी।"

इतना कह यह गाथा कही--

इन्दं हि सो ब्राह्मणं मञ्ञमानो
ससो अवासेसि सके सरीरे
तेनेव सो चन्दिमा देवपुत्तो
ससत्थुतो कामदुहज्ज यक्ख ॥९३॥

[खरगोश ने उसे ब्राह्मण समझ अपना शरीर दान देने के लिए रखा। उसी से हे यक्ष देवपुत्र चन्द्रमा आज प्रिय रूप है, प्रशंसित है ॥९३॥]

यह सुन यक्ष ने कुमार को मुक्त करते हुए गाथा कही—

चन्दो यथा राहुमुखा पमुत्तो
विरोचते पन्नरसे व भानुमा
एवं तुवं पोरिसादा पमुत्तो
विरोच कम्पिल्ला महानुभाव
आमोदयं पितरं मातरञ्च
सब्बो चते नन्दतु ञातिपक्खो ॥९४॥

[हे महानुभाव ! जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन राहु के मुँह से मुक्त चन्द्रमा अथवा सूर्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार तू भी मुझसे मुक्त होकर काम्पिल्य राष्ट्र को प्रकाशित कर। हे महावीर ! तू अपने माता पिता तथा सभी रिश्तेदारों को प्रसन्न करता हुआ जा ॥९४॥

उसने भी उसे विनम्र बना पंचशील दिए। फिर सोचा—यह वास्तव में यक्ष है अथवा नहीं ? यक्षों की तो आँखें लाल होती हैं। पलक नहीं झपकती, छाया नहीं पड़ती और रोमांच नहीं होता। यह यक्ष नहीं है। मनुष्य है। मेरे पिता के तीन भाई थे। तीन यक्षिणी द्वारा पकड़े गए, उनमें से दो खा लिये

---

१. देखें सस जातक (३१६)

गए। एक पुत्र-स्नेह से पाला गया होगा। यही वह होगा। इसे ले जाकर अपने पिता से कह कर राज्य पर प्रतिष्ठित कराऊँगा। यह सोच उसने कहा–

"आ तू यक्ष नहीं है। मेरे पिता का ज्येष्ठ भाई है। मेरे साथ चल कर कुलागत, राज्य का छत्र धारण कर।"

"मैं मनुष्य नहीं हूँ।" यक्ष बोला।

"यदि तू मेरा विश्वास नहीं करता तो क्या कोई है जिसका तू विश्वास करता है ?"

"अमुक स्थान पर दिव्य-चक्षु वाला तपस्वी है।"

वह उसे लेकर वहाँ गया। तपस्वी उन्हें देख कर बोला––

"पिता पुत्र क्या करते हुए जंगल में घूम रहे हो ?" इस प्रकार उसने उनका सम्बन्ध प्रकट किया। यक्ष ने तपस्वी का विश्वास कर कहा––'तात ! तू जा। एक ही जन्म में मेरे दो जन्म हो गए, मुझे राज्य नहीं चाहिए। मैं प्रव्रजित होऊँगा।" उसने तपस्वी के पास ऋषि-प्रव्रज्या ली। कुमार उसे प्रणाम कर नगर लौट आया। इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने कहा––

ततो हवे धितिमा राजपुत्तो
कतञ्जली परितगा पोरीसादं
अनुञ्ञातो सोत्थी सुखो अरोगो
पच्चागमा कम्पिल्लं अलीनसत्तो ॥९५॥

[तब धृतृमान राजपुत्र ने यक्ष को नमस्कार किया और उसकी अनुमति पा वह सकुशल, सूखी तथा निरोग अलीनसत्व काम्पिल्य लौट आया ॥९५॥]

यह गाथा कह नगर तथा निगम आदि के लोगों का कर्तत्त्व प्रकट करने के लिए अंतिम गाथा कही—

तं नेगम जानपदा च सब्बे
हत्थारोहा रथिका पत्तिका च
नमस्समाना पञ्जलिका उपागमुं
नमत्थु ते दुक्करकारकोसि ॥९६॥

[सभी निगमवासी तथा जनपद वासी हाथियों पर चढ़ कर रथों में बैठकर

तथा पैदल हाथ जोड़ नमस्कार करते हुए उसके पास आए और बोले—हे दुश्कर कृत्य करने वाले तुझे नमस्कार है ॥९६॥

राजा ने कुमार को आया, सुना तो उसका स्वागत किया लोगों से घिरे हुए कुमार ने जा कर राजा को नमस्कार किया।

राजा ने पूछा–"तात ! उस प्रकार के आदमखोर से कैसे मुक्ति मिली?"

"तात ! यह यक्ष नहीं है। तुम्हारा बड़ा भाई है। यह मेरा चाचा है।"

इस प्रकार सब समाचार सुना कर कहा—"तुम्हें मेरे चाचा से मिलना चाहिए।"

राजा ने उसी समय मुनादी करायी और बहुत से अनुयायी लेकर तपस्वी से पास गया। महातपस्वी ने यक्षिणी द्वारा उसके लाए जाने, न खाए जाने, पाले जाने, यक्ष न होने और सम्बन्धी होने की सारी बात विस्तारपूर्वक कही। राजा बोला—"भाई आ राज्य कर।"

"महाराज बस करें।"

"तो आ उद्यान में रह, मैं चारों आवश्यकताओं से सेवा करूंगा।"

"महाराज नहीं चलूंगा।"

राजा ने उनके आश्रम से थोड़ी ही दूर पर एक पर्वत की ओट में छावनी डलवा कर बहुत बड़ा तालाब बनवाया। और खेत तैयार करा कर बहुत सा धन तथा हजार परिवार लाकर बड़ा भारी गाँव बसाया। इस प्रकार उसने तपस्वियों के लिए भिक्षा की व्यवस्था की। उस गाँव का नाम हुआ 'चुल्लकम्मासदम्मनिगम'। सुतसोम बोधिसत्व द्वारा जहाँ यक्ष का दमन हुआ ऐसा प्रदेश होने से ही उसे महाकम्भासदम्भ निगम जानना चाहिए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों का प्रकाशित होने के अंत में मातृ-पोषक स्थविर स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय के माता-पिता महाराज कुल हुए। तपस्वी, सारिपुत्र, आदमखोर, अंगुलिमाल, छोटी बहन, उत्पलवर्णा, पटरानी, राहुल माता, अलीनसत्व कुमार तो मैं ही था।

⊙

५१४. छद्दन्त जातक

"किन्न् सोचति..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक तरुण भिक्षुणी के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उस श्रावस्तीवासिनी कुल कुमारी ने गृहस्थ जीवन को सदोष मान बुद्ध-शासन में प्रव्रज्या ग्रहण की। एक दिन भिक्षुणियों के साथ वह धर्म सुनने गई। उसने धर्मासन पर बैठकर धर्मोपदेश देते हुए दशबलधारी के अनंत पुण्य प्रभाव-वान तथा उत्तम सौन्दर्य से युक्त स्वरूप को देखा। उसने सोचा क्या इस संसार में संसर्ण करते हुए मैं कभी पूर्व-जन्म में इस महापुरुष की पाद-सेविका रही हूँ अथवा नहीं? उसी समय उसे पूर्व-जन्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो गया। उसे मालूम हुआ कि छद्दन्त हाथी के जन्म के समय वह इस महापुरुष की पाद सेविका रही है। इस बात का स्मरण आते ही उसे बड़ा आनंद हुआ। इस आनंद के प्रभाव से वह जोर से हँसी और तब उसने सोचा कि बहुत कम स्त्रियाँ स्वामी की हितचिन्तक होती हैं। अधिकांश अहित-चिन्तक ही होती हैं। क्या मैं पुरुष की हितचिन्तक रही हूँ अथवा अहितचिन्तक? उसे याद आया कि मैंने मन में थोड़ा सा क्रोध उत्पन्न हो जाने से एक सौ बीस रतन चौड़े छद्दन्त महा-गजेश्वर को सोनत्तर नामक शिकारी को भेज, जहर बुझे हुए शल्य से बिधवा कर मरवा डाला। तब उसके मन में शोक उत्पन्न हुआ। हृदय गर्म हो उठा। शोक को न सह सकने के कारण लम्बी साँस लेती हुई वह जोर से रो पड़ी। यह देख शास्ता मुस्कराए। भिक्षु-संघ ने पूछा भंते शास्ता की मुस्कराहट का क्या कारण है? शास्ता ने "भिक्षुओं यह तरुण भिक्षुणी पूर्व जन्म में मेरे प्रति किए गए अपराध की याद कर रोती है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में हिमालय प्रदेश में छद्दन्त सरोवर के पास आठ हजार हाथी रहते थे, ऋद्धिमान, आकाशमार्ग से जाने वाले। उस समय बोधिसत्व ज्येष्ठ हाथी के पुत्र हो कर उत्पन्न हुए। वर्ण सर्व-श्वेत। मुंह और पैर लाल। आगे चल कर वह बड़े होने पर ८८ हाथ ऊँचा हुआ। चौड़ाई १२० रतन। चांदी की माला के समान ५८ हाथ लम्बी सूंड़ से लिप्त। दाँतों की गोलाई १५ हाथ की थी। लम्बाई ३० हाथ की। उनमें से छः वर्ण की रश्मियाँ निकल रही थीं। वह आठ हजार हाथियों में ज्येष्ठ था। वह पाँच सौ प्रत्येक-बुद्धों को पूजता था। उसकी दो पटरानियां थीं। छोटी सुभद्रा। हस्तिराज आठ सहस्र हाथियों के साथ कंचन गुफा में रहता था।

उस छद्दन्त सरोवर की चौड़ाई और विस्तार पचास योजन का था। उसके बीच बारह योजन जगह में काई अथवा कीचड़ नहीं था। मणी के वर्ण सदृश जल था। इसके बाद उस पानी के चारों ओर योजन भर का शुद्ध सुन्दर वन था। उसके बाद उसके चारों ओर योजन भर ही नीलोत्पल-वन था। इसी प्रकार उसके आगे योजन योजन भर के रक्तोत्पल-वन, उसके आगे श्वेत-उत्पल वन, उसके आगे रक्त-पद्म, उसके आगे श्वेत-पद्म तथा उसके आगे कुमुद-वन अपने से पहलों को घेरे थे। इन सातों वनों के बाद, इन सभी को योजन योजन भर के मिश्रितवन घेरे हुए थे। उसके बाद, नागों के कटी तक के जल में योजन भर का लाल शालीवान था। उसके बाद पानी की सीमा पर नीले, पीले, रक्त-वर्ण, श्वेत-वर्ण, सुगन्धित छोटे छोटे फूलों वाला छोटे पेड़ों का वन था। इस प्रकार यह दस वन योजन-योजन भर के थे। उसके बाद छोटे उड़द-बड़े उड़द तथा मूंग का वन। उसके बाद कद्दू, लौकी, पेठे की लताओं के वन। उसके बाद सुपारी के पेड़ों जितने ऊँचे ऊँचे ऊख के वन। उसके आगे हाथी-दाँत जैसे बड़े बड़े फलों वाला केले का वन। उसके आगे शाल-वन। उसके आगे चाटी जितने बड़े फल वाला कटहल का वन। उसके बाद मीठे फलों वाला इमली का वन। उसके बाद कपिट्ठ-वन। उसके बाद मिला-जुला महान वन-खण्ड। उसके बाद बाँसों का वन। उस समय इतनी सम्पत्ति थी। संयुक्त (निकाय) की अर्थ-कथा में तो केवल

वर्तमान सम्पत्ति का ही उल्लेख किया गया है। बाँस के वन के चारों ओर सात पर्वत थे। बाहर से आरम्भ कर जो पहला पर्वत था उसका नाम था चुल्ल-काल, दूसरे का नाम था महाकाल; उसके बाद उदकपश्य पर्वत उसके बाद चन्दपश्य पर्वत, उसके बाद सूर्यपश्य-पर्वत, उसके बाद मणिपश्य पर्वत, और सातवाँ था स्वर्ण-पश्य पर्वत। यह ऊँचाई में सात योजन का था और छद्दन्त-सरोवर के चारों ओर ऐसे खड़ा था मानो किसी बर्तन के मुख को चारों ओर से घेरे हो। वह अन्दर की ओर से स्वर्ण-वर्ण का था। उसके निकलने वाले प्रकाश के कारण छद्दन्त सरोवर उदित बाल-सूर्य्य की तरह था। बाहर के पर्वतों में एक की ऊँचाई छः योजन, एक की पाँच योजन, एक की चार योजन एक की तीन योजन, एक की दो योजन और एक एक योजन। इस प्रकार सात पर्वतों से घिरे उस छद्दन्त सरोवर के पूर्वोत्तर कोने में पानी हवा लगने की जगह पर एक बड़ा न्यग्रोध-वृक्ष था उसके तने की गोलाई पाँच योजन थी, ऊँचाई सात योजन। चारों दिशाओं में फैली हुई चार शाखाएं छः योजन की और ऊपर निकली हुई भी छः ही योजन की। इस प्रकार जड़ से आरम्भ करके उसकी ऊँचाई तेरह योजन की थी और शाखाओं से ऊपर चारों ओर बारह योजन। आठ हजार टहनियों से युक्त वह पर्वत इस प्रकार सुशोभित खड़ा था जैसे उसके शिखर पर मणि सुशोभित हो। छद्दन्त सरोवर के पश्चिम की ओर स्वर्ण-पश्य पर्वत में बारह योजन की कञ्चन-गुफा थी। वर्षा काल में आठ हजार नागों सहित छद्दन्त नाम का नागराज वर्षा-काल में उस कञ्चन गुफा में रहता था। ग्रीष्मकाल में हवा-पानी का आनन्द लेता हुआ महान् न्यग्रोध वृक्ष की छाया में शाखाओं के बीच रहता था।

एक दिन उस नागराज को सूचना दी गई कि शालवन पुष्पित हो गया। उसने सभी अनुयाइयों के साथ शाल-वन पहुँच कर क्रीड़ा करने की इच्छा से शालवन जाकर एक सुपुष्पित शाल-वन को सिर की टक्कर दी। चुल्ल सुभद्रा जिधर ऊपर की हवा थी, उधर खड़ी थी। उसके शरीर पर सूखी टहनियों से मिले हुए पुरानेपत्ते और लाल चींटियाँ गिर पड़ीं। महासुभद्रा नीचे की हवा की ओर उसके शरीर पर फूलों की रेणु, केसर तथा पत्ते गिरे। चुल्ल सुभद्रा ने सोचा, यह नागराज अपनी प्रिय भार्या के शिर पर रेणु-केसर तथा पत्ते गिराता है और मेरे सिर पर सूखी टहनियों वाले पुराने पत्ते तथा लाल चींटियाँ

गिराता है । अच्छा, देखूंगी कि मैं क्या कर सकतीं हूँ ? यह सोचते हुए उसने बोधिसत्व के प्रति मन में बैर बाँध लिया ।

दूसरे दिन भी मण्डली सहित नागराज नहाने के लिए छद्दन्त सरोवर में उतरा । दो तरुण हाथियों ने सूण्ड में वीठा-धारा ले कैलाश-शिखर को साफ करने की तरह स्नान कराया । उसके स्नान कर चुकने पर दो हथिनियों ने स्नान किया । वे भी बाहर आकर बोधिसत्व के पास खड़ी हुईं । उसके बाद आठ हजार नागों ने जलक्रीड़ा करके, सरोवर में से नाना प्रकार के पुष्प ला, रजत-पुष्प को अलंकृत करने की तरह, बोधिसत्व को अलंकृत करने के बाद दोनों हथिनियों को अलंकृत किया । उस समय एक हाथी को तालाब में घूमते हुए सत्वोदय नामक महा–पद्म मिला । उसने वह ला कर बोधिसत्व को दे दिया । उसने उसे ले, केसर को सिर पर विखेरते हुए ज्येष्ठ महासुभद्रा को दे दिया । यह देख दूसरी ने सोचा कि यह सत्वोदय नाम का महापद्म भी अपनी प्रिय भार्या को ही देता है, मुझे नहीं देता और उससे और भी बैर बाँध लिया ।

एक दिन जब बोधिसत्व मधुर फल तथा भिस की जड़ें कँवल के पत्तों पर रख कर पाँच सौ प्रत्येक-बुद्धों को परोस रहे थे, चुल्ल-सुभद्रा ने, जो फलाफल उसे मिले थे, प्रत्येक-बुद्धों को दे प्रार्थना की कि अब यहाँ से मर कर मद्रराज-कुल में सुभद्रा नाम की राजकन्या हो कर जन्म ग्रहण करूँ । फिर बड़ी होने पर वाराणसी नरेश की पटरानी बनूं और उसकी प्रिय तथा उसे अच्छी लगने वाली होऊँ । जब वह मेरे मन की बात करने लग जाय, तब एक शिकारी भेज कर इस हाथी को विष बुझे तीर से बिंधवाऊँ और मरने पर इसके छः वर्ण रश्मियाँ छोड़ने वाले हाथी दाँत जोड़े को मँगयाऊँ ।

उसके बाद उसने चारा खाना छोड़ दिया और सूख कर अचिर काल में ही मर गई । वह मद्रराष्ट्र में पटरानी की कोख में जन्मी । उसका नाम सुभद्रा रखा गया । बड़े होने पर उसे बनारस-नरेश को दे दिया गया । वह उसकी प्रिया हुई, मन को अच्छी लगने वाली, सोलह हजार स्त्रियों में ज्येष्ठ । उसे पूर्व-जन्म का ज्ञान हो आया । उसने सोचा—मेरा संकल्प पूरा हो गया है । अब मैं उस हाथी के दांतों का जोड़ा मंगवाऊँगी । उसने सरीर पर तेल मला, मैले वस्त्र धारण किये, और रोगी-वेश बना कर पलंग पर जा लेटी ।

राजा ने पूछा—"सुभद्रा कहां है ?"

"रुग्ण है।"

वह शयनागार में गया और उसके पलंग पर बैठ पीठ मलते हुए पहली गाथा कही—

किं नु सोचसि अनुज्जंगी, पण्डुसी वरवण्णिनी
मिलायसि विसालक्खि, माला व परिमद्दिता ॥१॥

[हे स्वर्ण-वर्णे ! तू क्या सोचती है ? हे श्रेष्ठ वर्णे ! तू पाण्डु रोग की हो गई है । हे विशालाक्षी ! तू मर्दित माला की तरह म्लान हो गई है ?॥१॥]

यह सुन उसने दूसरी गाथा कही—

दोहळो मे महाराज, सुपिनन्तेन उपच्चगा
न सो सुलभरूपो व, यादिसो मम दोहळो ॥२॥

[महाराज ! स्वप्न में मेरे मन में 'दोहद' उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार का दोहद मेरे मन में उत्पन्न हुआ, उसकी पूर्ति आसान नहीं है ॥२॥]

यह सुन राजा ने गाथा कही—

ये केचि मानुसा कामा, इध लोकस्मि नन्दने
सब्बे ते पचुरा मह्यं, अहं ते दम्मि दोहळं ॥३॥

[प्रिये ! लोक में जितनी भी कामना की वस्तुएँ हैं, वे सभी मेरे पास प्रचुर मात्रा में हैं। मैं तुझे 'दोहद' दूंगा ॥३॥]

यह सुन देवी बोली, "महाराज ! मेरा दोहद दुष्प्राप्य है । मैं इस समय उसे नहीं कहूँगी । आपके राज्य में जितने शिकारी हैं, उन सब को इकट्ठा करायें । मैं उनके बीच में कहूंगी।" यह कहते हुए इसके बाद की गाथा कही—

लुद्दा देव समायन्तु, ये केचि विजिते तव
एतेसं अहं अक्खिस्सं, यादिसो मम दोहळो ॥४॥

[आपके राज्य में जितने शिकारी हैं, वे सब इकट्ठे हों । मैं उनके बीच में कहूंगी कि मेरा 'दोहद' कैसा है ॥४॥]

राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और शयनागार से निकल मंत्रियों को आज्ञा दी कि तीन सौ योजन के काशी राष्ट्र में जितने शिकारी हैं, वे सभी इकट्ठे हों, ऐसी मुनादी करा दें। उन्होंने वैसा ही किया। अचिर काल में ही काशी राष्ट्र-वासी शिकारियों ने यथा सामर्थ्य भेंट के साथ अपने आगमन की सूचना राजा को भिजवाई। वे सब साठ हजार थे। राजा के आगमन की बात जान, झरोखे में खड़े होकर उनके आगमन की बात हाथ फैला कर देवी को कहते हुए यह गाथा कही--

> **इमे ते लुद्दका देवि, कतहत्था विसारदा**
> **वनञ्ञू च मिगञ्ञू च, मम ते चत्तजीविता ॥५॥**

[देवी ! ये कुशल पण्डित शिकारी हैं। इन्हें जंगलों तथा जंगली पशुओं का ज्ञान है, और ये मेरे लिए प्राण तक दे सकते हैं ॥५॥]

यह सुन देवी ने सम्बोधन करते हुए दूसरी गाथा कही--

> **लुद्दपुत्ता निसामेथ, यावन्तेत्थ समागता**
> **छब्बिसाणं गजं सेतं, अद्दसं सुपिनेन हं,**
> **तस्स दन्तेहि मे अत्थो, अलाभे नत्थि जीवितं ॥६॥**

[जितने भी शिकारी यहां आये हैं वे ध्यान से सुनें कि मैंने स्वप्न में छः वर्णों के हाथी दांत वाला श्वेत हाथी देखा है। मुझे उसके दांत चाहिए। यदि नहीं मिलते तो मैं जीवित न रहूंगी ॥६॥]

यह सुन शिकारी बोले--

> **न नो पितुन्नं न पितामहानं**
> **दिट्ठो सुतो कुञ्जरो छब्बिसाणो**
> **यं अद्दसा सुपिने राजपुत्ति,**
> **अक्खाहि नो यादिसो हत्थिनागो ॥७॥**

[हे राजपुत्री ! न तो हमारे पिताओं ने और न हमारे पितामहों ने ही छः वर्ण के दांतों वाला हाथी देखा। तूने स्वप्न में जैसा हाथी देखा, उसका वर्णन सुना कि वह कैसा है ? ॥७॥]

इसके बाद की गाथा भी उन्हीं के द्वारा कही गई—

दिमा चतस्सो विदिसा चतस्सो
उद्धं अधो, दस दिसा इमायो
कतमं दिसं तिट्ठति नागराजा
यं अद्दसा सुपिने छब्बिसाणं ॥८॥

[चार दिशायें हैं, चार अनु-दिशायें हैं तथा ऊपर नीचे की दिशा को मिला कर कुल दस दिशायें होती हैं। जिस छः वर्णों के दाँत वाले हस्ति-राज को तूने स्वप्न में देखा है, वह किस दिशा में ठहरता है ? ॥८॥]

ऐसा पूछे जाने पर सुभद्रा ने सभी शिकारियों को ध्यान से देखा। उनमें उसे सोणुत्तर नाम का एक शिकारी दिखाई दिया, जो प्रशस्त-पाद था, जिसकी जाँघ भात की थैली के समान थी, जिसके घुटने बड़े बड़े थे जिसकी छाती थी, जिसकी मूँछें बड़ी-बड़ी थीं, जिसकी दाढ़ी काली थी, जिसकी छाती चौड़ी लाल थीं, जो आसानी से पहचाना नहीं जा सकता था, जिसका रूप वीभत्स था और जो सब में प्रधान लगता था तथा बोधिसत्व का पूर्व-वैरी था। उसने सोचा यह मेरा कहना कर सकेगा। राजा की आज्ञा ले, वह उसके साथ सात तल्ले वाले महल के सबसे ऊपर के तल्ले पर चढ़ गई और उत्तर की ओर के झरोखे को खोल कर उत्तर हिमालय की ओर हाथ पसार कर उसने चार गाथायें कहीं—

इतो उजुं उत्तरियं दिसायं
अतिक्कम्म सो सत्त गिरी ब्रहन्ते;
सुवण्णपस्सो नाम गिरी उळारो
सुपुप्फितो किंपुरिसानुचिण्णो ॥९॥
आरूय्ह सेलं भवनं किन्नरानं
आलोकय पब्बतपादमूलं,
अथ दक्खसि मेघसमानवण्णं
निग्रोधराजं अट्ठसहस्सपदं ॥१०॥
तत्थच्छति कुञ्जरो छब्बिसाणो
सब्बसेतो दुप्पसहो परेहि,

रक्खन्ति नं अट्ठसहस्सनागा
ईसादन्ता वातजवप्पहारिनो ॥११॥
तिट्ठन्ति ते तुमुलं पस्ससन्ता
कुप्पन्ति वातस्सपि एरितस्स,
मनुस्सभूतं पन तत्थ दिस्वा
भस्मं करेय्युं नास्स रजोपि तस्स ॥१२॥

[यहाँ से सीधे उत्तर की ओर सात बड़े पर्वतों के उस पार स्वर्ण-पार्श्व नाम का महान सुपुष्पित पर्वत है। जहाँ किंपुरिस रहते हैं ॥९॥ किन्नरों के शैल भवन पर चढ़ कर पर्वत के नीचे देखने से मेघ के जैसे वर्ण वाला, आठ हजार जड़ों वाला न्यग्रोध वृक्ष दिखाई देगा ॥१०॥ वहाँ छः वर्ण के दाँतों वाला सर्व श्वेत हाथी है। जिसे दूसरे आसानी से अधीन नहीं कर सकते। रथ की धुरी जैसे दाँतों वाले और वायु के वेग से (शत्रु पर) प्रहार करने वाले आठ हजार हाथी उसकी रक्षा करते हैं ॥११॥ वे वहाँ खड़े जोर-जोर से स्वांस ले रहे हैं, उन्हें हवा के चलने पर भी क्रोध आता है। वे वहाँ किसी मनुष्य को देख कर उसे अपनी फुंकार से भस्म कर देंगे, उसकी राख तक नहीं होगी ॥१२॥

यह सुन मृत्यु के डर के मारे सोणुत्तर बोला--

बहुं हिमे राजकुलम्हि सन्ति
पिलन्धना जातरूपस्स देवी
मुत्ता मणी वेलुरीयामया च
किं काहसी दन्तपिलन्धनेन
उदाहु घातेस्ससी लुद्दपुत्ते ॥१॥

[हे देवी राजकुल में सोने के बहुत से गहने हैं, मोतियों के माणिक्य के और बिल्लौर के भी। तू हाथी-दाँत-गहनों को लेकर क्या करेगी ? क्या तू छः वर्ण के दांत वाले हाथी की हत्या कराना चाहती है ? अथवा शिकारियों को ॥१३॥]

देवी ने उत्तर दिया--

साइस्सिता दुक्खिता चस्मि लुद्द
उद्धञ्च सुस्सामि अनुस्सरन्ति,

करोहि मे लुद्दक एतमत्थं
दस्सामि ते गामवरानि पञ्च ॥१४॥

[हे शिकारी ! मैं पूर्व कृत वैर को याद करके ईर्ष्या के मारे दुःखी हूँ और सूखती जा रही हूं। शिकारी ! मेरा यह काम कर, मैं तुझे पांच श्रेष्ठ गांव दूंगी ॥१४॥

इतना कह चुकने के बाद वह बोली—"हे शिकारी ! मैंने पूर्व जन्म में बुद्धों को दान दे कर प्रार्थना की थी कि मैं इस छः वर्ण के दांतों वाले हाथी को मरवा कर उसके दोनों दांत मंगवा सकूँ। मैंने स्वप्न नहीं देखा है। किन्तु मेरा वह संकल्प पूरा होगा। तू जाता हुआ डर मत।" इस प्रकार देवी ने उसे आश्वासन दिया। उसने 'अच्छा' कह उसका कहना मान लिया और तब बोला––"तो आर्ये ! मुझे स्पष्टतया उसका निवासस्थान बताएं !"

वह बोला––

कत्थच्छत कत्थ मुपेति ठानं
वीथिस्स का नहानगतस्स होति
कथं हि सो नहायति नागराजा
कथं विजानेमु गतिं गजस्स ॥१५॥

[वह कहां रहता है ? कहां ठहरता है ? वह किस मार्ग से नहाने जाता है ? वह नागराज किस प्रकार स्नान करता है ! हम उसकी गति किस प्रकार जानें ॥१४॥]

उसने पूर्व-जन्म की बात जानने में समर्थ होने के कारण प्रत्यक्षतः दिखाई देने वाले स्थान का वर्णन करते हुए दो गाथाएं कहीं—

तत्थेव सा पोखरनी अदूरे
रम्मा सुतित्था च महोदिका च
सम्पुप्फिता भमरगणानुचिन्ना
एत्थहि सो नहायती नागराजा ॥१६॥
सीसं नहातो उप्पलमालभारी
सब्बसेतो पुन्डरीकतचंगी

आमोदमानो गच्छति सन्निकेतं
पुरक्खत्वा महेसिं सब्बभद्दं ॥१७॥

[वहीं पास ही वह पुष्कर्णी है जो रमणीय है, सुतीर्थ वाली है, बहुत जल वाली है सुपुष्पित है, तथा भ्रमर गणों से युक्त है। यहीं वह नागराज स्नान करता है ॥१६॥ वह सर्व-श्वेत हाथी जिसकी त्वचा और अंग कमल सदृश हैं, नहाने के बाद सिर पर कमल लेकर अपनी पटरानी सर्वभद्रा को आगे कर के मौज मनाता हुआ अपने निवासस्थान को जाता है ॥१७॥]

यह सुन सोणुत्तर ने स्वीकार किया--'आर्य अच्छा। मैं उस हाथी को मार कर उसके दांत ले आऊंगा।" उसने उसके प्रति सतुष्ट हो हजार दिए और बोली-"अपने घर जाओ, आज से एक सप्ताह बीतने पर वहां जाना इस प्रकार उसे जाने के लिए प्रेरित कर उसने कारीगरों को बुला कर आज्ञा दी —"हमें छुरी, कुल्हाड़ी, कुदाल-खंता, हथौड़ी, खुरपा, तलवार, लोहे का डंडा आरा, खुंटे तथा लोहे के चक्कर चाहिए। यह सब जल्दी से लाओ।" उसने चर्मकारों को भी बुलवा कर आज्ञा दी--"तात, हमें घड़े का भार वहन करने वाली चमड़े की धोंकनी चाहिए। और हमें चमड़े के पट्टे, हस्ति-पाद (?), जूते और चमड़े के छाते की भी आवश्यकता है। सभी चीजों को शीघ्र बना कर लाओ।" तब दोनों ने सभी जीजें शीघ्र बना कर ला दीं। उसने उसके पाथेय्य की व्यवस्था कर और रगड़ कर आग पैदा करने की लकड़ी से आरम्भ कर के हर तरह की सामग्री तथा सत्तु आदि भोजन सामग्री, चमड़े के थैले में डाल दी। यह सब घड़े भर का भार हो गया।

सोनुत्तर ने भी अपनी तैयारी की और सातवें दिन आकर देवी को प्रणाम कर खड़ा हो गया। देवी बोली—

"सौम्य ! तेरी रास्ते की सभी चीजें पूरी हो गई हैं। यह थैला ले।"

वह बड़ा बलशाली था, पाँच हाथियों के बलवाया। उसने उसे पुओं की थैली की तरह उठा कर बगल में दबा लिया और खाली हाथ की तरह ही खड़ा हो गया। चुल्ल सुभद्रा ने शिकारी के बच्चों को खर्चा दे राजा को कह, सोनुत्तर को विदा किया। उसने भी राजा और देवी को नमस्कार किया और राजमहल से उतर रथों को छोड़, बहुत से अनुयाइयों के साथ नगर से

निकला । वह गांवों और नगरों में होता हुआ प्रत्यन्त-प्रदेश में पहुँचा । वहाँ जनपद के लोगों को रोक, प्रत्यन्त-देश वासियों के साथ जंगल में प्रवेश किया । इस प्रकार वस्ती लांघ, प्रत्यन्न देशवासियों को भी छोड़, अकेला ही चला । उसने तीस योजन मार्ग लांघा' जहां दूब का गहन था, कास (तृण) का गहन था, तृण-गहन था, तुलसी-गहन था, सर-गहन था, और इस प्रकार तिरिवच्छ-गहन, आदि छ: कांटों और कुञ्जों के गहन थे । इनके अतिरिक्त वह वेत-गहन, मिश्रित-गहन; नलवन गहन, सरवन-गहन, पेट के बल रींग कर भी पार न किया जा सकने वाला घने वन का गहन' वृक्षों का गहन, बांसों का गहन, दलदल का गहन, पानी का गहन तथा पर्वतों के गहन को क्रमश: प्राप्त हुआ । उसने दूब के गहन आदि को तलवार से काट डाला । उसने तुलसी-गहन आदि को बांसों का झुण्ड काटने के शस्त्र से छिन्न-भिन्न कर डाला, और वृक्षों को कुल्हाड़ी से काट कर और बड़े बड़े पेड़ों में वसूले (?) से छेद कर मार्ग बनाया । फिर बांसों की सीढ़ी बना, बाँसों के झुण्ड के ऊपर जा, कीचड़ के गहन पर लकड़ी के तख्ते डाल, उन पर चल और फिर पीछे के तख्तों को आगे डाल उसे पार किया । फिर डोंगी बना कर जल-गहन पार किया । फिर पर्वत के नीचे खड़े हो लोहे के चतुष्कोण को रस्सी से बांध कर ऊपर फेंका । वह पर्वत में जा अटका । उसके सहारे वह रस्सी से पर्वत पर चढ़ गया । वहाँ उसने लोहे के ऐसे दण्ड से जिसके आगे वज्र लगा हुआ था पर्वत को बींध डाला । वहाँ उसने एक खूँटा ठोक दिया । फिर वहां खड़े हो, लोहे का चतुष्कोण निकाल, उसे फिर ऊपर अटकाया । वहाँ खड़े हो चमड़े की पट्टी लटका उसके सहारे उतरा । उस पट्टी को नीचे के खूँटे से बाँध, उसने बायें हाथ में पट्टी पकड़, दाहिने हाथ में मुग्दर ले पट्टी को पीटा । इस प्रकार खूँटा निकाल, फिर चढ़ा । इस प्रकार वह पर्वत के शिखर पर चढ़ दूसरी ओर उतरा । फिर पूर्व क्रमानुसार ही पहले पर्वत के शिखर पर खूँटा गाड़, फिर चमड़े की थैली में पट्टी बाँध, खूँटी को लपेट स्वयं चमड़े को थैली भी बैठा और जिस प्रकार मकड़ी तार को छोड़ती चलती है, उसी प्रकार चमड़े की पट्टी को उधेड़ता हुआ वह नीचे उतरा 'चमड़े के छाते हवा को रोकते हुए वह पक्षी की तरह' यह भी कहा तो जाता ही है । इस प्रकार सुभद्रा के कथन को मान, नगर से निकल, सत्तारह गहनों को

पार कर वह पर्वत-गहन को प्राप्त हुआ। वहाँ भी छः पर्वतों को पार कर स्वर्ण-पार्श्व पर्वत के ऊपर चढ़ने की बात प्रकट करते हुए शास्ता ने कहा--

तत्थेव सो उग्हेत्वान वाक्यं
आदात तूणिं च धनुञ्च लुद्दो
वितुरेय्यति सत्त गिरी ब्रहन्ते
सुवण्णपस्सं नाम गिरिं उळारं ॥१८॥

आरुय्ह सेलं भवनं किन्नरानं
ओलोकयी पब्बतपादमूलं
तत्थ अद्दसा मेघसमानवण्णं
निग्रोधराजं अट्ठसहस्सपादं ॥१९॥

तत्थ अद्दसा कुञ्जरं छब्बिसाणं
सब्बसेतं दुप्पसहं परेहि
रक्खन्ति नं अट्ठसहस्सनाग
ईसादन्ता वातजवप्पहारिनो ॥२०॥

तत्थ अद्दसा पोक्खरणिं अदूरे
रम्मं सुतित्थं च महोदिकञ्च
सम्पुप्फितं भमरगणानुचिण्णं
यत्थ हि सो नहायति नागराज ॥२१॥

दिस्वान नागस्स गतिं ठितिं च
वीथिस्स या नहानगतस्स होति
ओपातं आगच्छि अनरियरूपो
पयोजितो चित्तवसानुगाय ॥२२॥

[वहीं उसके कथन को ग्रहणकर उस शिकारी ने तरकश और कमान ले सात पर्वतों के पास पहुँच विचार किया कि इनमें स्वर्ण-पार्श्व-पर्वत कौन सा है? ॥१८॥ उस किन्नरों के भवन शैल पर चढ़ कर उसने पर्वत के नीचे देखा। वहाँ उसे मेघ के समान वर्ण वाला, आठ हजार जड़ों वाला, न्यग्रोध वृक्ष दिखाई दिया ॥१९॥ वहाँ उसने छः दांतों वाले नाग को देखा, जो सर्वश्वेत था, जिसे दूसरे दबा न सकें और वायु-वेग को प्रहार देने वाले, रथ की धुरी सदृश दांतों वाले आठ हजार हाथी जिसकी रक्षा करते थे ॥२०॥

उससे थोड़ी दूर पर पुष्करिणी दिखाई दी, जो रमणीय थी, जो सुतीर्थ थी, जिसमें बहुत सा जल था, जो सुपुष्पित थी, जो भ्रमरों से घिरी थीं और जहाँ नागराज स्नान करता था ॥२१॥ यह देखकर कि हाथी कहाँ ठहरता है और स्नान करने के बाद किस रास्ते चलता है, चित्त के वशीभूत हुई उस सुभद्रा द्वारा प्रेरित शिकारी ने गढ़ा खोदा ॥२२॥

क्रमानुकूल कथा इस प्रकार है। उस शिकारी ने सात वर्ष, सात महीने तथा सात दिन में बोधिसत्व के निवास स्थान पर पहुँच, उक्त प्रकार से उसके निवास स्थान का विचार कर सोचा कि यहाँ गढ़ा खोदने से, उस गढ़े में खड़े हो कर हस्ति-राज को बींध कर उसका प्राणान्त कर दे सकूँगा। यह सोच उसने जंगल में प्रवेश किया और खम्भों आदि के लिए वृक्षों को काटा। फिर अपेक्षित चीजें जुटा, जिस समय हाथी नहाने के लिए गए हुए थे, उसके स्थान की जगह पर महा-कुदाल से चौकोर गढ़ा खोदा। उस पर बीज बोने की तरह खोदी हुई भूमि को पानी पर बिखेर, ऊखल के पत्थरों के ऊपर स्तम्भ खड़े कर, उन पर शहतीर और उनके ऊपर पटड़े रख, बीच में कण्डे जैसे छेद छोड़, उस पर मिट्टी तथा कूड़ा-करकट डाला। फिर एक ओर अपने घुसने की जगह बनाई। इस प्रकार गढ़ा तैयार हो चुकने पर उसने प्रातःकाल ही सिर मुंह ढंका और काषाय वस्त्र धारण कर वह जहर-बुझा तीर तथा धनुष ले गढ़े में उतर कर खड़ा हुआ।

उस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने—

कत्वान कासुं फलकेहि छादयि
अत्तानं ओधाव धनुं च लुद्दो
पस्सागतं पुथुसल्लेन नागं
समप्पयी दुक्कतकम्मकारि ॥२३॥

विद्धो च नागो कोञ्चं अनादि घोरं
सब्बेव नागा निन्नदुं घोररूपं
तिणञ्च कट्ठञ्च चुण्णं करोन्ता
धाविंसु ते अट्ठदिसा समन्ततो ॥२४॥

वधिस्सं एतं ति परामसन्तो
कासावं अद्दक्खि धजं इसीनं
दुक्खेन फुट्ठस्स उदपादि सञ्ञा
अरहद्धजो सब्भि अवज्झरूपो ॥२५॥

[गढ़ा खोद कर उसे फलकों से ढका और अपने आपको तथा धनुष को उसमें छिपा कर उस दुष्कृत करने वाले शिकारी ने पार्श्व में आए हुए हाथी को बड़े शल्य से बींध दिया ॥२३॥ हाथी ने तीर से बिंधने पर घोर शब्द किया। सभी दूसरे हाथियों ने बड़ी जोर से चिंघाड़े लगाईं। सभी हाथी तृण और काष्ठ को चूर्ण-विचूर्ण करते हुए चारों ओर भाग खड़े हुए ॥२४॥ शत्रु का बध कर डालने का विचार करते समय उसने ऋषि-ध्वजा काषाय-वस्त्र को देखा। दुःखवेदना से अभिभूति रहने पर भी उसके मन में विचार आया कि अर्हत-ध्वज धारण करने वाला हर किसी के लिए अबध्य है ॥२५॥]

उसने उससे बातचीत करते हुए दो गाथायें कहीं--

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहेस्सति
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावं अरहति ॥२६॥

[जो काषाय (=चित्त मैल) से बिना मुक्त हुए ही काषात (—वस्त्र) धारण करता है, वह संयम तथा सत्य से दूर होने के कारण काषाय-वस्त्र का अधिकारी नहीं ॥२६॥

यो च वन्तकासावस्स, सीलेसु सुसमाहितो
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावं अरहति ॥२७॥

[जो काषाय (=चित्त मैल) से मुक्त हो कर शील में प्रतिष्ठित होता है, वह संयम तथा सत्य से युक्त व्यक्ति ही काषाय के योग्य होता है ॥२७॥

इतना कह बोधिसत्व ने अपने मन में उसके प्रति किसी भी तरह का वैर-भाव न आते देख कर पूछा--"मित्र! तूने मुझे तीर से क्यों बींधा? अपने स्वार्थ के लिए, अथवा किसी दूसरे की प्रेरणा से?"

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए शास्ता ने--

समप्पितो पुथुसल्लेन नागो
अदुट्ठचित्तो लुद्दकं अज्झभासि
किमत्थि यं किस्स वा सम्म हेतु
ममं वधी कस्स वायं पयोगो ॥२८॥

(बड़े शल्य से बिंधे हाथी ने बिना मन में क्रोध उत्पन्न हुए दिये शिकारी से पूछा—"मित्र ! मुझे किस मतलब से, किस हेतु से अथवा किस की प्रेरणा से मारा है ? ॥२८॥)

उसे उत्तर देते हुए शिकारी ने गाथा कही—

कासिस्स रञ्ञो महेसी भदन्ते
सा पूजिता राजकुले सुभद्दा
[सा] तं अद्दसा सा च ममं असंसि
दन्तेहि अत्थो ति च मं अवोच ॥२९॥

(हे भदन्त ! काशी-नरेश की पटरानी है । राज कुल में उसकी प्रतिष्ठा है । नाम है सुभद्रा । उसने तुझे देखा है और उसी ने मुझे यह कह कर कि दांतों की जरूरत है, अनुशासित किया है ॥२९॥)

यह सुन बोधिसत्व ने जाना कि यह चुल्ल सुभद्रा का काम है । उसने वेदना को सहन करते हुए यह प्रकट करने के लिए कि 'उसे मेरे दांतों की अपेक्षा नहीं है, किन्तु मुझे मारने क लिए ही भेजा है' दो गाथाएँ कहीं—

बहू हि मे दन्तयुगा उळारा
ये मे पितुन्नपि पितामहानं
जानाति सा कोधना राजपुत्ती
वधत्थिका वेरमकासी बाला ॥३०॥
उट्ठेहि त्वं लुद्द खरं गहेत्वा
दंते इमं छिन्द पुरा मरामि
वज्जासि तं कोधनं राजपुत्तिं
नागो हता हन्दिमस्स दन्ता ॥३१॥

[मेरे पिताओं तथा पितामहों के दाँतों की यहाँ बहुत सी बड़ी-बड़ी जोड़ियाँ

हैं । इस बात को राजपुत्री भलीभाँति जानती है । उस मूर्खा ने क्रोध के वशी-भूत ही केवल मुझे मरवाने के लिए ही यह वैर किया है ॥३०॥ हे शिकारी ! तू आरी लेकर उठ और मेरे मरने से पहले इन दाँतों को काट ले और इन्हें ले जा कर क्रोध भरी राजपुत्री को कहना कि हाथी मर गया है और यह उसके दांत हैं ॥३१॥

वह उसकी बात सुन जहाँ बैठा था, वहाँ से उठा और दाँत काटने के लिए आरी लेकर उसके पास गया । उसकी ऊँचाई ८८ हाथ की थी । पर्वत के समान हाथ न पहुँच सकने वाली । इसलिए शिकारी उसके दाँतों तक नहीं पहुँच सका । तब बोधिसत्व शरीर को झुका कर, सिर नीचा कर लेट रहा । तब शिकारी बोधिसत्व की चाँदी की जंजीर सदृश सूँड़ का मर्दन करते हुए उस पर चढ़ कर कैलाश-शिखर सदृश सिर पर खड़ा हुआ । वहाँ उसने उसके ओठों को घुटनों से पीट, अन्दर डाल, सिर से उतर आरी को मुँह के अन्दर घुसेड़ा । बोधिसत्व को तीव्र वेदना होने लगी, मुँह लहू से भर गया । शिकारी इधर-उधर करता हुआ आरी से नहीं काट सका । बोधिसत्व मुँह से रक्त छोड़ वेदना को सहन कर पूछा—"मित्र क्या काट नहीं सकता 'स्वामी हाँ, कहने पर बोधिसत्व ने चित्त को स्थिर रखते हुए कहा—"मित्र ! तो मेरी सूंड़ उठा कर उसमें आरी के सिरे को पकड़ाओ मैं स्वयं अपनी सूंड नहीं उठा सकता ।" शिकारी ने वैसा ही किया । बोधिसत्व ने सूंड़ में आरी ले उसे इधर से उधर चलाया । दान्त कोंपल की तरह कट गये ।

उसने दाँत मंगवाये और उन्हें लेकर उसे देते हुए कहा—"मित्र ! मैं ये दाँत तुझे देते हुए इसलिए नहीं दे रहा हूँ कि ये मेरे अप्रिय हैं, और न शक्रत्व, मारत्व अथवा ब्रह्मत्व आदि की प्रार्थना करते हुए ही दे रहा हूँ । किन्तु मैं यह दाँत इसलिए दे रहा हूँ क्योंकि सर्वज्ञाता ज्ञानरूपी दाँत इन दाँतों से लाख दर्जे प्रियतर हैं मेरा यह पुण्य सर्वज्ञाता-ज्ञान की प्राप्ति का हेतु हो" फिर पूछा—

"मित्र ! तू यहाँ कितने समय में पहुँचा ?"

"सात वर्ष, सात महीने और सात दिन में ।"

"जा, इन दाँतों के प्रताप से सात दिन के अन्दर ही पहुँच जायेगा ।"

इस प्रकार उसने उसकी रक्षार्थ प्रार्थना कर उसे विदा किया । उसे विदा

कर चुकने पर अन्य हाथियों तथा सुभद्रा के आने से पहले ही वह मर गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने—

उट्ठाय सो लुद्दो खुरं गहेत्वा
छेत्वान दन्तानि गजुत्तमस्स
वग्गू सुभे अप्पटिमे पथव्या
आदाय पक्कामि ततो हि खिप्पं ॥३२॥

[श्रेष्ठ हाथी के दाँतों को काट कर वह शिकारी आरी लेकर उठा और शीघ्र ही दाँतों को लिए पृथ्वी में अतुलनीय सुन्दरी के पास पहुँचा ॥३२॥]

उसके चले जाने पर हाथी अपने शत्रु को न देख वापिस लौट आये।

उस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने—

भयट्टिता नागवधेन अट्टा
ये ते नागाअट्ठ दिसा विधावुं
अदिस्व पोसं गजपच्चमित्तं
पच्चागमुं येन सो नागराज ॥३३॥

(हाथी के बींधे जाने से दुःखित और भयत्रस्त हो कर जो हाथी आठ दिशाओं में दौड़े थे वे, जब उन्हें कोई हाथियों का शत्रु नहीं दिखाई दिया तो वे हाथी के पास लौट आये ॥३३॥)

उनके साथ सुभद्रा भी आई। वे सब वहीं रो पीट कर बोधिसत्व के विश्वस्त प्रत्येक-बुद्धों के पास गये और बोले—"भन्ते ! आपकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला जाता विषैले तीर से बींधा जाकर मर गया। उसके शव को देखने के लिए आयें।" पाँच सौ प्रत्येक-बुद्ध आकाश में आकर आंगन में उतरे। उसी समय दो तरुण हाथियों ने नागराज के शरीर को दान्तों से उठा प्रत्येक-बुद्धों की वन्दना कराई और चिता पर रख कर जला दिया। प्रत्येक-बुद्धों ने रात भर चिता के पास सूत्र-पाठ किया। आठ हजार हाथी चिता को बुझा कर, स्नान कर और सुभद्रा को आगे कर अपने-अपने निवास स्थान को लौट आये।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने—

ते तत्व कन्दित्वा रोदित्व नागा
सीसे सके पंसुकं ओकिरित्वा
अगमंसु ते सब्बे सकं निकेतं
पुरक्खत्वा महेसिं सब्बभद्दं

(वे हाथी रो-पीट कर तथा अपने सिर पर धूली उठा कर सुभद्रा पटरानी को आगे कर सभी अपने-अपने घर गये ॥३४॥)

सोणुत्तर ने भी सातवें दिन से पहले ही दान्तों को लेकर वाराणसी में प्रवेश किया।

उस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने—

अदाय दन्तानि गजुत्तमस्स
वग्गू सुभे अप्पटिमे पथव्या
सुवण्णराजीहि समन्तमोदरे
सो लुद्दको कासिपुरं उपागमि
उपनेसि सो राजकञ्ञाय दन्ते
नागो हतो, हन्द इमस्स दन्ता ॥३५॥

(श्रेष्ठ हाथी के दांतों को पृथ्वी में अनुपम सुन्दरी के पास ले गया, स्वर्ण रश्मि को चारों ओर फैलाते हुए। उस शिकारी ने काशी नगर पहुँच कर राजकुमारी को दांत दिए और बोला––'हाथी मर गया, यह उसके दांत हैं।' ॥३५॥

इन्हें ले जाकर मेरे मरने की सूचना देते हुए कहना 'आर्ये तुम्हारे मन में जिसका अल्प-मात्र द्वेष है उस हाथी को मैंने मार दिया।'

उसने उसे दांत दिए और कहा––'वह मर गया यह उसके दांत हैं।' उसने बोधिसत्व के छः वर्ण की रश्मियों वाले दांतों को मणि के पंखे पर लिया और छाती पर रख कर अपने पूर्व-जन्म के प्रिय स्वामी के दांतों को देखने लगी। उसने सोचा 'कि इस प्रकार के सौभाग्यवान हाथी को विषैले शल्य से जान से मार कर दांतों को काट कर लाया है ! वह बोधिसत्व को याद करने लगी और उत्पन्न शोक को न सह सकी। वहीं उसका हृदय फट गया। वह उसी दिन मर गई।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने--

दिस्वान दन्तामि गजुत्तमस्स
भत्तु,प्पियस्स पुरिमाय जातिया
तत्थेव तस्सा हदयं अफालि
तेनेवसा कालं अकासि बाला ।।३६।।
सम्बोधिपत्तोव महानुभाव
सितं अकासि परिसाय मज्झे
पुच्छिंसु भिक्खू सुविमुत्तचित्ता
नाकारणे पातुकरन्ति बुद्धा ।।३७।।
यं अद्दसाथ दहरिं कुमारिं
कासाय वत्थं अनगारियं चरन्तिं
साखोतदा राजकञ्ञा अहोसीं
अहं तदा नागराजा अहोसिं ।।३८।।
आदाय दन्तानि गजुत्तमस्स
वग्गू सुभे अप्पटिमे पथव्या
यो लुद्दको कासीपुरं उपागमि
सो खो सदा देवदत्तो अहोसि ।।३९।।
अनावसूरं चिररत्तसंसितं
उच्चावचं चरितं इदं पुराणं
वीतद्दरो वीतसोको विसल्लो
सयं अभिञ्ञाय अभासि बुद्धो ।।४०।।
अहं वो तेन कालेन अहोसिं तत्थ भिक्खवो
नागराजा तदाह सिं एवं धारेथ जातकं ।।४१।।

[अपने पूर्व जन्म के प्रिय स्वामी श्रेष्ठ हाथी के दाँतों को देखने से वहीं उसका हृदय फट गया और वह मूर्खा वहीं मर गई। सम्बोधि प्राप्त महा प्रतापवान (बुद्ध) परिषद के बीच में मुस्कराए। मुक्त चित्त भिक्षुओं ने पूछा कि बुद्ध कभी अकारण नहीं मुस्कराते ।।३६-३७।।

[जिस छोटी कुमारी को तुम काशाय वस्त्र धारण किए अनगारिका हो

घूमते देखते हो, वह उस समय राजकन्या थी और मैं उस समय हस्तिराज था। जो शिकारी श्रेष्ठ हाथी के दाँतों को पृथ्वी की अनुपम सुन्दरी के पास ले गया, और काशी नगर पहुँचा वह उस समय देवदत्त था चिर काल तक आचरित ऊँचे-नीचे पूर्व-जन्म के कर्म को याद कर के दुःखरहित, शोक-रहित तथा सल्यरहित बुद्ध ने स्वयं जान कर कहा। भिक्षुओं मैं उस समय हस्तिराज था। इस जातक को इस प्रकार धारण करें ॥३८-४१॥

यह गाथाएँ दसबल (बुद्ध) का गुणानुवाद करने वाले, धर्म की संगायना करने वाले स्थविरों द्वारा रक्खी गई हैं।

इस धर्मदेशना को सुन कर बहुत से लोग स्रोतापन्न आदि हो गए। किन्तु वह भिक्षुणी पीछे विदर्शणा भावना का अभ्यास कर अर्हत्व को प्राप्त हुई।

⊙

५१५. सम्भव जातक

"रज्जं च पटिपन्नस्मा........" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय प्रज्ञा-पारमिता के बारे में कही । वर्तमान कथा महाउम्मग्ग जातक[1] में आयेगी ।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कुरु राष्ट्र के इन्द्रप्रस्थ नगर में धनंजय कोरव्य नाम का राजा राज्य करता था । उसका सुचीरत नाम का ब्राह्मण पुरोहित अर्थ-धर्मानु-शासक था । राजा दानादि, पुण्य करता हुआ धर्म से राज्य चलाता था । एक दिन उसने धर्मयज्ञ नामक प्रश्न मन में सोच सुचीरत ब्राह्मण को आसन पर बिठा, सत्कार कर के प्रश्न पूछते हुए चार गाथाएँ कहीं—

रज्जं च पटिपन्नस्मा अधिपच्चं सुचीरत
महत्तं पत्तुं इच्छामि विजेतुं पठविमिमं ॥१॥
धम्मेन नो अधम्मेन अधम्मो मे न सुचीरत
किच्चोव धम्मो चरितो रञ्ञो होति सुचीरत ॥२॥
इध चेवानिन्दिता येन पेच्च येन अनिन्दिता
यसं देवमनुस्सेसु येन पप्पोम ब्राह्मण ॥३॥
योहं अत्थं च धम्मं च कत्तुं इच्छामि ब्राह्मण
तं त्वं अत्थं च धम्मं च
ब्राह्मण अक्खाहि पुच्छितो ॥४॥

[हे सुचीरत ! मुझे (इन्द्रप्रस्थ नगर का) राज्य प्राप्त है और (कुरु राष्ट्र में) आधिपत्य भी प्राप्त है । अब मैं इस सारी पृथ्वी को जीतने के लिए महत्व

१. महाउम्मग्ग जातक (५४६) ।

प्राप्त करना चाहता हूँ ॥१॥ मैं यह कार्य धर्म से ही करना चाहता हूँ, अधर्म से नहीं, अधर्म मुझे अच्छा नहीं लगता। हे सुचीरत ! राजा का धर्माचरण ही लोगों के लिए अनुकरणीय होता है ॥२॥ हे ब्राह्मण ! मैं वह कर्म करना चाहता हूं जिससे यहाँ भी अनिन्दित रहूँ और भविष्य में भी अनिन्द्रित रहूँ, तथा देव मनुष्यों में यश लाभ करूँ ॥३॥ हे ब्राह्मण ! मैं अर्थ और धर्म करना चाहता हूँ, इसलिए हे ब्राह्मण, पूछे जाने पर तुम मुझे अर्थ और धर्म कहो ॥४॥

यह प्रश्न गम्भीर है, बुद्ध का ही विषय है। यह प्रश्न केवल सर्वज्ञ बुद्ध से ही पूछा जाना चाहिए। उनके न रहने पर सर्वज्ञता की खोज में लगे हुए बोधिसत्व से। सुचीरत बोधिसत्व न होने के कारण प्रश्न का उत्तर न दे सकता था। उसने पांडित्य का झूठा अभिमान न दिखा अपने असामर्थ्य को प्रकट करते हुए गाथा कही--

नाञ्ञत्र विधुरा राज एतद् अक्खातुं अरहति
यं त्वं अत्थं च धम्मं च
कत्तुं इच्छसि खत्तिय ॥५॥

[हे राजन् ! हे क्षत्रिय ! तू जो अर्थ और धर्म करना चाहता है, वह बिदुर के अतिरिक्त और कोई नहीं कह सकता ॥५॥]

राजा ने उसकी बात सुनी तो कहा—"ब्राह्मण ! तू शीघ्र ही उसके पास जा।" उसने उसे भेंट दे कर भेजने की इच्छा से गाथा कही—

एहि खो पहितो गच्छ विधुरस्स उपन्तिकं
निक्खं इमं सुवण्णस्स हरे गच्छ सुचीरत
अभिहारं इमं दज्जा अत्थधम्मानुसत्थिया ॥६॥

[हे सुचीरत ! आ ! मैं तुझे भेजता हूँ। तू विधुर (विदुर) के पास जा। यह स्वर्ण के निकष ले जा। इसे अर्थ-धर्मानुशासक को भेंट स्वरूप देना ॥६॥]

यह कह प्रश्न का समाधान लिखने के लिए, लाख के मूल्य का स्वर्ण-पट्ट, जाने के लिए यान, साथ के लिए सेना और वह भेंट दे कर उसे उसी क्षण भेजा। वह इन्द्रप्रस्थ नगर से निकल, सीधा वाराणसी ही नहीं गया। जहाँ-जहाँ पण्डित रहते थे, उन सब जगहों पर जाकर, जब उसे सारे जम्बुद्वीप

में कोई भी प्रश्नों का समाधान करने वाला नहीं मिला, तो क्रमशः वाराणसी पहुँच, एक जगह रहने लगा। कुछ दिनों में प्रातराश करने के समय विधुर के घर पहुँच, आने की सूचना भिजवाई। जब उसने बुलवाया तो सुचीरत ने देखा कि वह अपने घर में भोजन कर रहा है।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने सातवीं गाथा कही—

> स्वाधिप्पा भारद्वाजो विधुरस्स उपन्तिकं
> तं अद्दस महाब्रह्मा असमानं सके घरे ॥७॥

[भारद्वाज विधुर के पास गया। उसने देखा कि महा-ब्रह्मा अपने घर में भोजन कर रहा है ॥७॥]

वह उसका लंगोटिया यार था। दोनों ने एक ही आचार्य के पास विद्या सीखी थी। इसलिए दोनों ने साथ ही भोजन किया। खाना समाप्त कर आराम से बैठे होने पर उसने पूछा—"मित्र ! कैसे आये?" उसने आने के कारण बताते हुए आठवीं गाथा कही—

> रञ्ञो हं पहितो दूतो कोरब्यस्स यसस्सिनो,
> अत्थं धम्मं च पुच्छेसि इच्चब्रवि युधिट्ठिलो,
> तं त्वं अत्थं च धम्मं च
> [विदुरक्खाहि पुच्छितो ॥८॥

[मैं यशस्वी कौरव्य राजा द्वारा भेजा गया दूत हूँ। उस युधिष्ठिर राजा ने मुझसे अर्थ और धर्म पूछा। हे विधुर ! वह अर्थ और धर्म मैं तुमसे पूछता हूँ। हे विधुर ! पूछे जाने पर तुम कहो ॥८॥

उस समय वह ब्राह्मण जनता के चित्त को प्रसन्न करने के लिए गंगा को ढकने की तरह मुकदमों का विचार करता था। उसे प्रश्न का समाधान करने का अवकाश नहीं था। उसने उस अर्थ को प्रकाशित करते हुए नवीं गाथा कही—

> गंगं मे पिदहिस्सन्ति न तं सक्कोमि ब्राह्मण
> अपिधेतुं महासिन्धुं तं कथं सो भविस्सति,
> न ते सक्कोमि अक्खातुं
> अत्थं धम्मं च पुच्छितो ॥९॥

[हे ब्राह्मण ! जनता के नाना प्रकार के चित्त रूपी प्रश्नावली की गंगा मुझे ढक देगी । मैं महासमुद्र को नहीं उघाड़ सकता हूँ । यह कैसे हो सकेगा इसलिए जो अर्थ और धर्म तुमने पूछा है, मैं वह तुमको नहीं कह सकता ।।९।।

यह कह उसने--"मेरा पुत्र पंडित है और मेरी अपेक्षा अधिक ज्ञानी है । वह तुम्हें प्रकट करेगा । उसके पास जाओ" कह दसवीं गाथा कही--

भद्रकारो च मे पुत्तो ओरसो मम अत्रजो,
तं त्वं अत्थं च धम्मं च
गन्त्वा पुच्छस्सु ब्राह्मण ।।१०।।

[मेरा आत्मजात उर से उत्पन्न भद्रकार पुत्र श्रेष्ठ है । हे ब्राह्मण ! तू जा कर उससे अर्थ और धर्म पूछ ।।१०।।]

यह सुन सुचीरत विधुर के घर से निकला । जिस समय भद्रकार खा-पी कर अपनी मंडली के बीच में बैठा था, उस समय वह उसके घर में गया ।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने ग्यारहवीं गाथा कही--

स्वाधिप्पगा भारद्वाजो भद्रकारस्स उपन्तिकं
तं अद्दस महाब्रह्मा निसिन्नं सम्हि वेसमनि ।।११।।

[वह भारद्वाज भद्रकार के पास गया । उस महाब्राह्मण ने उसे अपने घर में बैठे देखा ।।११।।

उसने वहाँ पहुँच भद्रकार माणवक द्वारा आसन पर बिठाने आदि का सत्कार किए जाने पर, बैठ कर आने का कारण पूछने पर बारहवीं गाथा कही--

रञ्ञोहं पहितो दूतो कोरव्यस्स यसस्सिनो
अत्थं धम्मं च पुच्छेसि इच्चब्रवी युधिट्ठिलो
तं त्व अत्थं च धम्मं च
भद्रकार व्रावीहि मे ।।१२।।

[मैं यशस्वी कौरव्य द्वारा भेजा गया दूत हूँ । उस युधिष्ठिर राजा ने मुझसे अर्थ और धर्म पूछा । हे भद्रकार ! यह अर्थ और धर्म मैं तुमसे पूछता हूँ । हे भद्रकार ! पूछे जाने पर तुम कहो ।।१२।।

भद्रकार ने उत्तर दिया--'तात इन दिनों मैं परस्त्री-गमन में लगा हुआ हूँ। इसलिए मेरा चित्त व्याकुल है। मैं तेरा समाधान न कर सकूँगा। मेरा छोटा भाई संजयकुमार मेरी अपेक्षा अधिक ज्ञानी है। उससे पूछ। वह तेरे प्रश्न का समाधान करेगा।" उसके पास भेजने के लिए दो गाथाएँ कहीं—

मंसकाचं अवहाय गोधं अनुपतां अहं
न ते सक्कोमि अक्खातुं अत्थं धम्मं च पुच्छितो ॥१३॥
संजयो नाम मे भाता कनिट्ठो मे सुचीरत
तं त्वं अत्थं च धम्मं च
गन्त्वा पुच्छस्सु ब्राह्मण ॥१४॥

[मैं अपने घर में रहने वाली स्त्री को छोड़ कर उसी प्रकार पराई स्त्री के पास जाता हूँ जिस प्रकार कोई मृग के मांस को छोड़ कर गोह के पीछे जाए। इसलिए मैं तुम्हें अर्थ और धर्म नहीं कह सकता हूँ ॥१३॥ हे सुचीरत! मेरा संजय नाम का छोटा भाई है। हे ब्राह्मण तू जा कर उससे अर्थ और धर्म पूछ ॥१४॥]

वह उसी क्षण संजय के घर पहुँचा और उसके द्वारा सत्कृत हो आने का कारण पूछे जाने पर बोला।

उस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने दो गाथाएँ कहीं—

स्वाधिप्पगा भारद्वाजो संजयस्स उपन्तिकं
तम अद्दस्सा महाब्रह्मा निसिन्नं सम्हि परोसति ॥१५॥
रञ्ञो हं पहितो दूतो कोरव्यस्स यसस्सिनो
अत्थं धम्मं च पुच्छेसि इच्चब्रवी युधिट्ठिलो
तं त्वं अत्थं च धम्मं च सञ्जय अक्खाहि पुच्छितो ॥१६॥

[वह संजय के पास गया। उस महाब्राह्मण ने उसे अपनी परिषद में बैठे देखा ॥१५॥ मैं यशस्वी कौरव्य द्वारा भेजा गया दूत हूँ। उस युधिष्ठिर राजा ने मुझसे अर्थ और धर्म पूछा। हे संजय! यह अर्थ और धर्म मैं तुमसे पूछता हूँ। हे संजय! पूछे जाने पर तुम कहो ॥१६॥

संजय कुमार भी उस समय परस्त्री गमन ही करता था। वह बोला—"तात! मैं परस्त्री गमन करता हूँ और परस्त्री गमन करता हुआ गंगा पार कर उस किनारे जाता हूं। ऐसा करते हुए सायं-प्रातः मुझे मानो मृत्यु निगलती है, उससे मेरा चित्त व्याकुल रहता है। मैं तेरा समाधान न कर सकूंगा। मेरा छोटा भाई है। नाम संभवकुमार। आयु के केवल सात वर्ष का होने पर भी मेरी अपेक्षा सौ गुना, हजार गुना अधिक ज्ञान वाला है। वह तुझे कहेगा। जा, उससे पूछा।"

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने दो गाथाएँ कहीं—

सदा मं गिलति मच्चु सायं पातो सुचीरतो
न चे सक्कोमि अक्खातुं अत्थं च धम्मं पुच्छितो ॥१७॥
संभवो नाम मे भाता कनिट्ठो मे सुचीरतो
तं त्वं अत्थं च धम्मं च
गन्त्वा पुच्छस्सु ब्राह्मण ॥१८॥

[सुचीरत! मुझे सायं-प्रातः सदा मृत्यु निगलती है। मैं पूछे जाने पर तुम्हें अर्थ और धर्म नहीं बता सकता। ॥१७॥ हे सुचीरत! सम्भव नाम का मेरा छोटा भाई है, हे ब्राह्मण! तू उसके पास जा और धर्म तथा अर्थ पूछ ॥१८॥]

यह सुन सुचीरत सोचने लगा—"इस लोक में यह प्रश्न शायद अद्भुत है। ऐसा लगता है कि इस प्रश्न का समाधान कर सकने वाला कोई नहीं है"। यह सोच उसने दो गाथाएँ कहीं—

अब्भुतो वत भो धम्मो, नायं अस्माक रुच्चति,
तयो जना पिता पुत्ता ते सु पञ्ञाय नो विदु ॥१९॥
न तं सक्कोथ अक्खातुं अत्थं धम्मं च पुच्छिता
कथं नु दहरो जञ्ञा अत्थं धम्मं च पुच्छितो ॥२०॥

[यह धर्म अद्भुत है। (तुम इसे कह सकोगे) यह बात हमें रुचिकर नहीं लगती। पिता और (दो) पुत्र--तीनों जन भी इसे अपनी प्रज्ञा से नहीं

जानते थे। वे पूछने पर अर्थ और धर्म को नहीं कह सके। पूछे जाने पर बालक अर्थ और धर्म को कैसे जानेगा ? ॥२०॥]

यह सुन संजय कुमार बोला—"तात ! सम्भव कुमार को बालक मत समझो। यदि और कोई प्रश्नों का समाधान नहीं ही कर सकता तो जाकर उससे पूछो।" उस अर्थ को व्यक्त करने वाली उपमाओं द्वारा कुमार का गुणानुबाद करते हुए बारह गाथाएँ कहीं—

मा नं दहरों ति मञ्ञासि अपुच्छित्वान सम्भवं
पुच्छित्वा सम्भवं जञ्ञा
अत्थं धम्मं च ब्राह्मण ॥२१॥
यथापि चन्दो विमलो गच्छं आकास धातुया
सब्बे तारागणे लोके आभाय अतिरोचति ॥२२॥
एवं पि दहरूपेतो पञ्ञायोगेन सम्भवो
मा नं दहरोति मञ्ञासि अपुच्छित्वान सम्भवो
पुच्छित्वा सम्भवं जञ्ञा
अत्थं धम्मं च ब्राह्मण ॥२३॥
यथापि रम्भको मासो गिम्हानं होति ब्राह्मण
अतेव अञ्ञेहि मासेहि दुमपुप्फेहि सोभति ॥२४॥
एवं पि दहरूपेते........८८........॥२५॥
यथापि हिमवा ब्रह्मे पब्बतो गन्धमादनो
नाना रुक्खेहि सञ्छन्नो महाभूत गणालयो
ओसधेहि च दिब्बेहि दिसा भाति पवाति च ॥२६॥
एवंपि दहरूपेतो......................॥२७॥
यथापि पावको ब्रह्मे अच्चिमाली यसस्सिमा
जालमानो चरं कच्छे अनलो कण्हवत्तनी ॥२८॥
घतासनो धूमकेतु उत्तमाहेवनन्दहो
निसीथे पब्बतग्गस्मिं पहूतेधो विरोचति ॥२९॥
एवं पि दहरूपेतो.................॥३०॥
जवेन भद्रं जानन्ति बलिवद्दं च वाहिये

दोहेन धेनुं जानन्ति भासमानं च पण्डितं ॥३१॥
एवं पि दहरूपेतो पञ्ञायोगेन सम्भवो
मा नं दहरोति मञ्ञसि अपुच्छित्वान सम्भवं
पुच्छित्वा सम्भवं अञ्ञा
अत्थं धम्मं च ब्राह्मण ॥३२॥

[बिना पूछे तुम सम्भव को 'बालक' मत समझो । 'सम्भव' को पूछने से ही हे ब्राह्मण ! तुम अर्थ और धर्म का ज्ञान प्राप्त कर सकोगे ॥२१॥ जिस प्रकार आकाशगामी विमल चन्द्रमा अपनी प्रभा से सभी तारागणों को निस्तेज कर देता है, उसी प्रकार 'बालक' होता हुआ भी 'सम्भव' प्रज्ञा से युक्त है । बिना पूछे... कर सकोगे ॥२२-२३॥ जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु का चैत्र महीना अन्य महीनों की अपेक्षा और पुष्पों के द्वारा विशेष रूप से सुशोभित होता है, उसी प्रकार बालक होता हुआ भी 'सम्भव'.. कर सकोगे ॥२४-२५॥ हे ब्राह्मण ! नाना प्रकार के वृक्षों से आच्छादित और नाना प्रकार के प्राणियों का निवास स्थान गन्धमादन पर्वत जिस प्रकार सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है तथा व्याप्त करता है, उसी प्रकार... ॥२६-२७॥ हे ब्राह्मण ! जिस प्रकार अर्चिमान, यशस्विनी, कच्छवन को जलायी जाने वाली, कृष्ण-वर्तिनी, घृताशन, धूम्रकेतु, उत्तम बन का दहन करने वाली तथा बहुत ईंधन को जलाने वाली अग्नि रात्रि के समय पर्वत-शिखर पर चमकती है, उसी प्रकार .. ॥२८-२९॥ वेग के अच्छे घोड़े का पता लगता है, भार ढोने की सामर्थ्य से अच्छे बैल का, दुहने से अच्छी गऊ का और भाषण से पण्डित का। इसी प्रकार ॥३१-३२॥]

इस प्रकार 'सम्भव' का गुणानुवाद गाये जाने पर सुचीरत ने सोचा कि प्रश्न पूछ कर जानूँगा । उसने पूछा—"तुम्हारा छोटा कुमार कहाँ है ?" उसने खिड़की खोल, हाथ से दिखाते हुए उत्तर दिया—'यह जो स्वर्ण-वर्ण महल के दरवाजे पर गली में लड़कों के साथ खेल रहा है, वही मेरा छोटा (कुमार) है, उसके पास जा कर पूछो । वह बुद्ध-लीला से तेरे प्रश्नों का समाधान करेगा ।" सुचीरत ने उसकी बात सुनी तो महल से उतर कुमार के पास गया । किस समय ? जिस समय कुमार ने अपने पहने हुए कपड़े उतार कर कंधे पर रखे थे और दोनों हाथों में बालू थी, उस समय ।

इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए शास्ता ने--

स्वाधिप्पगा भारद्वाजो सम्वभस्स उपन्तिकं
तं अद्दस महाब्रह्मा कीळमानं बही पुरे ॥३३॥

[भारद्वाज सम्भव के पास पहुंचा महाब्राह्मण ने उसे नगर के बाहर खेलता हुआ देखा ॥३३॥"]

बोधिसत्व ने भी ब्राह्मण को सामने आया खड़ा देखा तो पूछा—"तात ! क्यों आया ?"

"तात कुमार ! सारे जम्बुद्वीप में घूमने पर भी जब मुझे कोई अपने प्रश्न का उत्तर देने वाला नहीं मिला, तब तेरे पास आया हूँ ।"

कुमार ने यह समझ कि 'समस्त जम्बुद्वीप में जिस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला, उसे पूछने के लिए मेरे पास आया है, मैं ज्ञान-वृद्ध हूँ, लाज-शरम धारण कर हाथ की बालू फेंक दी और कंधे से वस्त्र उतार कर पहन लिया। फिर सर्वज्ञ की तरह निमंत्रण दिया—"ब्राह्मण ! पूछ। बुद्ध-लीला से तुझे उत्तर दूंगा ।"

तब ब्राह्मण ने 'गाथा' में प्रश्न पूछा--

रञ्ञोहं पहितो दूतो कोरब्यस्स यसस्सिनो,
अत्थं धम्मं च पुच्छस्सु इच्चब्रवि युधिट्ठिलो,
तं त्वं अत्थं च धम्मं च
सम्भव अक्खाहि पुच्छितो ॥३४॥

[मैं यशस्वी कौरव्य राजा द्वारा भेजा गया दूत हूँ। उस युधिष्ठिर राजा ने मुझसे अर्थ और धर्म पूछा है। हे सम्भव ! वह अर्थ और धर्म मैं तुमसे पूछता हूँ। हे सम्भव ! पूछे जाने पर तुम कहो ॥३४॥]

सम्भव पंडित को इसका अर्थ वैसे ही प्रकट था, जैसे गगन-मंडल में पूर्ण चन्द्रमा। उसने "तो सुन" कह धर्म-यज्ञ संबंधी प्रश्न का उत्तर देते हुए गाथा कही—

तग्घ ते अहं अक्खिस्सं यथापि कुसलो तथा
राजा च खो नं जानाति यदि काहति वा न वा ॥३५॥

[निश्चय से जिस प्रकार कुशल (=बुद्ध) कहते उसी प्रकार मैं भी कहूँगा। और जिस तरह से तुम्हारा राजा समझ जाए उस तरह से कहूँगा। इससे आगे तुम्हारा राजा तदनुसार आचरण करता है वा नहीं, यह वही जाने ॥३५॥]

उसने गली में खड़े होकर मधुर स्वर से जो धर्मोपदेश दिया उसका शब्द बारह योजन की सारी वाराणसी नगरी में फ़ैल गया। राजा और उपराजा आदि सभी इकट्ठे हो गये। बोधिसत्व ने जनता के बीच में धर्म-देशना स्थापित की।

इस प्रकार गाथा द्वारा प्रश्न के बारे में कह कर आगे धर्म-यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा --

> अज्ज सुवेति संसेय्य रञ्ञा पुट्ठो सुचीरत
> मा कत्वा अवसी राजा अत्थे जाते युधिट्ठिलो ॥३६॥
> अज्झत्तं ञेव ससेय्य रञ्ञा पुट्ठो सुचीरत
> कुम्मग्गां न निवेसेय्य यथा मूळहो अचेतसो ॥३७॥
> अत्तानं नातिवत्तेय्य अधम्मं न समाचरे
> अतित्थे नप्पातरेय्य अनत्थे न युतो सिया ॥३८॥
> योच एतानि ठानानि कत्तुं जानाति खात्तियो
> सदा सो वड्ढते राजा सुक्कपक्खे व चन्दिमा ॥३९॥
> ञातीनं च पियो होति मित्तेसु च विरोचति
> कायस्स भेदा सप्पञ्ञो सग्गं सो उपपज्जति ॥४०॥

(हे सुचीरत ! यदि कोई पूछने पर राजा को आज का काम कल करने की सलाह दे तो युधिष्ठिर को चाहिए कि अर्थ के उत्पन्न होने पर आज का काम कल न करे ॥३६॥ हे सुचीरत। संभव है राजा द्वारा पूछे जाने पर कोई अपनी ही अनुशासना करे। राजा को चाहिए कि वह अचेतन मूढ़ आदमी की तरह कुमार्ग-गामी न हो ॥३७॥ सीमा का उल्लंघन न कर, अधर्म आचरण न करे, अतीर्थ में न उतरे, और अनर्थ से युक्त न हो ॥३८॥ जो क्षत्रिय इन बातों के अनुसार आचरण करना जानता है, शुक्ल-पक्ष चन्द्रमा के समान उसकी सदा वृद्धि होती है ॥३९॥ वह अपने सम्बन्धियों का प्रिय

बनता हूँ, मित्रों में प्रकाशित होता है और वह बुद्धिमान शरीरान्त होने पर स्वर्ग में उत्पन्न होता है ॥४०॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने आकाश में चन्द्रमा को उदय करने के समान बुद्ध-लीला से ब्राह्मण के प्रश्नों का उत्तर दिया। जनता ने प्रसन्न होते हुए, शोर मचाते हुए, बजाते हुए, हजारों साधुकार दिए, वस्त्रों को फेंका और अंगुलियों को चटकाया, तथा हाथों के गहने फेंके। इस प्रकार फेंका गया धन करोड़ का हो गया। राजा ने भी प्रसन्न हो कर उसे बहुत ऐश्वर्य दिया। सुचीरत ने भी हजार निकष से पूजा कर सोने की तख्ती पर सिन्दूर से प्रश्नों का उत्तर लिख इन्द्रप्रस्थ नगर जा राजा के धर्म-यज्ञ सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर दिया। राजा ने उस धर्म के अनुसार चल स्वर्ग लाभ किया।

शास्ता ने यह धर्म देशना ला, "भिक्षुओं, तथागत न केवल अभी महा-प्रज्ञावान हैं, किन्तु पहले भी, महाप्रज्ञावान ही थे" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय धनंजय राजा आनंद था, सुचीरत अनुरुद्ध, विधुर काश्यप, भद्रकार मौद्गल्यायन, संजय माणवक सारिपुत्र और संभव पंडित तो मैं ही था।

⊙

५१६. महाकपि जातक

"वाराणस्सं अहू राजा...." यह शास्ता ने वेळुवन में विहार करते समय देवदत्त के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

देवदत्त ने धनुर्धारियों को भेजा और फिर आगे चल कर शिला फिकवाई। भिक्षु देवदत्त की निन्दा कर रहे थे। शास्ता ने 'भिक्षुओं, न केवल अभी किन्तु देवदत्त ने पहले भी मुझ पर शिला फिकवाई ही है' कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय काशी-ग्राम में एक कृषक-ब्राह्मण ने हल चलाया। फिर बैलों को छोड़ फावड़ा चलाने लगा। बैल एक झाड़ी के पत्ते खाते-खाते क्रमश: जंगल में घुसकर भाग गये। उसने समय की ओर ध्यान दे कुदाल छोड़ी और बैलों को देखने पर जब वे न दिखाई दिए तो दु:खी हो उन्हें खोजता हुआ जंगल में घुसा। वहाँ घूमते-घूमते हिमवन्त प्रदेश में जा निकला। वह वहाँ रास्ता भटक गया। और सप्ताह भर बिना खाये-पिये इधर-उधर घूमते हुए उसे एक तिन्दुक वृक्ष मिला। उसने उस पर चढ़ कर फल खाने आरम्भ किये। उसका पैर फिसला और वह साठ हाथ नीचे प्रपात में जा गिरा। वहाँ वह दस दिन पड़ा रहा।

उस समय बोधिसत्व वानर की योनि में पैदा हुए थे। उसने फलाफल खाते हुए उस आदमी को देख, शिलाओं को जोड़ उस आदमी का उद्धार किया। उसने बंदर के सोते रहने पर उसके सिर पर पत्थर फेंका। बोधिसत्व ने जब यह जाना कि यह उसकी करतूत है तो कूद कर शाखा पर जा बैठा।

और कहा—"हे आदमी ! तू जमीन पर चल मैं पेड़ की शाखाओं पर कूदता हुआ तुझे रास्ता बताता चलूँगा ।" इस प्रकार उसने उस आदमी को जंगल से निकाल मार्गारूढ़ किया और स्वयं पहाड़ पर ही चला गया । उस आदमी ने बोधिसत्व के प्रति अपराध किया था, इसलिए वह कोढ़ी हो कर इसी जन्म में मनुष्य प्रेत हो गया । वह सात वर्ष तक दुःख से पीड़ित हो, घूमते-घूमते वाराणसी के मृगउद्यान में दाखिल हुआ । वहाँ उसने दीवार की ओट में केले का पत्ता बिछाया और वेदना के मारे वहीं पड़ा रहा । उस समय वाराणसी नरेश उद्यान में आया । वहाँ घूमते हुए उसे पड़ा देख उसने पूछा—"तू कौन है और क्या कर के इस दुःख को प्राप्त हुआ है ?" उसने भी उसे सभी विस्तार पूर्वक कहा—

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

वाराणस्सं अहू राजा कासीनं रट्ठवड्ढनो
मित्तामच्चपरिब्बूळहो अगमासि मिगाचिरं ॥१॥
तत्थ ब्राह्मणं अद्दक्खि सेतं चित्रं किलासिनं
विद्धस्तं कुविळारं व किसं धम्मनिसंथतं ॥२॥
परमकारुञ्ञतं पत्तं दिस्वा कच्छगतं नरं
अवच व्यम्हितो राजाः यक्खानं कतमोनुसि ॥३॥
हत्थ पादा च ते सेता, ततो सेततरो सिरो
गत्तं कम्मासवण्णं ते, किलासबहुलो च सि ॥४॥
वट्टनावळिसंकासा पिट्ठि ते निन्नतुन्नता,
काळा पब्बा च ते अंगा नाञ्ञं पस्सामि एदिसं ॥५॥
उग्घट्टपादो तसितो किसो धमनिसन्थतो
छातो आतत्तरूपोसि, कुतो नु त्वं अगच्छसि ॥६॥
दुद्दसी अप्पकारोसि दुब्बण्णो भीमदस्सनो
जनेत्ति यापि ते माता न तं इच्छेय्य पस्सितुं ॥७॥
किं कम्मं अकरा पुब्बे, कं अवज्झं अघातयि
किब्बिसं यं करित्वान इदं दुक्खं उपागयि ॥८॥

(काशी राष्ट्र की वृद्धि करने वाला वाराणसी में एक राजा था । मित्रों तथाभक्तिमान अमात्यों सहित यह मृगाचिरं नामक वन में गया ॥१॥ उसने

वहाँ एक ब्राह्मण देखा जो श्वेत था, चितकबरा था। जिसे खुजली थी। जो सुपुष्पित कुविळार के समान वर्ण के जख्मों से विद्ध्वस्त था। जो दुबला-पतला था तथा जिसका ढाँचा मात्र रह गया था ॥२॥ उस कृश आदमी को देख कर, उस दयालु राजा ने विभ्रमित हो पूछा—'यक्षों में तू कौन है ? तेरे हाथ-पांव श्वेत हैं; सिर उससे भी अधिक श्वेत है, शरीर चितकबरा है, सारे शरीर में कोढ़ है, तेरी पीठ वट्ठनावलि (?) के सदृश ऊँची-नीची है, तेरे अंग काले-काले और पोर-पोर हैं और कोई तेरे सदृश नहीं दिखाई देता, पैरों में धूल है, त्रसित है, तथा पिंजरमात्र है, भूखा है, सूखा शरीर है, तू कहाँ से आया है, दुरदर्शनीय है, बेढंगा है, दुर्वर्ण है, भयानक है, जिस माँ ने तुझे पैदा किया है, वह भी तुझे देखना न चाहेगी, तूने पूर्व-जन्म में कौन-सा कर्म किया, किस निर्दोष का घात किया, और किस निर्दय-कर्म के परिणामस्वरूप तू इस दुःख को प्राप्त हुआ ॥३॥]

तब ब्राह्मण बोला--

तग्घ ते अहं अक्खिस्सं यथापि कुसलो तथा
सच्चवादिं हि लोकस्मिं पसन्सन्ति पण्डिता ॥९॥

[मैं निश्चय से जैसे कुशल (=बुद्ध) कहते वैसे कहूँगा। पण्डित-जन संसार में सत्य बोलने वाले की ही प्रशंसा करते हैं ॥९॥]

एको चरं गोगवेसो मूळ्हो अच्चसरिं वने
अरञ्ञे ईरिणे वने नाना कुञ्जरसेविते ॥१०॥
वाळमिगानचरिते विप्पनट्ठोस्मि कानने
अचरिं तत्थ सत्ताहं खुप्पिपासा समप्पितो ॥११॥
तत्थ तिंदुक अद्दक्खिं विसमट्ठबुभुक्खितो
पपातं अभिलम्बन्तं सम्पन्नफलधारिनं ॥१२॥
वातसीतानि भक्खेसिं, तानि रुच्चिंसु मे भुसं
अतित्तो रुक्खं आरुहिं तत्थ हेस्सामि आसितो ॥१३॥
एकं मे भक्खितं आसि दुतियं अभिपत्थतं
ततो सा भञ्जथ साखा छिन्ना फरसुना विय ॥१४॥

सोहं सहा व साखाहि उद्धपाडो अवं सिरो
अप्पतिटठे अनालम्बे गिरिदुग्गस्मि पापतं ॥१५॥

यस्मा च वारि गम्भीरं तस्सा न सममज्जिसं
तत्थ सेसि निरानन्दो अनूना दस रत्तियो ॥१६॥

अथ एत्थ कपिमागञ्छि गोनंगुलो दरीचरो
साखा हि साखं विचरन्तो खादमानो दुमप्फलं
सो मं दिस्वा किसं पण्डुं कारुञ्ञं अकरं मयि ॥१७॥

अम्भो को नाम सो एत्थ एवं दुक्खेन अट्टितो
मनुस्सो अमनुस्सो वा अत्तानं मे पवेदय ॥१८॥

तस्स अञ्जलिं पणामेत्वा इदं वचनं अब्रवि
मनुस्सो' हं वसं पत्तो, सा मे नत्थि इतोगति,
तं वो वदामि भद्दवो त्वं च मे सरणं भव ॥१९॥

गरुसीलं गहेत्वान विचरि पब्बते कपि
सिलाय योग्गं कत्वान निसभो एतद अब्रवि ॥२०॥

एहि मे पिट्ठिं आरूय्ह गीवं गण्हाहि बाहुहि
अहं तं उद्धरिस्सामि गिरिदुग्गतो वेगसा ॥२१॥

तस्स तं वचनं सुत्वा वानरिवस्स सिरीमतो
पिटिठं आरुय्ह धीरस्स गीवं बाहानि अग्गहिं ॥२२॥

सो मं ततो समुट्ठासि तेजसी बलवा कपि
विहञ्ञमानो किच्छेन गिरि दुग्गतो वेगसा ॥२३॥

उद्धरित्वान मं सन्तो निसभो एतदब्रवि
इङ्घ मं सम्म रक्खस्सु पस्सुपिस्सं महुत्तकं ॥२४॥

सीहव्यग्घा च दीपी च अच्छको कतरच्छयो
ते मं पमत्तं हिंसेय्युं, ते त्वं दिस्वान वारय ॥२५॥

एवे मे परितातून पस्सुपि सो मुहुत्तकं
तदाहं पापिकं दिट्ठिं पटिलच्छिं अयोनिसो ॥२६॥

भक्खो अयं मनुस्सानं यथा च अञ्ञो वने मिगा,
यं नून इमं वधित्वान छातो खादेय्य वानरं ॥२७॥

आसितो च गमिस्सामि मंसं आदाय सम्बलं
कन्तारं नित्थरिस्सामि, पाथेय्यं मे भविस्सति ॥२८॥

ततो सिलं गहेत्वान मत्थकं सन्निताळयि
मम हत्थ किलंतस्स पहारो दुब्बलो अहु ॥२९॥

सो च वेगेन उदप्पत्तो कपि रुहिरमक्खितो
अस्सुपुण्णेहि नेत्तेहि रोदन्तो मं उदिक्खति ॥३०॥

माय्यो मं करि भद्दं ते, त्वं च नामेदिसं करि
त्वं च खो नाम दीघायु अञ्ञं वारेतुं अरहसि ॥३१॥

अहो वत रे पुरिस ताव दुक्करकारक
एदिसा विसमा दुग्गा पपाता उद्धटो मया ॥३२॥

आनीतो परलोका व दुब्भेय्यं मं अमञ्ञथ,
तं तेन पापधम्मेन पापं पापेन चिन्तितं ॥३३॥

मा हेव त्वं अधम्मट्ठ वेदनं कटुकं फुसि
माहेव पापं कम्मंतं फलं वेळुंव तं वधि ॥३४॥

तयि मे नत्थि विस्सासो, पापधम्मं अमञ्ञथ
एहि मे पिट्ठितो गच्छ दिस्समानो व सन्तिके ॥३५॥

मुत्तोसि हत्था वाळानं, पत्तोसि मानुसिं पदं
एस मग्गो अधमट्ठ, तेन गच्छ यथासुखं ॥३६॥

इदं वत्वा गिरिचरो रहदे पक्खल्य मत्थकं
अस्सूनि संयमज्जित्वा ततो पब्बतं आरुहि ॥३७॥

सो हं तेनाभिसत्तोस्मि परिळाहेन अट्टितो
डय्हमानेन गत्तेन वारिं पातुं उपागमिं ॥३८॥

अग्गिना विय सन्तत्तो रहदो रुहिरमक्खितो
पुब्बलोहितसंकासो सब्बो मे समपज्जथ ॥३९॥

यावन्तो उदविन्दूनि कायस्मि निर्वातिसु मे
तावन्तो गण्डू जायेथ अद्धबेलुवसादिसा ॥४०॥
पभिन्ना पग्घरिसु मे कुणपा पुब्बलोहिता
येन येनेव गच्छामि गामेसु निगमेसु च ॥४१॥
दण्डहत्था निवारेन्ति इत्थियो पुरिसा च मं
ओक्किता पूतिगन्धेन मास्सु ओरेन मागमा ॥४२॥
एतादिसं इदं दुक्खं सत्तवस्सानि दानि मे
अनुभोमि सकं कम्मं पुब्बे दुक्कतं अत्तनो ॥४३॥
तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता
मास्सु मित्तानं दुब्भित्थो, मित्तदुब्भो हि पापको ॥४४॥
कुट्ठी किलासी भवति यो मित्तानं इध दुब्भति
कायस्स भेदा मित्तद्दु निरयं सो उपपज्जति ॥४५॥

[खोये हुए बैल को खोजता हुआ मैं नाना प्रकार के हाथियों से सेवित शून्य, एकान्त कान्तार में अकेला ही गया ॥१०॥ वहाँ उस जंगली पशुओं से युक्त कानन में मार्ग भ्रष्ट होकर एक सप्ताह तक मैं भूखा प्यासा भटकता रहा ॥११॥ वहाँ मुझ भूखे को प्रपात की ओर फलधारी तिन्तुक वृक्ष दिखाई दिया ॥१२॥ मैंने वायु के गिराए हुए फल खाये। वे मुझे बहुत अच्छे लगे। मैं अतृप्त हो पेड़ पर चढ़ गया कि वहाँ भर-पेट खाऊँगा ॥१३॥ एक फल मैंने खाया था, दूसरे की इच्छा कर रहा था, तभी वह शाखा टूट गई, मानो कुल्हाड़ी से काटी गई हो ॥१४॥ मैं शाखा सहित सिर, नीचे पैर ऊपर हो, अप्रतिष्ठित, आलम्बन-रहित, गिरि-गह्वर में जा पड़ा ॥१५॥ क्योंकि वहाँ गम्भीर पानी था, इसलिए चोट नहीं लगी। मैं वहाँ दस रात तक आनन्द-रहित पड़ा रहा ॥१६॥ वहाँ जंगल में घूमने वाला एक बन्दर आया, जिसकी पूँछ बैल की पूँछ के सदृश थी। वह वृक्ष के फल खाता हुआ एक शाखा से दूसरी शाखा पर दौड़ रहा था। उसने मुझे कृश और पाण्डु-वर्ण देख मुझ पर दया की और बोला—'हे पुरुष ! तू इस प्रकार यहाँ दुःख भोग रहा है, तेरा क्या नाम है ? तू मनुष्य है, अथवा अमनुष्य है, तू अपने आपको मुझ पर प्रकट कर' ॥१७-१८॥ मैंने उसे हाथ जोड़ कर यह उत्तर दिया मैं मनुष्य हूँ

(दुर्भाग्य के) वश में हूँ। यहाँ से मेरा निस्तार नहीं है। मैं तुझे कहता हूँ। तेरा भला हो। तू मेरा उद्धार कर ॥१९॥ कपि भारी शिलायें ले कर पर्वत में घूमा। उसने शिलाओं को जोड़ कर सीढ़ी बनाई और तब वह कपि बोला। आ मेरी पीठ पर चढ़ और बाहों से मेरी गर्दन पकड़। मैं तुझे शीघ्रता से इस गिरि-गह्वर ये निकालूँगा ॥२०-२१॥ उस श्रीमान वानर का कहना सुन, मैंने उस धैर्य्यवान् वानर की गर्दन को बाँहों से पकड़ा और उसकी पीठ पर चढ़ गया ॥२२॥ उस तेजस्वी बलवान कपि ने मुझे उस गिरि-गह्वर से बड़ी कठिनाई से क्लान्त होकर अति शीघ्र उठाया ॥२३॥ मुझे निकाल चुकने पर वह वानर बोला "मित्र ! मेरी देख-भाल रख, मैं मुहूर्त भर सोता हूँ ॥२४॥ सिंह, व्याघ्र, चीते, रीछ तथा भालू मुझे निद्रित देख मेरी हिंसा कर सकते हैं। उन्हें देख कर तू हटाना ॥२५॥" इस प्रकार मुझे साखी बनाकर वह मुहूर्त भर सो गया। उस समय मेरे मन में अनुचित पाप-दृष्टि उत्पन्न हुई ॥२६॥ अन्य पशुओं की तरह यह भी मनुष्यों का खाद्य है। मैं इस वानर को मार कर क्यों न अपनी भूख मिटाऊँ ॥२७॥ मैं खा-पीकर, सबल होकर, माँस रूपी पाथेय ले कर कन्तार पार कर सकूँगा ॥२८॥ तब पत्थर ले कर सिर पर दे मारा। मेरा हाथ कमजोर होने के कारण जोर से चोट नहीं लगी ॥२९॥ वह रक्त-रंजित कपि जल्दी से उठकर अश्रु-भरे नेत्रों से रोता हुआ मेरी ओर देखने लगा ॥३०॥ वह बोला, "आर्य ! मेरे प्रति ऐसा न करें। तुम्हारा भला हो। तुमने ऐसा किया है ? तुम दीर्घायु हो, तुमसे तो आशा थी कि तुम दूसरों को रोकोगे। अरे पुरुष ! तेरी करतूत। मैंने तुझे ऐसे भयानक प्रपात में से निकाला। मैं तुझे मानो परलोक से ही खींच लाया। तूने मुझसे द्रोह किया ; तुझे पाप-धर्मी ने पाप-युक्त मन से पाप का ही चिन्तन किया। हे अधर्मी ! तुझे दुःख न सहना पड़े। तेरा पाप-कर्म बाँस की तरह तेरा विनाश न करे ॥ ३३-३४॥ (तब क्षमा-याचना करने पर वह और बोला—) "हे पापी ! हे असंयमी ! अब मेरे मन में तेरा विश्वास नहीं है। तू मेरे पीछे देखता हुआ चला आ। (मैं शाखाओं पर ऊपर-ऊपर जाऊँगा) ॥३५॥ फिर कहा—"अब तू जंगली जानवरों के भय से मुक्त है। अब तू बस्ती में आ गया है। हे अधर्मिष्ठ ! वह तेरा रास्ता है। तू सुखपूर्वक जा" ॥३६॥ यह कह कर पर्वत चारी वानर ने तालाब में अपना माथा धोया और आँसू गिराता हुआ वह पर्वत पर जा चढ़ा

॥३७॥ मैं उससे अभिशप्त हो कर जलन से पीड़ित होने के कारण जलते शरीर से पानी पीने के लिए आया हूँ ॥३८॥ मेरे लिए सारे तालाब का पानी पीप और रक्त से मिला हुआ तथा अग्नि से तपा हुआ जैसा हो गया ॥३९॥ मेरे शरीर पर पानी की जितनी बूँदे पड़ीं, उतने ही आधे बेल के समान फोड़े हो गये ॥४०॥ वे सड़े हुए पीप और लोहे से भरे फोड़े चूने लग गये। जहाँ जहाँ मैं गाँव और निगमों में जाता, सभी जगह स्त्री और पुरुष मुझे हाथ में डण्डा लेकर दुरदुराते—तेरे शरीर से दुर्गन्ध आती है। तू हमारी ओर मत आ ॥४१-४२॥ मैं अपने पूर्व कृत दुष्कर्म के फलस्वरूप सात वर्ष से इस प्रकार दुःख भोग रहा हूँ ॥४३॥ इस लिए जो लोग यहाँ आये हैं, मैं उन सब को कहता हूँ। उनका भला हो। वे मित्रद्रोही न हों। मित्रद्रोह पाप है ॥४४॥ जो मित्र से द्रोह करता है, वह कोढ़ी होता है, उसे दमा हो जाता है। मित्र द्रोही शरीर छूटने पर नरक जाता है ॥४५॥]

राजा के साथ बात करते ही करते उस आदमी को भी पृथ्वी ने विवर दे दिया। वह उसी क्षण मर कर अवीची नरक में पैदा हुआ। उसके पृथ्वी प्रवेश कर जाने पर राजा ने उद्यान से निकल नगर में प्रवेश किया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं! न केवल अभी, देवदत्त ने पहले भी पत्थर मारा ही है" कह कर जातक का मेल बैठाया। उस समय मित्रद्रोही पुरुष देवदत्त था। कपि-राज तो मैं ही था।

५१७. दकरक्खस जातक

"सचे वो वुटहमानानं. . . ." यह दकरक्खस जातक है। यह सारी महा-उम्मग्ग जातक में आवेगी।[1]

---

१. महाउम्मग्ग जातक (५४६)

५१८. पण्डर जातक

"विकिण्णवाचं. ...." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के झूठ बोलकर पृथ्वी-प्रवेश करने के बारे में कही। उस समय भिक्षुओं द्वारा उसका दुर्गुण कहे जाने पर "भिक्षुओं, न केवल अभी, देवदत्त ने पहले भी झूठ बोलकर पृथ्वी-प्रवेश किया ही है" पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय के वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय पाँच सौ व्यापारी नौका लेकर समुद्र में उतरे। सातवें दिन भी उन्हें कहीं किनारा नहीं दिखाई दिया। उनकी नौकाएँ टूट गईं और एक के अतिरिक्त शेष सभी मच्छों के पेट में जा पहुँचे। एक हवा के वेग से करम्बिय-पत्तन पर जा लगा। वह समुद्र से स्थल पर पहुँच कर नंगा ही उस पत्तन पर भिक्षा माँगने के लिए चला। आदमियों ने यह समझा कि यह श्रमण अल्पेच्छ है, संतुष्ट है, उसका सत्कार किया। उसने सोचा कि जीविका का साधन मेरे हाथ लग गया है। इसलिए लोगों के वस्त्र देने पर भी उसने उन्हें लेना स्वीकार नहीं किया। लोगों ने यह माना कि इससे बढ़कर कोई अल्पेछ नहीं है, उसके प्रति और भी अधिक प्रसन्न हो, आश्रम बना, उसे वहाँ बसाया। वह करम्बिय-अचेल करके प्रसिद्ध हुआ। वहाँ रहते समय उसका लाभ-सत्कार बहुत बढ़ गया। एक नाग राजा और एक गरुड़ राजा भी उसकी सेवा में आने लगे। उनमें से नाग राजा का नाम था, पण्डर।

एक दिन गरुड़-राज ने उसके समीप पहुँच प्रणाम कर एक ओर बैठ कर कहा—"भन्ते! हमारे बहुत से सम्बन्धी नागों को पकड़ने जाकर नाश प्राप्त हो जाते हैं। इन नागों को पकड़ने का ढंग हम नहीं जानते हैं। यह एक रहस्य है। क्या आप उन पर अपना प्रेम प्रकट करते हुए उनसे वह रहस्य नहीं जान

सकते ?" उसने 'अच्छा कह स्वीकार किया। गरुड़-राज प्रणाम कर के चला गया। जब नागराज आकर प्रणाम करके बैठा तो उसने नागराजा से पूछा—'नागराज! तुम्हें पकड़ने जाकर बहुत से गरुड़ विनाश को प्राप्त होते हैं, तुम्हें वे कैसे पकड़ सकते हैं ?"

"भन्ते! यह हमारा गुह्य रहस्य है। इसे प्रकट करने से हम अपने रिश्तेदारों की मृत्यु को निकट लाने वाले होते हैं।"

"आयुष्मान! क्या तुझे भय है कि मैं किसी दूसरे को बता दूंगा। मैं किसी दूसरे को नहीं कहूँगा। केवल स्वयं जानने की इच्छा से ही पूंछ रहा हूँ। तू मुझ पर विश्वास कर, निर्भय होकर कहा।"

"भन्ते कहता हूं"--कह नागराज प्रणाम करके चला गया। दूसरे दिन भी पूछा, तब भी उसने नहीं बताया। तीसरे दिन नागराज के आकर बैठने पर उसने कहा'—"आज मुझे पूछते तीसरा दिन हो गया है। तू क्यों नहीं कहता?'

"भन्ते! इस डर से कि आप किसी दूसरे को कह देंगे।"

"किसी से नहीं कहेंगे, निर्भय होकर कहो।"

"तो भन्ते! किसी दूसरे से मत कहें।" प्रतिज्ञा करा बोला—"भन्ते! हम बड़े-बड़े पत्थर निगल कर भारी होकर लेटे रहते हैं। जब गरुड़ आते हैं तो सिर आगे बढ़ा कर दाँत निकाल कर गरुड़ों को डसने जाते हैं। वे आकर हमारे सिर पकड़ लेते हैं। भारी होकर लेटे रहने के कारण वे हमें खींच ले जाने का प्रयत्न करते हुए भी (खींच कर नहीं ले जा सकते। हम ही) उन्हें खींच कर पानी में ले जाते हैं। वे पानी के अन्दर ही मर जाते हैं। इस कारण से बहुत से गरुड़ विनाश को प्राप्त होते हैं। वे हमें सिर से पकड़ते हैं। उससे क्या? वे मूर्ख हैं। वे हमें पूंछ से पकड़ सिर नीचा कर पेट के पत्थर मुँह से निकाल कर हल्के करके पकड़ ले सकते हैं।" इस प्रकार उसने अपना रहस्य उस दुराचारी पर प्रकट कर दिया।

उसके चले जाने पर गरुड़ राज ने आकर करम्बिय-अचेल को नमस्कार करके पूछा—"भन्ते! क्या नागराज से रहस्य की बात पूछी ?" उसने "अयुष्मान हाँ" कहकर सब कुछ उसके कहने के अनुसार ही कह दिया। यह सुन गरुड़ ने सोचा नागराज ने अनुचित किया। अपनी जाति के नष्ट होने का उपाय दूसरे को नहीं बताना चाहिए। अच्छा आज मुझे गरुड़-वायु करके पहले उसे ही पकड़ना योग्य

है। उसने गरुड़ वायु करके पण्डर नागराज को पूँछ से पकड़ा और सिर नीचा करके पेट के पत्थर निकाल उड़कर आकाश चला गया। आकाश में सिर नीचा करके लटकते हुए पण्डर ने—"मैंने स्वयं दुःख को निमंत्रण दिया है" विलाप करते हुए कहा--

विकिन्नवाचं अनिगूलहमन्तं
असंयतं अपरिचक्खितारं
भयं तं अन्वेति सयं अबोधं
नागं यथा पण्डरकं सुपण्णो ॥१॥

यो गुह्यमन्तं परिरक्खनेय्यं
मोहा नरो संसति भासमानो
तं भिन्नमन्तं भयं अन्वेति खिप्पं
नाग यथा पण्डरकं सुपण्णो ॥२॥

नानुमितो गरूं अत्थं गुह्यं वेदेतुं अरहति
सुमितो च असम्बुद्धं संबुद्धं वा अनत्थवा ॥३॥

विस्सासं आपज्जिं अहं अचेलो
समणो अयं सम्मतो भावितत्तो
तस्साहं अक्खिं विवरिं गुह्यं अत्थं
अतीतमत्थो कपणो रुदामि ॥४॥

तस्साहं परमं ब्रह्मे गुह्यं
वाचं हिमं नासक्खि संयमेतुं
तप्पक्खतो हि भयं आगतं मम
अतीतमत्थो कपणो रुदामी ॥५॥

यो वे नरो सुहदं मञ्ञमानो
गुह्यं अत्थं संसति दुक्खलीने
दोसा भया अथवा रागरत्तो
पल्लित्थो बालो असंसयं सो ॥६॥

तिरोक्खवाचो असतं पविट्ठो
यो संगतीसु मुदीरेति वाक्यं
आसीविसो दुम्मुखो त्याहु तं नरं
आरा अरा संयमे तादिसम्हा ॥७॥

अन्नं पानं कासिकं चन्दनञ्च
मनापित्थियो मालमुच्छादनञ्च
ओहाय गच्छामसे सब्बकामे
सुपण्णा पाणुपगता व त्यम्हा ॥८॥

[जिसका मुँह खुला है, जो किसी रहस्य को छिपा कर नहीं रख सकता, जो असंयत है, जो किसी की परीक्षा नहीं करता ऐसे मूर्ख आदमी का भय उसी प्रकार पीछा करता है जैसे गरुड़ ने पण्डर नाग का किया ॥१॥ जो आदमी बोलता हुआ रक्षा करने योग्य, रहस्य बात को (पापी आदमी पर प्रकट कर देता है उस मंत्रणा का खंडन करने वाले पुरुष का भय उसी प्रकार अनुगमन करता है जैसे गरुड़ ने पण्डरक नाग का किया ॥२॥ जो ऊपर-ऊपर से मित्र बना हुआ है वह रहस्य के जानने का अधिकारी नहीं है, जो मूर्ख मित्र है, वह भी नहीं और जो बुद्धिमान किन्तु अनर्थकामी है वह भी नहीं ॥३॥ "मैंने विश्वास किया—यह अचेलक श्रमण है, यह प्रसिद्ध है, यह आदृत है। मैंने उस पर रहस्य की बात प्रकट कर दी, अब अपने अर्थ की हानिकर, दुःखित हो, रोता हूँ ॥४॥ हे ब्रह्म (गरुड़) मैं उस से रहस्य की बात को गुप्त नहीं रख सका। उसी की ओर से मुझे यह भय प्राप्त हुआ। मैं अब अपने अर्थ की हानिकर, दुःखित होकर रोता हूँ ॥५॥ जो आदमी द्वेष, भय अथवा राग के वशीभूत हो नीच-कुल पर रहस्य प्रकट कर देता है, वह मनुष्य निश्चय से पतित होता है ॥६॥ जो मनुष्य रहस्य की बात को असत्पुरुषों की संगति में जाकर प्रकट कर देता है, ऐसा पुरुष विषैले सर्प के समान दुर्मुख कहलाता है। उस तरह के पुरुष से दूर दूर रहे ॥७॥ खाद्य, पेय, काशी का चंदन, श्रेष्ठस्त्रियां, मालाएँ और वस्त्र—सभी कामभोग की वस्तुयें छोड़कर हम जा रहे हैं। हे! गरुड़ हमारे प्राण तेरे वश में हैं ॥८॥]

इस प्रकार नीचा सिर करके लटकते हुए पण्डरक ने आठ गाथाओं से विलाप

किया । गरुड़ ने उसकी विलाप वाणी सुन निंदा की,--"नागराज अचेलक पर अपना रहस्य प्रकट करके अब किसलिये विलाप करता है ? वह बोला--

को नोध तिण्णं गरहं उपेति
अस्मिन ध लोके पाणभ् नागराजा
समणो सुपण्णो अथवा तवेव
किंकारणां पण्डरकागहितो ॥९॥

[हे नागराज ! हम तीनों में यहाँ कौन निन्दनीय है ? श्रमण, गरुड़, तू ही ? हे पण्डरक ! तू क्यों पकड़ा गया ? ॥९॥

यह सुन पण्डरक ने अगली गाथा कही--

समणो ति मे सम्मतत्तो अहोसी
पियो च मे मनसा भावितत्तो
तस्माहं अक्खिं विवरिं गुह्यं अत्थं
अतीतमत्थो कपणं रुदामि ॥१०॥

[मैं समझता था कि श्रमण सत्पुरुष है, वह मेरा मन से प्रिय था और आदृत था । मैंने उस पर रहस्य प्रकट किया । अब मैं अर्थ की हानि होने पर दु:खित हो रोता हूँ ॥१०॥

तब गरुड़ ने चार गाथाएँ कहीं—

न चत्थि सत्तो अमरो पथव्या
पञ्ञाविद्या नत्थि न निन्दितब्बा
सच्चेन धम्मेन धिया दमेन
अलब्भं अब्याहृपति नरो इध ॥११॥
माता पिता परमा बन्धवानं
नास्स ततियो अनुकम्पक अत्थि
तसं पि गुय्हं परमं न संसे
मंतस्स भेदं परिसंकमानो ॥१२॥

माता पिता भगिनी भातरोच
सभाय वा यस्स होन्ति सपक्खा
तेसं पि गुय्हं परमं न संसे
मंतस्स भेदं परिसंकमानो ॥१३॥
भरियाच पुरिसं वज्जा कोमारी पियभाणिनी
पुत्तरूपयसूपेता ञाति संघ पुरक्खता
तस्सापि गुय्हं परमं न संसे
मंतस्स भेदं परिसंकमानो ॥१४॥

[पृथ्वी पर कोई आदमी अमर नहीं है। और जो प्रज्ञावान है वह निन्दनीय नहीं है, आदमी सत्य से, धर्म से बुद्धि से, और संयम से अलभ्य लाभ को प्राप्त करता है ॥११॥ संबंधियों में माता-पिता सर्वश्रेष्ठ हैं। इनसे बढ़कर कोई तीसरा अनुकम्पा करने वाला नहीं है। आदमी को चाहिए कि रहस्य-भेद की आशंका से उन पर भी रहस्य प्रकट न करे ॥१२॥ माता, पिता, बहन, भाई मित्र और स्वपक्ष के लोग हों तो रहस्य भेद की आशंका से उन पर भी रहस्य न करें ॥१२॥ यदि प्रिय भाषिणी कुमारी अथवा पुत्र, रूप, यश तथा संबंधियों से युक्त भार्या पुरुष को (रहस्य प्रकट करने को) कहे तो रहस्य भेद की आशंका से उन पर भी रहस्य प्रकट न करें ॥१४॥

इसके आगे की पाँच गाथाएँ उमग्ग जातक में यंच पंडित प्रश्न में (भी) आएँगी--

न गुह्यं अत्थं विवरेय्यं रक्खेय्य नं यथा निधिं,
न हि पातुकतो साधु गुह्यो अत्थो पजानता ॥१५॥
थिया गुह्यं न संसेय्य अमितस्य च पण्डितो
यो चामिसेन संहीरो हदयत्थे नो च यो नरो ॥१६॥
गुह्यं अत्थं असंबुद्धं सम्बोधयति यो नरो
मंतभेदभया तस्य दासभूतो तितिक्खति ॥१५॥
यावंतो पुरिसस्स अत्थं गुह्यं जानन्ति मन्तिनं
तवन्तो तस्य उब्बेगा, तस्मा गुह्यं न विस्सजे ॥१८॥

विविच्छ भासेय्य दिवा रहस्सं रत्तिं गिरं नातिवेलं पमुंञ्चे
उपास्सुतिका हि सुणन्ति मंतंतस्मामंतो खिप्पं उपेति भेदं ॥१९॥

[रहस्य बात को न प्रकट करे। उसे खजाने की तरह सुरक्षित रक्खे। बुद्धिमान आदमी द्वारा रहस्य का प्रकट किया जाना अच्छा नहीं ॥१५॥ स्त्री पर गुप्त बात प्रकट न करे, अमित्र पर न प्रकट करे, जो आमिष का लोभी हो (?) और जो हृदय से विश्वसनीय न हो, (उस पर प्रकट न करे) ॥१६॥ जो नर मूर्ख आदमी को रहस्य की बात बता देता है, रहस्य बात के प्रकट हो जाने के डर से उसे मूर्ख आदमी का गुलाम बन कर सब कुछ सहन करना पड़ता है ॥१७॥ जितने भी आदमी मनुष्य की रहस्य बात को जान लेते हैं, उसी मात्रा में उसका उद्वेग बढ़ जाता है। इसलिए रहस्य के बारे में किसी का विश्वास न करे ॥१८॥ दिन में रहस्य की बात एकान्त में व्यक्त करे और रात को असमय में न व्यक्त करे। इधर उधर सुन-सुन लेने वाले (?) रहस्य शीघ्र ही प्रकट हो जाता है ॥१९॥]

इससे आगे—

यथापि अस्स नगरं महन्तं
आळारकं आयसं भद्दसालं
समन्तखाता परिखा उपेतं
एवं पि मे ते इध गुय्हमन्ता ॥२०॥

ये गुय्हमन्ता अविकिण्णवाचा
दळ्हा सदत्थेसु नरा दुजिव्हा
आरा अमित्ता ब्यावजन्ति तेहि
आसीविसा वारिव सत्तु संघा ॥२१॥

[जैसे कोई बड़ा भारी लोह निर्मित, अपेक्षित शालाओं से युक्त, चारों ओर खाइयों वाला नगर हो वैसे ही वे लोग होते हैं जो रहस्य को छिपाए रखते हैं ॥२२॥ हे पण्डरक ! जो लोग रहस्य को छिपा कर रख सकते हैं, जो संयत वाणी हैं, जो सदर्थों में दृढ़ हैं, उनसे शत्रुगण ऐसे ही दूर-दूर रहते हैं जैसे प्राणी विषैले सर्प से ॥२५॥]

इस प्रकार गरुड़ के धर्मोपदेश देने पर पण्डरक बोला–

हित्वा घरं पब्बजितो अचेलो
नग्गो मुंडो चरति घासहेतु
तम्ही नु खो विवरिं गुय्हं अत्थं
अत्थाच धम्माच अपागतम्हा ॥२२॥
कथं करो चा हि सुपण्णराज
किंसीलो केन वतेन वत्तं
समणो चरं हित्वा ममायितानी
कथंकरो सग्गं उपेति ठानं ॥२३॥

[यह सोच कर कि यह घर त्याग, प्रव्रज्जित हो, निर्वस्त्र, नग्न, मुंडी, भिक्षाटन करता घूमता है, मैंने उसे रहस्य बताया। इससे हम अर्थ तथा धर्म से परिहीण हुए ॥२२॥ हे गरुड़-राज। क्या करने से किस शील से किस व्रत से श्रमण ममत्व छोड़कर विचरता है ? क्या करने से स्वर्ग लाभ कर करता है ? ॥२३॥

गरुड़ बोला—

हिरिय तितिक्खाय दमेन खन्तिया
अक्कोधनो पेसुणीयं पहाय
समणो चरं हित्वा ममायितानी
एवंकरो सग्गं उपेति ठानं ॥२४॥

[लज्जा से, सहनशीलता से, संयम से, शान्ति से, युक्त होकर, क्रोध रहित भिक्षु चुगलखोरी छोड़, ममत्व त्याग विचरता है। ऐसा करने से वह स्वर्ग-लाभ करता है ॥२४॥]

इस प्रकार गरुड़राज से धर्म कथा सुन कर पण्डरक ने प्राणों की भिक्षा मांगते हुए गाथा कही—

माता व पुत्तं तरुणं तनुज्जं
सम्पस्स तं सब्बगत्तं फरेति
एवम्पि मे त्वं पातुरहु दिजिन्द
माता व पुत्तं अनुकम्पमानो ॥२५॥

हे द्विजेन्द्र ! जिस प्रकार माँ अपने औरस पुत्र को देखकर प्रसन्नता से बाग-बाग हो जाती है, इसी प्रकार तू मेरे लिए प्रादुर्भूत हुआ है। तू माता के पुत्र की रक्षा करने की तरह मेरी रक्षा कर ॥२५॥]

गरुड़ ने उसे जीवन दान देते हुए दूसरी गाथा कही—

हन्दज्ज त्वं मुञ्च वधा दुजिह्व
तयो हि पुत्ता न हि अञ्ञो अत्थि
अन्तेवासी दिन्नको अत्रजो च
रजस्सु, पुत्त, अञ्ञतरो में अहोसि ॥२६॥

[हे पण्डरक ! आज तू वध से मुक्त हुआ। तीन ही पुत्र होते हैं। चौथा नहीं। शिष्यपुत्र, दत्तकपुत्र औरस पुत्र। प्रसन्न हो तू मेरा शिष्यपुत्र है ॥२६॥]

यह कह आकाश से उतर उसे पृथ्वी पर रख दिया।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने दो गाथाएं कहीं—

इच्चेव वाक्यं विसजी सुपण्णो
भुम्या पतिट्ठाय दिजो दुजिव्हं
मुत्त अज्जा त्वं सब्बभयातिवत्तो
थलूदके होहि मयाभिगुत्तो ॥२७॥
आतंकितं यथा कुसलो भिसक्को
पिपासितानं रहदो व सीतो
वेस्मं यथा हिमसिसिरट्टितानं
एवं पि ते सरणं अहं भवामि ॥२८॥

[गरुड़-राज ने पण्डरक को पृथ्वी पर रख यह वाक्य कहा—"तू आज सब भयों से मुक्त हुआ। तू जल तथा थल में मेरे द्वारा सुरक्षित है ॥२०॥ जिस प्रकार रोगी के लिए कुशल वैद्य, प्यासे के लिए शीतल तालाब, हिम-शिशिर से पीड़ित के लिए घर, उसी तरह से मैं तेरा शरण-स्थान होता हूँ ॥२८॥]

उसने 'तू जा' कह विदा किया। वह नाग-भवन में जा घुसा। दूसरे ने भी गरुड़ भवन जा सोचा 'मैंने पण्डरक नाग को शपथ कर और श्रद्धावान बना छोड़ा। मैं उसकी परीक्षा करूँगा कि उसका हृदय मेरे प्रति कैसा है उसने नाग-भवन पहुँच गरुड़-वायु छोड़ी।

यह देख नाग ने सोचा कि गरुड़-राज मुझे पकड़ने आया होगा। यह सोच उसने अपना शरीर हजार गुणा बड़ा फैलाया और पत्थर तथा बालू निगल भारी हो, पूंछ नीचे कर तथा फण उठा, पड़े-पड़े गरुड़ राज को डसने वाला जैसा हुआ।

यह देख गरुड़-राज ने दूसरी गाथा कही--

संन्धि कत्वा अमित्तेन अडण्जेन जलाबुज
विवरिय दाठं सयसि, कुतो तं भयं आगतं ॥२९॥

[हे जलचर ! तूने शत्रु अण्डज (गरुड़) से सन्धि की है। तू दाढ़ खोले लेटा है। तुझे कहाँ से भय आया है ? ॥२९॥]

यह सुन नाग-राज ने तीन गाथायें कहीं--

संकेथेव अमित्तस्मि, मित्तस्मि पि न विस्ससे
अभया भयं उप्पन्नं अपि मूलानि कन्तति ॥३०॥
कथं नु विस्ससे त्यम्हि येनासि कलहो कतो
निच्चयत्तेन ठातब्बं, सो दिसम्हि न रज्जति ॥३१॥
विस्सासये न च तं विस्ससेय्य,
असंकितो च संकितो भवेय्य,
तथा तथा विञ्ञू परक्कमेय्य
यथा यथा भावं परो न जञ्ञा ॥३२॥

[शत्रु के प्रति शंका ही रक्खे, मित्र पर भी विश्वास न करे निर्भयता के स्थान से उत्पन्न हुआ भय जीवनमूल को ही काट डालता है ॥३०॥ जिसने झगड़ा किया उसका कैसे विश्वास करें ? संशंकित हो रहना चाहिए शत्रु, शत्रु का विश्वास नहीं करते ॥३१॥ दूसरे को अपना विश्वासी बनाए, अपने दूसरे में विश्वास न करें। दूसरे को भी असंशयी बनाए, अपने संशंकित रहे। बुद्धिमान आदमी को चाहिए कि ऐसा प्रयत्न करें कि दूसरा अपना भाव न जान सके ॥३२॥

इस प्रकार परस्पर बात-चीत करके मेल-मिलाप से प्रसन्नचित हो दोनों अचेलक के आश्रम गये।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने--

ते देव वण्णानि सुखुमालरूपा
उभो समा सुजयो पुञ्ञगन्धा
अपागमुं कारम्बियं अचेलं
मिस्सीभूता अस्सवाहा व नागा ॥३३॥

[वे सुकुमार-रूप, देव-वर्ण, समान-शील, पुण्यवान दोनों के दोनों कारम्बिय अचेलक के पास पहुँचे––एक हुए जैसे (रथ में जुते हुए) घोड़े ॥३३॥]

इस सम्बन्ध में शास्ता ने दूसरी गाथा कही—

ततो हवे पण्डरको अचेलं
सयं (एव) उपागम्म इदं अवोचः
मुत्त अज्ज अह सब्बभयातिवत्तो
न ह नून तुम्हं मनसो पियम्ह ॥३४॥

[तब पण्डरक ने अचेलक के पास आकर स्वयं कहा :––मैं आज सभी भयों से मुक्त हो गया हूं। अब मैं तुम्हें मन से प्यार नहीं करता हूँ" ॥३४॥]

तब नग्न-साधु ने दूसरी गाथा कही––

पियो हि मे आसि सुपण्णराज
असंसयं पण्डरकेन सच्चं
सो रागरत्तो व अकासिं एतं
पापं कम्मं सम्पजानो न मोहा ॥३५॥

[निस्सन्देह सत्य ही पण्डरक की अपेक्षा गरुड़-राज मेरा अधिक प्रिय था। मैंने अनुराग के वशी-भूत हो जान-बूझकर ही यह पाप-कर्म किया, कुछ अज्ञान से नहीं ॥३५॥]

यह सुन नाग-राज ने दो गाथायें कहीं—

न हि मे पियं अप्पियं वापि होति
सम्पस्सतो लोकं इमं परं च,
सुसञ्ञतानं हि वियञ्जनेन
असञ्ञतो लोकं इमं चरासि ॥३६॥
अरियावकासो सि अनरियो चासि
असञ्ञतो सञ्ञतसन्निकासो

कण्हाभिजातिको सि अनरियरूपो
पापं बहुं दुच्चरितं अचारि ॥३७॥

[इस लोक तथा परलोक को देखते हुए मेरा न कोई प्रिय है और न अप्रिय। तू सुसंयत लोगों का वेश धारणकर असंयत होकर लोक में विचरण करता है ॥३६॥]

[आर्य-वेषधारी होकर भी तू अनार्य है; संयत-वेष होकर भी असंयत है। तू कृष्ण-स्वाभाव अनार्य-रूप है। तूने बहुत पाप दुश्चरित्र किया है ॥२७॥]

इस प्रकार उसकी निन्दा कर उसे शाप देते हुए यह गाथा कही--

अदुट्ठस्स तुवं दूभि दूभी च पिसुणो चासि,
एतेन सच्चवज्जेन मुधा ते फलतु सत्तधा ॥२८॥

[तूने निर्दोष के साथ द्वेष किया, तू दुष्ट है, चुगलखोर है। इस सत्य-वचन के प्रताप से तेरा सिर सौ टुकड़े हो जाय ॥३८॥

इस प्रकार नागराज के सामने ही नग्न-साधु के सिर के सौ टुकड़े हो गये। जहाँ बैठा था, वहीं उसे भूमि ने विवर दे दिया। वह पृथ्वी में प्रविष्ट हो, अवीची-नरक में जाकर पैदा हुआ। नाग-राज और गरुड़-राज भी अपने-अपने भवन को ही चले गये।

शास्ता ने उसके पृथ्वी-प्रवेश की बात को प्रकाशित करते हुए अन्तिम गाथा कही--

तस्मा हि मित्तानं न दुब्भितब्बं
मित्तद्दुभा पापियो नत्थि अञ्ञो
आसित्तसत्तो निहतो पथब्या
इन्दस्य वाक्येन हि संवरो हतो ॥३९॥

[इस लिए मित्रों से द्रोह न करे! मित्र-द्रोह से बढ़कर पाप नहीं है। इन्द्र (नाग) के वाक्य रूपी विष से आसक्त होकर संवर-वान (साधु) पृथ्वी में निहत हुआ ॥३९॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं, न केवल अभी, पहले भी देवदत्त झूठ बोल पृथ्वी में प्रवेश किया था," कह जातक का मेल बैठाया। उस समय अचेलक देवदत्त था। नाग राजा सारिपुत्र। गरुड़-राज तो मैं ही था।

५१९. सम्बुल जातक

"का वेधमाना..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय मल्लिका देवी के बारे में कही। कथा-वस्तु कुम्मास पिण्ड जातक में आ ही गई है, वह उन तीन कुल्माष-पिण्डों के दान के प्रताप से उसी दिन राजा की पटरानी हो, पूर्व उठने वाली आदि पाँच भलि बातों से युक्त हो, ज्ञान-वान्, बुद्ध-सेविका तथा पति को देवता मानने वाली हुई। उसकी पति-भक्ति सारे नगर में प्रकट हो गई। एक दिन धर्म-सभा में बात-चीत चली, "आयुष्मानों, मल्लिका देवी व्रती तथा पति-भक्त है।" शास्ता ने आकर पूछा, 'भिक्षुओं, बैठे क्या बात चीत कर रहे हो?" "अमुक बात-चीत।" "भिक्षुओं, न केवल, अभी, यह पहले भी पतिभक्त ही थी," कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त का सोत्थिसेन नाम का पुत्र था। आयु-प्राप्त होने पर राजा ने उसे उपराज के पद पर प्रतिष्ठित किया। सम्बुला नाम की पटरानी थी, उत्तम रूपवान, शरीर-प्रभा से युक्त, वायु रहित स्थान में जलने वाली दीप-शिखा के समान प्रतीत होती थी।

आगे जाकर सोत्थि-सेन को कोढ़ हो गया। वैद्य चिकित्सा न कर सके। कोढ़ के फूट पड़ने पर उसे अनुपात हुआ। वह सोचने लगा—"मैं राज्य लेकर क्या करूँगा?" मैं जंगल में जाकर अनाथ की तरह मर जाऊँगा।" वह राजा को सूचना दे, रनिवास छोड़कर चल दिया। सम्बुला को नाना उपायों से रोका गया। वह न रुकी। "मैं जंगल में स्वामी की सेवा करूँगी" कह वह भी साथ ही चली गई। वह जंगल में जा ऐसी जगह पर जहाँ फल-फूल सुलभ थे और छाया तथा पानी की कमी न थी पर्णशाला बना रहने लगा। राज-कुमारी उसकी सेवा करने लगी। कैसे? वह प्रातःकाल उठकर आश्रम में झाड़

लगाती, पीने तथा नहाने-धोने का पानी रखती, दातुन तथा मुंह धोने का पानी लाकर रखती, मुंह धो चुकने पर नाना प्रकार की औषधियाँ पीस कर उसके जख्मों पर लगाती, उसके मधुर फलाफल खा चुकने पर, और मुंह तथा हाथ धो चुकने पर उसे कहती "देव ! अप्रमादी रहो।" फिर बगल में टोकरी और कुदाल लेकर फलाफल के लिए जंगल में जा, फलाफल ला, एक ओर रखती। फिर घड़े से पानी ला और नाना प्रकार के चूर्णों तथा मिट्टियों से सोत्थिसेन को नहला मधुर फलाफल लाकर सामने रखती। उसके खा चुकने पर सुगन्धित जल ला और स्वयं फलाफल खा, लकड़ी के फट्टों का बिस्तर बना, उसके उस पर लेट जाने पर उसके पांव धोती फिर सिर, पीठ और पैरों आदि का दबाना कर शयनासन पर एक ओर लेट रहती। इस प्रकार वह स्वामी की सेवा करती थी।

एक दिन वह जंगल से फलाफल लाई। एक गिरिकन्दरा देख उसने सिर पर से टोकरी उतारी और कन्दरा के किनारे खड़ी हो "नहाऊँगी" सोच उतर कर वदन पर हल्दी का उबटन मला। फिर स्नान कर, शुद्ध साफ हो, ऊपर आ, वल्कल-वस्त्र पहन कन्दरा के किनारे खड़ी हुई। उसकी शरीर-प्रभा से सारा जंगल जगमगाने लगा। उस समय एक दानव अपना भोजन खोजता घूम रहा था। उसने उसे देख, आसक्त हो, दो गाथायें कहीं।

का वेधमाना गिरिकन्द्ररायं
एक तुवं तिट्ठसि सञ्ञतूरु
पुट्ठासि मे पणिपमेध्मज्झे
अक्खाहि मे नामं च बन्धवे च ॥१॥
ओभासयं वनं रम्मं सीहव्यग्ध निसेवितं
का वा त्वं असि कल्याणि, कस्स वा त्वं सुमज्झि मे,
अभिवादेमि तं भद्दे, दानवहं, नमत्थु ते ॥२॥

[हे ! श्रेष्ठ जांघ वाली ! गिरिकन्दरा में अकेली खड़ी, काँपने वाली तू कौन है? नापे जा सकने वाले पानी में, मैं तुझसे पूछता हूँ कि तेरा क्या नाम है और तेरे कौन बान्धव हैं ॥१॥ सिंह और व्याघ्रों से सेवित सुन्दर वन को प्रकाशित करने वाली हे कल्याणी ! तू कौन है ! हे मध्यम आकार वाली तू

किसकी है ? भद्रे मैं तुझे अभिवादन करता हूँ, मैं दानव हूँ। तुझे नमस्कार है ॥२॥]

[उसने उसकी बात सुन तीन गाथाएं कहीं—]

यो पुत्तो कासीराजस्स सोत्थिसेनोति तं विदू
तस्साहं सम्बुला भर्या, एवं जानाहि दानव,
अभिवादेमि तं भन्ते, सम्बुलाहं, नमत्थुते ॥३॥
वेदेहपुत्तो भद्दन्ते, वने वसति आतुरो,
तं अह रोगसम्मत्तं एका एकं उपट्ठहं ॥४॥
अहं च वनं उञ्छाय मधुमसं मिगा बिलं
यदा हरामी तं भक्खो, तस्स नू अज्ज नाधति ॥५॥

[हे दानव ! यह जान कि काशीराज का सोत्थिसेन नाम का जो प्रसिद्ध पुत्र है, मैं उसकी सम्बुला नाम की भार्या हूँ। भन्ते ! मैं तुझे अभिवादन करती हूँ। मैं सम्बुला हूँ, तुझे नमस्कार है ॥३॥ तेरा भला हो, वेदेह-पुत्र रुग्ण अवस्था में वन में रहता है, मैं अकेली उस अकेले रोगी की सेवा करती हूँ ॥४॥ मैं वन में (फलमूल) चुग कर, मधु और व्याघ्र आदि से छोड़ा माँस जब ले जाती हूँ, तब वह खाता है। आज निश्चय से वह म्लान हो रहा होगा ॥५॥]

दानव—

किं वने राजपुत्तेन आतुरेन करिस्ससि
सम्बुलेपरिचिण्णेन, अहं भत्ता भवामि ते ॥६॥

[हे सम्बुले ! रोगी राजपुत्र की वन में सेवा करके तू क्या करेगी ? मैं तेरा स्वामी हो जाता हूँ ॥६॥

सम्बुला—

सोकट्टाय दुरत्ताय किं रूपं विज्जते मम,
अञ्ञं परियेस भद्दं ते अभिरुपतरं मया ॥७॥

[मुझ शोकार्त, दुःखित का रूप क्या है ? तेरा भला हो, तू मेरी अपेक्षा किसी दूसरी अधिक रूपवती को खोज ॥७॥

दानव—

एहि मंगिरिं आरुह्य, भरिया मह्यं, चतुस्सता
तासं त्वं पवरा होहि सब्बकामसमिद्धिनी ॥८॥

आ, पर्वत पर चढ़कर मेरे पास आ, मेरी (और भी) चार सौ भार्याएँ हैं। हे सर्व कामनाओं की पूर्त्ति करने वाली तू उनमें सर्वश्रेष्ठ हो जा ॥८॥

दानव—

ननु हाटकवण्णाभे यं किंचि मनस इच्छसि
सब्बं तं पचुरं मय्हं, रमस्वज्ज मया सह ॥९॥

[हे स्वर्णिम रूप वाली ! जो भी मन से चाहती है, वह सभी कुछ मेरे पास प्रचुर मात्रा में है, आज मेरे साथ रमण कर ॥९॥]

दानव—

नीचे त्वं महेसव्यं सम्बुले कारइस्ससि
अलं त्वं पातरासाय मञ्ञो भक्खा भविस्ससि ॥१०॥

[हे सम्बुले ! यदि तू मेरी पटरानी होना स्वीकार नहीं करेगी तो तू मेरा प्रातराश बनेगी ॥१०॥]

तं च सत्तजटोलुद्दो कलारो पुरिसादको
वने नाथं अपस्संतिं सम्बुलं अग्गही भुजे ॥११॥

उस सात जटाओं वाले शिकारी लम्बे दाँत वाले आदमखोर ने उस सम्बुल को जिसका वहाँ वन में कोई रक्षक नहीं था, भुजाओं में ग्रहण कर लिया ॥११॥

अधिपन्ना पिसाचेन लुद्दे नामिसचक्खुना
सा च सत्तुवसं पत्ता पतिं एवानुसोचति ॥१२॥

उस कामुक, शिकारी, पिशाच के द्वारा गृहीत, शत्रु के हाथ में पड़ी हुई वह पति को ही याद करती थी ॥१३॥

न मे इदं तथा दुक्खं यं मं खादेय्य रक्खसो
पं चे मे अय्यपुत्तस्स मनो हेस्सति अञ्ञथा ॥१२॥

न संति देवा पवसंति नून
न ह नून संति इध लोकपाला,
सहसा करोन्तानं असंयतानं
न ह नून संति पटिसेधितारो ॥१४॥

[मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि मुझे राक्षस खा जायेगा। मुझे इसी बात का दुःख है कि आर्य-पुत्र का मन अन्यथा हो जायेगा ॥१३॥ निश्चय से न तो यहाँ देवता ही हैं और व कहीं लोकपाल ही हैं, जो असंयतों को, दुःस्साहस करने वालों को रोक सकें ॥१४॥

इसके शील के तेज से शक्र का भवन काँप उठा। पाण्डु कम्बल शिलासन गर्म हो उठा। शक्र ने ध्यान दिया तो उसे कारण पता लगा। उसने वज्र हाथ में लिया और शीघ्रता से आकर दानव के सिर पर खड़े हो यह गाथा कही--

इत्थीनं एसा पवरा यसस्सिनी
सन्ता समा अग्गिरिव उग्गतेजा,
तञ्चे तुवं रक्खसातेसि कञ्ञं
मुद्धा व हि सत्तधा ते फलेय्य
मा त्वं जही मुञ्च पटिब्बताया ॥१५॥

[यह स्त्रियों से श्रेष्ठ है, यशस्विनी है, शान्त है, अग्नि के समान तेजस्विनी है। हे राक्षस ! यदि तू इस कन्या को खायेगा तो तेरा सिर सात टुकड़े हो जायेगा। तू इसे मत रोक। यह जो पतिव्रता है इसे तू छोड़ दे ॥१५॥]

यह सुन दानव ने सम्बुला को छोड़ दिया। शक्र ने इस भय से कि कहीं वह फिर भी ऐसा न करे, दानव को देव-बन्धन से बाँध और जिसमें फिर न चला आये, तीसरे पर्वत के पार ले जाकर छोड़ा। फिर राज-कन्या को अप्रमाद का उपदेश दे वह अपने स्थान पर ही गया। राज-कन्या भी सूर्य्यास्त होने पर चन्द्रमा के प्रकाश में आश्रम पहुँची।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए ये आठ गाथायें कहीं--

सा च अस्समं आगञ्छि पमुत्ता पुरिसादका
नीळं फलिनसकुणीव गतसिगं व आलयं ॥१६॥

सा तत्थ परिदेवेसि राजपुत्ती यसस्सिनी
सम्बुला उतुमत्तक्खा वने नाथं अपस्सन्ती:
समणे ब्राह्मणे वन्दे सम्पन्नचरणे इसे
राजपुत्त अपस्सन्ती तुम्हं हि सरणं गता ॥१७-१८॥

वन्दे सीहे च व्यग्धे च ये च अञ्ञो वने मिगा
राजपुत्तं अपस्सन्ती . . . . ॥१९॥

तिणलतानि ओसधयो पब्बतानि वनानि च ॥२०॥

वन्दे इन्दीवरीसामं रतिं नक्खत्तमालिनिं ॥२१॥

वन्दे भागीरथिं गंगं सवन्तीनं पटिग्गहं ॥२२॥

वन्दे अहं पब्बतराजसेट्ठं
हिमवन्तं सिलुच्चयं . . . . . . ॥२३॥

[आदमखोर से मुक्त होकर वह आश्रम आई, जैसे फलिन पक्षी अपने घोंसले में। अथवा बछड़े की ममता से गऊ अपने स्थान पर लौट आए ॥१६॥ शोक से मस्त आँखों वाली, यशस्विनी, राजपुत्री, सम्बुला वन में मालिक को न देख[1] विलाप करती थी। मैं श्रमण ब्राह्मणों की तथा आचार्यवान ऋषियों को प्रणाम करती हूँ। राजपुत्र की अनुपस्थिति में तुम्हारी शरण हूँ ॥१७-१८॥ मैं सिंह व्याघ्र, और दूसरे वन्यपशुओं को नमस्कार करती हूँ, राजपुत्र की अनुपस्थिति में मैं तुम्हारी ही शरण में हूं ॥१९॥ तृण, लताओं, औषधियों, पर्वतों तथा वनों को नमस्कार करती हूं, राजपुत्र की अनुपस्थिति में. . ॥२०॥ इन्दीवर पुष्प के समान वर्ण वाली, नक्षत्रों की मलाओं से युक्त रात्रि को नमस्कार करती हूं, राजपुत्र की अनुपस्थिति. . . . . . ॥२१॥ नदियों को ग्रहण करने वाली गंगा नदी को मैं नमस्कार करती हूँ राजपुत्र की अनुपस्थिति में . . . ॥२२॥ पर्वतराज श्रेष्ठ ऊँचे शिखर वाले हिमालय को मैं नमस्कार करती हूं, राजपुत्र की अनुपस्थिति में ॥२३॥]

---

१. 'सम्बुला को विशेष विलम्ब होते देख सोत्थिसेन को शंका हुई। वह किसी शत्रु की आशंका से आश्रम छोड़ आसपास ही कहीं जा कर छिप गया था।

उसे इस प्रकार विलाप करते देख सोत्थिसेन ने सोचा यह बहुत विलाप करती है। मैं इसके भाव से परिचित नहीं हूँ। यदि यह मेरे प्रति स्नेह के कारण ही ऐसा करती है तो इसका कलेजा भी फट जा सकता है। मैं इसकी परीक्षा लूंगा। इसलिए वह जाकर पर्णशाला के द्वार पर बैठा। वह भी रोती पीटती पर्णशाला के द्वार पर पहुँची और उसके पाँव पकड़कर पूछा--"देव! कहाँ चले गये थे?" उसने, "भद्रे! और दिन तुम्हें इतना विलम्ब नहीं होता था। आज बहुत अँधेरा करके आई हो" पूछते हुए गाथा कही—

अतिसायं वत्तागच्छि राजपुत्ति यसस्सिनि
केननुज्ज समागञ्छि, को ते पियतरो मया ॥२४॥

[हे यशस्विनी राजपुत्री? आज तू बहुत अँधेरा करके आई है। इसका क्या कारण है। मुझसे भी बढ़कर तेरा कौन प्रिय है? ॥२४॥]

उसने उसे, "आर्य पुत्र! मैं फलाफल लेकर आ रही थी। मैंने एक दानव देखा। उसने मुझ पर आसक्त हो मुझे हाथ से पकड़ कर कहा कि यदि मेरा कहना नहीं करती तो मैं तुझे खा जाऊँगा; मैं उस समय ही चिन्ता करती हुई, इस प्रकार विलाप करती थी--

इदं खोहं तदावोचं गहिता तेन सत्तुना,
न मे इदं तथा दुक्खं यं समं खादेयय्यरक्खसो
यञ्चे मे अय्यपुत्तस्स मनो हेस्सति अञ्ञथा ॥२५॥

[उस शत्रु के द्वारा पकड़ी जाने पर मैंने उस समय यही कहा था कि मुझे इस बात का उतना दुःख नहीं है कि मुझे राक्षस खा जायेगा, जितना इस बात का कि आर्य-पुत्र मेरे बारे में अन्यथा सोचेगा ॥२५॥]

इसके बाद शेष समाचार भी निवेदन करते हुए उसने कहा—"देव! उस दानव द्वारा पकड़ी जाने पर मैं अपने आपको छुड़ा न सकी। तब मैंने देवताओं को कोसना आरम्भ किया। तब वज्र-हस्त शक्र आया और उसने आकाश में खड़े हो, दानव को भयभीत कर मुझे छुड़ाया। फिर उसे देव-बन्धन से बाँध, तीसरे पर्वत के पार फेंक, चला गया। इस प्रकार शक्र की कृपा से मेरी जान बची।" यह सुन सोत्थिसेन बोला; "भद्रे! होगा, स्त्रियों का सच्चा होना

दुर्लभ है। हिमालय में बहुत से वनचारी, तपस्वी, विद्याधर आदि रहते हैं। कौन तेरा विश्वास कर सकता है ?" यह कह उसने गाथा कही--

चोरीनं बहुबुद्धीनं यासु सच्चं सुदुल्लभं
थीनं भावो दुराजानो मच्छस्सेवोदके गतं ॥२६॥

[जिस प्रकार पानी में गये हुए मच्छ का पता नहीं लगता उसी प्रकार चोरी करने वाली, बहुत बुद्धिमान स्त्रियों का भाव दुरज्ञात करता है, जिसमें सत्य का होना अति दुर्लभ है ॥२६॥]

उसने उसकी बात सुनी तो बोली "आर्य पुत्र ! तू मेरा विश्वास नहीं करता। मैं अपने सत्य-बल से ही तेरी चिकित्सा करूँगी।" उसने पानी का घड़ा भर और सत्य-क्रिया कर उसके सिर पर पानी छिड़कते हुए यह गाथा कही--

तथा मं सच्चं पालेतु पालयिस्सति चे ममं
यथाहं नाभिजानामि अञ्ञं पियतरं तया
एतेन सच्चवज्जेन व्याधि ते वूपसम्मतु ॥२७॥

[जैसा मैं कहती हूँ, वैसा सत्य मेरी अब भी वैसे ही रक्षा करे, जैसी वह भविष्य में करेगा। क्योंकि तुझसे अधिक अन्य कोई भी मेरा प्रिय नहीं है, इसलिए मेरे इस सत्य-कथन के प्रताप से तेरा रोग शान्त हो जाय ॥२७॥

इस प्रकार उसके सत्य-क्रिया करके पानी के छिड़कते ही सोत्थिसेन का कोढ़ तुरन्त ऐसे अदृश्य हो गया जैसे खटाई से धोते से ताम्बे में लगा हुआ जंग। वे कुछ दिन वहाँ रह, अरण्य से निकल, वाराणसी पहुँच, उद्यान में प्रविष्ठ हुए। राजा को जब इनके आने का समाचार मिला तो वह उद्यान गया और वहीं सोत्थिसेन के सिर पर छत्र धारण कर सम्बुला को पटरानी बनाया। फिर उन्हें नगर में ला स्वयं ऋषि-प्रव्रज्या ग्रहण कर उद्यान में रहने लगा। वह नियम पूर्वक राज-भवन में ही भोजन ग्रहण करता था। सोत्थिसेन ने भी सम्बुला को मात्र पटरानी ही माना। उसका कुछ आदर सत्कार नहीं किया। उसके लिए उसका होना न होना बराबर था। वह दूसरी स्त्रियों के साथ ही रमण करता था। सम्बुला सपत्नीक-रोष से कृष हो गई, पाडु-वर्ण

उसकी पसलियाँ मात्र रह गईं। एक दिन वह मनोरंजनार्थ खाने के लिए आए श्वसुर-तपस्वी के पास जाकर उसके भोजन कर चुकने पर प्रणाम कर एक ओर बैठी। उसने उसे म्लान-मुख देख गाथा कही—

ये कुंजरा सत्तासता उळारा
रक्खन्ति रत्तिदिवं उय्युतावुधा
धनुग्गहानञ्च सतानि सोळस
कथंविधे पस्सति भद्दे सत्तवो ॥२८॥

[जो बड़े-बड़े सात सौ धनुर्धर हाथी और सोलह सौ धनुर्धर रातदिन (वाराणसी की) रक्षा करते हैं, उनके रहते भद्रे तू किस तरह से शत्रुओं को देखती है, जिनके कारण तू म्लान-मुख है ॥२८॥]

उसने उसकी बात सुन, "देव मेरे प्रति तेरे पुत्र का व्यवहार पूर्व-सदृश्य नहीं है" कह पाँच गाथाएँ कहीं—

अलंकतायो पदुमुत्तरत्तचा
विरागिता पस्सति हंसगग्गरा
वासं सुणित्वा मितगीतवादिनं
नदानिमे तात तथा यथा पुरे ॥२९॥
सुवण्णसंकच्चधरा सुविग्गहा
अलंकता मानुसियच्छरूपमा
सेनूपिया तात अनिन्दितंगियो
खत्तिय कञ्ञ पटिलाभयन्ति नं ॥३०॥
सचे अहं तात तथा यथा पुरे
पतीत उञ्छाय पुना वने भरे
सम्मानये मं न च मं विमानये
इतोपि में तात ततो वरं सिया ॥३१॥
यं अन्नपाने विपुलस्मि ओहिते
नारी विमट्ठाभरणा अलंकता
सब्बंउपेता पतिनो व अप्पिया
अबाज्झ तस्सा मरणं ततो परं ॥३२॥

अपिचे दळिद्दा कपणा अनाळिहया
कालाकुतिया पतिनो च सा पिया
सब्बंगुपेताय पि अप्पियाय
अयमेव सेय्या कपणापि या पिया ॥३३॥

वह अलंकृत पद्म सदृश त्वचा वाली, कमर-पतली, हंस के समान मधुर स्वर वाली स्त्रियों को देखता है। उनका भाषण तथा गीतादि सुन लेने से अब उसका मेरे प्रति पूर्व-सदृश भाव नहीं है ॥२९॥ स्वर्णमय अलंकारों वाली सुन्दर शरीरवाली, आभूषणों वाली, अप्सराओं के समान मानुषी निर्दोष अंगवाली, क्षत्रिय कन्याएँ हे तात ! उसे साथ सोने के लिए मिलती हैं ॥३०॥ तात ! यदि मैं जैसे पहले उसे वन में फलाफल लाकर खिलाती थी वैसा ही हो तो चाहे वह मेरा आदर करे चाहे अनादर । इस स्थिति से वह भी मेरे लिए अच्छा है ॥३१॥ अन्नपान-सुलभ कुल हो, नाना अलंकारों से अलंकृत अंगों से युक्त हो, किन्तु यदि नारी पति को अप्रिया हो तो उसका मरना ही श्रेष्ठ है ॥३२॥ यदि दरिद्र हो दया की पात्र हो, निर्धन हो, काली कलूटी हो, किन्तु पति की प्रिय हो, वह सर्वांगीण पति की अप्रिया से श्रेष्ठ है ॥३३॥]

उसने जब तपस्वी को अपने सूखने का कारण कहा तो तपस्वी ने राजा को बुलाकर उपदेश दिया "तात ! सोत्थिसेन जब तू कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर जंगल में गया था तो इसने तेरे साथ जाकर तेरी सेवा की और अपने सत्यबल से तेरा रोग शांत कर तुझे राज्य पर प्रतिष्ठित किया । तू अब यह भी नहीं जानता कि यह कहाँ रहती है कहाँ बैठती है ? तूने अनुचित-कर्म किया है । मित्र द्रोह पाप कर्म है ।" इतना कह पुत्र को उपदेश देते हुए यह गाथा कही—

सुदुल्लभं इत्थी पुरिसस्स या हिता,
भत्तं इत्थिया दुल्लभो यो हितो च
हिता च ते सीलवती च भारिया
जनिन्द धम्मञ्चर सम्बुलाय ॥३४॥

[पुरुष के लिए उसकी हित चिन्ता करने वाली स्त्री दुर्लभ है और स्त्री के लिए उसकी हित चिन्ता करने वाला स्वामी भी दुर्लभ है । हे राजन् !

सम्बुला तुम्हारी हित-चिन्तक और सदा चारिणी भार्या है। तू उससे पति धर्म का व्यवहार कर ॥३४॥

इस प्रकार पुत्र को उपदेश दे, वह उठकर चला गया। राजा ने पिता के चले जाने पर सम्बुला को बुलाकर "भद्रे अब तक मेरे अपराध को क्षमा कर, अब से सारा ऐश्वर्य तुझे ही सौंपता हूँ।" कह अंतिम गाथा कही—

> **सचे तुवं विपुले लद्ध-भोगे**
> **इस्सावतिन्ना मरणं उपेसि**
> **अहंचते भद्दे इमा च कञ्ञा**
> **सब्बेव ते वचनकरा भवाम ॥३५॥**

[यदि तू विपुल ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी इर्षा के वशीभूत हो मरण को प्राप्त होगी तो हे भद्रे, मैं और ये सब कन्याएँ तेरी आज्ञाकारिणी होती हैं ॥३५॥]

तब से दोनों जने मेल से रहकर दानादि पुण्य करके कर्मानुसार (पर-लोक) सिधारे तपस्वी ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त कर ब्रह्मलोक गामी हुआ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, "भिक्षुओं, न केवल अभी, पहले भी मल्लिका पति देवता हुई है" कहकर जातक का मेल बैठाया। उस समय सम्बुला मल्लिका थी, सोत्थिसेन कौशल-राजा, तपस्वी पिता तो मैं ही था।

⊙

५२०. गण्डतिन्दु जातक

"अप्पमादो. . ."यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय 'राजोवाद' के बारे में कही। 'राजोवाद' का वर्णन पहले भी आ चुका है।

क. वर्तमान कथा

पूर्व समय में कम्पिल्ल राष्ट्र में उत्तर पञ्चाल नगर में पञ्चाल नामक राजा अनुचित मार्ग पर चल, अधर्म से प्रमादी हो राज्य करता था। उसके आमात्य आदि भी सभी अधार्मिक हो गये। कर से पीड़ित हो कर राष्ट्रवासी, पुत्र और स्त्री के साथ जंगल में जंगली-पशुओं की तरह रहते थे। गाँव की जगह पर गाँव नहीं रह गये। आदमी राज-पुरुषों के भय से दिन में घर में नहीं रह सकते थे। घरों के चारों ओर काँटों की झाँपें बिखेर सूर्य्योदय होते ही होते जंगल में जा घुसते। दिन में राज पुरुष लूटते, रात में चोर।

उस समय बोधिसत्व नगर के बाहर गण्डतिन्दुक वृक्ष पर देवता होकर पैदा हुए। उसे राजा से प्रति वर्ष हजार के मूल्य की बलि मिलती थी। वह सोचने लगा : "यह राजा प्रमादपूर्वक राज्य करता है। सारा राष्ट्र नष्ट हो रहा है। मेरे अतिरिक्त और कोई भी राजा को सीधे रास्ते नहीं ला सकता। यह प्रति वर्ष मुझे हजार की बलि चढ़ाता है। इसलिए मेरा उपकारी भी है। मैं इसे उपदेश दूँगा"।

वह रात के समय राजा के शयन-गृह में जा, सिर की ओर हो, प्रकाश फैलाता हुआ, आकाश में खड़ा हुआ। राजा ने उसे बाल-सूर्य्य की तरह प्रदीप्त देख पूछा,—"तू कौन है, किस लिए आया है ?" उसने उसकी बात सुन उत्तर दिया—"महाराज मैं तिन्दुक देवता हूँ। तुम्हें उपदेश देने के लिए आया हूँ।" "क्या उपदेश देगा ? " पूछने पर कहा--"महाराज ! तू प्रमादी

हो कर राज्य करता है। इसलिए तेरा सारा राज्य लूटे पाटे हुए की तरह विनष्ट हुआ है। राजा प्रमाद से राज्य करते हैं तो सारे राष्ट्र के स्वामी भी नहीं रहते। इसी जन्म में विनाश को प्राप्त हो, मरने पर महान-नरक में जन्म ग्रहण करते हैं। उनके प्रमादी होने पर, उनके भीतर बाहर के सभी जन प्रमादी हो जाते हैं। इसलिए राजा को विशेष रूप से अप्रमादी होना चाहिए।" इतना कह धर्मदेशना की स्थापना करते हुए उसने ग्यारह गाथाएं कहीं।

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथामता ॥१॥
मदा पमादो जायेथ, पमादा जायते खयो
खया पदो सा जायन्ति, मा मदो भरतूसभ ॥२॥
बहू हि खत्तिया जीना अत्थं रट्ठं पमादिनो
अथोपि गामिनो गामा अनागारा अगारिनो ॥३॥
खत्तियस्स पमत्तस्स रट्ठस्मि रट्ठवद्धन
सब्बे भोगा विनस्सन्ति, रञ्ञो तं वुच्चते अघं ॥४॥
नेस धम्मो महाराज, अतिवेलं पमज्जसि,
इद्धं फीतं जनपदं चोरा विद्धंसयन्ति तं ॥५॥
न ते पुत्ता भविस्सन्ति न हिरञ्ञं न धानियं
रट्ठे विलुम्पमानम्हि सब्बभोगेहि जीयसि ॥६॥
सब्बभोगपरिजिण्णं राजानं चापि खत्तिय
जातिमित्ता सुहज्जा च न नं मञ्ञन्ति खत्तियं ॥७॥
हत्थारूहा अनीकट्ठा रथिका पत्तिकारिका
तं एवं उपजीवन्ता न नं मञ्ञन्ति खत्तियं ॥८॥
असंविहितकम्मंतं बालं दुम्मतिमंतिनं
सिरी जहति दुम्मेधं जिण्णं व उरगो तचं ॥९॥
सुसंविहितकम्मंतं कालुट्ठायिं अतंदितं
सब्बे भोगाभिवड्ढन्ति गावो सौसभामिव ॥१०॥
उपस्सुतिं महाराज रट्ठे जनपदे चर,
तत्थ दिस्वा च सुत्वा च ततो तंपटिपज्जसि ॥११॥

[अप्रमाद अमृत है। प्रमाद मृत्यु ही है। अप्रमादी नहीं मरते। प्रमादी तो मृत सदृश ही होते हैं ॥१॥ मद से प्रमाद पैदा होता है। प्रमाद से हानि होती है। हानि से दोष पैदा होते हैं। इसलिए हे राजन्! प्रमाद न करें ॥२॥ प्रमाद से बहुत से क्षत्रियों की अर्थ तथा राष्ट्र की हानि हुई। बहुत से ग्राम-मुखियों को ग्राम की, तथा बहुत से प्रव्रजितों और गृहस्थों को भी ॥३॥ हे राष्ट्रवर्धन! प्रमादी क्षत्रिय के राष्ट्र में सभी भोग नष्ट हो जाते हैं। राजा गण उसे पाप' मानते हैं ॥४॥ महाराज! यह (पुरातन) धर्म नहीं है। तुम बहुत प्रमाद करते हो—(प्रमादी राजा के) धनधान्य पूर्ण राष्ट्र को चोर आकर उजाड़ देते हैं ॥५॥ न तेरे पुत्र रहेंगे, न सोना और न धान्य। राष्ट्र के उजड़ जाने पर तू सभी भोगों से हीन हो जायेगा ॥६॥ हे क्षत्रिय! सभी भोगों से क्षत्रिय को जाति-मित्र तथा सुहृदय क्षत्रिय (—राजा) नहीं मानेंगे ॥७॥ तेरे ही आश्रय से जीने वाले हाथी-सवार, पहरेदार, रथी, और पैदल सैनिक भी तुझे क्षत्रिय मानेंगे ॥ ॥ जो असंयमी है, जो मूर्ख है, जिसकी मन्त्रणा गलत है; ऐसे दुर्बुद्धि आदमी को श्री उसी प्रकार छोड़ जाती है, जैसे सांप अपनी केचुल को ॥९॥जो संयमी है, जो संयम से (सोकर) उठने वाला है जो तन्द्रा-रहित है, उसके सभी भोग उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हैं, जैसे वृषम सहित गौवें ॥१०॥ महाराज! राष्ट्र में और जनपद में ज्ञान-वृद्धि के लिए घूमें। देखसुन कर आप यथोचित मार्ग पर चलेंगे ॥११॥

इसी प्रकार ग्यारह गाथाओं द्वारा राजा को उपदेश दे कर "जा विलम्ब न कर, राष्ट्र को संभाल, नष्ट मत होने दे" कह अपने स्थान को ही चला गया। राजा ने भी उसकी बात सुनी तो उसे वैराग्य हुआ। वह अगले दिन राज्य अमात्यों को सौंप पुरोहित के साथ, समय से ही, पूर्व-द्वार के नगर से निकल योजन भर गया। वहाँ एक बूढ़ा ग्रामीण जंगल से कांटों भी झांपें ला, घर के द्वार को घेर बन्द कर, पुत्र और स्त्री के साथ चला गया था। शाम को राजपुरुषों के चले घर जाने पर अपने घर आया तो घर के द्वार पर पांव में काँटा लग गया। वह उकड़ूँ बैठ गया और पाँव से काँटा निकलता हुआ बोला—

> एवं वेदेतु पञ्चालो संगामे सरसमप्पितो
> यथाहं अज्ज वेदेमि कण्टकेन समप्पितो ॥१२॥

[जिस प्रकार आज मुझे काँटा लगने से दुःख हो रहा है, वैसा ही दुःख पंचाल राज को भी युद्ध में तीर लगने से हो ॥१२॥]

इस प्रकार उसने राजा को गाली दी। किन्तु उसका यह गाली देना बोधिसत्व के ही प्रताप से हुआ। यह जानना चाहिये कि बोधिसत्व से अधिगृहीत होने के कारण ही वह गाली देता था। उस समय राजा और पुरोहित अप्रकट-वेष में उसके पास ही खड़े थे। उसकी बात सुन पुरोहित ने दूसरी गाथा कही—

जिण्णो दुब्बल चक्खू सी, रूपं साधु पस्ससि,
किं अत्थ ब्रह्मदत्तस्स यं तं मग्गेय्य कन्टको ॥१३॥

[तू बूढ़ा है, दुर्बल-दृष्टि वाला है। तुझे साफ-साफ नहीं दिखाई देता। तुझे काँटा लगता है तो इसमें ब्रह्मदत्त का क्या दोष है ? ॥१३॥

यह सुन बूढ़े ने तीन गाथाएँ कहीं—

पहोत्थ ब्रह्मदत्तस्स योहं मग्गोस्मि ब्राह्मण,
अरक्खिता जानपदा, अधम्मबलिना हत्ता ॥१४॥
रत्तिन्हि चोरा खादन्ति, दिवा खादन्ति तुण्डिया
रट्ठस्मि कुडु राजस्स बहु अधम्मिको जनो ॥१५॥,
एदादिसे भये तात भयट्ठा ताव मानवा
निल्लेनकानि कुब्बन्ति वने आहतवा कन्टकं ॥१६॥

[हे ब्राह्मण ! जो मुझे मार्ग में काँटा लगा है उसमें ब्रह्मदत्त का बहुत दोष है। जनपद के सभी लोग अरक्षित हो गये हैं और जोर जबर्दस्ती कर वसूल करने वालों से अत्यधिक पीड़ित हैं ॥१४॥ रात को चोर लूटते हैं और दिन में कर वसूल करने वाले। दुष्ट राजा के राष्ट्र में बहुत जन अधार्मिक हो गये हैं ॥१५॥ हे तात। इस प्रकार के भय के उपस्थित रहने पर भय से अभिभूत मनुष्य वन से कांटे लाकर अपने छिपने के स्थान बनाते हैं ॥१६॥]

यह सुन राजा ने पुरोहित को सम्बोधित करके कहा—आचार्य ! बूढ़ा ठीक कहता है। हमारा ही दोष है। आ लौट चलें। धर्मानुमार राज्य करायेंगे।" बोधिसत्त्व ने पुरोहित के शरीर में प्रवेश कर आगे खड़े होकर कहा—"महाराज ! अभी और देखें।" उन्होंने उस गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए

मार्ग में एक बुढ़िया की आवाज सुनी। वह एक दरिद्र स्त्री थी। जिसकी दो आयु-प्राप्त कन्याएँ थीं। उनकी सुरक्षा के ख्याल से वह उन्हें जंगल न जाने देती। स्वयं जंगल से लकड़ी और शाक लाकर लड़कियों को पालती। एक दिन वह एक झाड़ पर चढ़कर शाक तोड़ती हुई पलटकर भूमि पर आ रही थी। वह राजा को मरने की गाली देती हुई बोली—

> कदास्सु नाम अयं राजा ब्राह्मदत्तो मरिस्सति
> यस्स रट्ठस्मिं जीवन्ति अप्पतीता कुमारिका ॥१७॥

[यह ब्रह्मदत्त राजा कब मरेगा ? जिसके राज्य में कुमारी लड़कियाँ पति विहीन रहती हैं ॥१७॥]

पुरोहित ने उसका निषेध करते हुए गाथा कही—

> दुब्भासितं हि ते जम्मि अनत्थपदकोविदे
> कुहिं राजा कुमारीनं भत्तारं परियेसति ॥१८॥

[अरी दुष्ट ! अनुचित बोलने वाली तेरा बोलना बहुत खराब है। राजा कुमारियों के लिये पति कहाँ से ढूंढ़ेगा ? ॥१८॥

यह सुन बुढ़िया वे दो गाथाएँ कहीं—

> न मे दुब्भासितं ब्रह्मे कोविदत्थपदा अहं
> अरक्खिता जानपदा अधम्मबलिना हता ॥१९॥
> रत्तिम्हि चोरा खादन्ति दिवा खादन्ति तुण्डिया
> रट्ठस्मिं कुट्ठ राजस्स बहु अधम्मिको जनो
> दुज्जीवे दुब्भरे दारे कुतो भत्ता कुमारियो ॥२०॥

[हे ब्राह्मण ! मैंने खराब बात नहीं कही है। मैं अर्थ और पद की समझने वाली हूँ। जनपद के सभी लोग अरक्षित हो गये हैं और जोर जबर्दस्ती कर वसूल करने वालों से अत्यधिक पीड़ित हैं। रात को चोर लूटते हैं और दिन में कर वसूल करने वाले। दुष्ट राजा के राष्ट्र में बहुत लोग अधार्मिक हैं। जब जीवन दूभर हो गया हो, जब दाराओं का भरण-पोषण कठिन हो गया हो, तो कुमारियों को भर्ता कहाँ से मिलेगा ? ॥२०॥]

उन्होंने उसकी बात सुनकर कहा—"ठीक कहती हो।" आगे जाने पर एक किसान का शब्द सुनाई दिया। उस हल चलाने वाले का शालीय नाम का बैल पैनी की मार से जमीन पर आ रहा था। किसान ने राजा को गाली देते हुए गाथा कही—

एवं सयतु पञ्चालो संगामे सत्तिया हतो
यथापं कपणो सेति हतो फालेन सालियो ॥२१॥

[संग्राम में पाञ्चाल इसी प्रकार शक्ति-आयुध से आहत होकर पड़ रहे, जैसे यह विचारा शालीय बैल पैणी से आहत होकर गिर पड़ा है ॥२१॥

पुरोहित ने उसका निषेध करते हुए कहा—

अधम्मेन तुवं जम्म ब्रह्मदत्तस्स कुज्झसि
यो त्वं सपति राजानं अपरज्झि त्वान अत्तना ॥२२॥

[हे दुष्ट ! तू व्यर्थ ही ब्रह्मदत्त पर क्रोध करता है। तेरा अपना दोष है और तू राजा को गाली देता है ॥२२॥]

यह सुन उसने तीन गाथायें कहीं—

धम्मेन ब्रह्मदत्तस्स अहं कुज्झामि ब्राह्मण
अरक्खिता जानपदा अधम्मबलिना हता ॥२३॥
रत्तिम्हि चोरा खादन्ति, दिवा खादन्ति तुण्डिया,
रट्ठस्मिं कुडुराजस्स बहु अधम्मिको जनो ॥२४॥
सा नून पुन रे पक्का विकाले भतं आहरि
भत्तहारिं अवेक्खन्तो हतो फालेन सालियो ॥२५॥

[हे ब्राह्मण ! मेरा ब्रह्मदत्त पर क्रोध करना उचित ही है। जनपद के सभी लोग आरक्षित हो गये हैं और जोर जबर्दस्ती कर वसूल करने वालों से अत्यधिक पीड़ित हैं। रात को चोर लूटते हैं और दिन में कर वसूल करने वाले। दुष्ट राजा के राज्य में बहुत लोग अधार्मिक हैं। वह भात पकाने वाली दुबारा पका कर मेरे लिए भात लाई।[1] भात को प्रतीक्षा करते हुए मैंने शालियों को अनुचित-स्थल पर मारा ॥२५॥]

---

१. पहले पाकाया हुआ भात सरकारी आदमी छीन कर खा गये।

आगे चल कर वे एक ग्राम में रहे। अगले दिन प्रातःकाल ही एक मार-खानी गऊ ने दूध देने वाले पर लात चला उसे दूध सहित उलट दिया। उसने भी ब्रह्मदत्त को गाली देते हुए गाथा कही--

एवं हञ्ञतु पञ्चालो संगामे असिना बळहं
यथाहं अज्ज पहतो खीरञ्च मे पवट्टितं ॥२६॥

[संग्राम में पञ्चाल-नरेश तलवार द्वारा आहत होकर इसी प्रकार उलट जाय, जिस प्रकार आज मुझे चोट लगी और मेरा दूध उलट गया ॥२६॥

यह सुन ब्राह्मण बोला--

यं पसु खीरं छड्डेति पसु फालञ्च हिंसति
किं तत्थ ब्रह्मदत्तस्स यं नो गरहतो भवं ॥२७॥

[जो पशु दूध देता है, वही पशु हिंसा करता है। इनमें ब्रह्मदत्त का क्या अपराध है, जो आप ब्रह्मदत्त की निन्दा करते हैं ॥२७॥]

इस प्रकार ब्रह्मदत्त के गाथा कहने पर उसने फिर तीन गाथायें कहीं—

गारह्यो ब्रह्मे पञ्चालो ब्राह्मदत्तस्स राजिनो
अरक्खिता जानपदा अधम्मबलिना हता ॥२८॥
रत्तिम्हि चोरा खादन्ति, दिवा खादन्ति तुण्डिया
रट्ठस्मिं कुट्ठराजस्स बहु अधम्मिको जनो ॥२९॥
चण्डा अटनकगावी यं पुरे न दुहामसे
तं दानि अज्ज दोहाम खीरकामेहउपद्दुता ॥३०॥

[हे ब्राह्मण ! पञ्चाल-नरेश ब्रह्मदत्त निन्दनीय है। जनपद के सभी लोग अरक्षित हो गये हैं, और जोर जबर्दस्ती कर वसूल करने वालों से अत्यधिक पीड़ित हैं। रात को चोर लूटते हैं और दिन में कर वसूल करने वाले। दुष्ट राजा के राज्य में बहुत लोग अधार्मिक हैं। जिन-चण्ड-स्वभाव भाग जाने वाली गायों को हम पहले नहीं दुहते थे, उन्हें आज दूध चाहने वाले सरकारी आदमियों के मारे दुहना पड़ता है ॥२८ ३०॥]

वे "ठीक कहते हैं" कहके उस गाँव से निकल महा-मार्ग पर चल नगर की ओर गये। एक गाँव में कर वसूल करने वालों ने म्यान के लिये एक तरुण

चितकबरे बछड़े को मार उसका चमड़ा लिया। बछड़े की माँ गऊ पुत्र-शोक से न घास खाती, न पानी पीती, किन्तु विलाप करती भटकती। उसे देख गाँव के बच्चे राजा को गाली देते हुए कहते--

एवं कन्दतु पञ्चालो विपुत्तो विप्पसुक्खतु
यथाहं कपणा गावी विपुत्ता परिधावति ॥३१॥

[पुत्र-विहीन पञ्चाल इसी प्रकार रोये और सूख जाये, जैसे यह विचारी पुत्र-विहीन गऊ इधर-उधर भटकती है ॥३१॥]

यं पसु पसुपालस्स पभमेय्य रवेय्य वा
को नीध अपराध अत्थि ब्रह्मदत्तस्स राजिनो ॥३२॥

[किसी पशुवाले का पशु यदि भटके अथवा रंभे, तो ब्रह्मदत्त राजा का इस में क्या अपराध है ? ॥३२॥]

तब गाँव के बच्चों ने दो गाथाएँ कहीं--

अपराधो महाब्रह्मे ब्रह्मदत्तस्स राजनो
अरक्खिता जानपदा, अधम्मबलिना हता ॥३३॥
रत्तिम्हि चोरा खादन्ति, दिवा खादन्ति तुण्डिया,
रट्ठस्मि कुड्डराजस्स बहु अधम्मिको जनो,
कथं नो असिकोसत्था खीरपा हञ्ञते पजा ॥३४॥

[हे महा ब्राह्मण ! ब्रह्मदत्त राजा अपराधी है। जनपद के सभी लोग अरक्षित हो गये हैं, और जोर-जबर्दस्ती कर वसूल करने वालों से अत्यधिक पीड़ित हैं। रात को चोर लूटते हैं और दिन में कर वसूल करने वाले। दुष्ट राजा के राज्य में बहुत लोग अधार्मिक हैं। अन्यथा खड्ग की म्यान के लिए, दूध पीने वाले बछड़े कैसे मारे जायेंगे ? ॥३४॥]

वे "ठीक कहते है" कह चले गये। रास्ते में एक सूखे पोखर में कौवे चोंच मार-मार कर मेढकों को खा रहे थे। जब वे वहाँ पहुँचे तो बोधिसत्व ने अपने प्रताप से मेढक से राजा को गाली दिलवाई—

एवं खज्जतु पञ्चालो हतो युद्धे सपुत्तको
यथाहं अज्ज खज्जामि गामकेहि अरञ्जजो ॥३५॥

[इसी प्रकार सपुत्र पञ्चाल-नरेश युद्ध में मारा जाकर खाया जाय, जिस प्रकार मैं अरण्यवासी आज गाँव के कौओं द्वारा खाया जा रहा हूँ ॥३५॥]

यह सुन पुरोहित ने मेढक के साथ बातचीत करते हुए गाथा कही--

न सब्बभूतेसु विधेन्ति रक्खं
राजानो मण्डूक मनुस्सलोके
न एत्तावता राजा अधम्मचारी
यं तादिसं जीवं अदेय्यु धंका ॥३६॥

[हे मेढक ! दुनिया में राजा सभी प्राणियों की रक्षा की व्यवस्था नहीं करता। यदि कौवे तेरे जैसे जीव को खा जायँ तो इतने से ही राजा अधार्मिक नहीं होता ॥३६॥]

यह सुन मेढक ने दो गाथाएँ कहीं—

अधम्मरूपो वत ब्रह्मचरी
अनुप्पियं भासति खत्तियस्स
विलुम्पमानाय पुथुप्पजाय
पूजेसि राजा परमप्पवादिं ॥३७॥
सचे इमं ब्रह्म सुरज्जकंसिया
फीतं रट्ठं मुदितं विप्पसन्नं
भुत्वा बलिं अग्गपिण्डंच काका
न मादिसं जीवं अद्देय्यु धंका ॥३८॥

[हे ब्रह्मचारी ! तू अधार्मिक है। क्योंकि तू क्षत्रिय के अनुकूल ही बोलता है। बहुत सारी प्रजा के लुटते हुए तू परम निन्दित राजा की प्रशंसा करता है ॥३७॥

हे ब्राह्मण ! यदि यहाँ सुशासन होता और यह राष्ट्र प्रमुदित, प्रसन्न तथा समृद्ध होता तो कौवे काक-बलि और अग्रपिण्ड खाकर मेरे सदृश प्राणियों को न खाते ॥]

यह सुना तो राजा और पुरोहित ने कहा कि जंगल में रहने वाले जीव, मेढक तक, सब हमें ही गाली देते हैं। उसी समय से वे नगर गये और उन्होंने धर्मानुसार राज्य करवा, बोधिसत्व के उपदेशानुसार चल दानादि पुण्य कर्म किए।

शास्ता ने कोशल नरेश को यह धर्म-देशना सुना, "महाराज ! राजा को अगतियों से बच धर्मानुसार राज्य करना चाहिए" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय गन्डतिन्दुक देवता मैं ही था।



चालीसवाँ परिच्छेद

५२१. तेसकुण जातक

"वेस्सन्तरन्तं पुच्छामि"........" यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय कोशल राजा को उपदेश देने के तौर पर कही।

क. वर्तमान कथा

जिस समय वह नरेश धर्म सुनने के लिये आया, शास्ता ने उसे सम्बोधित कर कहा—"महाराज ! राजा को धर्मानुसार राज्य करना चाहिये। जिस समय राजा अधार्मिक हो जा जाते हैं, राजपुरुष भी उस समय अधार्मिक हो जाते हैं।" इसी प्रकार चौथे परिच्छेद में कहे के अनुसार उपदेश दें, अगति-गमन के दोष और अगतिअगमन के लाभ दिखा कर, तथा काम-भोगों की स्वप्नों आदि से विस्तारपूर्वक उपमा देकर शास्ता ने—

मच्चुना सङ्गरो नत्थि, लञ्चग्गाहो न विज्जति,
युद्धं नत्थि जयो नत्थि, सब्बे मच्चुपरायना।

[मृत्यु से समझौता नहीं होता, रिश्वत लेना-देना भी नहीं होता, युद्ध भी नहीं होता, विजय भी नहीं होती : सभी को मरना ही होता है।]

कह, और उन परलोक जाने वालों के लिये उनके अपने शुभकर्मों के अतिरिक्त और अन्य कोई भी आधार नहीं, कह, और क्षण-भंगुर-संसार के प्रति आसक्ति छोड़नी ही चाहिये, स्पष्ट कर, तथा वैभव के लिये प्रमाद नहीं करना चाहिये और अप्रमाद पूर्वक ही रहना चाहिये, कहकर कहा कि 'जिस समय बुद्ध का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, उस समय प्राचीन राजा पण्डित-जनों के उपदेशानुसार चल, धर्मपूर्वक राज्य कर देव-नगर को भरते हुए परलोक सिधारे।' फिर उसके प्रार्थना करने पर पूर्वजन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय राजा निपुत्ता था, प्रार्थना करने से भी उसे लड़का-लड़की कुछ नहीं हुआ। एक दिन वह बहुत से अनुयाइयों के साथ उद्यान गया था। वहाँ वह दिन भर उद्यान में खेलता रहा। फिर उसने मंगल-शाल-वृक्ष के नीचे बिस्तर लगवाया और थोड़ी देर सो गया। उठने पर उसकी शाल-वृक्ष पर नजर गई तो वहाँ उसने पक्षि-घोंसला देखा। नजर पड़ते ही उसके मन में स्नेह पैदा हो गया। उसने एक आदमी को बुलाकर कहा—"इस वृक्ष पर चढ़कर देख कि इस घोंसले में कोई है, अथवा नहीं?" उसने चढ़कर वहाँ तीन अण्डे देखे और राजा को सूचना दी। तो इनको अपनी साँस मत लगने दे, कह, बोहिये में रुई विछाकर आज्ञा दी कि इसमें इन अण्डों को रख धीरे से उतर आ। उसे उतार और बोहिया हाथ में ले अमात्यों से पूछा कि यह किसके अण्डे हैं? उन्होंने उत्तर दिया—"हम नहीं जानते। शिकारी जानते होंगे।" राजा ने शिकारियों को बुलाकर पूछा। शिकारी बोले—महाराज! एक तो उल्लू का अण्डा है, एक मैना का अण्डा है और एक तोते का अण्डा है।" क्या एक घोंसले में तीन भिन्न प्रकार के पक्षियों के अण्डे होते हैं?" "हाँ देव। खतरा न होने पर, अच्छी तरह रखे गये अण्डे नष्ट नहीं होते हैं।" राजा ने सन्तुष्ट हो सोचा, "ये तीनों अण्डे मेरी सन्तान होंगे।" उसने वे तीनों अण्डे तीन अमात्यों को सौंपे और कहा—"ये मेरी सन्तान होंगे। तुम अच्छी तरह देख-भाल करो। जब अण्डा फोड़ कर बाहर निकलें, तो मुझे सूचित करना।" उन्होंने भली प्रकार रक्षा की। पहले उल्लू का अण्डा फूटा। अमात्य ने एक शिकारी को बुलाकर पूछा—यह 'नर' है या 'मादा'? उसने परीक्षा करके उत्तर दिया—'नर'। तब अमात्य ने सन्तुष्ट हो उसे बहुत सा धन दिया और यह कह कर विदा किया कि पुत्र का भली प्रकार पालन पोषण करे और उसका नाम वेस्सन्तर रक्खे। उसने वैसा ही किया। उसके कुछ दिन बाद मैना का अण्डा फूटा। उसकी भी अमातय ने उसी शिकारी से परीक्षा करा, उसके 'मादा' कहने पर राजा के पास जा निवेदन किया" राजन्! आपको पुत्री हुई है।" राजा ने सन्तुष्ट हो उसे भी धन दे

और यह कह कर विदा किया कि "मेरी पुत्री को अच्छी तरह पाल-पोस और उसका नाम कुण्डलिनी रख" उसने वैसा ही किया। फिर कुछ दिन बाद तोते का अण्डा फूटा। उस अमात्य ने भी उसी शिकारी से परीक्षा करा, उसके 'नर' कहने पर राजा के पास जाकर कहा—"देव! आपको पुत्र हुआ है। राजा ने सन्तुष्ट हो उसे भी धन देकर और यह कह कर विदा किया कि मेरे पुत्र का बड़े ठाट-बाट से लालन-पालन कर, उसका जम्बुक नाम रख। उसने वैसा ही किया। वे तीनों पक्षी, तीनों अमात्यों के घर में राजकुमारों की तरह बढ़ने लगे। राजा कहता—"मेरे पुत्र, मेरी पुत्री।" अमात्य-गण परस्पर परिहास करते—"देखो राजा की क्रिया! पशु-पक्षियों को 'मेरे पुत्र, मेरी पुत्री' कहता फिरता है!" राजा ने सोचा, "ये अमात्य इनकी बुद्धि-सामर्थ्य से परिचित नहीं हैं। इन पर प्रकट करूँगा।"

उसने एक अमात्य को वेस्सन्तर के पास भेजा कि जाकर पूछकर आ कि तुम्हारा पिता प्रश्न पूछने के लिये आना चाहता है, कब आये? अमात्य ने आकर और वेस्सन्तर को नमस्कार कर वह सन्देश दिया। वेस्सन्तर ने अपना पालन-पोषण करने वाले अमात्य को संबोधन कर कहा कि मेरा पिता मुझसे प्रश्न पूछना चाहता है, यहाँ आने पर उसका सत्कार करना होगा। फिर पूछा कि कब आयेगा? अमात्य ने उत्तर दिया कि आज से सातवें दिन। यह सुन वेस्सन्तर ने अमात्य को यह कह कर विदा किया कि मेरा पिता आज से सातवें दिन आवे। उसने जाकर राजा से कहा। राजा ने सातवें दिन नगर में मुनादी कराई और पुत्र के निवास-स्थान पर पहुँचा। वेस्सन्तर ने राजा का बहुत आदर-सत्कार किया; यहाँ तक कि दास तथा कर्मकर आदि से भी करवाया। राजा ने वेस्सन्तर पक्षी के घर भोजन किया और बड़े आनन्द का अनुभव कर अपने निवास-स्थान को लौट आया। फिर राजांगन में बड़ा भारी मण्डप बनवा, नगर में मुनादी करा, अलंकृत मण्डप में बहुत से जनों के मध्य बैठ, अमात्य के पास सन्देश भेजा कि वेस्संतर को ले आये। अमात्य वेस्सन्तर को सोने के पीढ़े पर बिठाकर ले आया। पक्षी पिता की गोद में बैठ, पिता के साथ खेल, फिर जाकर वहीं स्वर्णासन पर बैठा। राजा ने बड़ी भारी जनता के सम्मुख उससे राजधर्म पूछते हुए पहली गाथा कही—

वेस्सन्तरं तं पुच्छामि, सकुण भद्दं अत्थुते,
रज्जं कारेतु कामेन किं सु किच्चं कतं वरं ॥१॥

[हे वेस्सन्तर ! मैं पूछता हूँ । हे पक्षी ! तेरा कल्याण हो । जो राज्य करना चाहता है, उसके लिये कौन-कौन सा कर्म करना अच्छा होता है ? ॥१॥]

यह सुन वेस्सन्तर ने बिना प्रश्न का उत्तर दिये ही राजा पर प्रमादी होने का दोषारोपण करते हुए दूसरी गाथा कही—

चिरस्सं वत मं तातो कंसो बाराणसिग्गहो
पमत्तो अप्पमत्तं मं पिता पुत्तं अचोदयि ॥२॥

[चिरकाल तक आज वाराणसी-नरेश प्रमादी कंस पिता ने मुझ अप्रमादी पुत्र से प्रश्न पूछा ॥२॥]

उसने इस गाथा से दोषारोपण कर, "महाराज् ! राजा को तीन धर्मों में स्थित रहकर धर्मानुसार राज्य करना चाहिये कह राज-धर्म का उपदेश देते हुए कहा—

पठमेनेव वितथं कोधं हासं निवारये
ततो किच्चानि कारेय्य, तं वतं आहु खत्तिय ॥३॥
यं त्वं तात तपे कम्मं पुब्बे कतं असंसयं
रत्तो दुट्ठो च यं कयिरा न तं कयिरा ततो पुनं ॥४॥
खत्तियस्स पमत्तस्स रट्ठस्मि रट्ठबद्धन
सब्बे भोगा विनस्सन्ति, रञ्ञो तं वुच्चते अघं ॥५॥
श्री च तात लक्खी च पुच्छिता एतद् अब्रवुं
उट्ठानविरिये पोसे रमाहं अनुसुय्यके ॥६॥
उस्सुय्यके दुहदये पुरिसे कम्मदुस्सके
कालकण्णी महाराज रमति चक्कभञ्जनी ॥७॥
सो त्वं सब्बेसं सुहदयो सब्बेसं रक्खितो भव
अलक्खिं नुद महाराज लक्खी भव निवेसनं ॥८॥
सलक्खि धितिसम्पन्नो पुरिसो हि महग्गतो
अमित्तानं कासिपति मूलं अग्गं च छिन्दति ॥९॥

सक्को पि हि भूतपति उट्ठाने नप्पमज्जति
स कल्याणे घितिं कत्वा उट्ठाने कुरुते मनो ॥१०॥
गन्धब्बा पितरो देवा सञ्जीवा होन्ति तादिनो
उट्ठहतो अप्पमज्जतो अनुतिट्ठन्ति देवता ॥११॥
सो अप्पमत्तो अकुट्ठो तात किच्चानि कारये
वायमस्सु च किच्चेसु, नालसो विन्दते सुखं ॥१२॥
तत्थेव ते वत्तपदा एसा च अनुसासनी
अलं मित्ते सुखा पेतुं अमित्तानं दुक्खाय च ॥१३॥

[सर्वप्रथम तो उसे चाहिये कि वह असत्य, क्रोध तथा छिछोरपन का त्याग करे। तब अन्य कार्य्य करे। हे क्षत्रिय ! यही राजाओं का व्रत कहा गया है ॥३॥ हे तात ! जिस कर्म को पहिले किया हो और उसके करने से असन्दिग्ध रूप से अनुताप होता हो, उस कर्म को राग अथवा द्वेष के वशीभूत हो फिर न करे ॥४॥ हे राष्ट्रवर्धन ! प्रमादी राजा के राष्ट्र में उसके सभी भोग नाश को प्राप्त हो जाते हैं। पाप राजा का पाप कहलाता है ॥५॥ तात ! श्री और लक्ष्मी से जब पूछा गया तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि हम उत्थान-वीर्य्य से युक्त इर्षा-विहीन पुरुष के पास रहती हैं ॥६॥ हे महाराज ! जो इर्षावान् है, जो दुष्ट हृदय है, जो दूषित-कर्म है, उसके पास (कुशल-चित्त का) भञ्जन करने वाली मनहूसियत रहती है ॥७॥ हे महाराज ! इसलिये आप सबके सुहृदय तथा सबके हितचिन्तक हों। दरिद्रता को दूर भगावें और लक्ष्मी के निवास-स्थान बनें ॥८॥ वह लक्ष्मी-पति, धृतिवान्, उदार हृदय पुरुष, के काशी-पति ! शत्रुओं को जड़मूल से उखाड़ फेंकता है ॥९॥ हे राजन् ! शक्र भी उत्थान-वीर्य्य के प्रति प्रमाद नहीं करता। वह शुभ-कर्म के प्रति धैर्य्यवान् होकर उत्थान-वीर्य्य में अनुरक्त होता है ॥१०॥ स्थिर-चित्त राजा के गन्धर्व पितर तथा देवता उसका आश्रम लगाये रहते हैं। जो अप्रमादी है, जो उत्थान-वीर्य्य युक्त है, देवता उसका अनुरक्षण करते हैं ॥११॥ इस लिये हे तात ! आनिन्दित रहकर, अप्रमादी रहकर कार्य्य करें। कर्त्तव्यों को करने में प्रयत्न शील हों। आलसी आदमी को सुख प्राप्त नहीं होता ॥११॥ इसी में तेरे व्रत हैं। यही तेरे लिये अनुशासन है। ये मित्रों को सुखी तथा शत्रुओं को दुखी बनाये रखने के लिये पर्याप्त हैं ॥१३॥]

इस प्रकार वेस्सन्तर-पक्षी ने एक गाथा से राजा को प्रमाद का दोषी ठहरा, ग्यारह गाथाओं से धर्मोपदेश दे, बुद्ध के ढंग से प्रश्नोत्तर दिया। जनता ने आश्चर्य से चकित हो सैकड़ों साधुकार दिये। राजा ने प्रसन्न हो मंत्रियों को बुलाकर पूछा—"अमात्यों ! मेरे पुत्र वेस्सन्तर ने जो इस प्रकार कहा, वह किसके करने योग्य कार्य किया ?" "देव ! महासेन रक्षक के योग्य।" "तो इसे महासेन रक्षक का पद देता हूँ" कह उसे उस पद पर नियुक्त किया। उस समय से वह महासेन रक्षक के पद पर नियुक्त रह पिता का कार्य करता रहा।

वेस्सन्तर-प्रश्न समाप्त

फिर कुछ दिन के बाद राजा ने पहले ही की तरह कुण्डलिनी के पास दूत भेज, सातवें दिन वहाँ जा, वापिस आ, वहीं मण्डल के बीच बैठ, कुण्डलिनी को मंगवाया। फिर सोने के आसन पर बैठी हुई उस कुण्डलिनी से राजधर्म पूछते हुए गाथा कही--

> सक्खी त्वं कुण्डलिनि मञ्ञसि खत्तिय बन्धुनी
> रज्जं कारेतु कामेन किं सु किच्चं कतं वरं ॥१४॥

[हे क्षत्रिय-भगिनी कुण्डलिनी ! तू प्रश्न का उत्तर देने में अपने आप को समर्थ मानती है ? यदि मानती है तो बता कि राज्य करने की इच्छा रखने वाले के लिये क्या-क्या करना अच्छा होता है ? ॥१४॥]

इस प्रकार राजा द्वारा राजधर्म पूछे जाने पर "तात ! ऐसा मालूम देता है कि तुम यह सोचते हो कि यह स्त्री जाति क्या उत्तर दे सकेगी, मैं सारे राजधर्म को दो पदों के अन्तर्गत करके कहूँगी" कह ये गाथाएँ कहीं--

> द्वे व तात पदकानि येसु सब्बं पतिट्ठितं
> अलद्धस्स च यो लाभो लद्धस्स अनुरक्खना ॥१५॥
> अमच्चे तात जानाहि धीरे अत्थस्स कोविदे
> अनक्ख आकिवे तात असोण्डे अविनासके ॥१६॥
> यो च तं तात रक्खेय्य धनं यञ्चेव ते सिया
> सूतोव रथं संगण्हे सो ते किच्चायिकारये ॥१७॥

सुसंगहीतन्तजनो सयं चित्तं अवेक्खिय
निधिं च इणदानं च न करे परिपत्तिया ॥१८॥
सयं आयवयं जञ्ञा, सयं जञ्ञा कताकतं
निग्गण्हे निग्गहारंह, पग्गण्हे पग्गहारहं ॥१९॥
सयं जानपदं अत्थं अनुसास पथेसभ
मा ते अधम्मिका पुत्ता धनं रट्ठ च नासयुं ॥२०॥
मा च वेगेन किच्चानि कारेसि कारयेसि वा,
वेगसा हि कतं कम्मं मन्दो पच्छानुतप्पति ॥२१॥
मा ते अविसरे मुञ्च सुबालहं अधिकोधितं,
कोधसा हि बहू पिता कुला अकुलतं गता ॥२२॥
मा तात इस्सरोम्हीति अनत्थाय पतारयि
इत्थीनं पुरिसानञ्च मा ते आसि दुखुद्रयो ॥२३॥
अपेत लोम हंसस्स रञ्ञो कामानुसारिनो
सब्बे भोगा विनस्सन्ति, रञ्ञोतं वुच्चते अघं ॥२४॥
तत्थेव ते वत्तपदा एसा च अनुसासनी
दक्खस्सु दानि पुञ्ञकरो असोण्डो अविनासको
सीलव अस्सु महाराज, दुस्सीलो विनिपातको ॥२५॥

[तात ! दो ही बातों में सब कुछ समा जाता है--अप्राप्त की प्राप्ति में और प्राप्त के अनुरक्षण में ॥१५॥ हे तात ! अपने अमात्यों को पहचान और उनमें ऐसे आमात्य देख जो धीर हों, जो अर्थ के जानकार हों, जो जुआरी न हों, जो ठग न हों, जो शराबी न हों तथा जो नष्ट करने वाले न हों ॥१६॥ हे तात ! जो तेरे धन की रक्षा करें और जो उसी प्रकार अर्थ को संभालें जैसे सूत रथ के घोड़ों को संभालता है, वही तेरे कार्य्यों को करें ॥१७॥ अपने अन्दर के आदमियों का भली प्रकार संग्रह करके और स्वयं विचार कर ही पैसे को खजाने में रखना अथवा ऋण देना आदि करें। यह दूसरे के विश्वास पर न करें ॥१८॥ आय-व्यय की स्वयं जाँच करे और कृत्य-अकृत्य को स्वयं जानें। दण्डनीय को दण्ड दे, आदरणीय का आदर करें ॥१९॥ हे राजन् ! स्वयं जन-पद-वासियों का अर्थ के विषय में मार्ग दर्शन कर। ऐसा न हो कि तेरे द्वारा

नियुक्त अधार्मिक (अफसर) धन तथा राष्ट्र का नाश कर दें ॥२०॥ जल्दी बाजी में न कोई काम स्वयं कर और न दूसरे से करा। जल्दबाजी से काम लेने से मूर्ख आदमी को पीछे पछताना पड़ता है ॥२१॥ तू अपने आपको भूलकर कभी भी अत्यधिक क्रोधित मत हो। क्रोध के कारण बहुत से कुलों की कुलीनता नष्ट हो गई ॥२२॥ तात ! अपने आप को सबका मालिक समझ, लोगों का अनर्थ न कर। तेरे कारण स्त्रियों तथा पुरुषों को दुःख का अनुभव न हो ॥२३॥ जो राजा निर्भय होकर जो-जो चाहता है, वही सब करने लगता है, उसके सभी भोग नाश को प्राप्त होते हैं। राजा के लिए यह दुःख होता है ॥२४॥ यही तेरे कर्त्तव्य हैं, यही तेरे लिए अनुशासन है। अब तू दक्ष हो जा। पुण्यकारी हो जा। सुरा-त्यागी हो जा। अविनाशक हो जा। सदाचारी हो जा। हे राजन् ! दुराचारी नरकगामी होता है ॥२५॥]

इस प्रकार कुण्डलिनी ने भी ग्यारह गाथाओं द्वारा धर्मोपदेश दिया। राजा ने संतुष्ट हो अमात्यों को बुलाकर पूछा—"अमात्यों ! मेरी पुत्री कुण्डलिनी ने जो इस प्रकार कहा, वह किसका कार्य किया ?" "देव ! खजानची का।" तो उसे खनानची का ही पद देता हूँ" कह कुण्डलिनी को वह पद दे दिया। उसके बाद से वह खजानाची होकर पिता का कार्य करने लगी।

कुण्डलिनी-प्रश्न समाप्त

कुछ दिनों के बाद राजा ने फिर पहले की तरह जम्बुक पण्डित के पास दूत भेजा और सातवें दिन वहाँ पहुँच, ऐश्वर्य भोग, वापिस लौट, उसी प्रकार मण्डप के बीच में बैठा। अमात्य जम्बुक पण्डित को सोना-बँधे पीढ़े पर बिठा, उसे सिर पर उठा, लाया। पण्डित पिता की गोद में बैठा, खेला और फिर जाकर स्वर्णासन पर ही बैठा। राजा ने उससे प्रश्न पूछते हुए गाथा कही—

अपुच्छम्हापि कोसिकं कुण्डलिनिं च तत्थेव,
जम्बुक त्वं दानि वदेहि बलानं बलं उत्तमं ॥३६॥

[हमने वेस्सन्तर तथा कुण्डलिनी को पूछा। उसी प्रकार हे जम्बुक ! अब तू राजा-धर्म तथा जो बलों में श्रेष्ठ बल है, वह कह ॥२६॥]

राजा ने मुझसे प्रश्न पूछते समय ठीक औरों की तरह न पूछ कर कुछ विशेष करके पूछा ! उस पण्डित ने "तो राजन् ध्यान दे कर सुन, तुझे सब कुछ कहूंगा' कह पसारे हुए हाथ पर हजार की थैली रखते हुए की तरह धर्म-देशना आरम्भ की--

बलं पञ्चविधं लोके, पुरिसस्मिं महग्गते
तत्थ बाहा बलं नाम चरिमं बुच्चते बलं,
भोगबलं च दीघायु दुतियं बुच्चते बलं ॥२७॥
अमच्चबलं दीघायु ततियं बुच्चते बलं
अभिजच्चबलं चेव तं चतुत्थं असंसयं,
यानि चेतानि सब्बानि अधिगण्हाति पण्डितो ॥२८॥
तं बलानं बलं सेट्ठं अग्गं पञ्ञाबलं बलं
पञ्ञाबलेन उपत्थद्धो अत्थं विदन्ति पण्डितो ॥२९॥
अपि चे लभति मन्दो फीतं धरणिं उत्तमं
अकामस्स पसय्हं वा अञ्ञो तं पटिपज्जति ॥३०॥
अभिजातोपि चे होति रज्जं लद्धान खत्तियो
दुप्पञ्ञो हि कासिपति सब्बेन पि न जीवति ॥३१॥
पञ्ञा सुतविनिच्छिनी पञ्ञा सिलोकवद्धनी,
पञ्ञासहितो नरो इध अपि दुक्खे सुखानि विन्दति ॥३२॥
पञ्ञं च खो असुस्सुसं न कोपि अधिगच्छति
बहुस्सुतं अनागम्म धम्मळं अविनिब्भुजं ॥३३॥
यो धम्मं च विभागञ्ञू कालुट्ठायी अतन्दितो
अनुट्ठहति कालेन कम्मफलं तस्स इज्झति ॥३४॥
नाना यतनसीलस्स नाना यतनसेविनो
न निब्बिन्दियकारिस्स सम्मदत्थो विपच्चति ॥३५॥
अज्झत्तं च पयुत्तस्स तथायतन सेविनो
अनिब्बिन्दियकारिस्स सम्मदत्थो विपच्चति ॥३६॥
योगप्पयोगसंखातं सम्मतस्सानुरक्खनं
तानि त्वं तात सेवस्सु, मा अकम्माव रन्धयि
अकम्मना हि दुम्मेधो नळागारं व सीदति ॥३७॥

[हे महाराज ! इस लोक में बल पाँच प्रकार का है, जिसमें काय-बल प्रथम है, किन्तु वह सब से निम्न-स्तर का कहलाता है। दूसरा बल है, भोग्य-सामग्री का बल ॥२७॥ अमात्य-बल तीसरा बल कहलाता है, और अभिजात्य-कुल में जन्म लेना निस्सन्देह चौथा बल है। पण्डित आदमी इन्हीं सब बलों को ग्रहण करता है ॥२८॥ लेकिन सभी बलों में श्रेष्ठ, अग्र है प्रज्ञा-बल। प्रज्ञा-बल से युक्त पण्डित ही अर्थ समझता है ॥२९॥ यदि मन्द-बुद्धि को श्रेष्ठ, धन-धान्य पूर्ण धरती भी प्राप्त हो जाती है, तो उस अनिच्छुक को कोई भी दूसरा प्रज्ञावान अभीभूत करके उसे प्राप्त कर लेता है ॥३०॥ यदि क्षत्रिय अभिजात भी होता है और परम्परागत राज्य भी प्राप्त कर लेता है, तो भी प्रज्ञा रहित होने से उतना सब होने पर भी वह योग-क्षेम नहीं चला सकता ॥३१॥ प्रज्ञा द्वारा सुनी हुई बात का निर्णय होता है प्रज्ञा ख्याति बढ़ाने वाली है, प्रज्ञावान नर दुःख आ पड़ने पर भी (मनसे) सुखी रहता है ॥३२॥ बिना बहुश्रुतों से सुने कोई भी प्रज्ञा लाभ नहीं और बिना धर्मार्थ का बोध हुए ॥३३॥ जो धर्मों के वर्गीकरण को जानता है, जो समय से, उठकर आलस्य-रहित हो काम करता है उसका कर्म सुफल होता है ॥३४॥ जो दुराचारी है, अथवा दुराचारी की संगति में रहता है और जो सदाचारी नहीं है, उसका कर्म सुफल नहीं होता ॥३५॥ अध्यात्म में लगे हुए और वैसी संगत में रहने वाले तथा सदाचार-परायण मनुष्य का कर्म सफल होता है ॥३६॥ जो करणीय है उसमें लगने वाली प्रज्ञा तथा संग्रहीत का संरक्षण—इन दो बातों का हे तात ! आप पालन करें। आप दुष्कर्म द्वारा (वैभव का) नाश न करें। दुष्कर्म से दुर्बुद्धि बांस के घर की तरह बैठ जाती है ॥३७॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने इतने में पाँच बलों का वर्णन करते हुए प्रज्ञा-बल को उठाकर चन्द्र लोक तक पहुँचाते हुए, अब दस गाथाओं द्वारा राजा को उपदेश दिया—

धम्मं चर महाराज मातापितुसु खत्तिय
इध धम्मं चरित्वान राज सग्गं गमिस्ससि ॥३८॥
धम्मं चर महाराज पुत्तदारेसु खत्तिय ॥३९॥
धम्मं चर महाराज मित्ता मिच्चेसु खत्तिय ॥४०॥
धम्मं चर महाराज वाहनेसू बलेसु च ॥४१॥

धम्मं चर महाराज गामेसु निगमेसु च ॥४२॥
धम्मं चर महाराज रट्ठे जनपदेसु च ॥४३॥
धम्मं चर महाराज समणब्राह्मणेसु च ॥४४॥
धम्मं चर महाराज मिगपक्खिसु खत्तिय ॥४५॥
धम्मं चर महाराज धम्मो चिण्णो सुखावहो,
इध धम्मं चरित्वान राज सग्गं गमिस्ससि ॥४६॥
धम्मं चर महाराज इन्दो देवा सब्रह्मका
सुचिण्णेन दिवं पत्ता, मा धम्मं राज पमादो ॥४७॥

[हे क्षत्रिय ! हे राजन् ! माता-पिता के प्रति धर्माचरण करें। यहाँ धर्माचरण करने से स्वर्ग लाभ होगा ॥३८॥ हे क्षत्रिय ! हे राजन् ! पुत्र स्त्री के प्रति धर्माचरण करें...मित्रों अमात्यों के प्रति धर्माचरण करें...वाहनों तथा सेनाओं के प्रति धर्माचरण करें..ग्रामों तथा निगमों के प्रति धर्माचरण करें...राष्ट्रों तथा जनपदों के प्रति धर्माचरण करें...श्रमण-ब्राह्मणों के प्रति धर्माचरण करें..पशु-पक्षियों के प्रति धर्माचरण करें ॥४५॥ महाराज धर्माचरण करें। धर्माचरण सुखदायक होता है। यहां धर्माचरण करने से स्वर्ग-गमन होगा ॥४६॥ महाराज ! धर्माचरण करें। धर्माचरण करने से ही इन्द्र तथा सब्रह्म देवतागण-दिव्य-लोक को प्राप्त हुए। राजा धर्म में प्रमाद मत करें ॥४७॥]

इस प्रकार धर्माचरण की दस गाथाएँ कह, और भी उपदेश देते हुए अन्तिम गाथा कही—

तत्थेव एते वत्तपदा एसा च अनुसासनी
सप्पञ्ञो सेवी कल्याणि समत्तं सामतं विदू ॥४८॥

[ये ही तेरे कर्तव्य हैं और यही तेरा अनुशासन है। हे राजन् ! आप प्रज्ञावनों की संगत करें शुभकर्म करें, और स्वयं सम्पूर्ण बात के जानकार बनें ॥४७॥]

इस प्रकार बोधिसत्व के आकाश-गङ्गा उतारने के समान बुद्ध की तरह उपदेश देने पर जनता ने बहुत सत्कार किया और सहस्त्रों साधुकार दिये। राजा ने संतुष्ट हो आमात्यों को बुलाकर पूछा—"अमात्यों ! लाल जामुन

सदृश चोंच वाले मेरे पुत्र जम्बुक पण्डित ने जो कुछ कहा वह किसका कर्तव्य कहा ?" "देव ! सेनापति का।" "तो मैं इसे सेनापति का पद देता हूँ"[1] कह जम्बुक को पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से वह सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित हो पिता के कार्य करने लगा। तीनों पक्षियों का बहुत आदर हुआ। तीनों जनों ने अर्थ तथा धर्म का ही अनुशासन किया। बोधिसत्व के उपदेशानुसार चल राजा दानादि पुण्य कर्म कर स्वर्ग-गामी हुआ। अमात्यों ने राजा का शरीर-कृत्य कर पक्षियों को बुलाकर कहा—"स्वामी जम्बु पक्षी ! राजा ने तुम्हें छत्रधारी बनाने को कहा है।" बोधिसत्व ने उत्तर दिया "मुझे राज्य की आवश्यकता नहीं। तुम अप्रमादी होकर राज्य करो।" उसने जनता को शीलों में प्रतिष्ठित किया और 'इस प्रकार न्याय करो' कह न्याय-धर्म सोने की पट्टी पर लिखा, स्वयं अरण्य में चला गया। उसका उपदेश चालीस हजार वर्ष चला।

शास्ता ने राजा को उपदेश के तौर पर यह धर्म देशना दे जातक का मेल बैठाया। उस समय राजा आनन्द था, कुण्डलिनी उत्पलवर्णा, वेस्सन्तर सारिपुत्र जम्बुक पक्षी तो मैं ही था।

⊙

५२२. सरभंग जातक

"अलंकृता कुण्डलिनो सुवत्था..." यह शास्ता ने वेळुवन में महामोग्गल्लान स्थविर के परिनिर्वाण के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

सारिपुत्र स्थविर ने तथागत के जेतवन में विहार करते समय, परिनिर्वाण की अनुज्ञा ले, जा कर नाल ग्राम में, जिस घर में जन्म ग्रहण किया था, उसी में परिनिर्वाण लाभ किया। उसके परिनिर्वृत होने की बात सुन शास्ता राजगृह जाकर वेळुवन में रहने लगे। उस समय मोग्गल्लान स्थविर इसिगिलि (पर्वत) के पास कालशिला में विहार करते थे। मोग्गल्लान स्थविर ऋद्धि-बल की पराकाष्ठा को प्राप्त थे। वे देव लोक तथा उस्सद (नरक) दोनों में घूम आते थे। वे देव-लोक में बुद्ध-शिष्यों की महान् ऐश्वर्य्य प्राप्ति और उस्सद नरकों में अबौद्ध साम्प्रदायिक शिष्यों का दुःख भुगतना देख, आकर मनुष्यों से कहते--"अमुक उपासक तथा अमुक उपासिका अमुक देव-लोक में जन्म ग्रहण कर महान् भोगों को भोगती है, और अबौद्ध साम्प्रदायिक शिष्यों में अमुक तथा अमुक-नरक में पैदा हुए हैं।" लोग (बुद्ध) शासन में श्रद्धावान हो तैर्थिकों का त्याग करने लगे। बुद्ध-शिष्यों का सत्कार बढ़ने लगा, अबौद्ध साम्प्रदायिकों का सत्कार घटने लगा। उन्होंने स्थविर के प्रति मन में वैर बाँध लिया। सोचा "जब तक यह जीता रहेगा, हमारे सेवक छीजते रहेंगे, सत्कार घटता रहेगा, इसे मरवायें।" उन्होंने स्थविर को मरवाने के लिए श्रमण-गुप्त नामक चोर को हजार दिये। वह स्थविर को मारने के लिए बहुत से अनुयाइयों के साथ कामशिला पहुँचा। स्थविर ने उसे आता देखा तो ऋद्धि-बल से ऊपर उठकर चले गये। चोर को उस दिन स्थविर नहीं दिखाई

दिये । वह अगले दिन और अगले दिन, इस प्रकार छः दिन लगातार गया। स्थविर भी उसी प्रकार ऋद्धि-बल से चले जाते रहे ।

सातवें दिन स्थविर के अन्य जन्म में फल देने वाले कर्म को फल देने का अवकाश मिल गया । वह पूर्व-जन्म में स्त्री के कथन पर विश्वास कर माता-पिता को मारने की इच्छा से गाड़ी में बिठा जंगल ले गया था । 'वहाँ चोर आ गये' का ढँग बना माता-पिता को पीटने लगा, प्रहार देने लगा । वे नजर की दुर्बलता के कारण रूप देखने में असमर्थ होने से पुत्र को न पहचान सके । उन्होंने समझा कि चोर ही हैं । वे उसी का नाम लेकर दुहाई देने लगे—"तात ! अमुक चोर हमें मार रहे हैं । तू भाग जा ।" वह सोचने लगा—"इन्हें मैं ही पीट रहा हूँ और ये मुझे ही याद कर रहे हैं । यह अनुचित है ।" उसने उन्हें आश्वासन दिया और चोरों के भाग जाने का ढंग बनाकर, उनके हाथ-पैर दबाते हुए कहा—"माता जी, पिता जी भय न करें चोर भाग गये ।" यह कह फिर अपने घर ही ले आया ।

वह कर्म इतने समय तक राख से ढकी आग की तरह पड़ा रहा । उसने अब जाकर इस अन्तिम-शरीर के समय फल देने का अवसर पाया । स्थविर उस कर्म के प्रभाव से ऊपर आकाश में न उठ सके । नन्द-उपनन्द को दमन करने वाली तथा वैजयन्त को कँपा देने वाली भी उसकी ऋद्धि कर्म-बल के कारण दुर्बलता को प्राप्त हुई । चोर ने स्थविर की हड्डियों को चूर-चूर करके पराल की ढेरी के समान कर दिया और यह समझा कि स्थविर मर गया, वह अपने साथियों सहित चला गया ।

स्थविर को जब होश आया तो ध्यान-बल से शरीर को इकट्ठा कर, ऊपर उठकर शास्ता के पास पहुँचे और प्रणाम कर निवेदन किया—"भन्ते । मेरा आयु संस्कार समाप्त हो गया । मैं निर्वाण प्राप्त कर रहा हूँ ।" इस प्रकार निर्वाण की अनुज्ञा ले स्थविर ने वहीं परिनिर्वाण प्राप्त किया । उसी समय छः देव-लोकों में एक साथ क्रन्दन होने लगा–"हमारे आचार्य का परि-निर्वाण हो गया ।" वे दिव्य सुगन्धियाँ मालायें, सुगन्धित धूपें तथा नाना प्रकार की लकड़ियाँ लेकर पहुँचे । निन्नानवे रतन ऊँची चन्दन की चिता बनी । शास्ता ने स्थविर के पास खड़े होकर शरीर चिता पर रखवाया । आग के चारों ओर योजन भर पुष्प वर्षा हुई । देवताओं के बीच में मनुष्य और मनुष्यों के बीच

देवता खड़े थे। सात दिन तक साधु-क्रीड़ा होती रही। शास्ता ने स्थविर की अस्थियाँ लिवा जाकर वेळुवन के द्वार पर चैत्य बनवाया। तब धर्म-सभा में बात-चीत चली—"आयुष्मानों! सारिपुत्र स्थविर ने तथागत के पास परिनिर्वाण नहीं प्राप्त किया, इसलिए उसे बुद्धों से महान सत्कार प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु महामोग्गल्लान स्थविर का परिनिर्वाण पास ही हुआ, इसलिए उसे बहुत सम्मान प्राप्त हुआ।" शास्ता ने आकर पूछा--"भिक्षुओं, यहाँ बैठे क्या बातचीत कर रहे हो!" अमुक बातचीत।" भिक्षुओं, मोग्गल्लान ने न केवल अभी मुझसे सम्मान प्राप्त किया, पहले भी प्राप्त किया ही है" कहकर पूर्व जन्म की कथा कही।

ख अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व ने पुरोहित की ब्राह्मणी की कोख में पटि-सन्धि ग्रहण की और दस महीने के बाद प्रातःकाल के समय माता की कोख से बाहर निकले। उस समय बारह योजन की वाराणसी में सभी आयुध चमकने लगे।

पुत्रोत्पत्ति के समय पुरोहित ने बाहर निकल कर आकाश पर नजर उठा नक्षत्रों का योग देखा। उसे मालूम हुआ कि इस नक्षत्र-विशेष में जन्म लेने के कारण यह कुमार सारे जम्बूद्वीप के धनुर्धारियों में श्रेष्ठ होगा।

वह दिन चढ़ते-चढ़ते ही राज-कुल पहुँचा और राजा से सुखपूर्वक सोने की बात पूछी। राजा बोला--"आचार्य मुझे सुख कहाँ! आज सारे घर में आयुध प्रज्वलित हो उठे।"

"देव! मत डरें तुम्हारे घर में ही नहीं। आज सारे नगर में आयुध प्रज्वलित हुए हैं। आज हमारे घर में कुमार के जन्मग्रहण करने से ऐसा हुआ है।"

"आचार्य! जिस कुमार का जन्म इस प्रकार होता है, उसका क्या होता है?"

"महाराज! कुछ नहीं। वह केवल सारे जम्बूद्वीप में सर्वश्रेष्ठ धनुषधारी होगा।"

"तो अच्छा आचार्य! उसका पालन-पोषण करें, जब वह बड़ा हो जाय, तो हमें दिखायें।"

राजा ने कुमार के दूध के लिये हजार दिलवाये । पुरोहित ने वह लिये और घर लौटा । उत्पत्ति के समय आयुधों के प्रज्वलित होने के कारण, नाम-करण के दिन उसने कुमार का नाम ज्योति-पाल ही रखा । वह बड़े ठाट-बाट के साथ बढ़ता रहा । सोलह वर्ष का होने पर वह बहुत ही रूपवान् हुआ ।

उसकी शरीर-सम्पत्ति देख एक दिन उसका पिता बोला--

"तात ! तक्षशिला जाकर प्रसिद्ध आचार्य के पास शिल्प सीख ।"

उसने 'अच्छा' कहा और आचार्य की 'फीस' ले, माता-पिता को प्रणाम कर वहाँ पहुँचा । वहाँ जाकर उसने हजार दिये और 'शिल्प' सीखना आरम्भ कर एक सप्ताह में ही पारंगत हो गया । आचार्य ने संतुष्ट हो अपने पास ही खड्ग (रत्न), सन्धि-युक्त मेढ़े के सींग का धनुष, सन्धि-युक्त तूणीर, अपना कवच, कंचुक तथा उष्णीष देकर कहा--"तात ! ज्योतिपाल ! मैं बूढ़ा हो गया । अब तू ही इन शिष्यों को सिखा ।" इतना कह पाँच सौ शिष्य भी उसी को सौंप दिये ।

बोधिसत्व ने सभी कुछ लिया और आचार्य को प्रणाम कर, वाराणसी लौट माता-पिता के दर्शन किये, जिस समय वह हाथ जोड़े खड़ा था, पिता ने पूछा--

"तात ! शिल्प सीख लिया ?"

"तात ! हाँ !"

उसने उसकी बात सुन राज-कुल जाकर पूछा--

"देव ! मेरा पुत्र शिल्प सीख आया । अब उसके लिए क्या करणीय है ?"

"आचार्य ! हमारी सेवा में रहे ।"

"देव ! उसका खर्चा जानें ।"

"प्रति दिन हजार लिया करे ।"

उसने 'अच्छा कहा और घर जाकर कुमार को बुलाकर कहा—"तात ! राजा की सेवा में रह ।"

उस समय से वह प्रति दिन हजार लेता हुआ राजा की सेवा में रहने लगा । राजकीय मनुष्य सीखने लगे--"हम ज्योति-पाल की करनी नहीं देखते । प्रति-दिन हजार लेता है । हम इसका शिल्प देखना चाहते हैं ।"

राजा ने उनकी बात पुरोहित से कही । पुरोहित ने "देव ! अच्छा" कह

पुत्र से कही। वह बोला--"अच्छा ! तात! अब से सातवें दिन दिखाऊँगा। राजा अपने राज्य के धनुर्धारियों को इकट्ठा करे।" पुरोहित ने जाकर वह बात राजा से कही। राजा ने नगर में मुनादी करा धनुर्धारियों को इकट्ठा करवाया। साठ हजार धनुर्धारी इकट्ठे हुए। राजा को जैसे ही यह मालूम हुआ कि वे इकट्ठे हो गये हैं, उसने नगर में मुनादी करा दी कि नगर-वासी ज्योतिपाल की कला देखें। फिर राजाङ्गन को सजवाकर, स्वयं जनता के बीच श्रेष्ठ आसन पर बैठ, धनुर्धारियों को बुलवा, ज्योति-पाल को भेजा। उसने आचार्य के दिये हुए धनुष, तूणीर, कवच, कञ्चुक और उष्णीष को एक दूसरे कपड़े से ढका और तलवार लिवाकर सामान्य वेश में ही राजा के पास पहुँच एक ओर खड़ा हुआ। धनुर्धारियों ने आपस में सलाह की—"ज्योतिपाल धनुर्विद्या दिखाने आया है। किन्तु क्योंकि बिना धनुष लिये आया है, इससे मालूम होता है कि हमारा धनुष लेना चाहता होगा। हम नहीं देंगे।" राजा ने ज्योतिपाल को संबोधन कर कहा--"शिल्प दिखाओ।,,

उसने कनात तनवायी और कनात के भीतर हो, वस्त्र हटा, कवच धारण कर, कञ्चुक में प्रवेश किया और सिर पर उष्णीष रख, मेढ़े के सींग वाले धनुष में मूँगे के रंग की डोरी बाँध, पीठ पर तूणीर कस, बायीं ओर तलवार लटका, और वज्र की नोंक वाले तीर को नाखून पर घुमाते हुए, कनात को हटा उससे इस प्रकार बाहर आया मानों पृथ्वी बींध कर अलंकृत नागकुमार बाहर आया हो। कनात से बाहर आ उसने राजा को अभिवादन किया और एक ओर खड़ा हो गया। उसे देख जनता उछलती थी, शोर मचाती तालियाँ बजाती थी। राजा बोला--'ज्योतिपाल ! (अपनी) विद्या दिखाओ।"

"देव ! अपने धनुधारियों में से चार क्षण-वेधी, बालवेधी, शब्द-वेधी, शर-वेधी धनुर्धारियों को बुलावायें।"

राजा ने बुलवाये। बोधिसत्व ने चौकोर (जगह) के भीतर मण्डप बना, चारों कोनों पर चारों धनुर्धारियों को खड़ा किया। फिर एक-एक को तीस-तीस हजार तीर दिलवाये, और हर एक के पास एक-एक तीर देने वाला खड़ा किया। फिर स्वयं वज्र की नोंक वाला तीर ले मण्डल के बीचोंबीच खड़े होकर कहा—"महाराज ! ये चारों धनुर्धारी एक साथ तीर चलाकर मुझे

बीधें। मैं इनके तीरों को रोकूंगा।" राजा ने आज्ञा दी—"ऐसा करो।" "महाराज ! हम लोग क्षण-वेधी हैं, बाल-बेधी हैं, शब्द वेधी हैं, शर-वेधी। ज्योतिपाल तरुण बालक है। हम उसे नहीं बीधेंगे।"

बोधिसत्व ने कहा—"यदि सामर्थ्य है तो मुझे बींधो।"

उन्होंने 'अच्छा' कह एक साथ ही तीर चलाये बोधिसत्व ने उन्हें अपने की चोटों से जैसे-तैसे गिरा दिया। उसने जैसे कोई कोठा घेरने के समय ताड़ से ताड़, डण्डे से डण्डा और फलक से फलक मिला दे, उसी प्रकार वाणों का घर बना दिया। धनुर्धारियों के तीर समाप्त हो गये। जैसे ही उसे ज्ञात हुआ कि तीर समाप्त हो गये, वह बिना तीरों के घर को हानि पहुँचाये कूद कर राजा के पास आ खड़ा हुआ। जनता ने चिल्लाते हुए, शोर मचाते हुए तालियाँ बजाते हुए बड़ा हल्ला किया और वस्त्र-आभरण फेंके। इस प्रकार अठारह करोड़ धन एकत्र हो गया।

राजा ने उसे पूछा—"ज्योतिपाल ! इस विद्या का क्या नाम है ?"

"देव ! तीरों को रोकने की विद्या।"

"और ! भी कोई इसका जानकार है ?"

"देव ! सारे जम्बूद्वीप में मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं।"

"तात ! तो दूसरा प्रदर्शन करो।"

देव ! ये चारों जने चारों कोनों पर खड़े होकर मुझे नहीं बीध सके, किन्तु मैं इन चारों कोनों पर खड़े हुओं को एक ही वाण से बींध दूँगा।"

धनुर्धारिओं ने खड़े होने का साहस नहीं किया। बोधिसत्व ने चारों कोनों पर चार केले के खम्भे खड़े किये। फिर तीर के पंखे में लाल रंग का सूत्र बाँधकर केले के एक खम्भे की ओर छोड़ा। तीर ने उसे खम्भे को बींध दिया, फिर दूसरे को, फिर तीसरे को, फिर चौथे को और फिर पहले बिंधे हुए को ही पुनः बींधकर तीर वापिस हाथ में चला आया। केलों के खम्भों में सूत पिरोया गया। जनता ने सहस्रों घोष किये।

"तात ! यह कौन-सी विद्या है।"

"देव ! चक्र बींधने की विद्या।"

"और भी प्रदर्शन कर।"

बोधिसत्व ने शर-लाठी, शर-रज्जु तथा शर-वेणी का प्रदर्शन किया।

शर-प्रासाद, शर-मण्डप, शर-सोपान तथा शर-पुष्करिणी की रचना की। शर-पद्म खिलाया। शर-वर्षा बरसाई। इस प्रकार दूसरों के लिए असाधारण इन बारह विद्याओं का प्रदर्शन कर, फिर दूसरों के लिए इन सात बड़ी चीजों को चीरा। आठ अँगुल मोटा अंजीर का पटड़ा चीरा। चार अंगुल मोटी चट्टान चीरी। दो अंगुल मोटा ताँबे का पत्ता। एक अंगुल मोटा लोहे का पत्ता। फिर एक साथ बँधे हुए सौ पटड़ों को एक साथ चीरा। फिर पराल की गाड़ियों के, बालू की गाड़ियों के तथा पटड़ों की गाड़ियों के आगे तीर मार कर पिछली ओर से निकाला तथा पीछे की ओर से तीर मार कर आगे की ओर से निकाला। पानी में चार ऋषभ और स्थल पर आठ ऋषभ तक तीर चलाया। हवा के इशारे से ऋषभ भर की दूर पर बाल को बींधा। उसके इन प्रदर्शनों को करते हुए ही सूर्यास्त हो गया। राजा ने उसे सेनापति पद देने की घोषणा करते हुए कहा—"ज्योतिपाल ? आज विकाल हो गया। कल सेनापति-सत्कार ग्रहण करोगे। हजामत बनवाकर और स्नान करके आना।" उस दिन के खर्चे के तौर पर एक लाख दिया गया।

बोधिसत्व ने "मुझे इसकी अपेक्षा नहीं है" कह अठारह करोड़ धन स्वामियों को ही सौंप दिया। फिर बड़ी शान से स्नान करने गया। हजामत बनवा, स्नान कर सभी अलंकारों से अलंकृत हो, अनुपम शोभा के साथ घर में प्रवेश कर, नाना प्रकार का श्रेष्ठ भोजन खा, शय्या पर चढ़कर लेटा। दो याम (-भर) सोकर पिछले याम में उठकर पालथी मारकर बैठा और अपनी धनुर्विद्या के आदि मध्य और अन्त पर विचार करने लगा। उसे सूझा कि मेरी धनुर्विद्या के आरम्भ में मृत्यु है, बीच में काम-भोग है और अन्त में नरक है। प्राणातिपात का परिणाम काम-भोग होते हैं और उनमें अति-प्रमाद नरक में उत्पत्ति का कारण होता है। राजा ने मुझे सेनापति का पद दिया है। मैं बहुत ऐश्वर्यवान हो जाऊँगा। मेरी भार्या और बहुत-से लड़के-लड़कियाँ हो जायेंगी। काम-भोग वृद्धि पा जाने पर दुष्त्याज्य हो जाते हैं। मेरे लिए यही उचित है कि मैं इसी समय निकल कर और अकेला ही वन में प्रवेश कर, ऋषियों के प्रव्रज्या-क्रम से प्रव्रजित हो जाऊँ। यह सोच बोधिसत्व शय्या से उठा और बिना किसी को सूचना दिये, महल से उतर मुख्य-द्वार से ही बाहर निकल, अकेला ही जंगल में घुस, गोदावरी के तट पर तीन-योजन लम्बे खैर के वन में गया।

शक्र को जब पता लगा कि बोधिसत्व ने अभिनिष्क्रमण किया है तो उसने विश्वकर्मा को बुलाकर कहा—"तात ! ज्योतिपाल ने अभिनिष्क्रमण किया है। बड़ा जलसा होगा। गोदावरी-तट पर खैर के वन में आश्रम बनाकर प्रव्रजितों की आवश्यकताओं की व्यवस्था कर।" उसने वैसा ही किया।

बोधिसत्व ने वहाँ पहुँचने पर जब पगडण्डी देखी तो सोचा—प्रव्रजितों के रहने की जगह होगी। वह उसी मार्ग से वहाँ पहुँचा और जब उसने वहाँ किसी को नहीं देखा, किन्तु प्रव्रजितों की आवश्यकताएँ देखी तो सोचा—"मालूम होता है देवेन्द्र शक्र ने मेरे प्रव्रजित होने की बात जान ली।" उसने अपना वस्त्र उतार फेंका और रक्त-वर्ण वल्कल चीवर पहन एक कन्धे पर अजिन (-मृग) चर्म रखा। फिर जटाएँ बाँध, कन्धे पर बैहँगी रखी और हाथ में वैशाखी ले, पर्णशाला से निकल, चक्रमण-भूमि पर चढ़ कई बार इधर से उधर घूमा। प्रव्रज्या-श्री से वन को सुशोभित करते हुए वह योग-विधि के द्वारा, प्रव्रज्या के सातवें दिन आठ समापत्तियाँ और पाँच अभिज्ञाएँ प्राप्त कर, फल-मूल चुग कर खाता हुआ अकेला ही रहने लगा।

(उधर) उसके माता-पिता, मित्र, सुहृद तथा रिश्तेदार भी उसे न देखा, रोते हुए भटक रहे थे। एक वनवासी ने खैर के आश्रम में बोधिसत्व को देख, पहचान, उसके माता-पिता को कहा। उन्होंने राजा को कहा। राजा ने "आओ, उसे देखने चलें कहा और उसके माता-पिता को साथ ले, अनुयायियों सहित, वनवासी के बताये मार्ग से गोदावरी के तीर पर पहुँचा। बोधिसत्व ने नदी तट पर आ, आकाश में बैठ, धर्मोपदेश दे, उन सबका आश्रम-प्रवेश कराया। वहाँ भी आकाश में बैठे-ही-बैठे काम-भोगों के दोष दिखाते हुए धर्मोपदेश दिया। राजा से आरम्भ करके सभी प्रव्रजित हो गये। ऋषि-समूह से घिरे हुए बोधिसत्व वहीं रहने लगे।

उसके वहाँ रहने की बात सारे जम्बूद्वीप में फैल गयी। राष्ट्रवासियों सहित राजागण आकर उसके पास प्रव्रजित होने लगे। बहुत लोग हो गये। क्रमशः उनकी संख्या कई हजार हो गयी। जो कोई काम-भोग सम्बन्धी, क्रोध-सम्बन्धी अथवा विहिंसा सम्बन्धी संकल्प-विकल्प मन में उठाता, बोधिसत्व जाकर, उसके सामने आकाश में स्थित हो उसे धर्मोपदेश देते, योग-विधि बताते। उसके उपदेशानुसार चल, समापत्ति प्राप्त कर, निष्णात हुए प्रधान शिष्य सात

थे--सालिस्सर, मेण्डिस्सर, पब्बत, काळदेवल, किसवच्छ, अनुसिस्स तथा नारद। आगे चलकर खैर-आश्रम भर गया। ऋषियों के रहने की जगह नहीं रही।

तब बोधिसत्व ने सालिस्सर को बुलाकर कहा--"सालिस्सर ! यह आश्रम ऋषियों के लिए अपर्याप्त हो गया है। तू इन ऋषियों को ले जाकर चण्ड-प्रद्योत के राज्य में लम्बचूलक कस्बे के आश्रय से रह।" उसने 'अच्छा' कह, उसका कहना स्वीकार किया और अनेक सहस्र ऋषियों को ले, वहाँ जाकर रहने लगा। आने वाले आदमियों के कारण फिर आश्रम भर गया। बोधिसत्व ने मेण्डिस्सर को बुलाकर प्रेरित किया कि सुरट्ठजनपद की सीमा पर सातोदिका नाम की नदी है' तू इन ऋषियों को ले जाकर उसके किनारे रह। इसी प्रकार तीसरी बार पब्बत को 'महाअटवी में अंजन-पर्वत है, उसके आश्रय में रह' कह कर भेजा। चौथी बार काळदेवल को 'दक्षिणपथ में अवन्तिराज्य में घन-शैल नामक पर्वत है, तू उससे आश्रय रह' कह कर भेजा-फिर खैर-आश्रम भर गया। पाँचों स्थानों पर हजारों ऋषि जुट गये। किसवच्छ बोधिसत्व की अनुज्ञा ले दण्डकी राजा के प्रदेश में कुम्भवती नगर में सेनापति के आश्रय से उद्यान में रहने लगा, नारद मज्झिमदेश में अरंजरगिरि नामक पर्वत शृङ्खला में रहने लगा। अनुसिस्स बोधिसत्व के पास ही रहा।

उस समय दण्डकी राजा ने एक सत्कार-प्राप्त वेश्या को पद-च्युत कर दिया उसने घूमते-घूमते उद्यान से पहुँच किसवच्छ तपस्वी को देखा। सोचा "यही मनहूस होगा। इसके शरीर पर थूक कर, स्नान करके जाऊँगी।" उसने दातून करते समय सबसे पहले बाहर गिरने वाला थूक किसवच्छ तपस्वी की जटाओं में ही गिराया और बाद में दातून भी उसकी जटाओं में ही गिरा स्वयं नहाकर गयी। राजा ने भी उसकी याद कर उसे पूर्व-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसने मूढ़ता के कारण "मनहूस के सिर पर थूकने से ही मुझे मेरा पद मिला" सूचना दी। उसके कुछ ही समय बाद राजा ने पुरोहित को पदच्युत कर दिया। उसने उस वेश्या से जाकर पूछा-- 'तुझे कैसे अपना पूर्व पद प्राप्त हुआ ?" उसका उत्तर था—"राजोद्यान में मनहूस के सिर में थूकने से।" पुरोहित ने भी जाकर उसी प्रकार उसके सिर में थूका। राजा ने उसे भी उसके पूर्व-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आगे चल कर राजा के प्रत्यन्त--देश में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। वह सेना को लेकर युद्ध के लिए निकला। मूढ़ पुरोहित ने राजा से पूछा--"महाराज! तुम जय चाहते हो, अथवा पराजय ?" "जय" कहने पर, कहा--"तो उद्यान में एक मनहूस रहता है, उसके शरीर पर थूक कर आओ।" उसने उसका कहना मान आज्ञा दी--"मेरे साथ चलने वाले मनहूस के सिर पर थूकते चले।" यह कह, उद्यान जा, दातून कर, सबसे पहले स्वयं ही उसकी जटाओं में थूका और दातून भी वहीं फेंक, स्नान किया। उसकी सेना ने भी वैसे ही किया। उसके चले जाने पर सेनापति ने तपस्वी को देखा और उसके सिर में से दातून निकलवा, अच्छी प्रकार स्नान करवा, पूछा—"राजा का क्या होगा ?" "आयुष्मान! हमारे मन में तो क्षोभ नहीं हैं। किन्तु देवता कुपित हो गये हैं। आज से सातवें दिन सारा राष्ट्र अराष्ट्र हो जायेगा। तू शीघ्र ही भाग कर अन्यत्र चला जा।" उसने भय से त्रसित हो, जाकर राजा से कहा। राजा ने उस पर विश्वास नहीं किया। वह रुका; अपने घर गया तथा स्त्री-बच्चों को ले भाग कर दूसरे राष्ट्र को ही चला गया। सरभंग शास्ता को ज्यों ही उस बात का पता लगा उन्होंने दो तरुण तपस्वियों को भेज किस-बच्छ तपस्वी को डोली में बिठा आकाश-मार्ग से मँगवा लिया। राजा युद्ध कर, विद्रोहियों को पकड़ वापस नगर लौट आया।

उसके आने पर देवताओं ने पहले वर्षा की। जब बरसात की बाढ़ सभी लाशों को बहा ले गयी, तो शुद्ध बालू पर दिव्य फूलों की वर्षा हुई। फूलों के ऊपर मासों की वर्षा, मासों के ऊपर कार्षायणों की वर्षा तथा कार्षायणों के ऊपर दिव्य आभरणों की वर्षा हुई। आदमियों ने प्रसन्न होकर सोने के गहनों को बटोरना आरम्भ किया। उस समय उनके शरीर पर नाना प्रकार के प्रज्वलित आयुधों की बर्षा हुई। आदमियों के टुकड़े-टुकड़े हो गये। तब उनके ऊपर दहकते हुए अंगारे गिरे। उनके ऊपर बड़ी-बड़ी दहकती हुई चट्टानें। उनके ऊपर साठ हाथ जगह को भरने वाली सूक्ष्म-बालू की वर्षा हुई। इस प्रकार साठ योजन राष्ट्र उजड़ गया। उसका इस प्रकार नाश को प्राप्त हो जाना सारे जम्बूद्वीप में प्रसिद्ध हो गया।

उस राष्ट्र के भीतर राज्य करने वाले तीन राजागण कालिंग, अट्ठक तथा भीमरथ—सोचने लगे—"सुना था पूर्व समय में वाराणसी में कलाबू नाम के

काशी-राज ने क्षान्ति-वादी-तपस्वी के विरुद्ध अपराध करके पृथ्वी में प्रवेश किया, उसी प्रकार नामिकीट राजा तपस्वी को कुत्तों से खिलाकर सहस्रबाहु अर्जुन अंगीरस के प्रति अपराधी होकर और अब दण्डकी राजा किसवच्छ के प्रति अपराधी होकर सराष्ट्र विनाश को प्राप्त हुआ। हम नहीं जानते कि ये चारों राजागण कहाँ जाकर पैदा हुए। सरभंग शास्ता को छोड़कर और कोई बता भी नहीं सकता। उसके पास चल कर पूछेंगे।" वह तीनों जने बड़े ठाट-बाट के साथ प्रश्न पूछने के लिए निकल पड़े। वे यह नहीं जानते थे कि अमुक भी निकला है, और अमुक भी निकला है। अकेला-अकेला यही सोचता था कि मैं ही निकला हूँ। उनका गोदावरी के पास मिलाप हुआ। वे रथों से उतर एक ही रथ में बैठ गोदावरी के तट पर पहुँचे।

उस समय पाण्डु-वर्ण कम्बल शिलाशन पर बैठे हुए शक्र के मन में सात प्रश्न पूछने का विचार उत्पन्न हुआ। उसने सोचा कि सरभंग शास्ता के अतिरिक्त और कोई भी सदैव लोक में इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। मैं उन्हीं से ये प्रश्न पूछूंगा। ये तीन राजागण भी प्रश्न पूछने के लिए ही गोदावरी के तट पर आ पहुँचे हैं। इन के प्रश्न भी मैं पूछूंगा। यह सोच वह दोनों देवलोकों के देवताओं से घिरा हुआ देव-लोक से उतरा। उसी दिन किसवच्छ का देहान्त हो गया। उसका शरीर-कृत्य करने के लिए चारों स्थानों से हजारों ऋषिगण इकट्ठे हुए। उन्होंने किसवच्छ के लिए चन्दन की चिता बना, शरीर का अग्नि-संस्कार किया। जलती हुई चिता के चारों ओर आध योजन भूमि में दिव्य कुसुमों की वर्षा हुई।

बोधिसत्व उसके शरीर-कृत्य की समाप्ति पर आश्रम में प्रवेश कर उन ऋषियों के हृदय में बैठे। उन राजाओं के भी नदी तट पर पहुँचने के समय महा-सेना-वाहन-तूर्य बाजा बजा। बोधिसत्व ने सुना तो अनुसिस्स तपस्वी को बुला कर कहा—"तात ! जाकर देख कि यह क्या आवाज है ?" वह पानी का घड़ा लेकर गया। वहाँ पहुँच कर जब उसने उन तीन राजाओं को देखा, तो उनसे प्रश्न करते हुए पहली गाथा कही—

अलङ्कता कुन्डलिनो सुवत्था
वेलुरिय मुत्ता थरुखग्गबद्धा

रथेसभा तिट्ठथ, के नु तुम्हे
कथं वो जानन्ति मनुस्स लोके ॥१॥

[अलंकृत कुण्डलों वाले, सुवस्त्रधारी, बिल्लोर तथा मोतियों के दस्तों-वाली खड्ग को धारण किये हुए, हे रथों के स्वामीगण ! ठहरो। आप लोग कौन हैं ? आप लोगों को लोक में कैसे सम्बोधन करते हैं ॥१॥]

उसकी बात सुन, वे रथ से उतरे और नमस्कार करके खड़े हो गये। उनमें से अट्ठकराज ने उसके साथ बातचीत करते हुए दूसरी गाथा कही—

अहं अट्ठको, भीमरथो पनायं
कालिंगराजा पन उग्गतो अयं,
सुसञ्ञातानं इसिनं दस्सनाय
इधागता पुच्छिता येम्ह पञ्हे ॥२॥

[मैं अट्ठक हूँ यह भीमरथ है, और यह प्रसिद्ध कालिंग-नरेश हैं। हम लोग यहाँ संयमी ऋषियों के दर्शन कर उनसे प्रश्न पूछने के लिए आये हैं ॥२॥]

उस तपस्वी ने उत्तर दिया—"महाराज ! अच्छा। जहाँ आना चाहिए, आप लोग वहीं आये हैं। स्नान कर, विश्राम कर, आश्रम में जा. ऋषियों को प्रणाम कर शास्ता से प्रश्न पूछें।" फिर उनके साथ बातचीत कर, पानी का घड़ा, नीचे लगा पानी पोछते हुए, उसने आकाश की ओर शक्र को देखा जिसके साथ देव-राजाओं का समूह था, और जो ऐरावत के कन्धे पर बैठा आकाश से उतर रहा था। उसने शक्र से बातचीत करते हुए तीसरी गाथा कही—

वेहासयं तिट्ठति अन्तलिक्खे
पथद्धुनो पण्णरसे व चन्दो,
पुच्छामि तं यक्ख महानुभाव
कथं नं जानन्ति मनुस्सलोके ॥३॥

[हे आकाश में, अन्तरिक्ष में स्थित ! हे पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान आकाशचारी ! हे महाप्रतापी यक्ष ! मैं पूछता हूँ कि मनुष्य लोक में (लोग तुम्हें कैसे सम्बोधन करते हैं ॥३॥]

यह सुन शक्र ने चौथी गाथा कही—

यं आह देवेसु सुजम्पतीति
मघवति नं आहु मनुस्सलोके,
स देवराजा इदं अज्ज पत्तो
सुसञ्ञतानं इसिनं दस्सनाय ॥४॥

[जिसे देव-लोक में 'सुजम्पति' कहते हैं और मनुष्य-लोक में 'मघवा', वह मैं देवेन्द्र आज यहाँ सुसञ्ञत ऋषियों के दर्शन के लिए आया हूँ ॥४॥]

तब अनुसिस्स बोला—"अच्छा, महाराजाओं, आप पीछे-पीछे आयें।" उसने पानी का घड़ा उठाया और आश्रम में प्रवेश कर पानी का घड़ा यथास्थान रख, तीनों राजाओं तथा देवेन्द्र के प्रश्न पूछने के लिए आने की बात बोधिसत्व को कही। वह ऋषियों के बीच के बड़े भारी मण्डप में बैठा। तीनों राजा जाकर ऋषियों को प्रणाम कर एक ओर बैठे। शक्र ने भी उतर, ऋषिगणों के पास आ, हाथ जोड़, ऋषियों की स्तुति करते हुए पाँचवीं गाथा कही—

दूरे सुता नो इसयो समागता
महिद्धिका इद्धिगुणूपपन्ना
वन्दामि ते अयिरे पसन्नचित्तो
से जीव लोक एत्थ मनुस्स सेट्ठ ॥५॥

[हमने दूर से सुना था कि महान् ऋद्धि गुणों से युक्त ऋषियों का आगमन हुआ है। हे आर्यों! मैं प्रसन्नचित्त हो, आप सबको, जो लोक में श्रेष्ठ हैं प्रणाम करता हूँ ॥५॥

इस प्रकार ऋषिगण को प्रणाम कर, बैठने के छह दोषों से बच, इन्द्र एक ओर बैठा। उसे ऋषियों से नीचे की हवा की ओर बैठे देख अनुसिस्स ने छठीं गाथा कही—

गन्धो इसीनं चिरदक्खितानं
काया चुतो गच्छति मालुतेन,
इतो परक्कम्म सहस्सनेत्त
गन्धो इसीनं असुचि देवराज ॥६॥

[चिर-प्रव्रजित ऋषियों के शरीर से निकल कर हवा के जोर से गन्ध नीचे की ओर जाती है । हे सहस्रनेत्र ! इससे बचें । हे देवराज ! ऋषियों की गन्ध दुर्गन्धयुक्त होती है ॥६॥]

यह सुन शक्र ने दूसरी गाथा कही—

गन्धो इसीनं चिरदक्खितानं
काया चुतो गच्छतु मालुतेन,
विचित्र पुप्फं सुरभिं व मालं
गन्धं एतं पाटिकंखाय भन्ते,
न हेत्थ देवा पटिक्कूल सञ्ञिनो ॥७॥

[चिर-प्रव्रजित ऋषियों के शरीर की गन्ध भले ही हवा के जोर से नीचे की ओर जाय । भन्ते ! हम इस गन्ध को विचित्र फूलों की माला की सुगन्ध की तरह मानते हैं । देवताओं को इसमें प्रतिकूल भावना नहीं होती ॥७॥]

इतना कह, फिर निवेदन किया—"भन्ते अनुसिस्स ! मैं बड़े उत्साह से प्रश्न पूछने आया हूँ । हमें आज्ञा हो ।"

उसने उसकी बात सुनी तो आसन से उठ, ऋषिगण से अनुज्ञा माँगते हुए दो गाथाएँ कहीं—

पुरिन्ददो भूतपती यसस्सी
देवानं इन्दो मघवा सुजम्पति
स देवराजा असुर (गण) प्पमद्दनो
ओकासं आकंखति पञ्हं पुच्छितुं ॥८॥
को नेव इमेसं इध पण्डितानं
पञ्हे पुठो निपुणे व्याकरिस्सति
तिण्णं च रञ्ञं मनुजाधिपानं
देवानं इन्दस्स च वासवस्स ॥९॥

[यह, पुरिंदद', 'भूत-पति', 'यशस्वी', देवेन्द्र', 'मघवा', 'सुजम्पति', असुरों का मर्दन करने वाला देव-राज प्रश्न पूछने की अनुज्ञा चाहता है ॥८॥ यहाँ उपस्थित इन पण्डितों में से कौन इन तीन राजाओं के तथा देवेन्द्र शक्र के सूक्ष्म प्रश्नों का उत्तर देगा ॥९॥]

यह बात सुनी तो ऋषि-गण "मित्र ! अनुसिस्स । तू पृथ्वी पर खड़े होकर पृथ्वी नहीं दिखायी देती जैसी बात कह रहा है, सरभंग शास्ता को छोड़ और कौन इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है ?" कह यह गाथा कही—

अयं इसो सरभंगो तपस्सी
यतो जातो विरतो मेथुनस्मा
आचरियपुत्तो सुविनीतरूपो
सो नेसं पञ्हानि वियाकरिस्सति ॥१०॥

[यह तपस्वी सरभंग ऋषि है । जन्मकाल से ही मैथुन-धर्म के विरत रहा है । आचार्य्य-पुत्र है । विनयी है । वही इनके प्रश्नों का उत्तर देगा ॥१०॥]

यह कह ऋषिगण ने अनुसिस्स को कहा—"मित्र ! तू ही शास्ता को प्रणाम कर ऋषि-गणों की ओर से शक्र के लिए प्रश्न पूछने की अनुज्ञा ले दे ।" उसने 'अच्छा' कह, स्वीकार कर, शास्ता को वन्दना कर अनुज्ञा माँगते हुए अगली गाथा कही—

कोण्डञ्ञ पञ्हानि वियाकरोहि,
याचन्ति तं इसयो साधुरूपा,
कोण्डञ्ञ एसो मनुजेसु धम्मो
यं बुद्धं आगच्छति एस भारो ॥११॥

[हे कोण्डञ्ञ (-गोत्र) । प्रश्नों का उत्तर दे । साधुरूप ऋषि-गण तुझसे प्रार्थना करते हैं । हे कोण्डञ्ञ (-गोत्र) ! यही मनुष्यों की रीति है कि जो ज्येष्ठ होता है, उसी पर यह भार आता है ॥११॥

तब बोधिसत्व ने अनुज्ञा देते हुए अगली गाथा कही—

कतावकासा पुच्छन्तु भोन्तो
यं किञ्चि पञ्हं मनसाभिपत्थितं
अहं हितं तं वो वियाकरिस्सं
ञत्वा सयं लोकं इमं परं च ॥१२॥

[आप लोगों को अनुज्ञा है । आप लोग जो मन में आये प्रश्न पूछें मैं ही

इस लोक तथा परलोक का जानकार होने से उस प्रश्न का उत्तर दूँगा ॥१०॥]

इस प्रकार अनुज्ञा मिलने पर शक्र ने अपने मन का प्रश्न पूछा।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

ततो च मघवा सक्को अत्थदस्सी पुरिंददो
अपुच्छि पठमं पञ्हं यञ्चासि अभिपत्थितं ॥१३॥
किं सु वधित्वा न कदाचि सोचति
किस्स प्पहानं इसयो वण्णयन्तिं
कस्सीध वुत्तं फरूसं खमेथ,
अक्खाहि मे कोण्डञ्ञ एतमत्थं ॥१४॥

[तब, 'मघवा', 'शक्र', 'अर्थदर्शी', 'पुरिंदद', 'देवेन्द्र' ने जो मन में था, वह पहला प्रश्न पूछा ॥१३॥ किसका वध करने से कभी पछतावा नहीं होता? किस (चीज) के त्याग की ऋषि-गण प्रशंसा करते हैं? किसके कठोर वचन को सहन करना चाहिये? हे कोण्डञ्ञ (गोत्र) मुझे यह बात बतायें ॥१४॥]

तब प्रश्न का उत्तर देते हुए—

कोधं वधिबान कदाचि सोचति,
मक्खप्पहानं इसयो वण्णयन्ति
सब्बेसं वुत्तं फरूसं खमेथ
एतं खन्तिं उत्तमं आहु सन्तो ॥१५॥

[क्रोध का वध करने से कभी पछतावा नहीं होता। ऋषि-गण ढोंग के त्याग की प्रशंसा करते हैं। सभी के कठोर वचन को सहन करना चाहिए—सन्त पुरुषों ने इसे ही उत्तम शान्ति कहा है ॥१५॥

शक्र—

सक्का हि द्विन्नं वचनं तितिक्खितुं
सदिसस्स वा सेट्ठ नरस्स वापि
कथं नु हीनस्स वचो खमेथ
अक्खाहि मे कोण्डञ्ञ एतमत्थं ॥१६॥

[अपने बराबर वाले के अथवा अपने से श्रेष्ठ के–इन दो जनों के वचनों

सहन किया जा सकता है। हे कोण्डञ्ञ (गोत्र) ! मुझे यह बता कि अपने से नीचे के वचन को कैसे सहन करें ? ॥१६॥]

बोधिसत्व--

भया हि सेट्ठस्स वचो खमेथ
सारम्भहेतु पन सदिसस्स
यो चीध हीनस्स वचो खमेथ
एतं खन्तिं उत्तमं आहु सन्तो ॥१७॥

[अपने से ऊँचे का (कठोर) वचन भय से सहन किया जाता है। बराबर वाले का झगड़े के डर से। यह जो अपने से नीचे वाले के वचन का सहन करना है, इसे ही सन्त-पुरुष उत्तम शान्ति कहते हैं ॥१७॥]

यह सुन शक्र बोला--"भन्ते ! पहले तो आपने कहा 'सभी के वचन को सहन करना चाहिए ..' और बाद में कहा 'यह जो अपने से नीचे के वचन को सहन करना है....' सो इस में पूर्वापर का मेल नहीं बैठता।" बोधिसत्व का उत्तर था--! पिछली बात मैंने यह नीच (जाति का) है, जानकर उसके कठोर वचन सहने के बारे में कही, और क्योंकि शक्ल देखने मात्र से प्राणियों की श्रेष्ठता आदि का पता नहीं चलता, इसलिए पहली बात कही।" फिर बिना सहवास के केवल शक्ल देखने मात्र से प्राणियों की श्रेष्ठता आदि का पता लगना कठिन है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए गाथा कही—

कथं विजञ्ञा चतुमट्ठरूपं
सेट्ठं सरिखं अथवापि हीनं
विरूप रूपेन चरन्ति सन्तो
तस्माहि सब्बेसं वचो खमेथ ॥१८॥

[उठने-बैठने आदि चार प्रकार के आचरणों से ही यह कैसे जाना जा सकता है कि कौन श्रेष्ठ है, कौन बराबरी का है और कौन (अपने से) हीन हैं ? श्रेष्ठ-जन भी कुरूप अवस्था में घूमते हैं। इसलिए सभी के वचन को सहन करे ॥१८॥]

यह सुन शक्र सन्देह-रहित हुआ। तब उसने प्रार्थना की—"भन्ते ! इस शान्ति का महात्म्य कहें।"

बोधिसत्व--

न हेतं अत्थं महती पि सेना
सराजिका युज्झमाना लभेथ
यं खन्तिमा सप्पुरिसो लभेथ,
खन्तीबलस्स ऊपसमन्ति वेरा ॥१९॥

[राजा सहित बड़ी भारी सेना भी कभी युद्ध करके उस चीज को प्राप्त नहीं कर सकती, जिसे क्षमा-शील सत्पुरुष प्राप्त कर लेता है क्षमा से ही वैर शान्त होता है ॥१९॥]

इस प्रकार बोधिसत्व के क्षमा की महिमा प्रकाशित करने पर वे राजा सोचने लगे--"शक्र अपने प्रश्न पूछता है। हमें पूछने का अवसर नहीं देगा ?" शक्र ने उनका आशय समझ अपने सोचे हुए शेष चार प्रश्न न पूछ उनकी जिज्ञासा उपस्थित की--

सुभासितं ते अनुमोदियानं
अञ्ञं तं पुच्छामि, तद इंघ ब्रूहि
यथा अहू दन्डकी नाळिकीरो
अथ अज्जुनो कलाबु चापि राजा
तेसं गतिं ब्रूहि सुपापकम्मिनं
कत्थूपपन्ना इसिनं विहेठका ॥२०॥

[आपके सुभाषित का अनुमोदन करते हुए, मैं दूसरा भी प्रश्न पूछता हूँ, वह मुझे कहें। दण्डकी, नालिकीर, अर्जुन तथा कलाबु राजा का क्या हुआ ? उन पापियों की गति कहिये। ऋषियों को कष्ट देने वाले कहाँ उत्पन्न हुए ? ॥२०॥]

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बोधिसत्व ने पाँच गाथाएँ कहीं--

किसं पि वच्छं अवकिरिय दण्डकी
उच्छिन्नमूलो सजनो सरट्ठो
कुक्कुलनामे निरयम्हि पच्चति
तस्स फुल्लिगानि पतन्ति काये ॥२१॥

यो सञ्ञते पब्बजिते अवञ्चसि
धम्मं भणन्ते 'समणे अदूसके
तं नाकिकीरं सुनखा परत्थ
संगम्म खादन्ति विफन्दमानं ॥२२॥

अथ अज्जुनो निरये सत्तिले
अवसिरो पतितो उद्धपादो
अंगीरसं गोतमं हेठयित्वा
खन्तिं तपस्सिं चिरब्रह्मचारि ॥२३॥

यो खण्डसो पब्बजितं अछेदयि
खन्तिं वदन्तं समणं अदूसकं
कलाबु वीचिं उपपज्ज पच्चति
महाभितापं कटुकं भयानकं ॥२४॥

एतानि सुत्वा निरयानि पण्डितो
अञ्ञानि पापिट्ठतरानि चेत्थ
धम्मं चरे समणब्राह्मणेसु
एवं करो सग्गं उपेति ठानं ॥२५॥

[दण्डकी किसवच्छ (तपस्वी) के शरीर पर जो थूकना आदि किया, उससे वह तथा उसकी जनता और राष्ट्र निर्मूल हो गया। वह कुक्कुल नामक नरक में जलता है। उसके शरीर पर अंगारे गिरते हैं ॥२१॥ जिस नाळिकीर राजा ने धर्मोपदेशक, निर्दोष, संयत, प्रव्रजित श्रमणों को ठगा, उस राजा को परलोक में कुत्ते इकट्ठे होकर खाते हैं, और वह छटपटाता है ॥२२॥ क्षमा-शील, चिरब्रह्म-चारी, तपस्वी अंगीरस गौतम को कष्ट देने के कारण अर्जुन शक्ति-शूल नरक में सिर नीचे, पैर ऊपर करके पड़ा है ॥२३॥ जिस कलाबु राजा ने क्षमाशील, निर्दोष, प्रव्रजित श्रमण के टुकड़े-टुकड़े किये, वह महान् ताप-युक्त, कटु, भयानक अवीची नरक में पड़ा जलता है ॥२४॥ पण्डित (जन) को चाहिये कि नरकों की बात सुनकर और यह जानकर कि इन से भयानक और भी नरक हैं, श्रमण-ब्राह्मणों के प्रति धर्माचरण करे। ऐसा करने से स्वर्ग-लाभ होता ॥२५॥

इस प्रकार जब बोधिसत्व ने चारों राजाओं का क्या हुआ, कह दिया, तो तीनों राजा विगत- सन्देह हो गये। तब शक्र ने अपने शेष चारों प्रश्न पूछते हुए गाथा कही—

सुभासितं ते अनुमोदियानं
अञ्ञं तं पुच्छामि, तव इङ्घ ब्रूहि
कथं विधं सीलवन्तं वदन्ति,
कथं विधं पञ्ञावन्तं वदन्ति,
कथं विधं सप्पुरिसं वदन्ति,
कथं विधं नो सिरि नो जहाति ॥२६॥

[आपके सुभाषित का अनुमोदन करते हुए अन्य प्रश्न पूछता हूँ, उसका उत्तर दें। कैसा आदमी शीलवान् कहलाता है ? कैसा आदमी प्रज्ञावान् कहलाता है ? ॥२६॥]

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बोधिसत्व ने चार गाथायें कहीं—

कायेन वाचाय च योच सञ्ञतो
मनसा च किञ्चि त करोति पापं
न अत्थहेतु अलिकं भणाति
तथाविधं सीलवन्तं वदन्ति ॥२७॥

गम्भीरपञ्ञं मनसाभिचिन्तयं
नाच्चाहितं कम्म करोति लुद्दं
कालाभत अत्थपदं न रिञ्चति
तथाविधं पञ्ञावन्तं वदन्ति ॥२८॥

यो वे कतञ्ञू कतवेदि धीरो
कल्याणमित्तो दळहभत्ति च होति
दुक्खितस्स सक्कच्च करोति किच्चं
तथाविधं सप्पुरिसं वदन्ति ॥२९॥

एतेहि सब्बेहि गुणेहि उपेतो
सद्धो, मुदु, संविभागी वदञ्ञू

संगाहकं सखिलं सण्हवाचं
तथाविधं नो सिरि नो जहाति ॥३०॥

[जो काय, वाक् तथा मन से संयत है, और मन से भी कोई पाप-कर्म नहीं करता, तथा स्वार्थ के लिये झूठ नहीं बोलता--ऐसे व्यक्ति को सदाचारी कहते हैं ॥२७॥ जो मन से गम्भीर प्रश्न को सोचता है, जो लोभ के वशीभूत हो आत्म-हित के विरुद्ध नहीं करता, क्रमागत अवसर को हाथ से नहीं जाने देता; वैसा आदमी प्रज्ञावान् कहलाता है ॥२८॥ जो कृतज्ञ हो, कृत-उपकार का बदला चुकाने वाला हो, कल्याणप्रिय हो, दृढ़-भक्तिमान हो, दुखी का उपकार करने के लिए उद्यत हो--वैसे आदमी को सत्पुरुष कहते हैं ॥२६॥ इन सब गुणों से युक्त जो श्रद्धावान् होता है, मृदु होता है, सविभागी होता है, प्रज्ञावान् होता है, संग्राहक होता है, मधुर-भाषी होता है, स्निग्ध होता है--ऐसे आदमी को श्री नहीं छोड़ती ॥३०॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने आकाश में चन्द्रमा के उगाने की तरह प्रश्नों का उत्तर दिया। उसके आगे शेष प्रश्न और उनका उत्तर है--

सुभासितं ते अनुमोदियानं
अञ्ञं ते पुच्छामि, तद इङ्घ ब्रूहि,
सीलं सिरी चापि सतं च धम्मा
पञ्ञा च कं सेट्ठतरं वदन्ति ॥३१॥

[तेरे सुभाषित का अनुमोदन करता हुआ, मैं तुझ से दूसरा प्रश्न पूछता हूँ, वह कह। शील, सौभाग्य, सत्पुरुषों का धर्म और प्रज्ञा--इन में सर्व श्रेष्ठ क्या है ? ॥३१॥

पञ्ञाहि सेट्ठा कुसला वदन्ति
नक्खत्तराजारिव तारकानं
सीलं सिरी चापि सतं च धम्मा
अन्वायिका पञ्ञवतो भवन्ति ॥३२॥

[(अर्थ-) कुशल लोग प्रज्ञा को ही श्रेष्ठ कहते हैं। यह तारागण में चन्द्रमा के समान है। शील, सौभाग्य तथा सत्पुरुषों के धर्म प्रज्ञावान के अनुयायी होते हैं ॥३२॥

सुभासितं ते अनुमोदियानं
अञ्ञ तं पुच्छामि, तद इंघ ब्रूहि
कथंकरो कितिकरो सि आचरं
किं सेवमानो लभतीघ पञ्ञं
पञ्ञाय दानि पटिपदं वदेहि
कथंकरो पञ्ञवा होति मच्चो ॥३३॥

[तेरे सुभाषित का अनुमोदन करता हूँ। दूसरी बात पूछता हूँ . . .यह कह। कैसे करने से, क्या करने से, किस आचरण से तथा कैसी संगति से आदमी को प्रज्ञा का लाभ होता है? अब प्रज्ञा का पथ कह। आदमी कैसे प्रज्ञावान बनता है? ॥३३॥

सेवेथ वद्धे निपुणे बहुस्सुते
उग्गाहको वा परिपुच्छको सिया
सुणेय्य सक्कच्च सुभासितानि,
एवंकरो पञ्ञवा होति मच्चो ॥३४॥
स पञ्ञवा कामगुणे अवेक्खति
अनिच्चतो दुखतो रोगतो च
एवं विपस्सी पजहाति छन्दं
दुक्खेसु कामेसु महब्भयेसु ॥३५॥
स वीतरागो पविनेय्य दोसं
मेत्तं चित्तं भावये अप्पमाणं
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
अनिन्दितो ब्रह्मं उपेति ठानं ॥३६॥

[जो (ज्ञान) वृद्ध हैं, जो दक्ष हैं, जो बहुश्रुत हैं, ऐसे लोगों की संगति करे। उनसे ग्रहण करने वाला तथा प्रश्न पूछने वाला बने। उनके सुभाषित को मनोभोग पूर्वक सुने। ऐसा करने से आदमी प्रज्ञावान होता है ॥३४॥ जो प्रज्ञावान काम-भोगों को अनित्य, दुःख और रोग करके जानता है, वह दुःख रूप, भय-रूप काम-भोगों के प्रति अपनी आसक्ति छोड़ देता है ॥३५॥ वह वीत-राग द्वेष-मुक्त होकर असीम मैत्री की भावना करता है। वह सभी

प्राणियों के प्रति दण्ड-त्यागी होकर निर्दोष जीवन व्यतीत करता हुआ ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है ।।३६।।]

इस प्रकार बोधिसत्व के काम-भोगों के दोष प्रकट करने पर, उन तीनों विशालकाय राजाओं की तत्कालिक रूप से काम-भोगों के प्रति आसक्ति नष्ट हो गई। यह जान बोधिसत्व ने उनकी प्रशंसा करते हुए गाथा कही—

महिद्धियं आगमनं अहोसि
तव-म-अट्ठका भीमरथस्स चापि
कालिंगराजस्स च सग्गतस्स
सब्बेसं वो कामरागो पहीनो ।।३७।।

[बड़ी बात हुई । तुम्हारी भीम रथ की उग्रतेज कालिंग नरेश की—सभी की काम-भोगों के प्रति, तात्कालिक रूप से आसक्ति समाप्त हो गई ।।३७।।]

यह सुन राजाओं ने बोधिसत्व की स्तुति करते हुए गाथा कही—

एवं एतं परचित्तवेदी
सब्बेसं नो कामरागो पहीनो,
करोहि ओकासं अनुग्गहाय
यथा गतिं ते अभिसम्भवेम ।।३८।।

[इस प्रकार आप दूसरे के चित्त को जान लेते हैं हम सब की काम-भोग सम्बन्धी आसक्ति प्रहीण हो गई हैं। कृपा कर, हमें प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दें, जिससे हम भी आप की गति को प्राप्ति हों ।।३८।।)

उन्हें अनुज्ञा देते हुए बोधिसत्व ने अगली गाथा कही—

करोहि ओकासं अनुग्गहाय
तथा हि वो कामरागो पहीनो,
फरथ कायं विपुलाय पीतिया
यथा गतिं मे अभिसम्भवेथ ।।३८।।

[क्योंकि तुम्हारी काम-भोग सम्बन्धी आसक्ति (तत्कालिक रूप से) छूट गई है, तो तुम्हें करुणा पूर्वक अनुज्ञा है कि (प्रव्रज्या ग्रहण) करो। सारे

शरीर में विपुल प्रीति का संचार करो, जिससे मेरी अवस्था का अनुभव कर सको ॥३९॥]

यह सुन उन्होंने स्वीकार करते हुए गाथा कही—

सब्बं करिस्साम तवानुसासनिं
यं यं तुवं वक्खसि भूरिपञ्ञ
फराम कायं विपुलाय पीतिया
यथागतिं ते अभिरूभवेम ॥४०॥

[हे महान प्रज्ञ ! जो जो तू आज्ञा देगा, हम तेरी सब आज्ञाओं का पालन करेंगे। हम सारे शरीर में विपुल प्रीति का संचार कर लेंगे, जिससे हम तेरी अवस्था का अनुभव कर सकें ॥४०॥]

बोधिसत्व ने उनकी सेना को भी प्रव्रज्या दिला ऋषियों को प्रेरित करते हुए कहा—

कतायं वच्छस्स किसस्स पूजा
गच्छन्तु भोन्तो इसयो साधुरूपा
झानेरता भोथ सदा समाहिता
एसा रती पब्बजितस्स सेट्ठा ॥४१॥

[वच्छ किच्छ की पूजा हो गई। अब आप साधु रूप ऋषिगण अपने-अपने आश्रम जायें। सदैव एकाग्रचित हो ध्यान में रत रहें। प्रव्रजित की यही श्रेष्ठ अनुरक्ति है ॥४१॥]

ऋषियों ने उसका कथन शिरोधारण किया, और उसे नमस्कार कर, उठकर अपने-अपने स्थान को चले गये। शक्र भी आसन से उठ, बोधिसत्व की स्तुति कर हाथ जोड़ सूर्य्य को नमस्कार करते हुए बोधिसत्व को नमस्कार कर सपरिषद चला गया।

इस बात को जान शास्ता ने ये गाथायें कहीं—

सुत्वान गाथा परमत्थसंहिता
सुभासिता इसिना पण्डितेन

ते वेदजाता अनुमोदमाना
पक्कामु देवा देवपुरं यसस्सिनो ॥४२॥
गाथा इमा अत्थवती सुब्यञ्जना
सुभासिता इसिना पण्डितेन
यो कोचि इमा अट्ठिकत्वा सुणेय्य
लभेथ पुब्बापरियं विसेसं
लद्धान पुब्बापरियं विसेसं
अदास्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥४३॥

[पण्डित ऋषि द्वारा कही गई अर्थ-भरी गाथाओं को सुनकर, उनके अर्थ का अवबोध कर और उनका अनुमोदन कर यशस्वी देवगण देव-लोक सिधारे ॥४२॥ पण्डित ऋषि द्वारा कही गई इन अर्थ-वान तथा सुव्यञ्जन-युक्त गाथाओं को जो कोई एकाग्र चित्त होकर सुनेगा, वह प्रथम-ध्यान आदि लाभ करेगा और उन्हें लाभ कर मृत्यु-राज्य की सीमा को लांघ जायेगा ॥४२॥]

इस प्रकार शास्ता न अहत्व को ही धर्म देवता के सिर पर रख 'भिक्षुओं, न केवल अभी, किन्तु पहले भी मोग्गल्लान की दाह क्रिया के समय पुष्प-वर्षा हुई है' कह जातक का मेल बैठाते हुए—

सालिस्सरो सारिपुत्तो मेण्डिस्सरो च कस्सपो
पब्बतो अनुरुद्धो च कच्चायनो च देवलो
अनुसिस्सो च आनन्दो किसवच्छो च कोलितो
सरभंगो बोधिसत्तो, एवं धारेथ जातकं ॥४४॥

[सालिस्सर सारिपुत्र थे, मेण्डिस्सर काश्यप, पर्वत अनुरुद्ध, देवल कच्चायन, अनुशिष्य आनन्द, किसवच्छ कोलित और सरभंग तो बोधिसत्व ही था——इस प्रकार इस जातक को समझाना चाहिये ॥४४॥]

⊙

५२३. अलम्बुस जातक

"अथ ब्रवी. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय पूर्व-भार्या द्वारा लुभाये जाने के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

कथा इन्द्रिय[1] जातक में आयेगी ही। शास्ता ने उस भिक्षु को "भिक्षु, क्या तू सचमुच उद्विग्न है ?" "पूछ, भन्ते सचमुच" कहने पर "किसने, उद्विग्न किया ?" प्रश्न किया। उत्तर मिला--"पूर्व भार्य्या ने।" "भिक्षु, यह स्त्री तेरा अनर्थ करने वाली है, इसके कारण तेरा ध्यान नष्ट हुआ, और तीन वर्ष तक तू मूढ़-मदहोश होकर पड़ रहा। होश आने पर बहुत रोया पीटा" कह पूर्व जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय, बोधिसत्व काशी राष्ट्र में ब्राह्मण-कुल में जन्म ग्रहण कर, बड़े होने पर सब शिल्पों में निष्णात हो ऋषियों के प्रव्रज्या-क्रम के अनुसार प्रव्रजित हो, जंगल में फल-मूल खाकर रहने लगा।

एक हिरनी थी। उसने उसके पेशाब करने की जगह पर उत्पन्न घास खाई और पानी पिया। इतने से ही उसमें आसक्त हो गई और उसे गर्भ रह गया। उसके बाद से वह वहीं आकर आश्रम के आस-पास ही चरने लगी। बोधिसत्व ने विचार किया तो उसे इस बात का पता लगा।

आगे चलकर उस हिरनी ने एक बालक को जन्म दिया। बोधिसत्व उसे पुत्र-स्नेह से पालने लगे। उसका नाम हुआ ऋषि शृंङ्ग। जब उसने होश संभाला

---

१. इन्द्रिय जातक (४२३)

तो उसे प्रव्र जित कर, अपने बूढ़ा होने पर, उसे अपने साथ नारी-वन ले गया और उपदेश दिया—'तात ! इस हिमालय प्रदेश में उन पुष्पों के सदृश स्त्रियाँ हैं। जो उनके वश में हो जाते हैं, उन्हें वे जड़मूल से नष्ट कर डालती हैं। उनके वश में नहीं आना चाहिए।" इस प्रकार उपदेश दे, आगे चलकर वह ब्रह्मलोक गामी हुआ।

ऋषि-शृङ्ग भी ध्यान-क्रीड़ा करता हुआ, हिमालय में रहने लगा, घोर-तपस्वी। उसने अपनी इन्द्रियों को जैसे मार ही डाला था। उसके शील के तेज से शक्र-भवन कांप उठा।

शक्र ने ध्यान दिया, तो उसे इस बात का पता लगा। वह डरा कि कहीं यह मुझे 'शक्रत्व से न धकेल दे। उसने तय किया की एक अप्सरा को भेज कर इसका 'शील' खण्डित कराऊँगा। उसने सारे देव-लोक में खोज की। अपनी ढ़ाई-करोड़ सेविकाओं में उसे एकमात्र अलम्बस अप्सरा ही ऐसी दिखाई दी जो उसके 'शील' को खण्डित कर सके। उसने, उसे बुला, उसका 'शील' खण्डित करने की आज्ञा दी॥

इस अर्थ को प्रकट करते हुए शास्ता ने यह गाथा कही—

अथ अब्रवी ब्रह्म इन्दो वत्रभू जयतं पिता
देवकञ्ञं पराभेत्वा सुधम्मायं अलम्बुसं ॥१॥

[तब महान वत्रभू, जयतं-पिता, इन्द्र ने सुधर्मा में देवकन्या को समर्थ जान उस अलम्बुस को कहा ॥१॥

मिस्से देवा याचन्ति तावतिंसा सेन्दका
इसि पलोभिके गच्छ इसिसिंगं अलम्बुसे ॥२॥

[हे मिश्रे ! इन्द्र सहित त्रयोत्रिंश देवता तुझे चाहते हैं। हे ऋषियों को लुभाने में समर्थ आलम्बसे ! ऋषि-शृङ्ग के पास जा ॥२॥

शक्र ने आलम्बुस को आज्ञा दी, "जा ऋषि-शृङ्ग के पास जा और उसे अपने वश में कर, उसका 'शील' खण्डित कर।"

पुरायं अम्हे अच्चेति वतवा ब्रह्मचरियवा
निब्बानाभिरतो वद्धो तस्स मग्गानि आचर ॥३॥

इससे पहले कि यह निर्वाण-रत, ज्ञान-वृद्ध तपस्वीं हमें व्रत से और ब्रह्मचर्य से लाँघ जाय, तू उसके मार्ग का अवरोध कर ।।३।।]

यह सुन अलम्बुस ने दो गाथायें कहीं—

देवराजा किमेव त्वं, मं एव तुवं सिक्खसि
इसिं पलोभिके, सन्ति अञ्ञापि अच्छरा ।।४।।
मादिसियो पवरा चेव असोके मंडने वने,
तासंपि होतु परियायो, तापि यन्तु पलोभिका ।।५।।

[हे देव राज ! क्या कारण है कि तू मेरीं ही ओर देखता है कि हे 'लुभाने वाली ऋषी के पास जा'। इस अशोक नन्दन-वन में मेरे समान दक्ष और भी तो अप्सरायें हैं। उन्हे भी अवसर मिले। वे भी 'लुभाने वाली' बनें ।।४।।

तब शक्र ने तीन गाथायें कहीं—

अद्धा हि सच्चं भणसि, सन्ति अञ्ञापि अच्छरा,
तादिसियो पवरा चेव असोके नन्दने वने, ।।६।।
न ता एवं पजानन्ति परिचरियं पुमं गता
यादिसं त्वं पजानासि नांरि सब्बंगसोभने ।।७।।
त्वं एव गच्छ कल्याणि इत्थीनंपवरा चसि,
तं एव वण्णरूपेन वसं अनामयिस्ससि ।।८।।

यह तू निश्चय से सत्य कहती है कि अन्य भी अप्सरायें हैं, तेरे ही समान दक्ष, इस अशोक नन्दन- वनमें ।।६।। हे सर्वांग शोभनी नारी ! जिस प्रकार तू पुरुषों की परिचर्य्या करना जानती है, उस प्रकार दूसरी नहीं जानती हैं ।।७।। हे कल्याणी ! तू ही स्त्रियों में (अधिक) दक्ष है, इसलिए तू ही जा। तू ही अपने वर्ण और रूप से उसे वश में लायेगी ।।८।।

यह अलम्बुसा ने दो गाथायें कहीं—

न बाहं गमिस्सामि देवराजेन पेसिता
विहेमि चेतं आसादुं, उग्गतेजो ही ब्राह्मणो ।।९।।
अनेके निरयं पत्ता इसिं आसादिया जना
आपन्ना मोहसंसारं तस्मा लोमनि हंसये ।। १०।।

[ऐसा नहीं है कि देवराज की भेजी हुई मैं नहीं जाऊँगी। किन्तु मैं उसे लुभाती हुई डरती हूँ, क्योंकि तपस्वी उग्र-तेज वाला है। ऋषि को लुभाने वाले अनेक मोह-ग्रस्त जन नरकगामी हुए हैं। इसलिये मैं डरती हूँ ॥१०॥]

ये सम्बुद्ध-गाथायें हैं—

इदं वत्वान पक्कामि अच्छरा नाम वण्णिनी
मिस्सा मिस्सेतुं इच्छन्ती इसिसिंगं अलम्बुसा ॥११॥

सा च नं वनं ओगय्ह इसिसिंगेन रक्खितं
बिम्बजालकसञ्छन्नं समन्ता अडढयोजनं ॥१२॥

पातोव पातरासम्हि उदण्हसमयं पति
अग्गिट्ठं परिमज्जन्तं इससिंगं उपागमि ॥१३॥

[यह कहकर अलम्बुसा नाम की अप्सरा ऋषि-शृङ्ग को लुभाने की इच्छा से (उसके आश्रम की ओर) चल दी ॥११॥ वह चारों ओर आधे योजन तक रक्त-कुरुक वर्ण वन से आछन्न, ऋषि-शृङ्ग द्वारा सुरक्षित वन में पहुँची ॥१२॥ प्रात:काल ही, सूर्योदय के समय जब ऋषि-शृङ्ग अग्नि-शाला में झाड़ू लगा रहा था, वह ऋषि-शृङ्ग के पास पहुँची ॥१३॥

उस तपस्वी ने उससे पूछा—

का नु विज्जु दिवाभासि ओसधी विय तारका
बिचित्तहत्थाभरणा आमुत्तमणिकुण्डला ॥१४॥

आदिच्चवण्णसंकासा हेमचन्दनगन्धनी
सञ्ञातूरु महामाया कुमारी चारुदस्सना ॥१५॥

विलाका मुदुका सुद्धा, पादा ते सुप्पतिट्ठिता
कमना कमनीया ते हरन्ती ञेव मे मनो ॥१६॥

अनुपुब्बा वाते ऊरू नागनाससमूपमा
विमट्ठा: तुय्हं सुस्सोणी अक्खस्स फलकं यथा ॥१७॥

उप्पलस्सेव किञ्जक्खा नाभि ते साधुसण्ठिता
पुरा कण्हञ्जनस्सेव दूरतो पतिदिस्सति ॥१८॥

दुबिधा जाता उरजा अवण्टा साधु पच्चुदा
पयोधरा अप्पतीता अद्धलाबुसमा थना ॥१९॥
दीधा कम्बुतलाभाषा गीवा एणेय्यका यथा
पण्डरावरणा वग्गु चतुत्थमनसन्निभा ॥२०॥
उद्धग्गा च अधग्गा च दुमग्गपरिमज्जिता
दविजा नेलसम्भूता दन्ता तव सुदस्सना ॥२१॥
अपण्डरा लोहितन्ता जिञ्जुकफलसन्निभा
आयता च विसाला च नेत्ता तव सुदस्सना ॥२२॥
नातिदीधा सुसम्मट्ठा कनकग्गासमोचिता
उत्तमंगरुहा तुय्हं केसा चन्दनगन्धिका ॥२३॥
यावता कासिगोरक्खा वाणिजानं च या गीत
इसीनं च परक्कन्तं सञ्ञातानं तपस्सीनं ॥२४॥
न ते समसमंपस्से अस्मिं पुथुविमण्डले
कोवा त्वं कस्स वा पुत्तो, कथं जानेमु तं मयं ॥२५॥

[तू कौन है जो विद्युत की तरह चमकती है ? कौन है जो औषध नक्षत्र के समान प्रकाशमान है ? कौन है जिसके हाथों में विचित्र आभरण हैं ? कौन है जिसके कानों में मोतियों तथा मणि के कुण्डल हैं ॥१४॥ आदित्य-वर्ण, स्वर्ण-वर्ण चन्दन से सुगन्धित, गोल-मटोल जाँघ वाली, महामाया, सुदर्शनीय कुमारी तू कौन है ?॥१५॥ हे मध्यम आकार वाली, मृदु, स्वभाव वाली, शुद्ध, प्रतिष्ठि पादों वाली ! तेरी गति मेरे मन का हरण करती ही है ॥१६॥ हाथी की सूण्ड की तरह तेरी जाँघ क्रमशः मोटी होती चली गई है और सोने के पटड़े की तरह तेरा पिछला हिस्सा विशाल है ॥१७॥ तेरी नाभि कंवल के डोडे के समान सुसं स्थित है, और तू मसिवर्ण कालिख की तरह दूर से ही चमकती है ॥१८॥ तेरे दो स्तन बिना डण्ठल के भली प्रकार बाहर निकले हुए स्थित हैं दूध से भरे हुए हैं, भीतर धसें हुए नहीं हैं और आधे कद्दू के समान हैं ॥१९॥ तेरी गर्दन शंख के तल के समान चिकनी और हिरन के समान लम्बी है, दाँतो के वर्ण की है और जिह्वा के समान (लचकदार) है ॥२०॥ तेरे ऊपर और नीचे के दाँत दातुन से साफ किये हुए हैं, द्वि-जन्मा हैं, निर्दोष हैं तथा दर्शनीय हैं ॥२१॥ तेरी

काली हैं, सिरों पर रक्त वर्ण हैं, चौड़ी हैं, विशाल हैं और दर्शनीय ॥२२॥ तेरे सिरके बाल अधिक लम्बे नहीं सुसंस्थित हैं सोने की चिपटी से तैल-सिंचित हैं तथा चन्दन की गन्ध वाले हैं ।२३।। ऋषि, गो-रक्षण तथा वाणिज्य से जीविका चलाने वालों की जैसी स्थिति होती हैं और संयत, तपस्वी, पराक्रम-शील ऋषियों की जो स्थिति होती है, उनमें से किसी की भी स्थिति ऐसी नहीं है जिसे इस भूमि मण्डल में तेरे समान कहा जा सके । तू कौन है ? किसकी सन्तान है ? हम तुझे कैसे जानें २४-२५॥]

इस प्रकार सिर से पैर तक अपने रूप का वर्णन सुन अलम्बुसा ने चुप हो, उस की बात-चीत से उसे मुग्ध हुआ जान गाथा कही—

न पञ्हकालो भद्दं ते कस्सप एवं गते सति,
एहि सम्म रमिस्साम उभो अम्हाकं अस्समे
एहि तं उपगूहिस्सं रतीनं कुसलो भव ॥२६॥

[काश्यप ! तेरे चित्त की ऐसी अवस्था हो जाने पर अब यह प्रश्न पूछने का समय नहीं है । ? आ मित्र ! हम दोनों अपने आश्रम में रमण करें और तू गुह्य रतियों में कुशल हो जा ॥२६॥

वह कह अलम्बुसा ने सोचा—"यह मेरे खड़ी रहने पर पास नहीं आएगा, मुझे जाने वाली की तरह होना चाहिए ।" वह स्त्री-माया में कुशल होने से तपस्वी के चित्त को चलायमान कर जिधर से आई, उधर ही चली गई ।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

इदं वत्वान पक्कामि अच्छरा कामवण्णिनी
मिस्सा मिस्सेतुं इच्छन्ती इसिसिंगं अलम्बुसा ॥२७॥

[यह कह काम-भोगों की महिमा गाने वाली अलम्बुसा अप्सरा ऋषिश्रृङ्ग के साथ रमण करने की इच्छा को लेकर चलती बनी ॥२७॥

उसे जाते देख तपस्वी ने "यह चली जा रही है" सोच अपने ढीले पराक्रम युक्त मन्दगमन को छोड़, तेजी से भाग कर उसके केशों को हाथ लगाया ।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा--

सो च वेगेन निक्खम्म छेत्वा दन्धपरक्कमं
तं उत्तमासु वेणीसु अज्झापत्तो परामसि ॥२८॥
तं उदावत्त कल्याणी पलिस्सजि सुसोभना
चवि तम्हि ब्रह्मचर्य्याः यथा तं अथ तोसिता ॥२९॥
मनसा आगमा इन्दं वसंतं नन्दने वने
तस्सा संकप्पं अञ्ञाय मघवा देवकुञ्जरो
पल्लंकं पहिणी सिप्पं सोवण्णं सोपवाहनं ॥३०॥
सौत्तरच्छपञ्ञासं सहस्सपटियत्थतं
तं एनं धारेसि उरे कत्वान सोभना ॥३१॥
यथा एकमुहत्तं व तीणि वस्सानि धारयि
विमदो तीहि वस्सेहि पटिबुज्झित्वान ब्राह्मणो॥३२॥
अदस्सासि हरीरुक्खे समन्ता अग्गिमापनं
नव पत्त वनं फुल्लं कोकिलगण घोसितं ॥३३॥
समन्ता पविलोकेत्वा रुदं अस्सूनि वत्तयि
न जुहे न जपे मन्ते अग्हितं अहापितं ॥३४॥
को नुमे पारिचाय पुब्बे चित्तं पलोभयि
अरञ्ञे मे विहरतो यो मे तेजा ह सम्भतं
नाना रतन परिपूरं नावं व गण्हि अण्णवे ॥३५॥

[उसने जल्दी से निकल, अपने ढीले-ढाले पन को छोड़ उसे उत्तम वेणी से जा पकड़ा ॥२८॥ उस सुन्दरी कल्याणी ने रुक कर उसका आलिंगन किया। उसके ब्रह्मचर्य्य से च्युत होने पर, वह जैसे इन्द्र चाहता था वैसा होने के कारण सन्तुष्ट हुई ॥२९॥ उसके मन की बात जान कर नन्दन-वन में रहने वाले देवेन्द्र, मघवा, इन्द्र ने शीघ्र उपवाहन सहित सोने का पलंग भेजा ॥३०॥ हजार कम्बल बिछे और पचास ओढ़ने वाले उस पलंग पर वह सुन्दरी उसे छाती पर लिटाये रही, ॥३१॥ वह उसे तीन वर्ष तक ऐसे ही लिटाए रही, मानों एक ही क्षण बीता हो। तीन वर्ष के बीतने पर विगत-मद ब्राह्मण को होश आया ॥३२॥ उसने अग्नि शाला को चारों ओर से हरिण-वर्ण

वृक्षों से घिरे देखा जिनमें नये पत्ते फूट आये थे और वहाँ कोयल की कूक थी ॥३३॥ चारों ओर देखने से उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसका यज्ञ करना तथा मन्त्र-जाप छूट गया। उसका अग्नि-होत्र जाता रहा ॥३४॥ वह रोता था—"किसने मेरी परिचर्या करके मेरे चित्त को लुभाया ? किसने जंगल में विहार करते हुए मेरे तेज से उत्पन्न ध्यान को उसी प्रकार नष्ट कर दिया जैसे कोई नाना रत्नों से भरी नौका को समुद्र में डुबो दे" ॥३५॥]

यह सुन अलम्बुसा सोचने लगी—"यदि मैं उसे नहीं बताऊँगी तो यह मुझे शाप दे देगा। मैं उसे बताऊँगी।" उसने प्रकट रूप से यह गाथा कही—

अहं ते पारिचरियाय देवराजेन पेसिता
अवधी चित्तं चित्तेन पमादा त्वं न बुज्झसि ॥३६॥

[मुझे-देवेन्द्र ने भेजा था। मैंने परिचर्या द्वारा अपने चित्त से तेरे चित्त का वध किया। तू प्रमाद के कारण नहीं समझता है ॥३६॥

उसने उसकी बात सुनी तो पिता के उपदेश को यादकर "मैंने पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया, इसीलिए महाविनाश को प्राप्त हुआ" कह रोते हुए चार गाथाएँ कहीं--

इमानि किर मं तातो कस्सपी अनुसासते
कमला सरिसित्थियो तायो बुज्झेसि माणव,
उरे गण्डायो बुज्झेसि, तायो बुज्झेसि माणव
इच्चानुसासि म तातो यथा मं अनुकम्पको ॥३७-३८॥
तस्साहं वचनं नाकं पितु बुद्धिस्स सासनं
अरञ्ञे निम्मनुस्सम्हि स्वज्ज झायामि एकको ॥३९॥
सोहं तथा करिस्सामि धि-र-त्थु जीवितेन मे
पुन वा तादिसो हेस्सं, मरणं मे भविस्सति ॥४०॥

[मेरे तात काश्यप ने मुझे-शिक्षा दीक्षा दी थी कि स्त्रियों को आदमी पुष्प सदृश समझता है, किन्तु वे गले की ग्रन्थी होती हैं, यह बात (भी) आदमी (बाद को) समझता है। मेरे दयालु पिता ने मुझे यह शिक्षा दी ॥३७॥३८॥ मैंने

अपने वृद्ध पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया। इसलिए आज मैं इस एकांत जंगल में अकेले सोच में पड़ा हूँ। मैं वैसा करूँगा। मेरे जीवन को धिक्कार है। मैं फिर वैसा ध्यान-लाभी होऊँगा। मेरी मृत्यु निश्चित है ॥३९-४०॥]

उसने काम-भोग की आसक्ति त्याग ध्यान-लाभ किया। उसके श्रमण-तेज तथा ध्यान-लाभ को देख अलम्बुसा ने डर के मारे उससे क्षमा माँगी।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने दो गाथाएँ कहीं—

तस्स तेजं च विरियं च धिंतिं च ञत्वा अवट्ठितं
सिरसा अग्गहि पादे इसिसिंगं अलम्बुसा ॥४१॥
मा मे कुज्झि महावीर, मा मे कुज्झि महाइसि
महा अत्थो मया चिण्णो तिदसानं यसस्सिनं
तया पकम्पितं आसि सब्बं देवपुरं तदा ॥४२॥

[उसके तेज, वीर्य तथा धृति को पुनी स्थिर हुआ जान अलम्बुसा ने ऋषिश्रृङ्ग के पैरों पर अपना सिर रख दिया ॥४१॥ हे महावीर ! मुझ पर क्रोध न करें। हे महर्षि ! मुझ पर क्रोध न करें। मैंने त्रयोत्रिंश लोक के यशस्वी देवताओं के कहने से बड़ा (अन-) अर्थ किया। उस समय तूने सारे देव-लोक को कँपा दिया था ॥४२॥]

उसने "भद्रे ! तुझे क्षमा करता हूँ, सुखपूर्वक जा" कह विदा करते ! हुए गाथा कही--

तावतिंसा च ये देवा तिदसानं च वासवो
त्वं च भद्दे सुखी होहि, गच्छ कञ्ञे यथासुखं ॥४३॥

[त्रयोत्रिंश-लोक के देवता तथा उनका इन्द्र और हे भद्रे तू सुखी हो। हे कन्या ! तू सुखपूर्वक जा ॥४३॥]

वह उसे नमस्कार कर उसी स्वर्ण-पलँग से देव-पुर गयी।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने तीन गाथाएँ कहीं--

तस्स पादे गहेत्वान कत्वा च नं पदक्खिणं
अञ्जलिं पग्गहेत्वान तम्हा ठाना अपक्कमि ॥४४॥

यो च तस्सासि पल्लंको सोवण्णसोपवाहनो
सौत्तरच्छदपञ्ञासो सहस्सपटियत्थतो
तं एव पल्लंकं आरुय्ह अगा देवान संतिके ॥४५॥
तं ओक्कं इव आयन्ति जलं तं विज्जुतं यथा
पतीतो सुमनो वितो देविन्दो अददा वरं ॥४६॥

[उसके पैर पकड़, उसकी प्रदक्षिणा कर तथा उसे नमस्कार कर वह वहाँ से चली गयी ॥४४॥ उसका जो उपवाहन सहित स्वर्ण-पलंग था, जिस पर पचास ओढने तथा हजार कम्बल थे, वह उसी पलंग पर चढ़कर देवताओं के पास गयी ॥४५॥ उसे प्रदीप की तरह, प्रज्वलित बिजली की तरह आते देख सन्तुष्टचित्त देवेन्द्र ने वर दिया ॥४६॥]

उसने उससे 'वर' की याचना करते हुए अन्तिम गाथा कही—

वरं चे मे अदो सक्क सब्बभूतानं इस्सर
न इसि पलोभियं गच्छे, एतं सक्क वरं वरे ॥४७॥

[हे सभी प्राणियों के ईश्वर इन्द्र ! यदि तू मुझे 'वर' देना चाहता है तो मैं तुझसे यही 'वर' माँगती हूँ कि मुझे फिर ऋषि को लुभाने न जाना पड़े ॥४७॥]

शास्ता ने उस भिक्षु को यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों का प्रकाश होने पर वह भिक्षु श्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय अलम्बुसा पुर्व-भार्या थी, ऋषिश्रृङ्ग उद्विग्न-भिक्षु था, और महर्षि-पिता तो मैं ही था।

⊙

५२४. सङ्खपाल जातक

"अरियावकासो सि . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उपोसथ-कर्म के बारे में कही। उस समय शास्ता ने "उपोसथ-व्रतधारी उपासकों पर प्रसन्न हो पुराने पण्डितों ने बड़े भारी नाग-ऐश्वर्य को छोड़ उपोसथ-व्रत धारण किया" कह उनके प्रार्थना करने पर पूर्व जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में राजगृह में मगध-नरेश राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व ने उस राजा की पटरानी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। उसका नाम दुर्योधन रखा गया। उसने बड़े होने पर तक्षशिला जा, शिल्प सीख, वापिस आकर पिता का दर्शन किया। पिता ने उसका राज्याभिषेक कर स्वयं ऋषि-प्रव्रज्या ली और जंगल में रहने। बोधिसत्व दिन में तीन बार पिता के दर्शन के लिए जाता। (पिता का) लाभ-सत्कार बहुत बढ़ गया। उस बाधा से उसे योगाभ्यास के लिए भी अवकाश नहीं मिलने लगा, तो वह सोचने लगा, मेरा "लाभ-सत्कार बहुत है। यहाँ रहकर मैं इस जंजाल से नहीं निकल सकता। पुत्र को बिना सूचित किये मैं अन्यत्र चला जाऊँगा।" उसने किसी को सूचना नहीं दी और उद्यान से निकल, मगध राष्ट्र का अतिक्रमण कर महिसंक राष्ट्र में शङ्खपाल सरोवर से निकली कर्णपेण्ण नदी के तट पर चन्द्रक पर्वत के आश्रय में पर्णशाला बना वहाँ रहने लगा। वहाँ रहते समय योग-विधि का अभ्यास कर ध्यान तथा अभिञ्ञा प्राप्तकर फल-मूल चुग कर जीवन-यापन करता था।

सङ्खपाल नाम का नाग-राज कर्णपेण्ण नदी से निकल बहुत से अनुयायियों के साथ बीच-बीच में उसके पास आता। वह उसे धर्मोपदेश देता। उसके पुत्र की इच्छा पिता का दर्शन करने की हुई। वह नहीं जानता था कि वह कहाँ

गया है ? उसने पता लगवाया और जब उसे पता लगा कि 'अमुक स्थान पर रहता है' तो उसका दर्शन करने के लिए बहुत से अनुयायियों के साथ वहाँ पहुँच, एक ओर छावनी डाल, कुछ अमात्यों को साथ ले आश्रम की ओर गया। उस समय सङ्खपाल अनेक अनुयायियों सहित बैठा धर्मोपदेश सुना रहा था। जब उसने उस राजा को आते देखा तो वह ऋषि को प्रणाम कर उठकर चला गया। राजा ने पिता को प्रणाम किया और कुशल-क्षेम पूछ, बैठकर प्रश्न किया—"भन्ते ! यह तुम्हारे पास कौन-सा राजा आता था ?"

"तात ! यह सङ्खपाल नागराज था।" उसने वहाँ की सम्पत्ति के कारण नाग-भवन के लिए मन में लोभ उत्पन्न कर, कुछ दिन वहीं रह, पिता को निरन्तर भिक्षा दिलवा, अपने नगर लौट कर, चारों द्वारों पर दान-शालाएँ बनवा, सारे जम्बुद्वीप को क्षुब्ध कर दान दे, शीलों की रक्षा कर, उपोसथ-व्रत रख, नाग-भवन में पैदा होने की इच्छा की। आयु पूरी होने पर वह नाग-भवन में पैदा हो सङ्खपाल नागराजा हुआ। समय बीतने पर उसे उस सम्पत्ति से विरक्ति हो गयी। तब से वह मनुष्य-योनि की इच्छा करता हुआ उपोसथ-व्रत करने लगा। नाग-भवन में रहते समय उसका उपोसथ-व्रत पूरा न होता। शील-नाश हो जाता। तब से वह नाग-भवन से कर्णपेण्ण नदी से नातिदूर महामार्ग तथा पग-डण्डी के बीच एक बाँबी को घेर, उपोसथ-व्रत ले, दान-चेतनायुक्त हो पड़ रहता। उसका संकल्प होता 'जिन्हें मेरा चर्म चाहिए वे मेरा चर्म आदि ले जायें और जिन्हें मेरा मांस चाहिए वे मांस आदि ले जायें।' वह अपना बलिदान कर, बाँबी के मुँह पर पड़ा-पड़ा, श्रमण-धर्म पूरा करता हुआ चतुर्दशी तथा पूर्णिमा के दिन वहाँ रह, प्रतिपदा को नाग-भवन जाता।

एक दिन जब वह इस प्रकार शील ग्रहण किये पड़ा था, सीमाप्रदेश के सोलह ग्रामवासी हाथों में हथियार ले मांस लाने के लिए जंगल में निकले। जब उन्हें जंगल में कुछ न मिला और उन्होंने बाँबी पर पड़े हुए उस (नाग-राज) को देखा तो रुक कर सोचने लगे—"आज हमें गोह का मांस तक भी नहीं मिला। हम इस नाग-राजा का वध करके खायेंगे।" फिर सोचा, "यह बहुत बड़ा है। पकड़े जाने पर भाग भी जा सकता है। इसे पड़े ही पड़े, इसके फन को शूलों से बींध, दुर्बल करके पकड़ेंगे।" यह विचार कर वे शूल लेकर पास आये।

बोधिसत्व का शरीर भी बड़ा था, एक द्रोणी नौका भर। वह ऐसा लगता था मानों फूलों की माला लपेट कर रखी हो। आखें जिञ्जुक फल के समान थीं। सिर जय सुमन के समान था। इस प्रकार वह बहुत ही सुन्दर लगता था। उसने उन सोलह जनों की पदध्वनि सुन, फन में से सिर बाहर कर, लाल आँखें खोल, उन्हें हाथ में शूल लिये आते देख सोचा, "आज मेरा मनोरथ पूरा होगा। मैं अपना बलिदान करके दृढ़ संकल्प करके पड़ा हूँ। ये जिस समय मेरे शरीर को शक्ति से कूट-कूट कर टुकड़े-टुकड़े करेंगे, तो मैं क्रोध भरी आँखें खोल कर इनकी ओर न देखूंगा।" अपने शील के खण्डित होने के डर से उसने दृढ़ संकल्प किया और सिर को फन के अन्दर ही कर पड़ रहा।

वे उसके पास पहुँचे और उसे पूंछ से पकड़, खींच कर जमीन पर गिराया और तेज शूलों से आठ स्थानों पर बींधा। फिर काँटेदार काली बेंत की लकड़ियों को जखमों में घुसा, आठ जगहों से बँहगी पर उठा वे मार्गारूढ़ हुए। बोधिसत्व ने शूलों से बिंध जाने के बाद से एक जगह भी क्रोध भरी आँखें खोलकर उनकी ओर नहीं देखा। जब उसे आठ बैंहगियों पर ढोये लिये जा रहे थे, उसका सिर लटक कर जमीन से टकराया। उन्होने "इसका सिर लटकता है" सोच, उसे महामार्ग पर लिटा, उसके नथनों को छोटे शूलों से बींध, उनमें रस्सी डाल, सिर को उठा, सिरे से लटकाया और फिर उसे उठा मार्गारूढ़ हुए।

उस समय विदेह राष्ट्र के मिथिला नगर का आळार नामक गृहस्थ, पाँच सौ गाड़ियाँ ले, आराम से गाड़ी में बैठा जा रहा था। उसने उन ग्रामीणों को बोधिसत्व को इस प्रकार ले जाते देखा। उसने उन सभी सोलहजनों को एक-एक लद्दू बैल, पसर-पसर भर सोने के मासे ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र तथा उनकी भार्याओं के लिए वस्त्र-आभरण देकर विदा किया। नाग-राज ने नागभवन पहुँच, बिना विलम्ब किये, बहुत से अनुयायियों के साथ बाहर आ, आळार के पास पहुँच नाग-भवन की महिमा सुना, उसे नाग-भवन में ले जा, तीन सौ नाग-कन्याओं के साथ बहुत ऐश्वर्य दे, दिव्य काम-भोगों से संतुष्ट किया। आळार नाग-भवन में वर्ष भर रहा। वहाँ रहते समय दिव्य काम-भोगों का उपभोग कर "मित्र! मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ" कह नागराज से प्रव्रजित-परिष्कार ले, नागभवन से हिमालय-प्रदेश पहुँचा। वहाँ प्रव्रजित हो चिरकाल

तक रहा। आगे चल कर चारिका करता हुआ, वाराणसी पहुँच, राजोद्यान में रह, भिक्षार्थ नगर में प्रवेश कर राज-द्वार पर पहुँचा।

वाराणसी-नरेश ने देखा तो उसके चलने-फिरने के ढ़ंग पर प्रसन्न हो, उसे बुला, बिछे-आसन पर बिठाया। फिर नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन खिला, स्वयं एक नीचे आसन पर बैठ, प्रणाम कर, उसके साथ बातचीत करते हुए पहली गाथा कही—

अरियावकासो सि पसन्ननेत्तो
मञ्ञे भवं पब्बजितो कुलम्हा
कथं नु वित्तानि पहाय भोगे
पब्बजि निकखम्म धरा सपञ्ञा ॥१॥

[हे प्रज्ञावान् ! तू सुन्दरवर्ण है, प्रसन्न-नेत्र है। लगता है कि तू किसी (श्रेष्ठ) कुल से प्रव्रजित हुआ है। तू किस प्रकार धन और भोगों को छोड़ घर से बे-घर हो प्रव्रजित हुआ ? ॥१॥[

इसके आगे की गाथा में तपस्वी तथा राजा का वार्तालाप है—

तपस्वी—

सयं विमानं नरदेव दिस्वा
महानुभावस्स महोरगस्स
दिस्वान पुञ्ञानं महाविपाकं
सद्धाय' हं पब्बजितोम्हि राज ॥२॥

[हे नरदेव ! महा प्रतापवान् नागराज के विमानों को स्वयं देखकर और पुण्यों के महान् फल को देखकर मैं श्रद्धा से प्रव्रजित हुआ हूँ ॥२॥]

राजा—

नकामकामा न भया न दोसा
वाचं मुसा पब्बजिता भणन्ति,
अक्खाहि मे पुच्छितो एतमत्थं
सुत्वान मे जायिहिति प्पसासादो ॥३॥

[न काम (भोगों) की कामना से, न भय से और न द्वेष से ही प्रव्रजित

लोग झूठ बोलते हैं। इसलिए मैं जो यह बात पूछ रहा हूँ, मुझे कहें। सुनने से मेरे मन में प्रसाद पैदा होगा ॥३॥]

तपस्वी—

वाणिज्ज रट्ठाधिप गच्छमानो
पथे अद्दसासि हि मिलाचपुत्ते
पवट्ठ कायं उरगं महन्तं
आदाय गच्छन्ते पमोदमाने ॥४॥

[हे राजन् ! मैंने व्यापार के लिए जाते समय रास्ते में ग्रामवासियों को विशाल-काय नागराज को प्रमुदित मन हो ले जाते हुए देखा ॥४॥]

तपस्वी—

सोहं समागम्म जनिन्द तेहि
संहट्ठ लोमो अवचस्मि भीतो
कुहिं अयं नीयति भीमकायो
नागेन किं काहथ भोजपुत्ता ॥५॥

[हे राजन् ! मैंने उनके पास पहुँच रोमञ्चित हो डर कर कहा—हे भोज-पुत्रों ! इस विशाल-काय को तुम कहाँ ले जा रहे हो ? तुम इस नागराज का क्या करोगे ? ॥५॥]

तपस्वी—

नागो अयं नीयति भोजनत्थं
पवट्ठकायो उरगो महन्तो
सादुं च थूलं च मुदुं च मंसं
न त्वं रसमञ्ञासि विदेहपुत्त ॥६॥

[(उन्होंने मुझे कहा :—) यह विशाल-काय बड़ा भारी नाग भोजन के लिए ले जाया जा रहा है, इसका मांस स्वादु है, स्थूल है तथा मृदु है। हे विदेह-पुत्र ! तू इसके रस को नहीं जानता ॥६॥]

तपस्वी--

इतो मयं गन्त्वा सकं निकेतनं
आदाय सत्थानि विकोपयित्वा
मंसं भोक्खाव पमोदमाना
मयं हि वो सत्तवो पन्नगानं ॥७॥

[(वे बोले--) यहाँ से हम अपने-अपने घर जा कर, शस्त्र ले, काट, प्रमुदित मन हो इसका मांस खायेंगे। हम नागों के शत्रु हैं ॥७॥]

तपस्वी--

सचे अयं नीयति भोजनत्थं
पवट्ट कायो उरगो महन्तो
ददामि वो बलिवद्दानि सोळस
नागं इमं मुञ्चथ बन्धनस्मा ॥८॥

[(मैंने कहा—) यदि उस विशाल-काय महान् नाग को भोजन के लिये लिये जा रहे हो, तो मैं तुम्हें सोलह बैल देता हूँ। इस नाग को बन्धन से मुक्त कर दो ॥८॥]

तपस्वी--

अद्धा हि नो भक्खो अयं मनापो
बहू च नो उरगा भुत्तपुब्बा
करोम ते तं वचनं आळार
मित्तं च नो होहि विदेहपुत्त ॥९॥

[(वे बोले--) निश्चय से यह हमारा श्रेष्ठ भोजन है। हमने इससे पहले बहुत से साँप खाये हैं। किन्तु हे अळार! हम तेरा कहना करते हैं। तू हमारा मित्र बन ॥९॥

तपस्वी--

तद अस्सु ते बन्धना मोचयिंसु
यं नत्थुतो पटिमोक्खस्स पासे
मुत्तो च सो बन्धना नागराजा
पक्कामि पाचीनमुखो मुहुत्तं ॥१०

[तब उन्होंने उसे बन्धन से मुक्त कर दिया और जो रस्सी उसके नाक में डाली थी, वह खोल दी । उस बन्धन से मुक्त होकर वह नागराज कुछ देर तक पूर्वाभिमुख गया ॥१०॥]

तपस्वी—

गन्त्वान पाचीनमुखो मुहुत्तं
पुण्णेहि नेत्तेहि पलोकयी मं
तदस्स अहं पिट्ठितो अन्वगञ्छिं
दसङ्गुलिं अंजलिं पग्गहेत्वा ॥११॥

[थोड़ी देर पूर्वाभिमुख जाकर उसने मेरी ओर (अश्रु-) पूर्ण नेत्रों से देखा । मैं भी दसों अँगुलियों वाले हाथ जोड़ उसके पीछे-पीछे चला ॥११॥

तपस्वी—

गच्छेव खो त्वं तरमानरूपो
मा तं अमित्ता पुनरग्गहेसुं
दुक्खोहि लुद्देहि पुन समागमो
अदस्सनं भोजपुत्तांन गच्छ ॥१२॥

[(मैंने कहा—) तू यथाशीघ्र चला जा । तेरे शत्रु कहीं तुझे फिर न पकड़ा लें । दुबारा शिकारियों के हाथ पड़ जाना दुःखदायी होगा । उन ग्रामवासियों की आँख से ओझल हो जा ॥१२॥

तपस्वी—

अगमासि सो रहदं विप्पसन्नं
नीलोभासं रमणीयं सुतित्थं
समोततं जम्बुहि वेतसाहि
पावेक्खि नित्तिणभयो पतीतो ॥१३॥

[वह उस तालाब में जा पहुँचा, जो शान्त था, जो नील-वर्ण था, जो रमणीय था, जो सुतीर्थ था और जिसके दोनों ओर जम्बु तथा बेंत की शाखाएँ घिरी हुई थीं । वह निर्भय तथा प्रसन्न चित्त होकर उसमें प्रविष्ट हुआ ॥१३॥]

तपस्वी—

सो तं पविस्स नचिरस्स नागो
दिब्बेन मे पातुरअहू जनिन्द
उपट्ठहि मं पितरं व पुत्तो
हृदयंगमं कण्णसुखं भणंतो ॥१४॥

[हे राजन ! वह नाग उस तालाब में प्रविष्ट हो अचिर-काल में ही दिव्य रूप में प्रकट हुआ। उसने हृदय तक पहुँचने वाली, कर्ण-सुख वाणी बोलते हुए मेरी उसी प्रकार सेवा की जैसे पुत्र पिता की करता है ॥१५॥]

तपस्वी—

त्वं मे सि माता च पिता व अळार
अब्भन्तरो पाणददो सहायो
सकं च इद्धिं पटिलाभितोस्मि
अळार पस्स मे निवेसनानि
पहुतभक्खं बहुन्नपानं
मसक्कसारं विय वासवस्स ॥१५॥

[(वह बोला—) हे अळार ! तू मेरा माता-पिता है। तू मेरा हार्दिक प्राणदाता मित्र है। मैं (तेरी कृपा से) अपने ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ हूँ। हे अळार ! मेरे भवन देख। वहाँ भोजन तथा अन्न-पान बहुत है और वह इन्द्र के भवन के समान है—सिमेरु पर्वत-राज पर निर्मित ॥१५॥]

महाराज ! यह कह उस नागराज ने अपने भवन की प्रशंसा करते हुए और भी दो गाथाएँ कहीं—

तं भूमिभागेहि उपेतरूपं
असक्खरा चेव मुदु सुभा च
नीचातिणा अप्परजा च भूमि
पासादिका यत्थ जहन्ति सोकं ॥१६॥
अनावकुला वेळुरियूपनीला
चतुद्दिसं अम्बवनं सुरम्मवनं

पक्का च पेसी च फला सुफुल्ला
निच्चोतुका धारयन्ति फलानि ॥१७॥

[उस (भवन) के चारों ओर कंकड़-पत्थर रहित, कोमल, सुन्दर, छोटे तृणों से युक्त तथा धूलि-विहीन ऐसी चित्त को प्रसन्न करने वाली भूमि है, जहाँ जाने से शोक का नाश हो जाता है ॥१६॥ वहाँ की भूमि समतल है। वहाँ बिल्लौर के समान नीली पुष्किरिणियाँ हैं। उसके चारों ओर सुन्दर आम्रवन हैं, जिनमें पके और अधपके आम लगे हैं। ये वन सभी वस्तुओं के योग्य फलों को धारण करते हैं ॥१७॥]

तपस्वी—

तेसं वनानं नरदेव मज्झे
निवेसनं भस्सरसन्निकासं
रजतग्गळं सोवण्णयं उळारं
ओभासती विज्जुरिव अन्तलिक्खे ॥१८॥

[हे नरदेव ! उन वनों के मध्य प्रभास्वर भवन के दरवाजे चाँदी के थे, वह स्वर्णमय था, वह विशाल था और वह ऐसे चमकता था जैसे अन्तरिक्ष में बिजली ॥१८॥

तपस्वी—

मणिमया सोवण्णमया उळारा
अनेकचित्ता सततं सुनिम्मिता
परिपूर कञ्जाहि अलङ्कताहि
सुवण्णकायूरधराहि राज ॥१९॥

[मणिस्वर्णमय, स्वर्णमय, विशाल, सुचित्रित तथा सतत रूप से सुनिर्मित वह भवन सोने के बाजू-बन्द पहने अलंकृत कन्याओं से भरा-भरा था ॥१९॥]

तपस्वी—

सो संखपालो तरमानरूपो
पासादं आरुय्ह अनोमवण्णो
सहस्सथम्भं अतुलानुभावं
यत्थ अस्स भरिया महेसी अहोसि ॥२०॥

[वह श्रेष्ठ वर्ण वाला शंङ्खपाल शीघ्रता मे उस प्रासाद पर चढ़ गया जिसके हजार खम्भे थे और जिसका असीम प्रताप था, तथा वहाँ पहुँचा जहाँ उसकी भार्या बैठी थी ॥२०॥]

तपस्वी—

एका च नारी तरमानरूपा
अदाय बेळुरियमयं महग्घं
सुभं मणिं जातिमन्तूपपन्नं
अचोदिता आसनं अभिहासि ॥२१॥

[उस समय बिना नागराज के कहे ही एक नारी शीघ्रता से बिल्लौरमय, महार्घ, सुन्दर, मणियुक्त आसन ले आयी और उसे बिछा दिया ॥२१॥]

तपस्वी—

ततो मं उरगो हत्थे गहेत्वा
निसीदयी पमुखं आसनस्मिं
इदं आसनं अत्रभवं निसीदतु
भवं हि मे अञ्ञतरो गरूनं ॥२२॥

[तब नागराज ने मुझे हाथ से पकड़ आसन पर प्रमुखस्थान पर बिठाया। वह बोला—"आप इस आसन पर बैठें। आप मेरे आदरणीयों में एक हैं ॥२२॥]

तपस्वी—

अञ्ञा च नारी तरमानरूपा
आदाय वारिं उपसंकमित्वा
पादानि पक्खालयि मे जनिन्द
भरिया च भत्तु पतिनो पियस्स ॥२३॥

[एक और नारी शीघ्रता से पानी लेकर मेरे पास आयी और हे राजन। उसने मेरे पाँव इस प्रकार धोये जैसे कोई भार्य्या अपने प्यारे पति के पाँव का प्रक्षालन करे ॥२३॥

तपस्वी--

अपरा च नारी तरमानरूपा
पग्गय्ह सोवण्णमया पातिया
अनेकसूपं विविधं वियञ्जनं
उपनामयी भत्तमनुञ्ञरूपं ॥२४॥

[एक और नारी शीघ्रता से सोने की थाली में अनेक प्रकार का सूप, नाना प्रकार का व्यञ्जन तथा श्रेष्ठ भात लायी ॥२४॥]

तपस्वी--

तुरियेहि मं भारत भुत्तवन्तं
उपट्ठहुं भत्तु मनो विदित्वा
ततुत्तरिं मं निपत्ति महंतं
दिब्बेहि कामेहि अनप्पकेहि ॥२५॥

[हे राजन् ! मेरे भात खा चुकने पर स्वामी के मन को जानकर उन नारियों ने वाद्य से मेरा मनोरंजन किया। उसके बाद अनल्प काम-भोगों सहित वह राजा मेरे पास आया ॥२५॥]

इस प्रकार आकर उसने यह गाथा कही—

भरिया मं एता तिसता अळांर
सब्ब अत्थमज्झा पदुमुत्तराभा
अळांर एतासु ते कामकारो
ददामि ते ता परिचारयस्सु ॥२६॥

[हे अळार ! यह मेरी तीन सौ भार्यायें, सभी मध्याकार की हैं और पदुमवर्णा हैं। हे अळार ! यह तेरा काम करने वाली रहें। मैं तुझे ये सब सेवा के लिए देता हूँ ॥२६॥]

तपस्वी--

संवच्छरं दिब्बरसानुभुत्वा
तदस्सहं उत्तारिं पच्चभासिं

नागस्स इदं किति कथं चलद्ध
कथ अज्जगमसि विमानसेट्ठं ॥२७॥
अधिच्च लद्ध परिणामजं ते
सयं कतं उदाहु देवेहि दिन्न
पुच्छामि ते नागराज तं अत्थं
कथं अज्झगमसि विमानसेट्ठं ॥२८॥

[वर्ष भर तक दिव्य रसों का अनुभव करके, मैंने उससे आगे प्रश्न किया–हे नाग ! यह श्रेष्ठ विमान तुझे कैसे किस प्रकार मिला ? ॥२७॥ क्या यह तुझे यूँ ही प्राप्त हो गया है ? अथवा किसी ने दिया है ? अपना किया है ? अथवा देवताओं ने दिया है ? हे ! मैं तुझसे यह बात पूछता हूँ कि तुझे यह श्रेष्ठ विमान कैसे प्राप्त हुआ ? ॥२७-२८॥]

इससे आगे की गाथायें दोनों के प्रश्नोत्तर हैं—

नागराज—

नाधिच्च लद्ध न परिणामजं मे
न सयं कतं न पि देवेहि दिन्न
सकेहि कम्मेहि अपापकेहि
पुञ्ञेहि मे लद्ध इदं विमानं ॥२९॥

[न यूँ ही प्राप्त हुआ, न किसी से आया, न स्वयं अर्जित किया और न देवताओं ने ही दिया। मुझे यह विमान अपने निर्दोष पुण्य कर्मों से मिला॥२९॥]

तपस्वी—

किं ते वतं किं पन ब्रह्मचरियं
किस सुचिण्णस्स अयं विपाको,
अक्खाहि मे नागराजे तं अत्थं
कथं नु ते लद्ध इमं विमानं ॥३०॥

[तेरा व्रत क्या है ? तेरी श्रेष्ठ चर्या क्या है ? यह तेरे किस आचरण का फल है ? हे नागराज ! मुझे तू यह बात बता कि तुझे यह विमान कैसे मिला ? ॥३०॥]

नागराज—

राजा अहोसिं मगधानं इस्सरो
दुय्योधनो नाम महानुभावो
सो इत्तरं जीवितं संविदित्वा
असस्सतं विपरिणामधम्मं ॥३१॥

अन्नं च पानं च पसन्नचित्तो
सक्कच्च दानं विपुलं अदासि
ओपानभूतं मे घरं तदासि
संतप्पिता समणब्राह्मणा च ॥३२॥

तं मे वतं तं पन ब्रम्हचरियं
तस्स सुचिण्णस्स अयं विपाको
तेनेव मे लद्धं इदं विमानं
पहूतभक्खं बहुन्नपानं ॥३३॥

[मैं मगधों का ईश्वर राजा था। दुर्योधन नाम था, महाप्रतापी। मैंने जीवन को अस्थिर, अशास्वत तथा परिवर्तनशील जाना ॥३१॥ मैंने प्रसन्नता-पूर्वक अन्नपान का विपुल दान दिया। मेरा घर उस समय प्याओ के समान था। मैंने सभी श्रमण-प्रभव ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया ॥३२॥ यही मेरा व्रत है, यही मेरी श्रेष्ठचर्या है। यह मेरे इसी आचरण का प्रताप है कि मुझे विपुल भोजन तथा विपुल अन्न-पान वाला विमान मिला है ॥३३॥]

तपस्वी—

नच्चेहि गीतेहि उपेतरूपं
चिरट्ठितिकं न च सस्सतापं,
अप्पानुभावा तं महानुभावं
तेजस्सिनं हन्ति अतेजवन्तो,
किं एव दाठावुध किं पटिच्च
हत्थत्थं आगच्छि वनिब्बकानं ॥३४॥

भयं नु ते अन्वगतं महन्तं
तेजो नु ते नान्वगं दन्तमूलं,
किं एव दाठावुध किं पटिच्च
किलेसं आपज्जि वनिब्बकानं ॥३५॥

[नृत्य और गान का संयोग चिरस्थायी होने पर भी शाश्वत नहीं है। उन अल्प-प्रताप वालों ने, उन तेजहीनों ने तुझ महाप्रतापी तेजस्वी का हनन किया। हे नागराज ! किस कारण से, किस हेतु से तू उन दरिद्रों के हाथ आ गया ? ॥३४॥ क्या तू भारी भय से अभिभूत हो गया ? अथवा तेरा तेज (= विष) ही तेरे दान्तों तक नहीं पहुँचा ? हे नागराज। किस कारण से, किस हेतु से, तू उन दरिद्रों द्वारा दुःख को प्राप्त हुआ ॥३५॥

नागराज—

न मे भयं अन्वगतं महन्तं
तेजो न सक्का मम तेहि हन्तुं,
सतञ्च धम्मानि सुकित्तितानि
समुद्दवेला व दुरच्चयानि ॥३६॥
चातुद्दसिं पञ्चरसिञ्चाळार
उपोसथं निच्चं उपावसामि,
अथागमुं सोळस भोजपुत्ता
रज्जुं गहेत्वान दळहं च पासं ॥३७॥
भेत्वान नासं अतिकस्स रज्जुं
नयिंसु मं सम्पटिग्गय्ह लुद्दा,
एतादिसं दुक्खं अहं तितिक्खिं
उपोसथं अप्पटिकोपयन्तो ॥३८॥

[मुझे भय भी नहीं हुआ और वे मेरे तेज को भी नष्ट नहीं कर सकते। सत्पुरुषों के सुकीर्तित धर्म समुद्र की लहरों की तरह दुर्लंघ्य होते हैं ॥३६॥ हे अळार ! मैं प्रत्येक चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को उपोसथ-व्रत रखता हूँ। सोलह ग्रामीण रस्सी और दृढ़ बन्धन लेकर आ पहुँचे ॥३७॥ शिकारी नाक

के अन्दर रस्सी डालकर, मुझें पकड़ कर ले चले। मैंने उपोसथ-व्रत को अखण्डित रख कर इस प्रकार का दुःख अनुभव किया ॥३८॥]

तपस्वी--

एकायने तं पथे अद्दसासि
वलेन वण्णेन उपेतरूपं,
सिरिया च पञ्ञाय च भावितोसि
किमत्थियं नाग तपो करोसि ॥३९॥

[हे संखपाल। तुझे उन्होंने अकेले रास्ते पर देखा, बल और वर्ण से युक्त तू श्री तथा प्रज्ञा से सम्पन्न है। हे नाग! तू किसलिए तप करता है? ॥३९॥]

नागराज--

न पुत्तहेतु न धनस्स हेतु
न आयुनो चापि अळार हेतु,
मनुस्स योनिं अभिपत्थयान
तस्मा परक्कम्म ततो करोमि ॥४०॥

[न पुत्र के लिए न धन के लिए, और हे अळार! न आयु के लिए ही मैं (तपस्या करता हूँ)। मैं मनुष्य योनि की कामना करता हुआ यह पराक्रम करता हूँ ॥४०॥]

तपस्वी—

त्वं लोहितक्खो विहतंतरंसो
अलंकतो कप्पितकेसमस्सु,
सुरोसितो लोहितचन्दनेन
गन्धब्बराजा व दिसा पभाससि ॥४१॥
देविद्धिपत्तो सि महानुभावो
सब्बेहि कामेहि समंगीभूतो,
पुच्छामि तं नागराजे तं अत्थं
सेय्यो इतो केन मनुस्सलोको ॥४२॥

[तेरी आँखें लाल हैं। शरीर से रश्मियाँ निकल रही हैं। अलंकृत है। केश और दाढ़ी कटी है। रक्त-चन्दन से लिप्त है। गन्धर्व-राज की तरह प्रकाश-

मान है। दिव्यऋद्धि प्राप्त है। महाप्रतापवान् है। सभी काम-भोगों से युक्त है। हे नागराज ! मै पूछता हूँ कि मनुष्य-योनि किस बात में श्रेष्ठ है ? ॥४२॥]

नागराज—

अळार नाऽञत्र मनुस्सलोका
सुद्धी च संविज्जति सञ्ञमो वा,
अहं च लद्धान मनुस्सयोनिं
काहामि जातिमरणस्स अन्तं ॥४३॥

[हे अळार ! मनुष्य-लोक के अतिरिक्त और कहीं भी शुद्धि तथा संयम नहीं है। मैं मनुष्य-योनि प्राप्त कर जाति तथा मरण का अन्त करूँगा ॥४३॥]

तपस्वी—

संवच्छरो मे वुसितो तवन्तिके
अन्नेन पानेन उपट्ठितोस्मि,
आमन्तयित्वान पलेमि नाग
चिरप्पवुत्थोस्मि अहं जनिन्द ॥४४॥

[मैं वर्ष भर तेरे पास रहा, अन्न-पान से मेरी सेवा होती रही। हे नागराज ! अब मैं तुझे सूचना देकर जाता हूँ। हे जनिन्द ! मैं चिर-प्रवासी हूँ ॥४४॥]

नागराज—

पुत्ता च दारा च अनुजीविनो च
निच्चानुसिट्ठा उपतिट्ठते तं,
कच्चि नु ते नाभिसंसित्थ कोचि
पियं हि मे दस्सनं तुय्ह अळार ॥४५॥

[मेरे पुत्र, स्त्रियां तथा अनुजीवी नित्य अनुज्ञात हो कर तेरी सेवा में रहते हैं। क्या किसी ने कभी कोई हलकी बात तो नहीं कही ? हे अळार ! तेरा दर्शन मेरे लिए बहुत प्रियकर है ॥४५॥]

तपस्वी—

यथा च माता च पिता च अगारे
पुत्तो पियो पटिविहितो व सेय्यो,

ततोपि मय्हं इध-मेव-सेय्यो
चित्तंहि ते नाग मयी प्रसन्नं ॥४६॥

[जिस प्रकार घर में माता-पिता, उसी प्रकार सेवित पुत्र भी श्रेयस्कर है। लेकिन हे नागराज ! मेरे लिए इससे भी श्रेयस्कर यह बात है कि तेरा चित्त मेरे प्रति प्रसन्न है ॥४६॥

नागराज--

मणी मम विज्जति लोहितंको
धनाहारो मणिरतनं उळारं,
आदाय तं गच्छ सकं निकेतं
लद्धा धनं तं मणि उस्सजस्सु ॥४७॥

[हे तपस्वी ! मेरे पास रक्त-वर्ण, धन लाने वाली, बड़ी मणि है। तू उसे लेकर घर जा। यथेच्छ धन प्राप्त कर उस मणि को (कहीं) रख देना ॥४७॥]

यह कह अळार ने—"तो महाराज ! मैंने उस नागराज को मित्र ! मुझे धन की आवश्यकता नहीं। मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ" कहा और प्रव्रजितों की आवश्यकतायें माँग, उसी के साथ नागभवन से निकल, उसे रोक, हिमालय में प्रविष्ट हो, प्रव्रजित हुआ। यह कह राजा को उपदेश देते हुए दो गाथायें कहीं—

तपस्वी—

दिट्ठा मया मानुसिकापि कामा
असस्सता विपरिणामधम्मा,
आदीनवं कामगुणेसु दिस्वा
सद्धाय अहं पब्बजितोम्हि राज ॥४८॥
दुमप्फलानेव पतन्ति मानवा
दहरा च बुद्धा च सरीरभेदा,
एतं पि दिस्वा पब्बजितोम्हि राज
अपण्णकं सामञ्ञं एव सेय्यो ॥४९॥

[मैंने मनुष्य-लोक के काम-भोगों का भी अनुभव किया है। वे भी आशाश्वत

हैं, परिवर्तनशील हैं। मैंने काम-भोगों के दोष देखे हैं। हे राज! मैं श्रद्धापूर्वक प्रव्रजित हुआ हूँ ॥४८॥ जिस प्रकार वृक्षों के फल गिरते हैं, उसी प्रकार शरीर-भेद होने पर छोटे-बड़े मानव भी गिर पड़ते हैं। यह बात भी देख कर हे राजन्! मैं प्रव्रजित हुआ हूँ। निर्दोष प्रव्रज्या ही श्रेष्ठ है ॥४९॥

यह सुन राजा ने अगली गाथा कही—

अद्धा हवे सेवितब्बा सपञ्ञा
बहुस्सुता ये बहुठानचिन्तिनो,
नागं च सुत्वान तवञ्च अळार
करोमि पुञ्ञानि अनप्पकानि ॥५०॥

[निश्चय से प्रज्ञावान्, बहुश्रुत तथा विचारवानों की संगति करनी चाहिए। हे अळार? मैं तेरी तथा नाग की बात सुनकर बहुत पुण्य करूँगा ॥५०॥

उसे उत्साहित करते हुए तपस्वी ने अन्तिम गाथा कही—

अद्धा हवे सेवितब्बा सपञ्ञा
बहुस्सुता ये बहुठानचिन्तिनो,
नागं च सुत्वान ममं च राज
करोहि पुञ्ञानि अनप्पकानि ॥५१॥

[निश्चय से प्रज्ञावान्, बहुश्रुत तथा विचारवानों की संगति करनी चाहिए। हे राजन्! मेरी तथा नाग-राज की बात सुन कर आप बहुत पुण्य करें ॥५१॥]

इस प्रकार उसने राजा को धर्मोपदेश दे वर्षा के चारों महीने वहीं बिताये। फिर हिमालय जा जीवन भर चारों ब्रह्म-विहारों की भावाना कर, ब्रह्मलोकगामी हुआ। सङ्खपाल भी जीवन भर उपोसथ-व्रत करता रहा। राजा दानादि पुण्य कर्म कर यथा-कर्म परलोक सिधारा।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, जातक का मेल बैठाया। उस समय पिता तपस्वी काश्यप था। वाराणसी-नरेश आनन्द। अळार सारिपुत्र। शंखपाल तो मैं ही था।

⊙

५२५. चुल्लसुतसोम जातक

"आमन्तयामि निगमं. . ." यह शास्ता ने जेतवान में विहार करते समय नैष्क्रभ्य पारमिता के बारे में कही। वर्तमान कथा महानारद काश्यप जातक[1] सदृश ही है।

अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी (राष्ट्र) में सुदर्शन नाम का नगर था। वहाँ ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज्य करता था। बोधिसत्व ने उसकी पटरानी की कोख से जन्म ग्रहण किया। उसका मुंह पूर्ण चन्द्रमा के समान सुशोभित था। उसका नाम सोमकुमार रखा गया। बड़ा होने पर वह (बात) सुनने वाला था, श्रवणप्रिय, इसलिए वह सुतसोम नाम से भी विख्यात था।

आयु प्राप्त होने पर यह तक्षशिला गया और शिल्प सीखकर लौट आने पर पिता से श्वेत-छत्र प्राप्त कर धर्म से राज्य करने लगा। उसका महान् ऐश्वर्य्य था। उसकी सोलह हजार रानियाँ थीं, जिनमें चन्द्र देवी प्रमुख थीं। आगे चल कर बेटा-बेटी के बड़े होने पर उसका मन घर नहीं लगा। उसकी इच्छा हुई कि जंगल में जा कर प्रव्रजित हो जाय।

एक दिन उसने नाई को बुला कर कहा कि "मित्र ! मेरे सिर में जब सफेद बाल दिखे तो मुझे कहना। नाई ने उसकी बात मान आगे चलकर सफेद बाल दिखाई देने पर सूचना दी। "तो मित्र ! उखाड़ कर मेरी हथेली पर रखा।" उसके ऐसा कहने पर नाई ने सोने की चिमटी से वह बाल उखाड़ उसके हाथ पर रखा।

यह सुन "मुझे पर जरा ने आक्रमण किया है" सोच डर कर, वह सफेद बाल को हाथ लिये ही प्रासाद से उतरा और जनता को दर्शन देने की जगह बिछे

---

१. महानारद काश्यप जातक (५४४)।

राज-सिंहासन पर बैठा । उसने अस्सी हजार अमात्यों को, जिनमें सेनापति प्रमुख था और साठ हजार ब्राह्मणों को, जिनमें पुरोहित प्रमुख था तथा दूसरे बहुत से राष्ट्रिक, नेगम आदि को बुला कर मेरे सिर सफेद बाल उग आया है; मैं बूढ़ा हो चला हूँ, मेरी प्रव्रज्या की बात जानें' कह, पहली गाथा कही—

आमन्तयामि निगमं मित्तामच्चे परीसजे
सिरस्मिं फलितं जातं पब्बज्जं दानि रोचहं ॥१॥

[मैं नेगमों को, मित्रों को, अमात्यों को तथा परिषद् वालों को सम्बोधन कर के कहता हूँ कि मेरे सिर सफेद बाल उग आया है, इसलिए मैं अब प्रव्रजित होना चाहता हूं ॥१॥

यह बात सुनी तो उनमें से प्रत्येक विषाद-ग्रस्त होकर बोला—

अभुम्मे कथं नु भणसि
सल्लं मे देव उरसि कप्पेसि,
सत्तसता ते भरिया
कथं नु ते ता भविस्सन्ति ॥२॥

[यह तू अनुन्नति की बात कैसे कहता है ? हे देव ! यह तो हमारे हृदय में शल्य चुभोना है । तेरी सात सौ स्त्रियों का क्या होगा ? ॥२॥]

तब बोधिसत्व ने तीसरी गाथा कही—

पञ्ञायिहिन्ति एता,
दहरा, अञ्ञं पि ता गमिस्सन्ति,
सग्गं च पत्थयानो
तेन-म-अहं पब्बजिस्सामि ॥३॥

[ये (अपना रास्ता जानेंगी । ये तरुण हैं । दूसरे होनेवाले) राजा के पास चली जायेंगी । मैं स्वर्ग की कामना से प्रव्रजित होऊँगा ॥३॥]

अमात्य बोधिसत्व को कुछ न कह सके । वे उसकी माता के पास गये और वह बात कही । वह जल्दी-जल्दी आयी और यह पूछ कि क्या तात ! तू सचमुच प्रव्रजित होना चाहता है, उसने दो गाथायें कहीं—

दुल्लद्धं मे आसि
सुतसोम यस्स ते अहं माता,
यं मे विलपन्तिया
अनपेक्खो पब्बजसि देव ॥४॥
दुल्लद्धं मे आसि
सुतसोम यं तं अहं विजायिस्सं,
यं मे विलपन्तिया
अनपेक्खो पब्बजसि देव ॥५॥

[हे सुतसोम ! मैंने तुझे बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है। मैं तेरी माता हूँ। मैंने तुझे बड़ी कठिनाई से जन्म दिया है। देव ! तू मुझे विलखती छोड़, मेरी ओर से निरपेक्ष हो प्रव्रजित होता है ॥४-५॥]

बोधित्व ने इस प्रकार रोती हुई माँ को भी कुछ नहीं कहा। रो-पीट कर स्वयं ही एक ओर हो गई। उसके पिता को सूचना दी गई। (बोधिसत्व के) पिता ने आकर एक गाथा कही—

को नाम एसो धम्मो
सुतसोम का नाम पब्बज्जा,
यं नो अम्हे जिण्णे
अनपेखो पब्बजसि देव ॥६॥

[सुत सोम ! यह कैसा धर्म है ? यह कैसी प्रव्रज्या है ? जो तू हम बूढ़ों की ओर से उपेक्षावान् हो कर प्रव्रजित होता है ॥६॥]

यह सुन बोधिसत्व चुप हो गया। तब उसके पिता ने—"तात सुतसोम ! यदि तेरे मन में माता-पिता का स्नेह नहीं है, तो तेरे बच्चे अभी बहुत छोटे हैं। वे तेरे बिना न रह सकेंगे। उसके बड़े होने पर प्रव्रजित होना" कह, सातवीं गाथा कही—

पुत्तापि तुम्हं बहवो
दहरा अप्पतयोब्बना,
मञ्जू ते तं अपस्सन्ता
मञ्ञे दुक्खं निगच्छन्ति ॥७॥

[तेरे बच्चे भी अभी बहुत छोटे हैं। जवान नहीं हुए हैं। वे विचारे तुझे नहीं देखेंगे तो बहुत दुःखी होंगे ॥७॥]

यह सुन बोधिसत्व ने गाथा कही—

> पुत्तेहि च मे एतेहि
> दहरेति अप्पत्तयोब्बनेहि,
> मञ्जूहि सब्बेहि पि तुम्हेहि
> चिरं पि कत्वा विनाभावो ॥८॥

[यह जो मेरे अप्राप्त यौवन, छोटे सुन्दर बच्चे हैं, इन सबसे और आप सबसे एक न एक दिन पृथक् होना ही होगा ॥८॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने पिता को धर्मोपदेश दिया। वह उसकी धर्म की बात सुन चुप हो रहा। उसकी सात सौ भार्य्याओं को सूचना दी गई। वे महल से उतर उसके पास आईं और हाथों पर सिर रख कर रोती हुई बोलीं—

> छिन्नं नु तुय्हं हदयं
> आदु करुना च नत्थि अम्हेसु,
> यं नो पि कन्दन्तियो
> अनपेखो पब्बजसि देव ॥९॥

[क्या तेरा हृदय टूक-टूक हो गया है, अथवा हमारे प्रति करुणा नहीं है, जो हे देव! हमारे रोते-पीटते हुए तू हमारी ओर से उपेक्षावान् हो प्रव्रजित होता है? ॥९॥]

वे बोधिसत्व के पैरों में लिपट-लिपट कर रोने लगीं। उन्हें रोते देख बोधिसत्व ने अगली गाथा कही—

> न च मय्हं छिन्नं हदयं
> अत्थि करुणापि मय्हं तुम्हेसु,
> सग्गं च पत्थयानो
> तेन-म-अहं पब्बजिस्सामि ॥१०॥

[न तो मेरा हृदय ही टूक-टूक हुआ है, और न मन में तुम्हारे प्रति करुणा भी है। किन्तु मैं स्वर्ग की कामना से प्रव्रजित होता हूँ ॥१०॥

उसकी पटरानी को सूचना दी गई। वह गर्भवती होने पर भी आई और बोधिसत्व को प्रणाम कर, एक ओर खड़ी हो उसने तीन गाथायें कहीं—

दुल्लद्धं मे आसि
सुतसोम यस्स ते अहं भरिया,
यं मे विलपन्तिया
अनपेखो पब्बजसि देव ॥११॥
दुल्लद्धं मे आसि
सुतसोम यस्स ते अहं भरिया,
यं मं कुच्छिमतिं सन्तिं
अनपेखो पब्बजसि देव ॥१२॥
परिपक्को मे गब्भो
कुच्छिगतो, याव नं विजायामि,
माहं एका विधवा
पच्छा दुक्खानि अद्दक्खिं ॥१३॥

[हे सुतसोम ! तू मुझे कठिनाई से मिला है। मैं तेरी भार्य्या हूँ। देव ! तू मुझे विलखती छोड़ प्रव्रजित होता है॥११॥ हे सुत सोम ! तू मुझे कठिनाई से मिला है। तेरी भार्य्या हूँ। देव ! तुम ! तू मुझ गर्भवती को छोड़ प्रव्रजित होता है ॥१२॥ मेरा गर्भ परिपक्व हो गया है। जब तक मैं बालक को जन्म न दे लूं, तब तक तू प्रतीक्षा कर। ऐसा न हो कि मैं अकेली विधवा पीछे दुःख भोगूं ॥१३॥

तब बोधिसत्व ने गाथा कही—

परिपक्को ते गब्भो
कुच्छिगतो, इध नं विजायस्सु,
पुत्तं अनोमवण्णं
तं हित्वा पब्बजिस्सामि ॥१४॥

[भद्रे ! तेरा गर्भ-परिपाक हो गया हैं। तू श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दे। मैं उसे छोड़ कर प्रव्रजित होता हूँ ॥१४॥]

वह उसकी बात सुन शोक सहन न कर सकी। "अब से देव ! हमारा सौभाग्य जाता रहा" कह दोनों हाथों से छाती पकड़ आंसुओं को पोछती हुई, जोर-जोर से रोने लगी। बोधिसत्व ने उसे आश्वासन दिया—

मा त्वं चन्दे रुदि
मा सोचि वनतिमिरमत्तक्खि,
आरोह च पासदं
अनपेखो अहं गमिस्सामि ॥१५॥

[हे चन्द्रे ! तू रो मत। हे गिरि-कर्णिका सदृश नेत्रों वाली ! तू सोच मत कर। तू प्रासाद पर वापिस जा। मैं निरपेक्ष हो जाऊँगा ॥१५॥]

वह उसकी बात सुन खड़ी न रह सकी। प्रासाद पर चढ़, बैठकर रोने लगी। बोधिसत्व के ज्येष्ठ पुत्र ने मां को रोते हुए देखा तो "मेरी मां क्यों बैठी रोती है ?' पूछते हुए गाथा कही--

को तं अम्म कोपेसि
किं रोदसि पेक्खसि च मं बाळ्हं,
घातेमि कं अवज्झं
ञातीनं उदिक्खमानानं ॥१६॥

[अम्मा ! तुझे किसने कष्ट दिया है ? तू मेरी ओर देख कर क्यों रोती है ? मैं किस अबध्य रिश्तेदार का घात करूँ, मुझे बता ।।१६।।

तब देवी ने गाथा कही—

न हि सो सक्का हन्तुं
जीविताबी यो मं [तात] कोपेसि,
पिता ते मं तात अवचः
अनपेखो अहं गमिस्सामि ॥१७॥

[हे तात ! जिस विजयी ने मुझे कष्ट दिया है, उसे मारा नहीं जा सकता। हे तात ! तेरे पिता ने मुझे कहा है कि वह निरपेक्ष हो कर जायेगा ॥१७॥]

उसने उसकी बात सुनी तो बोला "मां ! तू क्या कहती है। ऐसा होने पर हम अनाथ नहीं हो जायेंगे ?"

उसने रोते हुए यह गाथा कही—

> यो हं पुब्बे निय्यामि
> उय्यानं मत्तकुञ्जरे च योधेमि,
> सुतसोमे पब्बजिते
> कथं नु दानि करिस्सामि ॥१८॥

[पहले जो मैं (रथ पर चढ़ कर) उद्यान जाता था और मस्त हाथियों से खेलता था, अब सुतसोम के प्रव्रजित हो जाने पर यह सब कैसे होगा ? ॥१८॥]

उसका छोटा भाई सात वर्ष का था। उसने दोनों को रोते देखा तो मां के पास आकर बोला—"क्यों रोते हो ?" जब उसे कारण ज्ञात हुआ, तो "रोओ मत, मैं पिता को प्रव्रजित होने न दूँगा" कह दोनों को आश्वासन दे, दाई के साथ महल से उतरा और पिता के पास पहुँच उसकी गरदन जोर से पकड़ बोला—"तात ! तू कहता है कि हमारी परवाह न करके हमें छोड़ प्रव्रजित हो जायेगा। मैं प्रव्रजित होने न दूँगा।" उसने गाथा कही—

> मातुच्च मे रुदत्या
> जेट्ठस्स च भातुनो अकामस्स,
> हत्थे पि ते गहेस्सं
> न हि गच्छसि नो अकामानं १९॥

[मेरी मां और ज्येष्ठ भाई के रोते हुए, उनकी इच्छा के विरुद्ध तू नहीं जा पायेगा। मैं तुझे हाथ से पकड़ लूंगा ॥१९॥]

बोधिसत्व ने सोचा—"यह मेरे मार्ग की बाधा है। मैं किस उपाय से इसे दूर करूँ ?" फिर उसने दाई की ओर देख, "दाई ! यह ले, यह मणि-कण्ठा तेरा है, पुत्र को ले जा। यह बाधा न डाले।" वह स्वयं पुत्र को न हटा सका। इसलिए दाई को पुरस्कृत कर कहा—

> उट्ठेहि त्वं धाति
> इमं कुमारं रमेहि अञ्ञत्थ,
> मा मे परिपन्थं अका
> सग्गं मं पत्थयानस्स ॥२०॥

[हे दाई ! तू यहाँ से उठ । इस कुमार को अन्यत्र बहला । मेरा रास्ता मत रोक । मैं स्वर्ग की कामना कर रहा हूँ ॥२०॥]

वह पुरस्कार ले, कुमार को इशारे से अन्यत्र ले गई और वहाँ जाकर रोने लगी—

यं नून इम जहेय्यं
पभंकरं, को नु मेन' अत्थो,
सुतसोमे पब्बजिते
किं नु मे तं करिस्सामि ॥२१॥

[मैं इस चमकीले कण्ठे को छोड़ दूँ। मेरे यह किस काम आयेगा ? सुतसोम के प्रव्रजित हो जाने पर मैं इसका क्या करूँगी ? ॥२१॥]

तब महा सेन गुप्त ने सोचा—"मालूम होता है, यह राजा समझता है कि मेरे घर में धन की कमी पड़ गई है । मैं इसे धन की बहुलता की बात कहूँ ।" उसने उठकर प्रणाम करके कहा—

कोसो च तुय्हं विपुलो
कोट्ठागारं च तुय्ह परिपूरं,
पठवी च तुय्हं विजिता
रमस्सु मा पब्बज देव ॥२२॥

[तेरा कोष विपुल है । तेरा भण्डार भरा है । तू पृथ्वी-विजयी है । हे देव ! प्रव्रजित न हो, भोगों में रमण कर ॥२२॥]

यह सुन बोधिसत्व ने गाथा कही—

कोसोम्यहं विपुळो
कोट्ठागारं च मय्हं परिपूरं,
पठवी च मय्हं विजिता
नं हित्वा पब्बजिस्सामि ॥२३॥

[मेरा कोष विपुल है । मेरा भण्डार भरा है । मैं पृथ्वी-विजयी हूँ । इसे छोड़ कर मैं प्रव्रजित होऊँगा ॥२३॥]

यह सुन उसके चले जाने पर कुलवर्धन श्रेष्ठी उठा और प्रणाम करके बोला—

मय्हं पि धनं पहूतं
संखातुं नो पि देव सक्कोमि,
तं ते ददामि सब्बं
रमस्सु मा पब्बज देव ॥२४॥

[मेरे पास भी बहुत धन है। मैं उसकी गिनती भी नहीं कर सकता हूँ। मैं यह सब धन तुम्हें देता हूँ। हे देव! प्रव्रजित न हों, (भोगों में) रमण करें ॥२४॥]

यह सुन बोधिसत्व ने गाथा कही—

जानामि धनं पहूतं
कुळवद्धन पूजितो तया चास्मि,
सग्गं च पत्थयानो
तेनाहं पब्बजिस्सामि ॥२५॥

[मैं जानता हूं कि तेरे पास बहुत धन है और हे कुलवर्धन! मैं तेरे द्वारा पूजित भी हूँ। तो भी, मैं स्वर्ग की कामना से प्रव्रजित होता हूँ ॥२५॥]

यह सुन कुलवर्धन के चले जाने पर सुतसोम ने अपने सोमदत्त नामक छोटे भाई को बुलाया और उसे राज्य सौंपते हुए कहा—"तात! मैं पिंजरे में पड़े जंगली मुर्गे की तरह उद्विग्न हूँ। मुझे गृहस्थ अच्छा नहीं लगता। आज ही प्रव्रजित होऊंगा। तू यह राज्य संभाल।"

उसने यह गाथा कही—

उक्कण्ठितोस्मि बाळ्हं
अरति मं सोमदत्त आविसति,
बहुकापि अन्तराया
अज्जेव अहं पब्बजिस्सामि ॥२६॥

[हे सोमदत्त! मैं बहुत उद्विग्न हूँ। (गृहस्थ-जीवन के प्रति) मेरी अरुचि बढ़ रही है। बाधायें भी बहुत हैं। मैं आज ही प्रव्रजित होऊंगा ॥२६॥]

यह सुन उसकी भी प्रव्रजित होने की इच्छा हुई और उसे प्रकट करने के लिए वह बोला—

> इदं च तुय्हं रुचितं
> सुतसोम अज्जेव दानि त्वं पब्बज,
> अहं पि पब्बजिस्सामि
> न उस्सहे तया विना अहं ठातुं ॥२७॥

[हे सोमसुत ! यदि तुझे यही अच्छा लगता है, तो तू आज ही प्रव्रजित हो जा। मैं भी प्रव्रजित होऊँगा। मैं भी तेरे बिना नहीं रह सकता ॥२७॥] उसे रोकते हुए उसने आधी गाथा कही—

> न हि सक्का पब्बजितुं
> नगरे नहि पच्चति जनपदेवा,

[तू प्रव्रजित नहीं हो सकता। (दोनों का प्रव्रजित होना सुनने से) न नगर में और न जनपद में कही भी चूल्हा नहीं जलेगा ॥]

यह सुन जनता बोधिसत्व के पैरों पर गिर पड़ी और रोने लगी—

> सुतसोमे पब्बजिते
> कथं नु दानि करिस्साम ॥२८॥

[सुतसोम के प्रव्रजित हो जाने से अब हम कैसे क्या करेंगे ? ॥२८॥]

तब बोधिसत्व ने "बस करो, चिन्ता न करो। मैं दीर्घकाल तक रह कर भी तुम से पृथक् होऊँगा ही। जो भी संस्कार उत्पन्न हुआ है, वह नित्य नहीं है"। कह जनता को उपदेश देते हुए—

> उपनीयत इदं मञ्ञे
> परित्तं उदकं व चंगवारम्हि,
> एवं सुपरित्तके जीवते
> न प्पमज्जितुकालो ॥२९॥
> उपनीयत इदं मञ्ञे
> परित्तं उदकं व चंगवारम्हि,

एवं सुपरित्तके जीविते
अथ बाला पमज्जन्ति ॥३०॥
ते वड्ढयन्ति निरयं
तिरच्छानयोनिञ्च पेतिविसयञ्च,
तण्हाबन्धबद्धा
वड्ढेन्ति असुरकायं ॥३१॥

[जिस प्रकार थोड़ा पानी भर जाने से डोंगी डूब जाती है, उसी प्रकार यह जीवन डूब जाता है। इसलिए जीवन के इस प्रकार अत्यन्त सीमित होने पर प्रमाद का समय नहीं है ॥२९॥ जिस प्रकार........जीवन के इस प्रकार अत्यन्त सीमित होने पर केवल मूर्ख लोग प्रमाद करते हैं ॥३०॥ वे नरक लोक, पशुयोनि में भी प्रेत योनि में वृद्धि करते हैं और तृष्णा के बन्धन में बँधे हुए वे असुर योनि में भी वृद्धि करते हैं ॥३१॥]

इस प्रकार जनता को धर्मोपदेश दे, पुष्पक नाम प्रासाद पर चढ़, सातवें तल्ले पर खड़े हो खड्ग से बाल काट—' मैं तुम्हारा कुछ नहीं लगता, तुम अपना राजा चुन लो" कह वेष्ठन सहित बालों को जनता के बीच फेंक दिया। उसे ले, लोग पृथ्वी पर लोट-लोट कर रोने लगे। वहाँ बड़ा बवण्डर उठा। लोगों ने पलट कर देखा तो उन्हें वह बगूला दिखाई दिया। उन्होंने सोचा, "राजा ने बाल काट, वेष्ठन सहित बाल जनता के बीच फेंके होंगे, इसीलिए प्रासाद के पास यह बगूला उठा है" कह रोते-पीटते यह गाथा कही—

उहञ्ञते रजग्गं
अविदूरे पुप्फकम्हि पासादे,
मञ्ञे नो केसा छिन्ना
यसस्सिनो धम्मराजस्स ॥३२॥

[पुष्पक प्रासाद से थोड़ी ही दूर पर बगूला उठता है। लगता है कि यशस्वी धर्मराज ने अपने बाल काट डाले हैं ॥३२॥]

बोधिसत्व ने भी सेवक को भेज प्रव्रजितों की आवश्यकतायें मंगा, नाई से सिर-दाढ़ी मँड़वा, अलंकारों को सोने के पलंग पर छोड़, रक्त-वर्ण वस्त्र की झालर निकाल, उन काषाय वस्त्रों को पहन, बायें कन्धे पर मिट्टी का बरतन लटका, हाथ

में लकुटिया ले, इधर-उधर चहल-कदमी कर, प्रासाद से उत्तर, गली में निकल पड़ा। उसे जाते हुए किसी ने नहीं पहचाना।

उसकी सात सौ क्षत्रिय कन्यायें प्रासाद पर चढ़, उसे न देख, और केवल गहनों की पोटली ही देख, प्रासाद से उतरी और शेष सोलह हजार स्त्रियों के पास जाकर बोलीं—"तुम्हारा प्रिय स्वामी सुतसोम महेश्वर प्रव्रजित हो गया।" यह कह जोर-शोर से रोती-पीटती बाहर निकल आयीं। उसी समय जनता को उसके प्रव्रजित होने का पता लगा। सारा नगर क्षुब्ध होकर राजद्वार पर इकट्ठा हो गया कि हमारा राजा प्रव्रजित हो गया। जनता ने प्रासाद आदि तथा उसकी मौज करने की जगहों में ढूँढ़ा "यहाँ होगा, यहाँ होगा।" जब राजा नहीं दिखायी दिया तो जनता इन गाथाओं से विलाप करने लगी—

अयं अस्स पासादो
सुवण्णो पुप्फमल्यवीतिकिण्णो,
यम्हि-म-अनुविचरि राजा
परिकिण्णो इत्थागारेहि ॥३३॥

अयं अस्स.... ....
परिकिण्णो जातिसंघेन ॥३४॥

इदं अस्स कूटागारं
सोवण्णं पुप्फमल्यवीतिकिण्णं,
यम्हि-म-अनुविचरि राजा
परिकिण्णो इत्थागारेहि ॥३५॥

इदं अस्स कूटागारं.... ....
.............जातिसंघेन ॥३६॥

अयं अस्स असोकवनिका
सुपुप्फिता सब्बकालिका रम्मा,
यम्हि-म-अनुविचरि राजा
परिकिण्णो इत्थागारेहि ॥३७॥

अयं अस्स असोकवणिका
....o..............
परिकिण्णो जातिसंघेन ॥३८॥

इदं अस्स उय्यानं
सुपुप्फितं सब्बकालिकं रम्मं,
यम्हि-म-अनुविचरि राजा
परिकिण्णो इत्थागारेहि ॥३९॥

इदं अस्स उय्यानं
. . . .
परिकिण्णो जातिसंघेन ॥४०॥
इदं अस्स कणिकारवनं ॥४१॥
इदं अस्स कणिकारवनं ॥४२॥
इदं अस्स पाटलिवनं ॥४३॥
इदं अस्स पाटलिवनं ॥४४॥
इदं अस्स अम्बवनं ॥४५॥
इदं अस्स अम्बवनं ॥४६॥
अयं अस्स पोक्खरणी
सञ्छन्ना अण्डजेहि वीतिकिण्णा
यम्हि. . . . . इत्थागारेहि ॥४७॥
अयं अस्स. . . . .जातिसंघेन ॥४८॥

[यह उस राजा का प्रासाद है, पुष्प-मालाओं से लदा हुआ जहाँ वह राजा स्त्रीगण तथा जातिगण से घिरा विचरता था ॥३३-३४॥ यह उस राजा का फूटागार है, पुष्पमालाओं से लदा हुआ, जहाँ वह राजा. . .विचरता था ॥३५-३६॥ यह उस राजा का अशोक वन है, पुष्प-मालाओं से लदा हुआ, जहाँ वह राजा. . . . . .विचरता था ॥३७-३८॥ यह उस राजा का उद्यान है. . .. विचरता था ॥३९-४०॥ यह उसका कणिकार वन है, सभी ऋतुओं में रमणीय जहाँ वह राजा. . .विचरता था ॥४३-४४॥ यह उसका आम्रवन है, जहाँ वह राजा. . .विचरता था ॥४५-४६॥ यह उसकी पुष्करिणी है, नाना प्रकार के पुष्पों तथा पक्षियों से आकीर्ण, जहाँ वह राजा. . .विचरता था ॥४७-४८॥

इस प्रकार उन-उन स्थानों पर रो-पीटकर और फिर राजाङ्गन में आकर बोले—

राजा खो पब्बजितो
सुतसोमो रज्जं इमं पहत्वान,
कासायवत्थवसनो
नागो व एकको चरित ।।४९।।

[राजा सुतसोम उस राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हो गया है। काषाय-वस्त्रधारी (वह) हाथी की तरह अकेला विचरता है ।।४९।।]

फिर लोग अपना-अपना घर-बार छोड़, पुत्र तथा पुत्रियों को हाथों पर ले, निकल कर बोधिसत्व के पास पहुँचे। उसी प्रकार माता-पिता, छोटे बच्चे और सोलह हजार नर्तकियाँ। सारा नगर खाली-सा हो गया। उनके पीछे-पीछे जनपदवासी भी पहुँचे। बारह योजन (लम्बी) परिषद् को साथ ले बोधिसत्व हिमालय की ओर बढ़े।

उसके अभिनिष्क्रमण की बात जान शक्र ने विश्व-कर्मा को बुलाया और यह कह कर भेजा कि "तात विश्वकर्मा! सुतसोम राजा ने अभिनिष्क्रमण किया है। निवास-स्थान की व्यवस्था होनी चाहिए। बहुत जनता इकट्ठी होगी। जा हिमालय प्रदेश में गंगातट पर तीस योजन लम्बा और पाँच योजन चौड़ा आश्रम बना।" उसने वैसा कर, उस आश्रम में प्रव्रजितों की आवश्यकताएँ रखीं और पगडण्डी बना स्वयं देव-लोक चला गया।

बोधिसत्व ने उस मार्ग से उस आश्रम में प्रवेश किया और पहले स्वयं प्रव्रजित हो फिर अन्यों को प्रव्रजित किया। आगे चल कर बहुत प्रव्रजित हुए। तीस योजन स्थान भर गया। विश्वकर्मा के आश्रम के बनाने का ढंग, बहुत से लोगों के प्रव्रजित होने का ढंग, बोधिसत्व द्वारा की गयी आश्रम की व्यवस्था का प्रकार, यह हस्तिपाल जातक[1] में आये क्रम से ही जानना चाहिए। वहाँ जिस-जिस के मन में काम-वितर्क आदि मिथ्या-वितर्क पैदा होते, बोधिसत्व उस-उस के पास पहुँचते और आकाश में पालथी मार बैठ, उपदेश देते हुए दो गाथायें कहते—

मास्सु पुब्बे रतिकीळितानि
हसितानि अनुसरित्थो,

---

१. हस्तिपाल जातक (५०९)

मा वो कामा हनिंसु
रम्मं हि सुदस्सनं नगरं ।।५०।।
मेत्तं च चित्तं च भावेथ
अप्पमाणं दिवा च रत्तो च,
अथ गच्छित्थ देवं पुरं
आवासं पुञ्ञकम्मानं ।।५१।।

[पूर्व समय की रति-क्रीड़ा तथा हँसने आदि का स्मरण न करो । तुम्हें काम-भोग हनन न करें । सुदर्शन नगर रमणीय है ।।५०।। मैत्री चित्त भावना करो, असीम तथा रात-दिन । इस प्रकार तुम पुण्यकर्मियों के निवासस्थान देव-नगर को जाओगे ।।५१।।]

वे ऋषिगण भी उसके उपदेशानुसार चल ब्रह्मलोकगामी हुए । सारी कथा हस्तिपाल जातक[1] के ढंग पर ही कही जानी चाहिए ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला—"भिक्षुओं, न केवल अभी, तथागत ने पहले भी महाभिनिष्क्रमण किया ही है" कह जातक का मेल बैठाया । उस समय माता-पिता महराज-कुल थे । चन्दा राहुल-माता । ज्येष्ठ पुत्रसारि पुत्र । छोटा पुत्र राहुल । दाई खुज्जुत्तरा । कुलवर्धन सेठ काश्यप । महासेन गुप्त मौद्गल्यायन । सोमदत्त कुमार आनन्द सुतसोमराजा तो मैं ही था ।

●

1. हस्तिपाल जातक (५०९)

अठारहवाँ परिच्छेद

५२६. नळिनिका जातक

"उड्डय्हते जनपदों..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय पूर्व-भार्य्या के वशीभूत हो जाने के बारे में कही। कहते समय उस भिक्षु से "किस ने उद्विग्न किया ?" पूछा और "पूर्व भार्य्या ने" उत्तर मिलने पर, भिक्षु ! यह तेरा अनर्थ करने वाली है, इसने पहले भीं तुझे ध्यान से च्युत कर, तेरा सर्वनाश किया है", पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व उदीच्य-ब्राह्मणों के महासारवान् कुल में जन्म ग्रहण कर, बड़े होने पर शिल्प सीख, ऋषी-प्रव्रज्या ग्रहण कर, ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त कर, हिमालय प्रदेश में रहने लगा। अलम्बुस जातक[1] में कहे अनुसार ही, उसके सम्बन्ध से एक मृगी ने गर्भिणी हो पुत्र को जन्म दिया। नाम उसका ऋषी-शृङ्ग ही हुआ।

बड़े होने पर उसके पिता ने उसे प्रव्रजित कर योग-विधि सिखायी। वह शीघ्र ही ध्यान-अभिञ्ञा लाभी हो, हिमालय में ध्यान-सुख में रत रहने लगा। वह घोर तपस्वी था, इन्द्रिय-विजयी। उसके सदाचार की तेजस्विता से इन्द्र-भवन काँप उठा। शक्र को विचार करने पर जब पता लगा तो उसने सोचा कि कोई उपाय करके इसका शील खण्डित करूँगा। उसने तीन वर्ष तक सारे काशी-राष्ट्र में वर्षा न होने दी। सारा राष्ट्र अग्नि-दग्ध सा हो गया। खेती न

१. अलम्बुस जातक (५२३)

होने पर दुर्भिक्ष पीड़ित मनुष्य इकट्ठे होकर राजाङ्गण में आये और (राजा को) दोष देने लगे।

राजा ने झरोखे में खड़े हो पूछा—"यह क्या है ?" "तीन वर्ष तक देव के न बरसने से सारा राष्ट्र अनुतप्त है, मनुष्य दुखी हैं। हे देव ! देव बरसायें।"

राजा शील ग्रहण कर उपोसथ-व्रत रख, पानी बरसाने में असफल रहा।

उस समय शक्र आधी-रात के समय, उसके शयनागार में प्रविष्ट हो, उसे पूर्ण प्रकाशित कर, एक ओर खड़ा हुआ। राजा ने उसे देख पूछा—"तू कौन है ?"

"मैं शक्र हूँ।"

"किसलिये आया है ?"[1]

"महाराज ! तेरे राज्य में बरसा होती है ?"

"बरसा नहीं होती है।"

"जानता है कि बरसा क्यों नहीं होती ?"

"नहीं जानता हूँ।"

"महाराज हिमालय में ऋषी-शृङ्ग नाम का तपस्वी रहता है, घोर तपस्वी, इन्द्रिय-विजयी। वह लगातार देव के बरसने के समय क्रोध भरी आंखों से आकाश की ओर देखता है। इसलिये देव नहीं बरसता।"

"तो इस विषय में क्या करना चाहिये ?"

"उसका तप खण्डित होने पर देव बरसेगा।"

"इसके तप को कौन खण्डित कर सकता है ?"

"महाराज ! तेरी लड़की नळिनिका समर्थ है, उसे बुलाकर भेजें कि -'अमुक स्थान पर जाकर तपस्वी के तप को खण्डित करे।"

इस प्रकार राजा को अनुशासित कर, वह अपने स्थान को ही चला गया। राजा ने अगले दिन अमात्यों से सलाह की और लड़की को बुलाकर गाथा कही—

उडय्हते जनपदो रट्ठं चापि विनस्सति
एहि नळिनिके गच्छ, तं मे ब्राह्मणं आनय ॥१॥

[जनपद जल रहा है और राष्ट्र विनष्ट हो रहा है। नळिनिके आ ! और जाकर उस ब्राह्मण को अपने वश में ला ॥१॥]

यह बात सुन उसने दूसरी गाथा कही—

> **नाहं दुक्खक्खमा राज, नाहं अद्धान कोविदा**
> **कथं अहं गमिस्सामि, वनं कुंजर सेवितं ॥२॥**

[राजन ! न मुझे कष्ट सहने का अभ्यास है और न ही मैं मार्ग से परिचित हूँ। मैं हाथियों से घिरे उस जंगल में कैसे जाऊँगी ? ॥२॥]

तब राजा ने दो गाथायें कहीं—

> **फीतं जनपदं गन्त्वा हत्थिना च रथेन च**
> **दारुसंघाटयानेन एवं गच्छ नळीनिये ॥३॥**
> **हत्थी अस्सरथा पत्ति गच्छेवादाय खत्तिये**
> **तवेव वण्णरुपेन वसं तं आनयिस्ससि ॥४॥**

[समृद्ध जनपद में हाथी और रथ से तथा लकड़ियों को बाँध कर बनायी गयी नौका से हे नळिनी ! जा ॥३॥ हे क्षत्रियकुमारी ! हाथी, अश्वरथ और पैदलों को लेकर जा। तू ही अपने वर्ण-रूप से उसे वश में ला सकेगी ॥३॥]

इस प्रकार उसने जो बात लड़की से कही, अनुचित है, वह भी राष्ट्र-पालन के हित में कही। उसने भी 'अच्छा' कह स्वीकार किया।

उसने जो-जो उसे देने योग्य था, सभी कुछ दे, अमात्यों के साथ विदा किया। अमात्य प्रत्यन्त-प्रदेश तक गये और वहाँ छावनी डाल, राजकन्या को (कन्धों पर) उठवा, जंगली आदमियों के बताये मार्ग से हिमालय में प्रविष्ट हो, पूर्वाह्न समय उसके आश्रम में प्रविष्ट हुए।

उस समय बोधिसत्व पुत्र को आश्रम में बिठा, स्वयं फलमूल के लिये जंगल में गया था। जंगली मनुष्यों ने स्वयं आश्रम तक न जा, जहाँ से वह दिखायी देता था वहाँ खड़े हो, नळिनिका को आश्रम दिखा दो, गाथायें कहीं—

> **कदलिधजपञ्ञाणो आभुजि परिवारणो**
> **एसो पदिस्साति रम्मो इसिसिंगस्स अस्समो ॥५॥**
> **एसो अग्गिस्स संखातो, एसो धूमो पदिस्सति,**
> **मञ्ञे नो अग्गि हापेति इसिसिंगो महिद्धिको ॥६॥**

[यह जहाँ केले के पौधों की पताकायें हैं और जहाँ चारों ओर भोज-पत्रों के पेड़ हैं, यहीं श्रृंगी ऋषि का रमणीक आश्रम है ॥५॥ यह आग उसके ज्ञान से (जल रही है), यह धुआँ दिखायी दे रहा है। ऐसा लगता है कि महा ऋद्धिवान्‌श्रृंगी-ऋषि अग्नि छोड़ रहा है ॥६॥]

अमात्यों ने भी ठीक उसी समय जब बोधिसत्व अरण्य में गया हुआ था, आश्रम को घेर पहरा बिठा, राजकुमारी को ऋषि-वस्त्र पहना, स्वर्ण-वर्ण परिधान धारण करा, सभी अलंकारों से अलंकृत किया। फिर उसके हाथ में धागों की सुन्दर गेंद दे, आश्रम में दाखिल कर, स्वय बाहर खड़े हो पहरा देने लगे। वह उस गेंद से खेलती हुई ध्यान करने के चबूतरे के सिरे पर पहुँची।

उस समय श्रृंगी-ऋषि पर्णशाला के द्वार पर पर्णशाला के पटड़े पर बैठा था। वह उसे आती देख भय के मारे उठ कर पर्णशाला के भीतर चला गया। वह भी पर्णशाला के द्वार पर ही जाकर खेलने लगी।

शास्ता ने यह और इससे आगे की बात प्रकाशित करने के लिए तीन गाथायें कहीं—

तञ्च दिस्वान आयन्तिं आमुत्तमणिकुण्डलं
इसि सिगों पाविसि भीतो अस्समं पण्णछादनं ॥७॥

[उसे मोतियों तथा मणि की बालियाँ पहने आते देख ऋषिश्रृङ्गभय के मारे पर्णशाला में चला गया ॥७॥]

अस्समस्स च सा द्वारे भेण्डुकेन अस्स कीळति
विदंसयन्ती अंगानि गुय्ह पकासितानि च ॥८॥

[वह आश्रम के द्वार पर गेंद से खेलने लगी, अंगों को प्रकट करती हुई और गुह्य अंगों का प्रदर्शन करती हुई ॥८॥

तञ्च दिस्वान कीळन्तिं पण्णसालं गतो जटी
अस्समा निक्खमित्वान इदं वचनं अब्रवि ॥९॥

[उसे खेलते देखा तो आश्रम से बाहर आकर ऋषि ने उससे पूछा ॥९॥

अम्भो को नाम सो रुक्खो यस्सतेवंगतं फलं
दूरे खित्तं पच्चेति, न तं ओहाय गच्छतीतिकथेसि ॥१०॥

[अम्भो ! वह कौन सा पेड़ है, जिसका यह ऐसा फल है कि दूर फेंका हुआ भी वापिस चला आता है और तुझे छोड़ कर नहीं ही जाता ॥१०॥]

उसने पेड़ बताते हुए उत्तर दिया—

अस्समस्स मम ब्रह्मे समीपे गन्धमादने
बहवो तादिसा रुक्खा यस्स तेवं गतं फलं,
दुरे पि खित्तं पच्चेति, न यं ओहाय गच्छति ॥११॥

[हे ब्राह्मण ! मेरे आश्रम के समीप गन्धमादन पर्वत पर इस प्रकार के बहुत से वृक्ष हैं, जिनका ऐसा फल होता है कि जो दूर फेंका हुआ भी वापिस चला आता है और मुझे छोड़ कर नहीं ही जाता ।।११।।]

इस प्रकार वह झूठ बोली । किन्तु उसने उसका विश्वास कर और उसे भी "तपस्वी" मान उसका स्वागत करते हुए कहा—

एतू भवं अस्सम इमं अदेतु
पज्जं च भक्खं पटिच्छ दम्मि,
इदं आसनं अत्रभवं निसीदतु
इतो भवं मूलफलानि भुञ्जतु ॥१२॥

[आप इस आश्रम में आयें, भोजन करें और पादोदक तथा खाद्य ग्रहण करें। (प्रवेश करने पर) आप इस आसन पर बैठें। यहाँ से आप फलमूल खायें ॥१२॥]

"यह तेरा क्या है ?" कह, उसके पर्णशाला में प्रविष्ट हो लकड़ी के पटड़े पर बैठ जाने पर, सुनहरी वस्त्र के दो हिस्सों में बँट जाने पर, शरीर के नंगा हो जाने पर उसने पूछा । तपस्वी ने इससे पहले किसी स्त्री को नहीं देखा था, इसलिए समझा कि 'यह जख्म है' और यही मान कर पूछा—

किं ते इदं ऊरुनं अन्तरस्मं
सुपिच्छितं कण्हरिवप्पकासति,
अक्खाहि मे पुच्छितो एतं अत्थं
कोसे नु ते उत्तमंग पविट्ठं ॥१३॥

[यह तेरी जाँघों के बीच में क्या है ? दोनों जाँघों के संघर्ष से कुछ काला-

काला प्रतीत होता है। मैं तुझसे जो बात जानना चाहता हूँ वह बता कि क्या तेरा उत्तमांग (पुरुष-लिंग) कोष के भीतर चला गया है ? ॥१३॥]

उसे ठगते हुए दो गाथायें कहीं—

अहं मने मूलफलेसनं चरं
आसादयिं अच्छं सुघोररूपं,
सो मं पतित्वा सहसज्झपत्तो
पनुज्जमं अब्बहि उत्तमंगं ॥१४॥

स्वायं वणो खज्जति कण्डुवायति
सब्बंच कालं न लभामि सातं,
पहो भवं कण्डुं इमं विनेतुं
कुरुते भवं याचितो ब्राह्मणत्थं ॥१५॥

[मैं वन में फल मूल खोजता-फिरता था (थी), तब एक भयानक भाल से मुठभेड़ हुई। उसने दौड़कर मुझे गिराकर मुझ पर काबू कर लिया और वह मेरे उत्तमाङ्ग को उखाड़ ले गया। तब से इस जख्म में खाज होती है और यह खुजलाता है। मुझे किसी भी समय शान्ति नहीं है। आप इस खाज को दूर करने में समर्थ हैं। आप से यह उपकार करने की प्रार्थना की गयी है, आप इसे करें ॥१५॥

उसने उसके झूठ को सत्य मान, "यदि ऐसे सुख होता है, तो करूँगा" कह उस स्थान-विशेष को देखकर अगली गाथा कही—

गम्भीररूपो ते वणो सलोहितो
अपूतिको पन्नगन्धो महाच,
करोमि ते किञ्चि कसायय गं
यथा भवं परमसुखी भवेय्य ॥१६॥

[तेरा जख्म गम्भीर है, रक्तवर्ण है, किन्तु सड़ा नहीं है। बदबू बहुत है मैं तेरे लिए कुछ काषाय बनाता हूं, जिससे तुम पर सुखी होवो ॥१६॥]

तब नळिनिका ने गाथा कही—

य मन्तयोगा न कसावयोगा
न ओसधा ब्रह्मचारी कमन्ति,
यं ते मुदु तेन विनेहि कण्डुकं
यथा अहं परमसुखी भवेय्यं ॥१७॥

[न मन्त्र-योग से ही, न काषाय से ही और न औषधि से ही ब्रह्मचारी इसे ठीक कर सकें हैं। यह तो तेरा मृदु (उत्तमाङ्ग), है उससे इस खाज को दूर कर दे, जिससे मैं सुखी हो जाऊँ ॥१८॥]

उसने "यह सत्य कहती है" मान और यह न जान कि मैथुन करने से शील खण्डित होता है और ध्यान का लोप हो जाता है और इससे पहले कभी स्त्री को न देखे रहने के कारण तथा मैथुन-क्रिया से अपरिचित होने के कारण यह मान लिया कि यह दवाई है और उसके साथ मैथुन किया। उसी समय उसका शील खण्डित हो गया और ध्यान लुप्त हो गया। उसने दो तीन बार संसर्ग किया। जब थक गया तो (शाला से) निकल तालाब पर पहुँचा और वहाँ स्नान किया। जब क्लान्ति दूर हो गई तो आकर पर्णशाला पर बैठ, अभी भी उसे तपस्वी ही समझ उसका निवास-स्थान पूछा--

इतो नु भोतो कतमेन अस्समो
कच्चि भवं अभिरमसी अरञ्ञे,
कच्चि ते मूलफलं पहूतं
कच्चिभवंतं न विहिसन्ति वाळा ॥१८॥

[यहाँ से आपका आश्रम किधर है ? क्या आपका जंगल में मन लगता है ? क्या वहाँ पर्याप्त फल-मूल है ? आपको जंगली जानवर कष्ट नहीं देते ? ॥१८॥]

तब नळिनिका ने चार गाथायें कहीं—

इतो उजुं उत्तरायं दिसायं
खेमा नदी हिमवन्ता पभाति,
तस्सा तीरे अस्सयम मय्ह रम्मो
अहो भवं अस्समं मय्ह पस्से ॥१९॥

अम्बा च साला तिलका च जम्बुयो
उद्दालका पाटलियो च फुल्ला,
समन्ततो किम्पुरिसाभिगीतं
अहो भवं अस्समं मय्हं पस्से ॥२०॥
ताला च मूला च फला च मेत्थ
वण्णेन गन्धेन उपेतरूपं,
तं भूमिभागेहि उपेतरूपं
अहो भवं अस्समं मय्हं पस्से ॥२१॥
फला च मूला च पहूत मेत्थ
वण्णेन गन्धेन रसेन उपेता,
आयन्ति च लुद्दका तं पदेसं
मा मे ततो मूलफलं अहंसु ॥२२॥

[यहाँ से सीधी उत्तर दिशा में हिमालय से खेमा नामक नदी बहती है। उसके तट पर मेरा रमणीक आश्रम है। अहो! आप मेरा आश्रम देखेंगे ॥१९॥ अम्ब, शाल, तिलक, जम्बु, उद्दालक तथा सुपुष्पित पाटली और उनके चारों ओर गाने-वाले किन्नर। अहो! आप मेरा आश्रम देखेंगे ॥२०॥ ताल, मूल और वर्ण तथा गन्ध से युक्त फल वहाँ उस भूमि-भाग में बहुत हैं। अहो! आप मेरा आश्रम देखेंगे ॥२१॥ वहाँ वर्ण, गन्ध तथा रस से युक्त बहुत फल हैं। वहाँ शिकारी भी आते हैं। (मेरे यहाँ विलम्ब करने से) कहीं वे फल-मूल न ले जायें ॥२२॥]

यह सुन तपस्वी ने पिता के आगमन तक प्रतीक्षा करने के लिए गाथा कही—

पिता ममं मूलफलेसनं गतो
इदानि आगच्छति सायकाले,
उभो व गच्छामसे अस्समं तं
याव पिता मूलफलतो एतु ॥२३॥

मेरा पिता फल-मूल खोजने गया है। अब शाम को आता है। पिता के फल-मूल लेकर आने पर दोनों उस आश्रम को जायेंगे ॥२३॥]

तब उसने सोचा--"यह जंगल में पला होने से मेरे स्त्री होने की बात नहीं जानता। किन्तु, इसका पिता मुझे देखते ही पहचान लेगा और पूछेगा, 'तू यहाँ क्या करती है?' वह बैंहगी के सिरे से मेरा सिर भी फोड़ दे सकता है। उसके आने से पहले मुझे चल देना चाहिए। मेरे आने का उद्देश्य भी पूरा हो गया।" उसने उसे पीछे आने का रास्ता बताते हुए अगली गाथा कही-

अञ्ञे बहू इसयो साधुरूपा
राजीसयो अनुमग्गे वसन्ति,
ते येव पुच्छेसि मं अस्समं तं
ते तं नयिस्सन्ति ममं सकासे ॥२४॥

[मार्ग में और बहुत से साधु रूप राजर्षि रहते हैं। तू उनसे मेरा आश्रम पूछना। वे तुझे मेरे पास पहुँचा देंगे ॥२४॥]

इस प्रकार वह अपने भागने का उपाय कर, पर्णशाला से निकल, उसके देखते ही देखते, "तू रुक" कह, जिस रास्ते से आयी थी उसी रास्ते से अमात्यों के पास पहुँची। वे उसे ले छावनी पर पहुँचे और वहाँ से क्रमशः वाराणसी चले आये। शक्र ने भी उसी दिन सन्तुष्ट हो सारे राष्ट्र में वर्षा कर दी।

ऋषि-शृङ्ग तपस्वी के शरीर में भी उसके विदा होते ही जलन पैदा हुई। वह काँपता हुआ पर्णशाला में घुसा और वल्कल-चीर धारण कर अफसोस करता हुआ पड़ रहा।

बोधिसत्व ने शाम को आने पर जब पुत्र को नहीं देखा तो सोचा कि कहाँ गया? उसने बैंहगी उतारी और पर्णशाला में प्रवेश कर उसे पड़ा देखा तो उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए "तात! क्या करता है?" कह, तीन गाथायें कहीं--

न ते कट्ठानि भिन्नानि, न तं उदकं आभतं
अग्गि पि ते न हापितो, किं नु मन्दो व झायसि ॥२५॥
भिन्नानि कट्ठानि हुतो च अग्गि
तपानि पि ते समिता ब्रह्मचारी,
पीठं च मय्हं उदकं च होती
रमसि तुवं ब्रह्मभूतो पुरत्था ॥२६॥

अभिन्नकट्ठोसि अनाभतोदको
अहापितग्गोसि असिद्धभोजनो,
न मं तुवं आलपसी मं अज्ज
नट्ठं नु किं चेतसि कञ्चि दुक्खं ॥२७॥

[न तो तूने लड़कियाँ ही तोड़ी हैं और न तू पानी ही लाया है । और तूने आग भी नहीं जलायी है । क्या मन्द-बुद्धि की तरह पड़ा सोचता है ? ॥२५॥ इससे पहले तू लकड़ियाँ तोड़ रखता था, आग जला रखता था और तपनीय भी तैयार रहती थी । और मेरे लिए आसन तथा पादोपक भी रहता था । हे ब्रह्मचारी ! तू ब्रह्मभूत होकर रमण करता था । ॥२६॥ आज न लकड़ियाँ टूटी हैं. न पानी लाया गया है, न आग जली है, न भोजन पका है। और तू आज मुझसे बोलता भी नहीं है । तेरा क्या नष्ट हो गया है ? और तुझे क्या चैतसिक दुःख है ? ॥२७॥]

उसने पिता का वचन सुन, यह बात बताते हुए कहा—

इधागमा जटिलो ब्रह्मचारो
सुदस्सनेय्यो सुतनू विनेति,
नेवतिदीघो न पुनातिरस्सो
सुकण्हकण्हच्छदनेहि भोतो ॥२८॥

अभस्सु जातो अपुराणवण्णी
आधाररूपं च पन अस्स कण्ठे,
द्वास्स गण्डा उरे सुजाता
सोवण्णपिण्डूपनिभा पभस्सरा ॥२९॥

मुखं च तस्स भुसदस्सनेय्यं
कण्णेसु लम्बन्ति च कुञ्चितग्गा,
ते जोतरे चरतो माणवस्स
सुत्तं च यं संयमनं जटानं ॥३०॥

अञ्ञा च तस्स सञ्ञमानि चतस्सो
नीलापि ता लोहितका च सता

ता पिसरे चरतो माणवस्स
चिरीटिसंघा-रिव पावुसम्हि ॥३१॥

न मेखलं मञ्जुमयं धरेति
न संतचं नो पन पब्बजस्स,
ता जोतरे जघनवरे विलग्गा
सतेरता विज्जुरिव अन्तलिक्खे ॥३२॥

अखीलकानि च अवण्टकानि
हेट्ठा नभया कटिसमोहितानि,
अविघट्टिता निच्चं किळि करोन्ति
हं तात किं रुक्खफलानि तानि ॥३३॥

जटा च तस्स भुसदस्सनेय्या
परोसतं वेल्लितग्गा सुगन्धा,
द्वधा सिरो सघुविभत्तरूपो
अहो नु खो मय्य तथा जटास्सु ॥३४॥

यदा च सो परिकति त जटायो
वण्णेन गन्धेन उपेतरूपा,
नीलुप्पलं वातसमेरितं वं
तत्थेव संखाति वनस्समो यं ॥३५॥

पंको च तस्स भुसदस्सनेय्यो
नेतादिसो यादिसो मय्ह कायो,
सो वायती एरितो मालुतेन
वनं यथा अग्गगिम्हेसु फुल्लं ॥३६॥

निहन्ति सो रुक्खफलं पथव्या
सुचित्तरूपं रुचिरं दस्सनेय्यं,
खित्तं च नस्स पुनरेति हत्थं
हं तात किं रुक्खफलं नु खो तं ॥३॥

दन्ता च तस्स भुसदस्सनेय्या
सुद्धा समा सखवरूपपन्ना,

मनो पसादेन्ति विवरियमाना
न ह नून सो साकं अखादि तेहि ॥३८॥

अकक्कसं अगळितं मुहुं मुदुं
[उजुं] अनुद्धतं अचपलं अस्स भासितं,
रुदं मनुञ्ञं करवीक सुस्सरं
हृदयंगमं रञ्जयतेव मे मनो ॥३९॥

बिन्दुस्सरो नातिविस्सट्ठकायो
न नून सज्झायमतिप्पयुत्तो,
इच्छामि खो तं पुनरेव दट्ठुं
मित्तं हि मे माणव आहू पुरत्था ॥४०॥

सुसन्धि सब्बत्थ विमट्ठ इमं वनं
पुथुं सुजातं खरपत्तसन्निभं,
तेनेव मं उत्तरियान माणवो
विवरिय उरुं जघनेन पीळयि ॥४१॥

तपन्ति आभन्ति विदोचरे व
सतेरता विज्जुरिव अन्तलिक्खे,
बाहा मुदू अञ्जनलोमसादिसा
विचित्र वट्टंगुलिकास्स सोभरे ॥४२॥

अकक्कसङ्गो न च दीघलोमो
नखास्स दीघा अपि लोहितग्गा,
मुदूहि बाहाहि पलिस्सजन्तो
कल्याणरूपो रमयं उपट्ठहि ॥४३॥

दुमस्स तूलूपनिभा पभस्सरा
सुवण्णकम्बुतल वट्टसुच्छवी,
हत्था मुदू, तेहि मं सम्फुसित्वा
इतो गतो, ते मं दहन्ति तात ॥४४॥

न ह नून सो खारिविधं अहासि
न नून कट्ठानि सयं अभञ्जि

न नून सो हन्ति दुमे कुठारिया
न पिस्स हत्थेसु खीलानि अत्थि ॥४५॥

अच्छो च खो तस्स वणं अकासि
सो मं ब्रवि: सुखितं मं करोहि,
ताहं करिं, तेन ममापि सोख्यं
सोच ब्रवो सुखितोस्मीति ब्रह्मे ॥४६॥

अयं च ते मालुवपण्णसन्थता
विकिण्णरूपा व मया च तेन च,
किलन्तरूपा उदके रमित्वा
पुनप्पुनं चस्स कुटिं वजाम ॥४७॥

न मज्ज मन्ता पटिभन्ति तात
न अग्गि हुत्तं न पि यञ्ञ तत्र,
न चापि ते मूलफलानि भुञ्जे
याव न पस्सामि तं ब्रह्मचारिं ॥४८॥

अद्धा पजानासि तुवं पि तात
यस्सं दिसायं वसते ब्रह्मचारी,
तं मं दिस पापय तात खिप्पं
मा ते अहं अमरिं अस्समम्हि ॥४९॥

विचित्रपुप्फं हि वनं सुतं मया
दिजाभिघुट्ठ दिजसङ्घ सेवित,
तं मं दिसं पापय तात खिप्पं
पुरा ते पाणं विजहामि अस्समे ॥५०॥

[यहाँ जटिल ब्रह्मचारी आया, सुदर्शनीय, सुशरीर तथा तेजवान। वह न बहुत ऊँचा था और न बहुत नीचा। उसका काला सिर काले बालों से ढका था ॥२८॥ अभी दाढ़ी नहीं आयी, नवीन-प्रव्रजित कण्ठ में (घड़े रखने के) आधार सदृश कण्ठा और छाती पर सोने के पिण्ड के समान प्रकाशित दो गाँठें ॥२९॥ उसका मुँह अत्यन्त दर्शनीय, उसके कानो में कुण्डल लटकते थे। उस चलते हुए ब्रह्मचारी के वे चमकते थे और वह सूत्र भी जो जटाओं को बाँधें

था ॥३०॥ और भी उसके चार प्रकार के बंधन हैं, वे नीले भी हैं। और वे उस चलते हुए ब्रह्मचारी के ऐसी ही आवाज करते हैं, जैसे वर्षाऋतु में देव के बरसने पर तोते ॥३१॥ उसके शरीर पर न मुञ्ज की मेखला थी, न वक्कल (त्वचा) की और न बब्बड़ की। उसके बदन पर जो स्वर्ण मेखला थी, वह आकाश में बिजली की तरह चमकती थी ॥३२॥ बिना कांटों के और बिना डंठल के, नाभि से नीचे कटि के साथ लगे हुए बिना रगड़ के भी आवाज करने वाले हे तात ! यह किस पेड़ के फल हैं ? ॥३३॥ उसकी सौ से ऊपर सुगन्धित, घुंघराली जटायें थीं। उसका सिर भली प्रकार से दो हिस्सों में विभक्त था। ओह ! मेरी जटायें भी वैसी होतीं ॥३४॥ जब वह अपनी वर्ण तथा गन्ध से युक्त जटाओं को संभालता था, तब यह आश्रम ऐसा लगता था, जैसे वायु से नीले कमल हिल रहे हों ॥३५॥ उसका शरीर (पङ्क ?) बहुत दर्शनीय है। वह मेरे शरीर के सदृश नहीं है। वह हवा से चालित की तरह हिलता है। जैसे वसन्त ऋतु में खिला हुआ वन ॥३६॥ पृथ्वी पर जो सुन्दर, दर्शनीय फल गिराया जाता है, वह फेंका जाने पर फिर हाथ में नहीं आता। लेकिन तात। यह कौन-से वृक्ष का फल है ? ॥३७॥ उसके दांत भी बहुत दर्शनीय थे, शुद्ध तथा शङ्ख के समान चमकने वाले। वह उघड़ने पर मन को प्रसन्न करते हैं। निश्चय उसने उन दांतों से शाक नहीं खाया होगा ॥३८॥ उसकी वाणी कठोर नहीं थी, बार-बार बोलने पर भी मृदु थी, सीधी थी, उद्धत नहीं थी, चपल नहीं थी, मनोज्ञ थी, हृदयहारी थी, तथा करवीक पत्ते के स्वर की तरह मुझे आनन्द देने वाली भी ॥३९॥ केन्द्रित-स्वर, सम्बन्धियों की तरह विश्वसनीय तथा निश्चय पाठ में अति तल्लीन नहीं। मैं उसे देखना चाहता हूँ। वह ब्रह्मचारी मेरा पूर्व (जन्म) से मित्र था ॥४०॥ उसका व्रण सुसंस्थित था, चारों ओर से गोल-मटोल, बड़ा था, कँवल के कुडमल की तरह सुजात था। उस ब्रह्मचारी ने उसी को उघाड़ कर जांघ से दबाया ॥४१॥ आकाश में बिजली के चमकने की तरह (उसके शरीर से) किरणें निकलती थीं। अञ्जन-वर्ण रोमों से युक्त उसकी बाहें भी कोमल थीं और उसकी गोल-गोल विजित्र अँगुलियाँ भी शोभा देती थीं ॥४२॥ फोड़े-फुन्सी से रहित शरीर, बड़े-बड़े बाल नहीं, नाखून लम्बे किन्तु लाल-वर्ण। उसने मृदु बाहों से स्पर्श करते हुए मेरा भली प्रकार उपस्थान किया ॥४३॥ पेड़ की रुई के समान कोमल तथा प्रभास्वर, स्वर्णादास के तल समान छवियुक्त, उसके मृदु हाथ थे। उन हाथों से मेरा स्पर्श करके,

वह यहाँ से गया । हे तात ! वे हाथ ही मुझे जलाते हैं ॥४४॥ न तो उसने बैहँगी ही उठायी थी, न उसने स्वयं लकड़ियाँ ही तोड़ी थीं और न उसने कुल्हाड़ी से पेड़ ही काटे थे । हाथ में गट्ठे भी नहीं थे ॥४५॥ एक भालू ने उसको वह जख्म कर दिया था । उसने मुझे कहा—"मुझे सुखी कर ।" मैंने वैसा किया । उससे मुझे भी सुख हुआ । वह भी बोला—"ब्राह्मण ! मैं सुखी हूँ" ॥४६॥ यह तेरी मालुव-बेल के पत्तों की चटाई मैंने और उसने बिखेर दी । क्लान्त होकर, जल में रमण कर मैं फिर-फिर उसकी कुटी में जाऊँगा ॥४७॥ तात ! आज मुझे मन्त्र भी नहीं सूझते हैं, न अग्नि-होत्र और न यज्ञ । और मैं उन फल-मूलों को भी तब तक नहीं खाऊँगा, जब तक उस ब्रह्मचारी को नहीं देख लेता ॥४८॥ हे तात ! तू भी निश्चय जानता होगा कि वह ब्रह्मचारी किस दिशा में रहता है ? हे तात ! मुझे उस दिशा में शीघ्र पहुँचा दे । मैं तेरे आश्रम में ही न मर जाऊँ ॥४९॥ मैंने सुना है कि वह वन विचित्र पुष्पों वाला है, और वहाँ पक्षियों के समूह-के-समूह रहते हैं । हे तात ! मुझे उस दिशा में शीघ्र पहुँचा दे । (विलम्ब होने से) मैं तेरे आश्रम में ही प्राण न छोड़ दूँ ॥५०॥]

उसका इस प्रकार का विलाप सुन बोधिसत्व ने समझ लिया कि किसी स्त्री ने इसका शील खण्डित किया होगा । उसने उसे उपदेश देते हुए छः गाथायें कहीं—

इमास्मा हं जोतिरसे वनम्हि
गन्धब्बदेवच्छरसंघसेविते,
इसीनं आवासे सनन्तनम्हि
नेतादिसं अरतिं पापुणेथ ॥५१॥

भवन्ति मित्तानि अथ न होन्ति
ञातीसु मित्तेसु करोन्ति पेमं,
अयञ्च जम्मो किस्स वा निविट्ठो
यो नेव जानाति कुतोम्हि आगतो ॥५२॥

संवासेन हि मित्तानि सन्धीयन्ति पुनप्पुनं
सा च मेत्ति असंगन्तु असंवासेन जीरति ॥५३

सचे तुवं दक्खस्सि ब्रह्मचारिं
सचे तुवं सल्लपे ब्रह्मचारिना,

सम्पन्नसस्सं व महोदकेन
तपोगुणं खिप्पं इमं पहस्ससि ॥५४॥

पुनप्पि चे दक्खसि ब्रह्मचारिं
पुनप्पि चे सल्लपे ब्रह्मचारिना,
सम्पन्नसस्सं व महोदकेन
उस्मागतं खिप्पं इमं पहस्ससि ॥५५॥

भूतानि एतानि चरन्ति तात
विरूपरूपेन मनुस्सलोके,
न तानि सेवेथ नरो सपञ्ञो
आसज्ज नं तस्सति ब्रह्मचारिं ॥५६॥

[इस गन्धर्व, देव, अप्सराओं के संघ से युक्त, प्रकाशमान वन में ऋषियों के आवास में रहते समय, पुराने समय से किसी को भी कभी ऐसी 'अरति' नहीं प्राप्त हुई ॥५१॥ (मन ही मन कहने लगा—) मित्र होते भी हैं और नहीं भी होते । जब होते हैं, तो रिश्तेदारों तथा मित्रों से प्रेम किया जाता है। इस निकृष्ट ने कहाँ प्रेम किया है, जो यह भी नहीं जानता कि मेरा जन्म कहाँ से हुआ है ! ॥५२॥ बार-बार साथ रहने से ही मैत्री बढ़ती है और साथ न रहने से वह मैत्री नष्ट हो जाती है ॥५३॥ यदि तू फिर उस ब्रह्मचारी को देखेगा अथवा उस ब्रह्मचारी के साथ संलाप करेगा, तो तेरी तपस्या उसी प्रकार नष्ट हो जायेगी जैसे बाढ़ से खेती ॥५४॥ यदि तू फिर उस ब्रह्मचारी को देखेगा अथवा उस ब्रह्मचारी से बात-चीत करेगा, तो मेरा श्रमण-तेज उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा, जैसे बाढ़ से खेती ॥५५॥ तात ! मनुष्य-लोक में इस प्रकार के प्राणी नाना रूप धारण कर घूमते हैं । बुद्धिमान आदमी को चाहिए उनका सेवन न करे । ब्रह्मचारी वैसे प्राणियों की संगति कर त्रास को प्राप्त होता है ॥५६॥]

उसने पिता की बात सुनी तो सोचा, "वह यक्षिणी होगी ।" वह डरा और उधर से चित्त हटा पिता से क्षमा माँगी, "तात ! क्षमा करें । मैं नहीं जाऊँगा ।" उसने भी उसे आश्वासन दे कहा, "ब्रह्मचारी ! तू आ मैत्री-भावना

कर। करुणा-भावना कर। मुदिता-भावना कर। उपेक्षा-भावना कर। इस प्रकार ब्रह्मविहारों की भावना कर।"

उसने वैसा कर, फिर ध्यान लाभ किया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों के अन्त में जातक का मेल बैठाया। (सत्य-प्रकाशन के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोता-पत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ)। उस समय नळिनिका पूर्व भार्या थी, ऋषि-शृङ्ग उद्विग्न-चित्त भिक्षु और पिता तो मैं ही था।

⊙

५२७. उम्मदन्ती जातक

"निवेसनं कस्स नुदं सुनन्द..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह एक दिन श्रावस्ती में भिक्षाटन करता हुआ एक अलंकृत, उत्तम रूपवती स्त्री को देख, आसक्त हो, चित्त को काबू न रख सका। वह विहार लौटने पर शल्य से बिंधे, रागातुर भ्रान्त-मृग के समान कृष हो गया; हड्डी पसलियाँ निकल आयीं; पीला पड़ गया (बुद्ध-शासन) अरुचिकर हो गया; एक ही ढंग से (ध्यानादि करते रहने में) चित्त की शान्ति न पा, आचार्य-सेवा आदि कर्तव्यों को छोड़ धर्मोपदेश, परिप्रश्न, योग-विधि आदि को विसार रहने लगा। उसके साथी भिक्षु पूछते--"आयुष्मान् ! पहले तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न थीं। मुख-वर्ण प्रसन्न था। अब वैसा नहीं है। क्या कारण है?" बोला--"आयुष्मानों ! (बुद्ध-शासन) में मेरा मन नहीं है।" उन्होंने उपदेश दिया--"आयुष्मान् ! मन लगा। (लोक में) बुद्ध का उत्पन्न होना दुर्लभ है। उसी प्रकार सद्धर्म सुनने का अवसर और मनुष्य-जन्म। तू मनुष्य योनि प्राप्त कर, दुःख का नाश करने की इच्छा से, रोते-धोते सम्बन्धियों को छोड़, श्रद्धा से प्रव्रजित होकर कामनाओं के वशीभूत होता है? काम-वासना छोटे से छोटे कीड़े से लेकर सभी अज्ञजनों में समान रूप से विद्यमान रहती है, जो उसके वशीभूत होते हैं उन्हें भी कुछ बहुत मजा नहीं मिलता, काम-भोग बहुत दुःख देने वाले तथा बहुत हैरानी के कारण हैं यहाँ दुष्परिणाम ही अधिक हैं, ये अस्थि-कंकाल के समान हैं, ये मांस-पेशी के समान हैं, ये तिनकों की मशाल के समान हैं, ये जलते कोयलों के समान हैं, ये स्वप्नों के समान हैं, ये दूसरों से उधार माँगी हुई चीज के समान

हैं, ये वृक्ष के फल के समान हैं, ये शक्ति-शूल के समान हैं; ये सर्प के फल के समान हैं; और तू इस प्रकार के (बुद्ध) शासन में प्रव्रजित हो, इस प्रकार के अनर्थकारी संकल्पों के वशीभूत हो गया ।" जब उन्होंने देखा कि वह उनका कहना नहीं मानता तो वे उसे शास्ता के पास धर्म-सभा में ले गये । शास्ता ने पूछा—भिक्षुओं, "क्या अनिच्छुक भिक्षु को लिये आ रहे हो ?"

"यह उद्विग्न चित्त हो गया है ।"

"क्या सचमुच ?"

भिक्षु ने उत्तर दिया--"हाँ, सचमुच ।"

"भिक्षु ! पुराने पण्डितों ने राज काज चलाते हुए भी काम-वासना जाग्रत हो जाने पर, उसके वशीभूत न हो, चित्त को काबू में रख, अनुचित (कर्म) नहीं किया ।"

शास्ता ने यह कह पूर्व-जन्म की कथा कही ।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में सिवि राष्ट्र में अरिट्ठपुर नगर में सिवि नाम का राजा राज्य करता था । बोधिसत्व उसकी पटरानी की कोख से पैदा हुए । नाम सिविकुमार ही रखा गया । सेनापति को भी पुत्र हुआ, अहिपारक नाम रखा गया । वे दोनों साथी हो, बड़े होकर, सोलह वर्ष के होने पर, तक्षशिला जा, शिल्प सीख कर आये । राजा ने अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया । वह भी अहिपारक को सेनापति पद पर प्रतिष्ठित कर धर्मानुसार राज्य करने लगा ।

उसी नगर में अस्सी करोड़ धन के मालिक तिरीटवच्छ सेठ को भी एक लड़की उत्पन्न हुई, रूपवान्, सौभाग्यवान् तथा उत्तम लक्षणों से युक्त । नामकरण के दिन उसका नाम उम्मदन्ती रखा गया । वह सोलह वर्ष की होते-होते मानुषी-वर्ण को पार कर देवप्सरा के समान सुन्दर हो गयी । जो-जो अज्ञजन उसे देखते, वे-वे होश में न रह सकते । सुरापान की-सी बेहोसी छा जाती । काम-वासना के वशीभूत हो जाने के कारण अपने पर काबू न रहता ।

उसका पिता तिरीटवच्छ राजा के पास आया और बोला—"देव ! मेरे घर में स्त्री-रत्न उत्पन्न हुआ है । वह राजा के ही योग्य है । लक्षणज्ञों को भेज, परीक्षा करा, यथारुचि करें ।" राजा ने 'अच्छा' कह ब्राह्मणों को भेजा ।

उन्होंने सेठ घर जा, सत्कृत हो, खीर खायी। उस समय सभी अलंकारों से अलंकृत हो उम्मदन्ती उनके पास गयी। वे उसे देखते ही होश-हवास गँवा बैठे। काम-वासना के वशीभूत हो उन्हें इस बात का ध्यान भी न रहा कि वे भोजन कर रहे थे; कोई कौर हाथ में ले मुँह में डालने गये तो सिर पर रख लिया, किसी ने काँछ में फेंक दिया, कोई दीवार से युद्ध करने लगे—सभी पगला गये। उसने 'यह मेरे लक्षणों की परीक्षा करते हैं। इन्हें गरदनिया दे निकाल दो' आज्ञा दी और निकलवा दिया। वे लज्जित हुए और उससे असन्तुष्ट हो उन्होंने राजभवन में जाकर कह दिया--"देव ! वह स्त्री तो मनहूस है। आप के योग्य नहीं।" राजा ने उसे "मनहूस" मान नहीं मँगवाया।

उसने यह समाचार सुना तो "मैं मनहूस हूँ, इसीलिए राजा ने ग्रहण नहीं किया। मनहूसस्त्रियाँ ऐसी होती हैं !" कह, "अच्छा, यदि राजा से भेंट होगी तो देखूँगी" निश्चय कर उससे वैर बाँध लिया।

उसके पिता ने उसे अहिपारक को दे दिया। वह उसकी प्रिया हो गयी, मन को अच्छी लगने वाली। किस कर्म के फल से वह ऐसी सुन्दरी हुई ! लाल वस्त्र के दान-स्वरूप। पूर्व समय में वह वाराणसी में दरिद्र कुल में उत्पन्न हुई। उत्सव के दिन भाग्यवान स्त्रियाँ कुसुम्ब-रक्त वर्ण पहन, अलंकृत्त हो खेली थीं। उन्हें देख, वैसा वस्त्र पहन, खेलने की इच्छा से उसने माता-पिता को कहा उन्होंने उत्तर दिया—"हम दरिद्र हैं। हमें ऐसा वस्त्र कहाँ मिल सकता है।?"

"तो मुझे किसी धनी कुल में नौकरी करने की अनुज्ञा दें, वे मेरा गुण देख कर देंगे।"

उनकी अनुमति ले वह एक (धनी) कुल में पहुँची और बोली--"लाल-वस्त्र के बदले में मैं नौकरी करूँगी।"

"तीन बरस तक काम करने पर तेरा गुणागुण जान कर देंगे।"

उसने 'अच्छा' कहा और काम में लग गयी। उन्होंने उसका गुण जान तीन बरस से पहले ही उसे गहरे कुसुम्ब-रक्त वर्ण कपड़े के साथ दूसरा वस्त्र भी देकर भेजा--"अपनी सहेलियों के साथ जा, नहाकर पहन ले।" वह सखियों के साथ गयी और लाल-वस्त्र किनारे पर रखकर नहाने लगी।

उस समय काश्यप बुद्ध का एक शिष्य उधर आ निकला। उसका चीवर

जाता रहा था । इसलिए वह शाखाओं से तन ढके था । उसने उसे देख सोचा, "यह भदन्त चीवर रहित है । पूर्व-जन्म में भी कुछ न दिया रहने से मुझे वस्त्र दुर्लभ है । इस वस्त्र के दो हिस्से कर एक हिस्सा आर्य को दे दूँ ।" यह सोच, बाहर आ, अपना वस्त्र पहन, "भन्ते ! ठहरें" कह और स्थविर को प्रणाम कर, एक हिस्सा दिया । वह एक छिपी जगह गया और टहनियों को छोड़, उसका एक सिरा पहन तथा दूसरा ओढ़ बाहर आया । उस वस्त्र के प्रकाश से उसका सारा शरीर सूर्य की भाँति चमकने लगा । उसने उसे देख, सोचा--"यह आर्य पहले इस प्रकार सुशोभित नहीं था, अब बाल सूर्य की तरह चमकता है । यह वस्त्र (खण्ड) भी इसे ही दे दूँ ।" उसने दूसरा (आधा) भाग भी दे प्रार्थना की, "भन्ते ! मैं संसार में जन्म ग्रहण करती हुई उत्तम रूपवान हो जाऊँ । मुझे देख कोई आदमी अपने होश में न रह सके । मुझसे बढ़कर सुन्दरी कोई न हो ।" स्थविर अनुमोदन करके चला गया । वह देव-लोक में संचरण करती हुई, उस समय अरिटठपुर में पैदा होने पर वैसी हुई ।

उस नगर में कार्तिकोत्सव की घोषणा हुई, कार्तिक पूर्णिमा के लिये नगर सजाया गया । अहिपारक ने अपने रनिवास में जा उसे सम्बोधन कर कहा-- "भद्रे उम्मदन्ती ! आज कार्तिकोत्सव है । राजा नगर की प्रदक्षिणा करते समय सर्वप्रथम यहीं आयेगा । उसे अपने आप को मत दिखाना । वह तुझे देख होश ठिकाने न रख सकेगा ।" जब वह जाने लगा, तो वह बोली-- "मैं देख लूँगी ।" जब चला गया तो उसने दासी को बुलाकर कहा "राजा के इस दरवाजे पर पहुँचने पर मुझे सूचना देना ।"

सूर्यास्त होने पर, पूर्णचन्द्रमा का उदय हो जाने पर, नगर के देव-नगर की भाँति सजे रहने पर, चारों दिशाओं में दीपकों के जल जाने पर, सभी अलंकारों से सजा हुआ राजा, श्रेष्ठ रथ पर चढ़, अमात्यों सहित बड़ी शान-बान के साथ नगर की प्रदक्षिणा करता हुआ सबसे पहले अहिपारक के दरवाजे पर ही पहुँचा । वह घर मनोशिलावर्ण की प्रकार से घिरा था, अलंकृत था, द्वार अट्टालिकाओं वाला था, शोभा-सम्पन्न था तथा सुन्दर था । उस समय दासी ने उम्मदन्ती की सूचना दी उसने फूलों की मुट्ठी लिवा, किन्नर-लीला से, झरोखे की ओट में खड़ी हो राजा पर फूल फेंके ।

उसने उसे देखा तो वासना के वशीभूत हो, होश ठिकाने न रहने के कारण, वह यह भी नहीं जान सका कि यह अहिपारक का घर है। उसने सारथी को सम्बोधन कर पूछते हुए दो गाथायें कहीं--

निवेसनं कस्स नुदं सुनन्द
पाकारेन पाण्डुमयेन गुत्तं,
का दिस्सति अग्गिसिखा व दूरे
वेहासयं पब्बतग्गे व अच्चि ॥१॥

धीता न, अयं कस्स सुनन्द होति
सुणिसा न, अयं कस्स अथो पि भरिया,
अक्खाहि मे खिप्पं इदेव पुट्ठो
अवावटा यदि वा अत्थि भत्ता ॥२॥

[सुनन्द ! पाण्डु-वर्ण आकार से घिरा हुआ यह किसका घर है? यह आकाश में दूर पर्वत-शिखर पर दीपक की लौ के समान, कौन दिखाई देता है? ॥१॥ हे नन्द ! यह किसी की लड़की है? अथवा यह किसी की पुत्र-बधू है अथवा भार्या है? मैं तुझे पूछता हूँ, इसलिये मुझे जल्दी बता कि यह अविवाहित है, अथवा विवाहित है? ॥२॥

उसने उत्तर देते हुए दो गाथायें कहीं—

अहं हि जनामि जनिंद एतं
मत्या च पेत्या च अथो पि अस्स,
तत्थेव सो पुरिसो भूमिपाल
रत्तिदिवं अप्पमत्तो तवत्थे ॥३॥

इद्धो च फीतो च सुबाळिहो च
अमच्चो ते अञ्ञतरो जनिन्द,
तस्स एसा भरिया अहिपारकस्स
उम्मदन्ती नाम धेय्येन राज ॥४॥

[हे जनिन्द ! मैं इसे मातृपक्ष तथा पितृपक्ष दोनों ओर से जानता हूँ। और उसी प्रकार उस पुरुष को भी जो रात-दिन तेरी सेवा में अप्रमाद रूप से

निरत है ॥३॥ वह स्मृद्धिमान है, वह वस्त्रालंकारों से युक्त है, वह धनी है, और हे जनिन्द ! वह तेरा एक अमात्य है। हे राजन् ! यह उस अहिपारक की भार्या है, और इसका नाम उम्मदन्ती है ॥]

यह सुन राजा ने उसके नाम की प्रशंसा करते हुए अगली गाथा कही—

अम्भो अम्भो नामं इदं इमिस्सा
मत्या च पेत्या च कतं सुसाधु,
तथा हि मय्हं अपलोकयन्ती
उम्मत्तकं उम्मदन्ती अकासि ॥५॥

[हे भो ! हे भो ! माता-पिता ने इसका नाम ठीक रखा है। इस उम्मदन्ती ने मुझे देखकर ही उन्मत्त कर दिया ॥५॥]

उसने जब यह जान लिया कि राजा गड़बड़ा गया तो झरोखा बन्द कर शयनागार में ही चली गयी। उसके दिखायी देने के बाद से राजा का भी चित्त नगरप्रदक्षिणा में नहीं लगा। उसने सारथि को सम्बोधन कर उसे आज्ञा दी—"मित्र सुनन्द ! रथ को रोक। यह उत्सव हमारे अनुकूल नहीं है। सेनापति अहिपारक के ही अनुकूल है। राज्य भी उसी के योग्य है।"

फिर रथ रुकवा, महल पर चढ़, शयनागार में जा, लेटकर विलाप करने लगा—

सा पुण्णमासे मिगमन्दलोचना
उपाविसी पुण्डरिकत्तचंगी,
द्वे पुण्णमायो तदाहू अमञ्ञं
दिस्वान पारापतरत्तवासिनिं ॥६॥

आळारपम्हेहि सुभेहि वग्गुहि
पलोभयन्ती मं यदा उदिक्खति,
विजम्भमाना हरतेव मे मनो
जाता वने किम्पुरिसीव पब्बते ॥७॥

तदा हि ब्रहती सामा आमुत्तमणिकुण्डला
एकच्चवसना नारी मिगी भन्ता व उदिक्खति ॥८॥

कदास्सु मं तम्बनखा सुलोमा
बाहामुदू चन्दनसारलित्ता,
वट्टंगुली सन्नतवीरकुत्तिया
नारी उपञ्ञिस्सति सीसतो सुभा ॥९॥

कदास्सु मं कञ्चनमालुरच्छदा
धीता तिरीटिस्स विलाकमज्झा,
मुदूहि बाहाहि पलिस्सजिस्सति
ब्रहावने जातदुमं व मालुवा ॥१०॥

कदास्सु लाखारसरत्तसुच्छवी
बिन्दुत्थनी पुण्डरीकत्तचंगी,
मुखं मुखेन उपनामयिस्सति
सोण्डो व सोण्डस्स सुराय थालं ॥११॥

यथाद्दसं नं तिट्ठन्तिं सब्बगत्तं मनोरमं
ततो सकस्स चित्तस्स नावबोधामि किञ्चनं ॥१२॥

उम्मदन्ती मया दिट्ठा आमुत्तमणिकुण्डला
न सुपामि दिवारत्तिं सहस्सं व पराजितो ॥१३॥

सक्को च मे वरं दज्जा, सो च लब्भेथ मे वरो
एकरित्तं दिरत्तिं वा भवेय्यं अहिपारको,
उम्मदन्त्या रमित्वान, सिविराजा ततो सिया ॥१४॥

[पूर्णिमा की रात्रि में वह कमल-शरीरी, मृगनयनी खड़ी हुई। कबूतर (के पैरों) सदृश लाल-वस्त्र धारण किये उसे देखकर मुझे ऐसे लगा मानों दो चन्द्रमा उदय हो गये ॥६॥ जब वह बड़ी-बड़ी पलकों वाली, शुभ सुन्दर आँखो से मेरी ओर देखती है, तो जुम्हांई लेती हुई वह मेरे मन को हर लेती है, जैसे वन-पर्वत में उत्पन्न किन्नरी ॥७॥ उस समय उदार, कञ्चन-वर्ण मणि-कुण्डलों वाली, इकहरे वस्त्र वाली वह नारी चकित हिरनी की तरह देखती थी ॥८॥ वह लाल नखोंवाली, वह सुलोमों वाली, वह कोमल बाहु, वह चन्द-

सार-लिप्त, वह गोल अँगुलियों वाली, वह स्पर्श-चतुरा, वह सुन्दर नारी कब मुझे आमस्तक सन्तुष्ट करेगी ।।९।। वह कञ्चन-माला-धारिणी, वह तिरीट-पुत्री वह कृषाङ्गी कब मेरा कोमल बाहों से आलिङ्गन करेगी, जैसे बड़े वन में मालुआ-लता पेड़ का आलिङ्गन करती है ।।१०।। वह लाख के समान लाल चमड़ी वाली, वह पुण्डरीक के समान त्वचा वाली, वह (जल-) बिन्दु के समान स्तनवाली कब मूँह से मुंह मिलायेगी, जैसे शराबी शराबी के पास सुरा की थाली ले जाता है ।।११।। जब से मैंने उस मनोरम-गातवाली को देखा, तब से मुझे अपने चित्त का कुछ भी बोध नहीं रहा ।।१२।। जब से मैंने मणि-कुण्डल युक्त उम्मदन्ती को देखा तब से मुझे उसी प्रकार रात-दिन नींद नहीं आती, जैसे हजार हारे हुए जुआरी को ।।१३।। यदि शक्र मुझे वर दे, तो उससे मैं यही वर प्राप्त करूँगा कि एक रात अथवा दो रात के लिये मैं अहिपारक हो जाऊँ और उम्मदन्ती के साथ रमण करके फिर सिवि-राजा हो जाऊँ ।।१४।।]

उन अमात्यों ने अहिपारक को भी सूचना दी, "स्वामी ! राजा नगर की प्रदक्षिणा करते समय तुम्हारे घर-द्वार तक जा, रुककर (वापिस) प्रासाद पर जा चढ़ा ।" उसने अपने घर जा उम्मदन्ती को बुलाकर पूछा—'भद्रे ! क्या तूने राजा को अपने आप को दिखा दिया ?"

"स्वामी ! एक बड़े पेटवाला, बड़े-बड़े दाँतो वाला, पुरुष रथ में बैठ कर आया था । मैं नहीं जानती कि वह राजा था, अथवा रजक था । सुना कि 'राजा' है । इसलिए झरोखे में होकर फूल फेंके । वह उसी क्षण वापिस लौट गया।" यह सुना तो बोला—"तू ने सब चौपट कर दिया ।" अगले दिन प्रातः काल ही वह राजभवन पहुँचा । शयनागार के द्वार पर खड़े हो उसने सुना कि राजा उम्मदन्ती के लिये विलाप कर रहा है। उसने सोचा—"यह उम्मदन्ती पर आसक्त हो गया है । वह न मिली तो मर जायेगा । अपने और राजा के यश की रक्षा करते हुए मुझे इसके प्राण बचाने चाहिए ।" अपने घर लौट उसने अपने एक अत्यन्त विश्वसनीय सेवक को बुलाकर कहा—"तात । अमुक जगह एक खोखला वृक्ष है । तू बिना किसी को पता लगने दिये, सूर्यास्त होने पर वृक्ष के अन्दर जाकर बैठ, मैं बलि-कर्म करता हुआ वहाँ पहुँच, देवता नमस्कार करता हुआ, प्रार्थना करूँगा 'देवराज ! हमारा राजा नगर में उत्सव रहते, बिना खेले ही शयनागार में जा पड़ा विलाप कर रहा

है। हम इसका कारण नहीं जानते। राजा देवताओं का बहुत उपकार करता है। प्रति वर्ष हजार खर्च करके बलि-कर्म करता है। हमें बता कि राजा अमुक कारण से विलाप करता है। हमारे राजा को जीवन दान दे।' तू उस समय स्वर बदल कर कहना, "सेनापति ! तुम्हारे राजा को कोई रोग नहीं है। वह तुम्हारी भार्या उम्मदन्ती पर आसक्त है। यदि वह मिलेगी तो जीयेगा, अन्यथा मर जायेगा। यदि तू उसके प्राणों की रक्षा चाहता है तो उसे उम्मदन्ती सौंप दे।" इस प्रकार सेनापति ने उसे सिखा-पढ़ा कर भेजा। वह जाकर उसी वृक्ष में बैठ रहा और अगले दिन जब सेनापति ने वहाँ पहुँच प्रार्थना की तो उसी प्रकार बोला। सेनापति ने 'अच्छा' कहा और देवता को प्रणाम कर, अमात्यों को सूचना दे, नगर में प्रवेश कर, राज-भवन पहुँच, शयनागार खटखटाया। राजा ने होश संभाल कर पूछा--"कौन है ?" "देव ! मैं अहिपारक हूँ।" उसके लिये राज-द्वार खुल गया। उसने अन्दर राजा को प्रणाम कर गाथा कही--

भूतानि मे भूतपती नमस्सतो
आगम्म यक्खो इदं एवं अब्रवि,
रञ्ञो मनो उम्मदन्त्या निविट्ठो,
ददामि ते तं, परिवारयस्सु ॥१५॥

[हे राजन् ! मेरे भूतों को नमस्कार करते समय, यक्ष ने मुझे आकर कहा है कि राजा का मन उम्मदन्ती से उलझ गया है। मैं उसे आपको देता हूँ। स्वीकार करें ॥१५॥]

राजा ने पूछा—"मित्र अहिपारक ! क्या यक्ष भी जान गये हैं कि मैं उम्मदन्ती में आसक्त मन होकर विलाप कर रहा हूं।

"हाँ, देव।"

उसे लज्जा आयी कि सारी दुनिया पर मेरी नीचता प्रकट हो गयी। उसने धर्म में प्रतिष्ठित होने के लिये अगली गाथा कही—

पुञ्ञा च धंसे अमरो न चम्हि
जनो च नो पापं इदं ति जञ्ञा,

भुसो च त्यस्सा मनसो विवातो
दत्वा पियं उम्मदन्ति अदिट्ठा ।।१६।।

[मेरे पुण्य का विनाश हो जायेगा, और मैं अमर नहीं हो जाऊँगा। लोक हमारे पाप को जान जायेंगे। और मुझे अपनी प्रिया उम्मदन्ती दे देने से और न देखने से तेरे मन में बहुत विघात होगा ।।१६।।]

इससे आगे की गाथायें दोनों का उत्तर प्रति-उत्तर हैं—

जनिन्द नाञ्ञत्र तया मया वा
सब्बापि कम्मस्स कतस्स जञ्ञा,
यं ते मया उम्मदन्ती पदिन्ना
भुसेहि राजा वनथं सजाहि ।।१७।।

[राजन्! तेरे और मेरे अतिरिक्त और कोई तेरे इस कर्म को न जानेगा कि मैंने तुझे उम्मदन्ती दी। तू अपनी वासना में वृद्धि कर ले, और फिर यदि न चाहे तो मुझे वापिस कर देना ।।१७।।]

राजा—

यो पापकम्मं कर मनुस्सो
सो मञ्ञतीः मा-य-इध मञ्ञिसु अञ्ञे,
पस्सन्ति भूतानि करोन्तं एतं
युत्ता च ये होन्ति सुरा पथव्या ।।१८।।

[जो आदमी पाप-कर्म करता है, वह सोचता है कि इसे दूसरे आदमी नहीं जानेंगे। किन्तु उस करनेवाले को देवता देखते हैं और पृथ्वी भी तथा दूसरे योगी-जन भी ।।१८।।]

अञ्ञो नु ते कोंध नरो पथव्या
सद्धेय्य लोकस्मि न सा पिपाति
भुसो च स्यास्स मनसा विघातो
दत्वा पियं उम्मदन्ति अदिट्ठा ।।१९।।

[लोक में दूसरा कौन इस बात में विश्वास करेगा कि वह तुझे प्रिय नहीं है। इसलिए उसे न देखने से और उम्मदन्ती को मुझे दे देने से तेरे मन में और भी विघात होगा ॥१९॥]

अहिपारक—

> अद्धा पिया मय्ह जनिन्द एसा
> न सा मयं अप्पिया भूमिपाल,
> गच्छेव त्वं उम्मदन्ति भदन्ते
> सीहो व सेलस्स गुहं उपेति ॥२०॥

[निश्चय राजन् ! वह मुझे प्रिय है । हे भूमिपाल ! वह मेरी अप्रिया नहीं है । तू उम्मदन्ती के पास जा, जैसे सिंह सिंह-बच्ची की शैल गुफा में चला जाता है ॥२०॥]

राजा—

> न पीळिता अत्तदुक्खेन धीरा
> सुखप्फलं कम्म परिच्चजन्ति,
> सम्मोहिता चापि सुखेन मत्ता
> न पापकं कम्म समाचरन्ति ॥२१॥

[आत्म-दुःख से पीड़ित होने पर भी धीर-पुरुष सुख फल देनेवाले काम को नहीं छोड़ते हैं । मोहित हो जाने पर और सुख से मद-मस्त हो जाने पर भी पापकर्म नहीं करते ॥२१॥]

अहिपारक—

> तुवं हि माता च पिता च मय्हं
> भत्ता पती पोसको देवता च,
> दासो अहं तुय्ह सपुत्तदारो
> यथासुखं सिब्ब करोहि कम्म ॥२२॥

[तू ही मेरा माता-पिता है, तू ही मेरा मालिक है, स्वामी है, पोषक है, देवता है और मैं पुत्र तथा दारा सहित तेरा दास हूँ । हे सिवि नरेश ! सुख-पूर्वक कर्म करें ॥२२॥]

राजा—

यो इस्सरोम्हीति करोति पापं
कत्वा च सो न उत्तपते परेसं
न तेन सो जीवति दीघं आयु
देवापि पापेन समेक्खरेन ॥२३॥

[जो अपने आप को बड़ा समझ कर 'पाप' करता है और जो दूसरों की परवाह नहीं करता, वह अपने उस पाप-कर्म के कारण दीर्घ-काल तक नही जीता और देवता भी उस 'पापी' को कुछ महत्व नहीं देते ॥२३॥]

अहिपारक—

अञ्ञातकं सामिकेहि पदिन्नं
धम्मे ठिता ये पटिच्छन्ति दानं,
परिच्छका दायका चापि तत्थ
सुखप्फलं ञेव करोन्ति कम्मं ॥२४॥

[राजन् ! स्वामी द्वारा दी गयी वस्तु तो जो धर्म में स्थित रहकर दान-रूप ग्रहण करते हैं, वे लेने तथा देने वाले—दोनों सुख-फल देने वाला कर्म ही करते हैं ॥२४॥]

राजा—

अञ्ञो नु ते कोध नरो पथव्या
सद्धेय लोकस्मि न सा पिया ति,
भुसो च त्यास्स मनसो विघातो
दत्वा पियं उम्मदन्ति अदिट्ठ ॥२५॥

[अर्थ ऊपर आ गया है—दे० १९]

अहिपारक—

अद्धा पिया मय्ह जनिन्द एसा
न सा मयं अप्पिया भूमिपाल,
यं ते मया उम्मदन्ती पदिन्ना
भुसेहि राजा वनथं सजाहि ॥२६॥

[अर्थ ऊपर आ गया है—दे० २०]

राजा—

यो अत्तदुखेन परस्स दुक्खं
सुखेन वा अत्तसुखं दहाति,
यथेव इदं मय्ह तथा परेसं
सो एवं जानाति स वेदि धम्मं ॥२७॥

[जो अपने दुःख से दूसरों के दुःख की और अपने सुख से दूसरों के सुख की समानता करता है और समझता है कि जैसे मुझे (दुःख-सुख) होता है वैसे ही औरों को होता है, वही धर्म को जानता है ॥२७॥]

अञ्ञो नु ते को'ध नरो पथव्या
सद्धेय्य. . . . . ॥२८॥

[अर्थ ऊपर आ गया है—दे० २५]

अहिपारक—

जनिन्द जानासि पिया मम ऐसा
न सा ममं अप्पिया भूमिपाल,
पियेन ते दम्मि पियं जनिन्द
पियदायिनो देव पियं लभन्ति ॥२९॥

[राजन् ! आप जानते हैं कि यह मुझे प्यारी है। हे भूमिपाल ! यह मेरी अप्रिया नहीं है। हे जनिन्द ! प्रिय की आशा से मैं प्रिय का दान करता हूँ। देव ! प्रिय का दान करने वालों को ही प्रिय-वस्तु प्राप्त होती है ॥२९॥]

राजा—

सो नून अहं वधिस्सामि अत्तानं कामहेतुकं
न हि धम्मं अधम्मेन अहं वधितुं उस्सहे ॥३०॥

[मैं निश्चय से काम-वासनामूलक अपने आप का वध करूँगा। मैं अधर्म धर्म का वध नहीं ही कर सकता ॥३०॥]

अहिपारक—

सचे तु वं मय्ह सतिं जनिन्द
न कामयासि नरविरियसेट्ठ,
चजामि नं सब्बजनस्स सिब्ब
ममा पमुत्तं ततो नं अव्हयेसि ॥३१॥

[हे जनिन्द ! हे नर वीर्य्य श्रेष्ठ ! यदि तू उसे 'मेरी' होने के कारण नहीं चाहता, तो मैं सब जनों के लिए उसे छोड़ दूंगा। तब आप मेरे द्वारा परित्यक्त ग्रहण करें ॥३१॥]

राजा—

अदूसियञ्चे अहिपारक त्वं
चजासि कत्ते अहिताय त्यास्स,
महा च ते उपवादो पि अस्स
न चापित्यास्स नगरम्हि पक्खो ॥३२॥

[हे अहिपारक ! हे हित-कर्ता ! यदि तू उस निर्दोष को छोड़ देगा, तो तेरी बहुत निन्दा होगी और कोई भी तेरा पक्ष नहीं ग्रहण करेगा ॥३३॥]

अहिपारक—

अहं सहिस्सं उपवादं एतं
निन्दं पसंसं गरहं पि सब्बं,
मं एतं आगच्छतु भूमिपाल
यथासुखं सिब्ब करोहि कामं ॥३३॥

[हे भूमिपाल ! मैं यह सब उपवाद, निन्दा प्रशंसा तथा गरहा सब कुछ सह लूंगा। यह सब मेरे सिर आवे। हे सिवि ! आप यथासुख काम करें ॥३३॥]

राजा—

यो एव निन्दं न पुनप्पसंसं
आदियती गरहं नो पि पूजं,

सिरी च लक्खी च अपेत तम्हा
आपो सुवुट्ठी व यथा थलम्हा ॥३४॥

[जो आदमी निन्दा, प्रशंसा, गरहा अथवा पूजा की ओर ध्यान नहीं देता, उस आदमी से श्री और लक्ष्मी उसी प्रकार दूर चली जाती हैं, जैसे सुवर्षा का पानी (ऊँचे) स्थल से ॥३४॥]

अहिपारक--

यं किञ्चि दुक्खं च सुखं च एत्तो
धम्मातिसारं व मनोविघातं,
उरसा अहं पच्चुपदिस्सामि सब्बं
पठवी यथा थावरानं तसानं ॥३५॥

[इससे जो कुछ भी सुख-दुःख होगा, धर्म का पालन न करने से अकुशल होगा और मन का अनुताप होगा। मैं सब उसी प्रकार सहन कर लूंगा जैसे पृथ्वी सभी जड़-चेतन को ॥३५॥]

राजा--

धम्मातिसारं व मनो विघातं
दुक्खं च निच्छामि जहं परेसं,
एको पि इमं हारयिस्सामि भारं
धम्मे ठितो कञ्चि न तापयन्तो ॥३६॥

[मैं नहीं चाहता कि कोई अकुशल करे, किसी को मनोविघात हो, किसी को दुःख हो। मैं धर्म में स्थित रह कर, किसी को भी कष्ट न देता हुआ अकेला ही इस भार को वहन करूंगा ॥३६॥]

अहिपारक--

सग्गूपगं पुञ्ञकम्मं जनिन्द
मा मे तु अन्तरायं अकासि,
ददामि ते उम्मदन्तिं पसन्नो
राजा व यञ्ञे धनं ब्राह्मणानं ॥३७॥

[हे जनिन्द ! आप मेरे इस स्वर्ग-दायक कर्म में बाधक न बनें । मैं प्रसन्नता पूर्वक आपको वैसे ही उम्मदन्ती देता हूँ जैसे राजा यज्ञ में ब्राह्मणों को धन देता है ॥३७॥]

राजा—

अद्धा तुवं कत्ते हितेसि मय्हं
सखा ममं उम्मदन्ती तुवं च,
निन्देय्युं देवा पितरो च सब्बे
पापञ्च पस्स अभिसम्परायं ॥३८॥

[निश्चय तू मेरा हित-चिन्तक है और सखा है तथा भार्या भी तेरी है । किन्तु इस कर्म के परलोक में बुरे फल को देखकर देव-पितर तथा सभी निन्दा करेंगे ॥३८॥]

अहिपारक—

न हेत अधम्मं सिविराज वज्जुं
सनेगमा जानपदा च सब्बे,
यं ते मया उम्मदन्ती पदिन्ना
भुसेहि राज वनथं सजाहि ॥३९॥

[हे सिविराज ! इस को निगम तथा जनपद के लोगों में से कोई भी अधर्म नहीं कहेंगे । मैंने आप को उम्मदन्ती दे दी है । राजन् ! आप अपनी वासना को बढ़ायें और इच्छा न रहने पर छोड़ दें ॥३९॥]

राजा—

अद्धा तुवं कत्ते हितेसि मय्हं
सखा ममं उम्मदन्ती तुवं च,
सतं च धम्मानि सुकित्तितानि
समुद्दवेला व दुरच्चयानि ॥४०॥

[हे उपकारक ! तू निश्चय मेरा हितचिन्तक और सखा है उम्मदन्ती तेरी है । किन्तु सत्पुरुषों के धर्म भी सुकीर्तित हैं और समुद्र-तट की तरह अलंघ्य हैं ॥४०॥]

अहिपारक--

आहूनियो मे सि नितानुकम्पी
धाता विधाता चासि काम पालो,
तयी हुत्वा देव महप्फला हिमे
कामेन मे उम्मदन्तिं पटिच्छ ॥४१॥

[तू मेरा आदरणीय है । तू मेरा हित-चिंतक है । तू दाता है । तू विधाता है । तू कामनायें पूरी करनेवाला है । हे देव ! तेरे समर्पित होने से मुझे महाफल मिलेगा । आप प्रसन्नतापूर्वक उम्मदन्ती को ग्रहण करें ।।४१।।]

राजा--

अद्धा हि सब्बं अहिपारका तुवं
धम्मं अचारि मम कत्तपुत्त,
अञ्ञो नु ते को इध सोत्थिकत्ता
दिपदो नरो अरुणे जीवलोके ॥४२॥

[निश्चय ही हे अहिपारक ! हे उपकारक ! तू ने आजतक सब धर्म का आच रण किया है। इस लोक में तेरा और कौन कल्याण-कर्ता है ? ।।४२।।]

अहिपारक---

तुवं नु सेट्ठो, त्वं अनुत्तरो सि
त्वं धम्मगू धम्मविदू सुमेधो,
सो धम्मगुत्तो चिरं एव जीव
धम्मं च मे देसय धम्मपाल ॥४३॥

[तू ही श्रेष्ठ है । तू अनुपम है । तू धर्म-रक्षक है । तू धर्मज्ञाता है । तू सुमेध है । हे धर्मरक्षक ? तू चिरकाल तक जी । हे धर्मपाल ! मुझे धर्म का उपदेश दे ।।४३।।]

राजा--

तद इंघ अहिपारक सुणोहि वचनं मम,
धम्मं ते देसयिस्सामि सत्तं आसेवितं अहं ॥४४॥

राजा—

[हे अहिपारक ! तू मेरी बात सुन । मैं सत्पुरुष द्वारा आचरण किये गये धर्म का उपदेश करूँगा ॥४४॥]

साधु धम्मरुचि राजा, साधु पञ्ञाणवा नरो,
साधु मित्तानं अदुब्भो, पापस्स अकरणं सुखं ॥४५॥

[धर्म में रुचि रखनेवाला राजा अच्छा है, प्रज्ञावान् आदमी अच्छा है, मित्र के साथ विश्वासघात न करने वाला अच्छा है तथा पाप का न करना अच्छा है ॥४६॥]

अक्कोधनस्स विजिते, ठितधम्मस्स राजिनो,
सुखं मनुस्सा आसेथ, सीतच्छायाय संघरे ॥४६॥

[धर्म-स्थित क्षमावान् राजा के राज्य में आदमी सुखपूर्वक उसी प्रकार बैठ सकते हैं, जैसे घर की शीतल छाया में ॥४६॥]

न वाहं एतं अभिरोचयामि
कम्मं असमेक्ख कतं असध्रुं,
ये वापि ञत्वा नसयं करोन्ति
उपमा इमा मय्हं तुवं सुणोहि ॥४७॥

[मैं इसे पसन्द नहीं करता। बिना विचारे काम करना अच्छा नहीं। जो जान-बूझ कर भी स्वयं करते हैं, उनके बारे में ये उपमाये सुनो ॥४७॥]

गावं चे तरमानानं जिम्हं गच्छ ति पुंगवो,
सब्बा ता जिम्हं गच्छन्ति नेत्ते जिम्हगते सति ॥४८॥

एवमेवं मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो
सो चे अधम्मं चरित पगेव इतरा पजा,
सब्बं रट्ठं दुक्खं सेति राजा चे होति अधम्मिको ॥४९॥

गावं चे तरमानानं उजुं गच्छति पुंगवो,
सब्बा ता उजुं गच्छति नेत्ते उजुगते सति ॥५०॥

एवमेवं मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो
सो चेपि धम्मं चरति पगेव इतरा पजा,
सब्बं रट्ठं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको ॥५१॥

[तैरती हुई गौवों में से बैल टेढ़े रास्ते जाता है, तो नेता के टेढ़े रास्ते जाने के कारण वे सभी टेढ़े रास्ते जाती हैं ॥४८॥ इस प्रकार मनुष्यों में जो कोई श्रेष्ठ समझा जाता है, यदि वह अधर्म आचरण करता है, (अन्य लोगों का तो क्या कहना) तो राजा के अधार्मिक होने से सारा राज्य दुःख सहन करता है । ॥४९॥ तैरती हुई गौवों में से यदि बैल सीधे रास्ता जाता है, तो नेता के सीधे रास्ते जाने के कारण, सभी सीधे रास्ते जाती ॥५०॥ इस प्रकार मनुष्यों में (अन्य लोगों का तो क्या कहना) जो श्रेष्ठ समझा जाता है, यदि वह धर्म-आचरण करता है, तो राजा के धार्मिक होने पर सारा राज्य सुखपूर्वक रहता है ॥५१॥

न चाप अहं अधम्मेन अमरत्तंपि पत्थये,
इमं वा पठविं सब्बं विजेतुं अहिपारक ॥५२॥
यं हि किञ्चि मनुस्सेसु रतनं इध विज्जति,
गावो दासो हिरञ्ञं च वत्थियं हरिचन्दनं ॥५३॥
[अस्सित्थियो रतनं मणिकञ्च,
यञ्चापि इमे चन्दिम सुरिया अभिपालयन्ति]
न तस्स हेतु विसमं चरेय्य,
मज्झे सिवीनं उस भोम्हि जातो ॥५४॥
नेता पिता उग्गतो रट्ठपालो
धम्मं सिवीनं अपचायमानो,
सो धम्मं एवानुविचिन्तयन्तो
तस्मा सके चित्तवसे न वत्तो ॥५५॥

[मैं अधर्म से अमृतत्व की कामना नहीं करता, अथवा हे अहिपारक ! इस सारी पृथ्वी के जीत लेने की भी ॥५२॥ मनुष्य लोक में जितने रत्न हैं—गऊ, दास, सोना, वस्त्र, पीत-वर्ण, चन्दन, घोड़े, स्त्रियाँ, मणि-काञ्चन और जिस चन्द्रमा तथा सूर्य से अलंकार किया जाता है—उनमें से किसी के लिए भी मैं विषम आचरण नहीं कर सकता । मैं सिवि-राष्ट्र में वृषभ (के समान)

हूँ ॥५३-५४॥ मैं नेता हूँ, पिता हूँ, रट्ठपाल हूँ और सिवि (-राष्ट्र) के परम्परागत धर्म का आदर करने वाला हूँ। उसी धर्म का विचार करने के कारण मैं अपने चित्त के वशीभूत नहीं हुआ ॥५५॥

अहिपारक—

अद्धा तुवं महाराज निच्चं अब्यसनं सिवं,
करिस्ससि चिरं रज्जं पञ्ञा हित व तादिसी ॥५६॥

[हे राजन्। निश्चय तू बिना किसी दुःख को प्राप्त हुए चिरकाल तक राज्य करेगा। तेरी प्रज्ञा ही ऐसी है ॥५६॥]

एतं ते जनुमोदाम यं धम्मं न प्पमज्जसि,
धम्मं पमज्ज खत्तियो रट्ठा चवति इस्सरो ॥५७॥

[जो तू धर्म में यह प्रमाद नहीं करता, हम इसका अनुमोदन करते हैं। धर्म में प्रमाद करने से राजा राष्ट्र गँवा देता है ॥५७॥]

धम्मं चर महाराज मातापितुसु खत्तिय,
इध धम्म चरित्वान राजा सग्गं गमिस्ससि ॥५८॥
धम्मं चर महाराज पुत्तदारेसु खत्तिय...॥५९॥
धम्मं चर महाराज मित्तामित्तेसु खत्तिय...॥६०॥
धम्मं चर महाराज वाहनेसु बलसु च.. ॥६१॥
धम्मं चर महाराज गामेसु निगमेसु च.. ॥६२॥
धम्मं चर महाराज रट्ठे जनपदेसु च...॥६३॥
धम्मं चर महाराज समणब्राह्मणेसु च.. ॥६४॥
धम्मं चर महाराज मिगपक्खीसु खत्तिय...॥६५॥

धम्मं चर महाराज धम्मो चिण्णो सुखावहो,
इध धम्मं चरित्वान राजा सग्गं गमिस्ससि.. .॥६६॥

इध धम्मं चरित्वान सेन्ददेवा ब्रह्मका,
सुचिण्णेन दिवं पत्ता, मा धम्मं राज पमादो ॥६७॥

[देखिए, तेसकुण जातक (५२१)]

इस प्रकार जब अहिपारक सेनापति ने राजा को धर्मोपदेश दिया तो राजा की उम्मदन्ती के प्रति चित्त की आसक्ति जाती रही।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के प्रकाशन के अन्त में वह भिक्षु स्रोतापत्ति में प्रतिष्ठित हो गया। उस समय सुमन सारथि आनन्द था, अहिपारक सारिपुत्र, उम्मदन्ती उत्पलवर्णा, शेष परिषद् बुद्ध-परिषद्, सिविराजा तो मैं ही था।



५२८. महाबोधि जातक

"किन्नु दण्डं किमाजिनं . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय प्रज्ञापारमिता के बारे में कही । कथा महाउम्मग्ग जातक[1] में आयेगी । उस समय शास्ता ने "भिक्षुओं, न केवल अभी, तथागत पहले भी प्रज्ञावान् तथा दूसरों को शास्त्रार्थ में हराने में समर्थ रहे" कह, पूर्व जन्म की कथा कही ।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व काशी राष्ट्र में अस्सी करोड़ धनवाले महासारवान उदीच्य ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए । उसका नाम रखा गया बोधिकुमार । बड़े होने पर वह तक्षशिला जो, शिल्प सीख, वापिस लौट, घर में रहने लगा । आगे चलकर काम भोग छोड़, हिमालय में प्रविष्ट हो ।, परिव्राजक-प्रव्रज्या ग्रहण कर वहाँ फल-मूल खाता हुआ रहने लगा । देर तक वहाँ रह, वर्षा-ऋतु के समय हिमालय से उतर, चारिका करता हुआ क्रमशः वाराणसी पहुँच, राजोद्यान में रह, अगले दिन परिव्राजक के लिए योग्य विधि से भिक्षाटन करता हुआ राजद्वार पर पहुँचा। झरोखे में खड़े राजा ने उसे देखा तो उसकी शान्त प्रकृत पर प्रसन्न हो, उसे अपने में लिवा, राज-सिंहासन पर बिठाया । फिर कुशल-क्षेम पूछ, कुछ धर्मोपदेश ग्रहण कर, नाना प्रकार का श्रेष्ठ भोजन कराया ।

भोजन कर चुकने पर बोधिसत्व सोचने लगे--"राजकुल में बहुत दोष रहते हैं, बहुत शत्रु रहते हैं । कोई आपत्ति आने पर कौन रक्षा करेगा ?" उसे कुछ दूर खड़ा एक राज-प्रिय पिंगल-वर्ण कुत्ता दिखायी दिया । उसने

---

१. महाउम्मग्ग जातक (५४६)

एक बड़ा-सा भात का गोला लेके उसे देने की इच्छा व्यक्त की। राजा को पता लगा तो उसने कुत्ते का बरतन मँगवा उसमें वह भात डलवाया। बोधिसत्व ने उसे दे, अपना भोजन समाप्त किया। राजा ने भी उससे वचन ले, नगर के भीतर, राजोद्यान में पर्णशाला बनवा, प्रव्रजित की आवश्यकताएँ उसे दे, वहाँ बसाया। प्रतिदिन दो-तीन बार वह उसकी सेवा में जाता। भोजन के समय बोधिसत्व नित्य राज-सिंहासन पर ही बैठते और राजा का भोजन ही ग्रहण करते। इसी प्रकार बारह वर्ष बीत गये।

उस राजा के पाँच अमात्य अर्थ और धर्म सम्बन्धी अनुशासन करते थे। उनमें एक अहेतुवादी था, एक ईश्वर-कारण-वादी, एक पूर्वकृत-वादी, एक उच्छेदवादी और एक क्षत-विधवादी था। उनमें जो अहेतुवादी था वह जनता को सिखाता था कि "ये प्राणी संसार में यूँ ही उत्पन्न होते हैं"; जो ईश्वर-कारणवादी था, वह सिखाता था कि "यह लोक ईश्वर-कृत है"; जो पूर्वकृत-वादी था, वह सिखाता था कि "इस लोक में प्राणियों को जो कुछ सुख-दुःख होता है वह पूर्वकृत कर्म के कारण ही होता है"; जो उच्छेदवादी था, वह सिखाता था कि "यहाँ से कोई परलोक नहीं जाता, यहीं इस लोक का उच्छेद हो जाता है" और जो क्षत-विधवादी था उसकी शिक्षा थी कि "माता-पिता को भी मारकर अपना ही स्वार्थ-साधन करना चाहिए।" वे राजा के द्वारा न्यायाधीश पदों पर नियुक्त थे। रिश्वत खा-खा कर वह जो स्वामी न होता उसे स्वामी बना देते।

एक दिन एक आदमी ने जो झूठे मुकदमे में हार गया था, बोधिसत्व को भिक्षार्थ राजगृह में प्रवेश करते देख, प्रणाम कर रोते-पीटते हुए कहा—"भन्ते! आप राजगृह में भोजन करते हैं। जब न्यायाधीश लोग रिश्वत ले-लेकर संसार का विनाश कर रहे हैं, तो आप उपेक्षावान् क्यों हैं? अब पाँचों अमात्यों ने झूठे मुकदमेबाज से रिश्वत लेकर मुझे 'स्वामी' से 'अस्वामी' बना दिया।" उसने उसके प्रति करुणा दिखायी और न्यायशाला में जा, न्याय-संगत फैसला-कर 'स्वामी' को ही स्वामी बनाया। जनता एक बार ही 'साधु' 'साधु' पुकार उठी।

राजा ने यह शोर सुना तो पूछा क्या शोर है? जब उसे यह बात मालूम हुई तो बोधिसत्व के भोजन कर चुकने पर उसने पास बैठकर पूछा—"भन्ते

क्या आज मुकदमे का फैसला किया ?" "महाराज ! हाँ ।" 'भन्ते ! तुम्हारे फैसला करने से जनता की उन्नति होगी, अब से आप ही फैसला किया करें ।"

"महाराज ! हम प्रव्रजित हैं । यह हमारा काम नहीं ।" "भन्ते ! जनता पर कृपा करने के लिए करना उचित है । आप सारा दिन मुकदमों का फैसला न करे । उद्यान से यहाँ आते समय प्रातःकाल चार मुकदमों का फैसला कर दिया करें । भोजन करके वापिस उद्यान लौटते समय चार । इस प्रकार जनता की अभिवृद्धि होगी ।"

उसके बार-बार कहने से उसने अच्छा कह स्वीकार कर लिया और तब से वैसे ही करने लगा । झूठे मुकदमे करनेवालों को अवसर हाथ न लगता । अमात्यों को भी रिश्वत मिलनी बन्द हो गयी, तो वे निर्धन हो गये और सोचने लगे—"बोधि परिव्राजक के न्यायाधीश बनने के समय से हमें कुछ नहीं मिलता । उसे राजबैरी घोषित कर और राजा के मन में फूट डलवा उसे मरवायें ।" वे राजा के पास पहुँचे और बोले—"महाराज ! बोधि-परिव्राजक आपका अहित चिन्तक है ।" राजा ने विश्वास न कर उत्तर दिया–"यह सदाचारी है, ज्ञानी है । ऐसा नहीं करेगा ।" वे बोले—"महा-राज ! उसने सारे नगरवासियों को अपने वश में कर लिया है । केवल हम पाँच जनों को अपना समर्थक नहीं बना सका है । यदि हमारा विश्वास न हो, तो जिस समय वह इधर आये उस समय उसके अनुयायियों को देखना ।" राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और जब वह आया तो अपने अज्ञान के कारण मुकदमेवालों को उसके अनुयायी मान, अपना मन मैला कर, अमात्यों को बुलाकर पूछा—क्या करें ?"

"देव ! पकड़वालें ।

"बिना किसी खास अपराध के कैसे पकड़वालें ?"

"तो महाराज ! जो इसका स्वभाविक आदर-सत्कार है, वह करना छोड़ दें । वह न होता देख, समझदार परिव्राजक बिना किसी से कहे स्वयं चला जायेगा ।"

राजा ने अच्छा कहे क्रमशः उसका आदर-सत्कार घटा दिया । पहले दिन ही उसे नंगे पलंग पर बिठाया गया । वह पलंग देख कर ही समझ गया कि

राजा का मन बदल गया है। उसने उद्यान लौटते ही उसी दिन चल देने का विचार किया। फिर यह सोच कि निश्चयात्मक रूप से जानकर यहाँ से जाऊँगा वह नहीं गया। अगले दिन जब वह नंगे पलंग पर बैठा था, तो राजा के लिए पके भात में दूसरा भात मिलाकर मिश्रित भात दिया। तीसरे दिन ऊपर की मंजिल पर न चढ़ने देकर, सीढ़ियों पर ही मिश्रित-भात दिया। उसने उसे उद्यान में ले जाकर खाया। चौथे दिन प्रासाद से नीचे ही रख कणाज भात दिया। उसे भी उद्यान ले जाकर खाया। राजा ने अमात्यों से पूछा—

"महाबोधिकुमार सत्कार के घटा देने पर भी नहीं जाता, क्या करें?"

"देव ! वह भात के लिए नहीं घूमता, वह 'छत्र' के लिए घूमता है। यदि 'भात के लिए घूमता होता तो पहले दिन ही भाग जाता।"

"तो अब क्या करें ?

"महाराज ! कल उसे मरवा दें।

उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और उन्हीं के हाथ में तलवार दे कहा—"कल द्वार के अन्दर रह, जिस समय वह अन्दर घुसे उसी समय उसका सिर काट कर, टुकड़े-टुकड़े करके, बिना किसी को पता लगने दिये बच्चकुटी में फेंक, नहाकर आओ।" वे 'अच्छा' कह कर स्वीकार कर 'कल आकर ऐसा करेंगे' परस्पर विचार करते हुए अपने-अपने घर गये।

राजा को, जब वह शाम को खा-पीकर शैया पर लेटा था बोधिसत्व के गुण याद आये। उसी समय उसके मन में शोक उत्पन्न हुआ। शरीर से पसीना छूटने लगा। बेचैनी के मारे इधर-उधर लोटपोट होने लगा। उसके पास पटरानी आ लेटी। उसने उसके साथ बातचीत तक नहीं की। रानी बोली—"महाराज ! आप बातचीत भी नहीं करते, क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है ?"

"नहीं देवि, बात यह है कि बोधि-परिव्राजक हमारा शत्रु हो गया है। कल पाँच मंत्रियों को उसे मार डालने की आज्ञा दे दी है। वे उसे मार टुकड़े टुकड़े कर पाखाने के कुएँ में डाल देंगे। उसने हमें बारह वर्ष तक बहुत धर्मोपदेश दिया है। मैंने उसका एक भी दोष प्रत्यक्ष नहीं देखा है। दूसरे के कथन पर विश्वास कर मैंने उसके वध की आज्ञा दे दी है। इसलिए सोचता हूं।"

उसने उसे आश्वासन दिया—"देव । यदि वह शत्रु ही हो गया है, तो उसके मरवाने में सोचना क्या ? पुत्र भी शत्रु हो जाय तो उसे मरवाकर अपना कल्याण करना ही चाहिये । सोच न करें।" वह उसकी बात से आश्वस्त हो गया । उसी समय श्रेष्ठ पिंगल-वर्ण कुत्ते ने बातचीत सुन, सोचा—"कल मैं अपने बल से उसके प्राणों की रक्षा करूँगा ।" अगले दिन प्रात:काल ही वह प्रासाद से उतर बड़े द्वार पर आ, देहली पर सिर रख, बोधिसत्व के आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ लेट रहा । वे खड्गधारी अमात्य भी प्रात:काल ही आकर द्वार के भीतर खड़े हो गये । बोधिसत्व भी समय देख, उद्यान से निकल राज-द्वार पर आ पहुँचे । कुत्ता मुँह बा, चारों दांत निकाल, जोर से चिल्लाया—'भन्ते ! क्या जम्बुद्वीप भर में अन्यत्र कहीं भिक्षा नहीं मिलती, हमारे राजा ने तुम्हारे मारने के लिये पाँच खड्गधारी अमात्यों को द्वार के अन्दर खड़ा किया है । आप सिर पर अपनी मौत लेकर न आयें । शीघ्र लौट जायें ।" उसे सभी बोलियों का ज्ञान होने से वह बात समझ में आ गयी । वहीं रुक, उद्यान लौट उसने चल देने के लिये अपनी आवश्यकताओं को लिया ।

राजा ने भी झरोखे में खड़े-खड़े जब उसे आता न देखा तो सोचा—'यदि यह मेरा शत्रु होगा, तो उद्यान लौट, सेना एकत्रकर, युद्ध की तैयारी करेगा । अन्यथा अपनी चीजें उठा चलने की तैयारी करेगा । मैं इसका पता लगाता हूँ।' वह उद्यान पहुँचा तो बोधिसत्व को अपनी चीजें उठा जाने के के लिये पर्णशाला से निकल टहलने के चबूतरे के सिरे पर देखा । उसने प्रणाम कर और एक ओर खड़े हो पहली गाथा कही—

> किं नु दण्डं किं अजिनं किं छत्तं किं उपाहनं
> किं अंकुसं च पत्तं च संघाटिं चापि ब्राह्मण,
> तरमाणरूपो गण्हासि किं नु पत्थयसे दिसं ॥१॥

[हे ब्राह्मण ! क्या दण्ड, क्या अजिन-चर्म, क्या छाता, क्या उपाहन, क्या थैली, क्या पात्र और क्या सघाटी—यह सब शीघ्रता से क्यों बटोर रहे हो ? क्या कहीं जा रहे हो ? ॥१॥]

यह सुन बोधिसत्व ने सोचा, सम्भवत: अपनी करतूत नहीं जानता । मैं इसे बोध कराता हूँ । उन्होंने दो गाथाएँ कहीं—

द्वावसेतानि वस्सानि वुसितानि तवन्तिके,
नाभिजानामि सोनेन पिंगलेन अभिनिकूजितं ॥२॥
स्वयं दित्तो व नदति सुक्कदाठं विदंसयं
तव सुत्वा समरिस्स वीतसद्धस्स मम पति ॥३॥

[मैं बारह वर्ष तक तेरे पास रहा। मैं नहीं जानता कि पिङ्गल कुत्ते ने कभी भौंका हो। लेकिन अब यह इस बात को जानकर कि तेरी तथा तेरी भार्या की मेरे प्रति श्रद्धा नहीं रही, क्रोध से भरकर दांत निकाल कर भौंकता है ॥२-३॥]

तब राजा ने अपना दोष स्वीकार कर क्षमा माँगते हुए चौथी गाथा कही-

अहु एस कतो दोसो, यथा भाससि ब्राह्मण,
एस भिय्यो पसीदामि, वस ब्राह्मण मा गम ॥४॥

[हे ब्राह्मण ! जैसा तू कहता है, वैसा मुझसे दोष हो ही गया है। अब मैं और भी अधिक श्रद्धावान् हूँ । यहीं रहें न जायें ॥४॥]

यह सुन बोधिसत्व ने 'महाराज ! पण्डित ऐसे बिना प्रत्यक्ष देखे दूसरे की बात मान लेने वाले के साथ नहीं रहते' कह, उसका अनाचार प्रकाशित करते हुए गाथा कही--

सब्बसेतो पुरे आसि, ततोपि सबलो अहु,
सब्बलोहितको दानि, कालो पक्कितुं मम ॥५॥
अब्भन्तरं पुरे आसि ततो मज्झे ततो बहि,
पुरा निद्धमना होति सयं एव चजं अहं ॥६॥
वीतसद्धं न सेवेय्य उदपानं व अनोदकं,
सचे पि नं अनुखणे वारि कद्दमगन्धिकं ॥७॥
पसन्नं एव सेवेय्य, अपसन्नं विवज्जये,
पसन्नं पयिरुपासेय्य, रहदं व उदकत्थिको ॥८॥
भजे भजन्तं पुरिसं अभजन्तं न भाजये,
असप्पुरिसधम्मोसो यो भजन्तं न भाजति ॥९॥
यो भजन्तं न भजति सेवमानं न सेवति,
सवे मनुस्सपापिट्ठो मिगो साखस्सितो यथा ॥१०॥

अच्चाभिक्खणसंसग्गा असमोसरणेन च
एतेन मित्ता जीरन्ति अकाले याचनाय च ॥११॥
तस्मा नाभिक्खणं गच्छेन चिराचिरं,
कालेन याचं याचेय्य एवं मित्ता न जीररे ॥१२॥
अतिचिरं निवासेन पियो भवति अप्पियो,
आमंत खो तं गच्छाम पुरा ते होम अप्पिया ॥१३॥

[पहले भात एक दम श्वेत था, फिर मिश्रित हुआ, अब सब लाल रंग का हो गया। यह मेरे चल देने का समय है ॥५॥ पहले मेरा निवास एक दम अन्दर था, फिर बीच की जगह और उसके बाद बाहर। अर्धचन्द्राकार देकर निकाल दिये जाने से पहले स्वयं निकल जाना ही अच्छा है ॥६॥ जल रहित कुएँ के समान अश्रद्धावान् के आश्रय भी न रहे। यदि बिना जल के कुएँ को खने भी तो उसका पानी कीचड़ की गन्ध वाला ही होगा ॥७॥ श्रद्धावान् के ही आश्रय रहें, अश्रद्धावान् के आश्रय न रहें, जिस प्रकार पानी की इच्छा रखनेवाला तालाब को चाहता है, उस प्रकार श्रद्धावान् का ही आश्रय ले ॥८॥ संगति की इच्छा करने वाले की संगति करे, इच्छा न करने वाले की संगति न करें। संगति की इच्छा रखनेवाले के साथ संगति न करना असत्पुरुष-धर्म है ॥९॥ जो संगति करने की इच्छा रखने वाले के साथ संगति नहीं करता, साथ चाहने वाले का साथ नहीं, देता, वह पापी मनुष्य बन्दर के समान होता है ॥१०॥ अत्यन्त साथ रहने से और साथ न रहने से तथा असमय माँग बैठने से मित्रता नष्ट हो जाती है ॥११॥ इसलिए न तो निरन्तर जाये, न अति विलम्ब से जाये, और समय देख कर ही माँगे, तो मित्रता नहीं टूटती ॥१२॥ अति चिरकाल तक साथ रहने से प्रिय मनुष्य अप्रिय हो जाता है। तेरे अप्रिय बनने से पहले हम तुझे सूचना देकर जाते हैं ॥१३॥]

राजा बोला——

एवं चे याचमानानं अञ्जलिं नावबुज्झसि
परिवारकानं सत्तानं वचनं न करोसि न
एवं तं अभियाचाम, पुन कयिरासि परियायं ॥१४॥

[यदि इस प्रकार प्रार्थना करने वालों की प्रार्थना स्वीकृत नहीं होती, यदि

अपने अनुयायियों की बात नहीं रखते तो यह वचन दें कि फिर आयेंगे॥१४॥]

बोधिसत्व ने उत्तर दिया--

एवञ्चे नो विहरतं अन्तरायो न हेस्सति
तुम्हं वापि महाराज मय्हं च रट्ठवड्ढन,
अप्पेव नाम पस्सेम अहोरत्तानमच्चये ॥१५॥

[हे महाराज ! यदि इसी प्रकार विचरते हुए मेरे अथवा तुम्हारे शरीर को हानि न हुई, तो यह सम्भव है कि (कुछ) दिनों के गुजरने पर हम फिर एक दूसरे को देखें ॥१५॥]

इस प्रकार कह, बोधिसत्व ने राजा को धर्मोपदेश दिया--"महाराज ! अप्रमादी रहें ।" फिर उद्यान से निकल अनुकूल स्थान पर भिक्षाटन कर वाराणसी से बाहर हो, क्रमशः हिमालय पहुँच, कुछ समय वहाँ रह और तब नीचे आ एक प्रत्यन्त-ग्राम के आश्रय से जंगल में रहने लगा ।

उसके चले जाने के बाद से वे अमात्य फिर न्यायाधीश बन लूट मचाने लगे और साथ ही सोचने लगे--"यदि महाबोधि परिब्राजक फिर आ गया तो हम नहीं बचेंगे । क्या करें जिससे वह फिर न आ सके ?" उनके मन में आया--"प्राणी प्रायः आसक्ति की जगह को नहीं छोड़ सकता । यहाँ उसकी किस में आसक्ति है ?" उन्होंने अनुमान किया--"पटरानी में ।" तब उन्होंने सोचा--"सम्भव है, वह इसी के कारण फिर आये । इसे पहले ही मरवा दें। वे राजा से बोले--"देव ! आजकल नगर में एक चर्चा है ?"

"क्या चर्चा है ?"

"महाबोधि परिब्राजक तथा देवी परस्पर एक-दूसरे को चिट्ठी भेजते हैं।"

"क्या लिख कर ?"

"उसने देवी को लिखा, 'क्या तू राजा को मरवा कर मुझे छत्रपति बना सकती है,' और इसने भी उसे उत्तर दिया, 'राजा को मारने की मेरी जिम्मेदारी है, शीघ्र आओ ।'"

उनके बार-बार कहने से राजा को विश्वास हो गया । बोला-"क्या करें।"

"देवी को मरवा डालना चाहिए ।"

उसने बिना विचार किये ही आज्ञा दी--"तो तुम उसे मार, टुकड़े-टुकड़े

कर पाखाने के कुएँ में डाल दो।" उन्होंने वैसा किया। उसके मार डाले जाने की बात सारे नगर में फैल गयी। उसके चार पुत्र राजा के शत्रु हो गये--"इसने हमारी निरपराधिनी माता को मरवा डाला।" राजा बहुत भयभीत हुआ। बोधिसत्व तक बात पहुँची तो उसने सोचा--"मेरे अतिरिक्ति कोई कुमारों को समझाकर राजा को क्षमा नहीं करवा सकता। राजा को जीवन-दान दूंगा और कुमारों को पाप करने से बचाऊँगा।" अगले दिन जब वह प्रत्यन्त-ग्राम में गया तो मनुष्यों ने उसे बन्दर का मांस खाने को दिया। उसने उसे खा लिया, उसका चमड़ा मांग, आश्रम में सुखा गन्धहीन कर ओढ़ा, पहना और कन्धे पर भी रक्खा। क्यों? ताकि वह सत्य-सत्य कह सके कि "बहुत उपकारी" था। वह उसका चमड़ा ले क्रमशः वाराणसी पहुँचा और कुमारों के पास जा बोला—"पितृहत्या बड़ा दारुण-कर्म है। वह मत करना। कोई प्राणी अजर-अमर नहीं। मैं तुम्हारा परस्पर मेल कराने के लिये आया हूँ। मैं जब तुम्हें सन्देश भेजूं तो तुम चले आना।" इस प्रकार कुमारों को उपदेश दे, नगर के भीतर उद्यान में जा, शिला पर बन्दर का चमड़ा बिछा बैठा।

माली ने यह देख शीघ्र जाकर राजा को सूचना दी। राजा सुनते ही हर्षित हुआ। उन अमात्यों के साथ वह उद्यान में पहुँचा और बोधिसत्व को प्रणाम कर बैठ कुशल-क्षेम पूछने लगा। बोधिसत्व उसके साथ बातचीत न कर बन्दर के चमड़े को ही मलते रहे। उसने पूछा--"भन्ते। आप मेरी उपेक्षा कर बन्दर, के चमड़े पर ही हाथ फेर रहे हैं। क्या यह मेरी अपेक्षा बहुत उपकारी है?"

"हाँ महाराज! यह बन्दर मेरा बहुत उपकारी है। मैं इसकी पीठ पर बैठ कर घूमा हूँ। यह मेरे लिये पीने का घड़ा लाया है। इसने मेरा निवास-स्थान साफ किया है। इसने मेरी सामान्य सेवा की है। मैं अपने चित्त की दुर्बलता से इसका मांस खाकर, चमड़ी सुखा, फैला, उस पर बैठता हूँ और उस पर लेटता हूं। इस प्रकार यह मेरा बहु उपकारी है। इस प्रकार उनके मत का खण्डन करने के लिये वानर-चर्म की जगह 'वानर' शब्द का प्रयोग कर, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वैसा कहा। क्योंकि उसने उसे पहना था, इसी-लिये 'पीठ पर चढ़कर घूमा कहा। उसे कन्धे पर रख कर पानी का घड़ा लाया था, इसलिये 'पीने का घड़ा लाया' कहा। उस चर्म से भूमि साफ की

थी, इसलिये 'निवासस्थान साफ किया' कहा। लेटते समय पीठ का और उठकर चलने के समय पैरों का स्पर्श हुआ रहने से 'मेरी सामान्य सेवा की' कहा। भूख लगने पर उसका मांस मिलने पर खा लेने का कारण 'अपनी दुर्बलता के कारण उसका मांस खाया' कहा। यह सुन उन अमात्यों ने यह समझ कि इसने प्राणातिपात किया, ताली पीट कर उसका उपहास किया—"प्रव्रजित के कर्म को देखो। बन्दर को मार, मांस खा, चमड़ी लिये घूमता है।" बोधिसत्व ने उन्हें वैसा करते देख सोचा—"यह नहीं जानते कि मैं इनके मत का खण्डन करने के लिये ही चर्म लेकर आया हूँ। मैं इन पर प्रकट न होने दूँगा।" उसने अहेतुवादी को बुलाकर पूछा—"आयुष्मान्! तुमने क्यों मजाक किया ?'' "मित्र-द्रोही कर्म तथा प्राणिहत्या के कारण।" तब बोधिसत्व ने—'जो तुझमें और तेरे मत में श्रद्धा रखने के कारण ऐसा करे, तो उसमें दुःख की क्या बात है ?' कह उसके मत का खण्डन करते हुए गाथायें कहीं—

उदीरणा चे संगत्या भावायमनुवत्तति
अकामा अकरणीयं वा करणीयं वापि कुब्बति
अकामकरणीयस्मिं कुविध पापेन लिप्पति ॥१६॥
सो चे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न पापको,
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥१७॥
अत्तनो चेहि वादस्य अपराधं विजानिय,
न मे त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादोहि तादिसो ॥१८॥

[यदि तुम्हारा यह कहना है कि स्वभाव से ही सब कुछ होता है, अनिच्छा से ही करणीय अथवा अकरणीय किया जाता है ॥१६॥ यदि तुम्हारा यह मत कल्याणकारी है, अकल्याणकारी नहीं और यदि तुम्हारा यह कथन सत्य है तो मेरे द्वारा वानर की हत्या ठीक ही हुई है ॥१७॥ यदि तुम अपने मत के दोष को समझो तो मेरी निन्दा न करो। तुम्हारा मत ही ऐसा है ॥१८॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने उसका निग्रह कर उसे हत-बुद्धि कर दिया। वह राजा भी परिषद् में हथ-प्रभ हो सिर नीचा किये बैठा रहा। बोधिसत्व ने भी उसके मत का खण्डन कर ईश्वर-कारण-वादी को सम्बोधन कर पूछा-"आयुष्मान् यदि तुम ईश्वर-निर्माण-वाद को यथार्थ मानते हो तो तुमने मजाक क्यों किया ?"

बोधिसत्व ने गाथा कही—

इस्सरो सब्बलोकस्स सचे कप्पेति जीवितं,
इद्धिब्यसनाभावञ्च कम्मं कल्याणपापकं
निद्देसकारी पुरिसो इस्सरो तेन लिप्पति ॥१९॥
स चे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको,
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥२०॥
अत्तनो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय,
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ॥२१॥

[यदि ईश्वर ही सारे लोक की जविका की व्यवस्था करता है, यदि उसी की इच्छा के अनुसार मनुष्य को ऐश्वर्य मिलता है, उस पर विपत्ति आती है, वह भला-बुरा करता है, यदि आदमी केवल ईश्वर की आज्ञा मानने वाला है, तो ईश्वर ही दोषी ठहरता है ॥१९॥ यदि तुम्हारा यह मत...तुम्हारा मत ही ऐसा है ॥२०-२१॥]

इस प्रकार उसने आम की मोंगरी ले, उसी से आम गिराते हुए की तरह ईश्वर के कारण होने की बात से ही ईश्वर के कारण होने के सिद्धान्त का खण्डन कर पूर्व-कृत-वादी को सम्बोधन कर पूछा--"आयुष्मान् ! यदि तू 'पूर्वकृत-वाद' को सत्य मानता है, तो तू ने क्यों मेरा मजाक उड़ाया ?"

बोधिसत्व ने गाथा कही--

सचे पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं निगच्छति,
पोराणकं कतं पापं तं एसो मुच्चते इणं
पोराणकं इणमोक्खो, क्विध पापेन लिप्पति ॥२२॥
सोचे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको,
भोतो च वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥२३॥
अत्तनो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय,
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ॥२४॥

[यदि पूर्वकृत-कर्म के कारण ही सुख-दुख होता है, यदि यहाँ का पाप कर्म पुराने पाप कर्म से ऋणमुक्ति का कारण होता है, तो यहाँ पाप किसे स्पर्श करता है ? ॥२२॥ यदि तुम्हारा यह मत.. तुम्हारा मत ही ऐसा है ॥२३२४॥]

इस प्रकार उसने उसके भी मत का खन्डन कर उच्छेदवादी' को समाने कर पूछा—

"आयुष्मान् ! तू कहता है कि देना-लेना कुछ नहीं होता, यहीं प्राणियों का उच्छेद हो जाता है, कोई पर-लोक नहीं जाता, तो फिर तू किसलिये मेरा मजाक उड़ाता है ?" इस प्रकार उसे ताड़ते हुए बोधिसत्व ने गाथा कही--

चतुन्नं एव उपादाय रूपं सम्भोति पाणिनं,
यतो च रूपं सम्भोति तत्थेव अनुपगच्छति ॥२५॥
इधेव जीवति जीवो पेच्च-पेच्च विनस्सति,
उच्छिज्जति अयं लोको ये बाला ये च पण्डिता
उच्छिज्जमाने लोकस्मिं विवध पापेन लिप्पिति ॥२६॥
सोचे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको,
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥२७॥
अत्तनो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय,
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ॥२८॥

[पृथ्वी आदि चार महाभूतों से ही प्राणियों के रूप की उत्पत्ति होती है। जहाँ से 'रूप' उत्पन्न होता है, वहीं विलीन हो जाता है ।२५॥ जीव यहीं जीता है, परलोक में विनष्ट हो जाता है। पण्डित और मूर्ख सभी का यहीं उच्छेद हो जाता है । यदि ऐसा है तो यहाँ पाप किसे स्पर्श करता है ॥२६॥ यदि तुम्हारा यह मत . . . .तुम्हारा मत ही ऐसा है ॥२७-२८॥]

इस प्रकार उसके भी मत का खण्डन कर उसने क्षत-बिध-वादी' को सम्बोधन किया--"आयुष्मान ! जब तेरा यह मत है कि माता-पिता को भी मारकर अपना स्वार्थ साधना चाहिये, तो तूने क्यों मेरा मजाक उड़ाया" ? बोधिसत्व ने गाथा कही--

आहुखत्तविधा लोके बाला पण्डितमानिनो
मातरं पितरं हञ्ञे अथो जेट्ठं पि भातरं
हनेय्य पुत्ते च दारे च अथो चे तादिसो सिया ॥२९॥

[अपने आप को पण्डित समझने वाले मूर्ख 'क्षत-विद्यों' का कहना है कि माता, पिता और ज्येष्ठ भाई को मार डाले; और वैसा प्रयोजन हो तो पुत्र और स्त्री की भी हत्या कर डाले ।।२९।।]

इस प्रकार उसके मत की स्थापना कर अपने मत को भी प्रकाशित करते हुए कहा--

यस्स रुक्खस्स छायाय निसीदेय्य सयेय्य वा,
न तस्स साखं भञ्जेय्य, मित्तदूभी हि पापको ।।३०।।
अथ अत्थे समुप्पन्ने समूलं अपि अब्बहे,
अत्थो मे सम्बलेनति सुहतो वानरो मया ।।३१।।
सोचे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको,
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ।।३२।।
अत्तनो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय,
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ।।३३।।

[(हमारा मत तो यह है--) जिस वृक्ष की छाया में बैठे अथवा लेटे, उसकी शाखा तक न तोड़े। मित्र-द्रोह पातक है ।।३०।। (और तुम्हारा मत है—) प्रयोजन होने पर जड़ से भी उखाड़ दे। मेरा पाथेय का प्रयोजन हुआ। इसलिये मेरे द्वारा वानर की हत्या ठीक ही हुई है ।।३१।।]

इस प्रकार उसने उसके मत का भी खण्डन कर, उन पाँचों जनों के हत-बुद्धि, हत-प्रभ हो जाने पर राजा को निमंत्रण दे, 'महाराज! आप इन पांच राष्ट्र के महा-लुटेरों को लिये फिरते हैं! आप कितने बड़े मूर्ख हैं! ऐसे आदमियों के संसर्ग से ही आदमी इस लोक तथा परलोक में महान् दुःख अनुभव करता है।" फिर राजा को धर्मोपदेश देते हुए कहा—

अहेतुवादो पुरिसो यो च इस्सरकुत्तिको
पुब्बेकती च उच्छेदी यो च खत्तविधो नरो,
एते असप्पुरिसा लोके बाला पण्डितमानिनो,
करेय्य तादिसो पापं अथो अञ्ञं पि कारये
असप्पुरिससंसग्गो दुक्खन्तो कतुकुद्रयो ।।३४-३५।।

[अहेतुवादी, ईश्वरकर्तृवादी, पूर्वकृतवादी अच्छेदवादी, और क्षत-विष वादी--ये दुनिया में असत्पुरुष हैं जो मूर्ख होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते हैं। यह स्वयं भी वैसा पाप करते हैं तथा दूसरों से भी कराते हैं। असत्पुरुष की संगति दु:ख उत्पन्न करने वाली तथा कड़ुआ फल देने वाली होती है ॥३४-३५॥]

यहाँ उपमा रूप से धर्म-देशना देते हुए कहा--

उरब्भरूपेन वाकासु पुब्बे
असकितो अजयूथं उपेति,
हन्त्वा उराणिं अजियं अजं च
चित्रासयित्वा येन कामं पलेति ॥३६॥
तथाविधेके समणब्राह्मणासे
छदनं कत्वा वञ्चयन्ती मनुस्से,
अनासका थण्डिलसेय्यका च
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं,
परियायभत्तं च अपानकत्तं,
पापाचरा अरहन्तो वदाना ॥३७॥
एते असप्पुरिसा लोके बाला पण्डितमानिनो,
करेय्य तादिसो पापं अथो अञ्ञंपि कारये,
असप्पुरिससंसग्गो दुक्खन्तो कटुकुद्रयो ॥३८॥
याहु नत्थि विरियं ति हेतुञ्च अपवदन्ति,
[ये] परकारं अत्तकारञ्च
ये तुच्छं समवण्णयुं,
एते असप्पुरिसा लोके बाला पण्डितमानिनो,
करेय्य तादिसो पापं अथो अञ्ञंपि कारये,
असप्पुरिसंसग्गो दुक्खन्तो कटुकुद्रयो ॥३९-४०॥
सचे हि विरियं नास्स कम्मं कल्याणपापकं,
न भरे वड्ढकिं राजा न पि यन्तानि कारये ॥४१॥
यस्मा च विरियं अत्थि कम्मं कल्याणपापकं,

तस्मा यन्तानि कारेन्ति राजा भरति वग्ढकि ॥४२॥
यदि वस्ससतं देवो न वस्से न हिमं पते,
उच्छिज्जेय्य अयं लोको विनस्सेय्य अयं पजा ॥४३॥
यस्मा च वस्सती देवो हिमं चानुफुसीयति,
तस्मा सस्सानि पच्चन्ति रट्ठं च पल्लते चिरं ॥४४॥
गवं चे तरमानानं जिम्हं गच्छति पुंगवो,
सब्बा ता जिम्हं गच्छन्ति नेत्ते जिम्हगते सति ॥४५॥
एवमेवं मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो
सो चे अधम्मं चरति पगेव इतरा पजा
सब्बं रट्ठं दुक्खं सेति राजा चे होति अधम्मको ॥४६॥
गवं चे तरमानानं उजुं गच्छति पुंगवो
सब्बा ता उजुं गच्छन्ति नेत्ते उजुगते सति ॥४७॥
एवमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो
सो चेपि धम्मं चरति पगेव इतरा पजा,
सब्बं रट्ठं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको ॥४८॥
महारुक्खस्स फलिनो आमं छिदन्ति यो फलं
रसं चस्स न जानाति बीजं चस्स विनस्सति ॥४९॥
महारुक्खूपमं रट्ठं अधम्मेन यो पसासति,
रसं चस्स न जानाति रट्ठं चस्स विनस्सति ॥५०॥
महारुक्खस्स फलिनो पक्कं छिन्दति यो फलं,
रसं चस्स विजानाति बीजं चस्स न नस्सति ॥५१॥
महारुक्खूपमं रट्ठं धम्मेन यो पसासति
रसं चस्स विजानाति रट्ठं चस्स न नस्सति ॥५२॥
यो च राजा जनपदं अधम्मेन पसासति,
सब्बोसधीहि सो राजा विरुद्धो होति खत्तियो ॥५३॥
तत्थेव नेगमे हिंसं ये युत्ता कयविक्कये,
ओजदानबलीकरे स कोसेन विरुज्झति ॥५४॥
पहारवरखेत्तञ्ञू संगामे कतनिस्समे,
उस्सिते हिंसयं राजा स बलेन विरुज्झति ॥५५॥

तत्थेव इसयो हिंसं सञ्जते ब्रह्मचारयो,
अधम्मचारी खत्तियो सो सग्गेन विरुज्झति ॥५६॥
यो च राजा अधम्मट्ठो भरियं हन्ति अदूसिकं,
लुद्दं पसवते ठानं पुत्तेहि च विरुज्झति ॥५७॥
धम्मं चरे जनपदे नेगमेसु बलेसु च,
इसयो च न हिंसेय्य पुत्तदारे समं चरे ॥५८॥
स तादिसो भूमिपति रट्ठपालो अकोधनो,
सामन्ते सम्पकम्पेति इन्दो व असुराधिपो ॥५९॥

[पूर्व समय में भेड़े से मिलता-जुलता एक भेड़िया था। वह निश्शंक होकर बकरियों के झुण्ड में जा पहुँचता। वहाँ भेड़ों को, बकरियों को तथा बकरों को मार कर और मजे से खाकर (?) जहाँ इच्छा होती वहाँ चला जाता ॥३६॥ इस प्रकार कुछ श्रमण-ब्राह्मण ढोंग करके मनुष्यों को ठगते हैं—कोई अनाचारी बनते हैं, कोई कठोर धरती पर सोने वाले बनते हैं, कोई धूल मैल ओढ़ने वाले बनते हैं, कोई उकड़ूँ ही बैठने वाले बनते हैं, कोई सप्ताह अथवा पन्द्रह दिन में एक बार भोजन करने वाले बनते हैं; कोई निर्जल रहने वाले बनते हैं, कोई पापाचरण करते हुए भी अर्हत बनते हैं,—ये अपने आप को पण्डित समझने वाले मूर्ख लोग असत्पुरुष हैं। ये वैसा पाप-कर्म स्वयं भी करते तथा दूसरों से कराते हैं। असत्पुरुषों की संगति दुःख उत्पन्न करने वाली तथा कड़ुआ फल देने वाली होती है ॥३७-३८॥ जो प्रयत्न को स्वीकार नहीं करते, जो हेतु का भी अपलाप करते हैं, जो स्वार्थ तथा परमार्थ सभी कुछ 'तुच्छ' कहते हैं—ये अपने आपको . . फल देने वाली होती है ॥३९-४०॥ यदि 'प्रयत्न' न हो तो अच्छा-बुरा कर्म भी न हो, तो राजा न बढ़इयों का पोषण करेगा और न यन्त्र बनवायेगा। लेकिन क्योंकि 'प्रयत्न' है और अच्छे-बुरे कर्म भी हैं, इसलिये राजा-गण बढ़इयों का पोषण करते हैं और यन्त्र बनवाते हैं ॥४१-४२॥ यदि सौ वर्ष तक न देव बरसे और न शीत पड़े, तो इस लोक का नाश हो जाय और यह जनता जाती रहे। लेकिन क्योंकि देव बरसता है और शीत भी पड़ता है इसीलिये खेत पकते हैं और प्रजा पलती है ॥४३-४४॥ यदि शीघ्रता से जाने वाली गौओं में बैल टेढ़ा जाता है, तो नेता के टेढ़ा जाने के कारण वे सभी टेढ़ी जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में जो श्रेष्ठ

कहलाता है, तो इतर प्रजा की तो बात ही क्या, यदि वह अधर्म करता है अर्थात् यदि राजा अधार्मिक होता है, तो सारा राष्ट्र दुःखी होता है ॥४५-४६॥ यदि शीघ्रता से जाने वाली गौओं में बैल सीधा जाता है, तो नेता के सीधा जाने के कारण सभी सीधी जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में जो श्रेष्ठ कहलाता है, तो इतर प्रजा की तो बात ही क्या, यदि वह धर्म करता है अर्थात् यदि राजा धार्मिक होता है, तो सारा राष्ट्र सुखी होता है ॥४७-४८॥ जो फलदार महान् वृक्ष के फलों को कच्चा तोड़ता है, वह उनके रस को नहीं जानता और उसका बीज भी नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार महान्-वृक्ष सदृश राष्ट्र का जो अधर्म से शासन करता है, वह उसके रस को भी नहीं जानता है और उसका राष्ट्र भी नष्ट नहीं होता है ॥४९-५०॥ जो फलदार महान् वृक्ष के फलों को पकने पर तोड़ता है, वह उसके रस को भी जानता है और उसका बीज भी नष्ट नहीं होता। उसी प्रकार महान्-वृक्ष सदृश राष्ट्र का जो धर्म से शासन करता है, वह उसके रस को भी जानता है और उसका राष्ट्र भी नष्ट नहीं होता ॥५१-५२॥ जो राजा अधर्म से जनपद का शासन करता है, वह क्षत्रिय राजा सभी औषधियों से विरुद्ध पड़ जाता है ॥५३॥ उसी प्रकार जो राजा निगम के लोगों तथा व्यापारियों को कष्ट देता हुआ शासन करता है, उसे कर तथा बलि न मिलने से उसका कोष खाली हो जाता है ॥५४॥ युद्ध-भूमि के ज्ञाता, महान् योद्धा तथा प्रसिद्ध मन्त्रियों को कष्ट पहुँचाता हुआ जो राजा शासन करता है, वह (सैन्य) बल से क्षीण हो जाता है ॥५५॥ उसी प्रकार ऋषियों को तथा संयत ब्रह्मचारियों को कष्ट पहुँचाने वाला अधार्मिक क्षत्रिय स्वर्ग का अधिकारी नहीं रहता ॥५६॥ जो अधार्मिक राजा निरपराध भार्या की हत्या कराता है, वह नरक में पैदा होता है और उसके पुत्र उससे विरुद्ध हो जाते हैं ॥५७॥ जनपद-वासियों के साथ, निगम-वासियों के साथ तथा सेना के साथ धर्म-पूर्वक आचरण करे; ऋषियों को कष्ट न दे और स्त्री-पुत्र के साथ विषम व्यवहार न करे ॥५८॥ उस तरह का क्रोध रहित राष्ट्र-पालक भूमिपति उसी प्रकार सामान्त (राजाओं) को कंपा देता है, जैसे असुरेन्द्र इन्द्र ॥५९॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने राजा को धर्मोपदेश दे चारों कुमारों को बुला,

उपदेश दे, राजा की करतूत को प्रकाशित कर, कहा—'राजा को क्षमा कर दो" फिर सब को उपदेश दिया—"महाराज ! अब से बिना विचार किये भेड़ पैदा करने वालों के कहने का विश्वास न कर, इस प्रकार का दुस्साहस का काम न करें । कुमारों ! तुम भी राजा से द्वेष न रखो ।" राजा बोला—"भन्ते ! मैंने इनके कहने में आकर आपको तथा देवी के प्रति पाप कर्म किया । इन पाँचों को मरवाता हूँ" "महराज ऐसा नहीं कर सकते ।" "तो इनके हाथ-पाँव कटवा देता हूँ ।" "नहीं महाराज ! यह भी नहीं कर सकते ।" राजा ने "भन्ते ! अच्छा" कह स्वीकार कर उनका सब कुछ हरण कर लिया और सिर मुंड़ा, तोबरा बाँध तथा गोबर छिड़कना आदि अपमान कर देश से निकाल दिया । बोधिसत्व भी वहाँ कुछ दिन रहकर राजा को अप्रमादी रहने का उपदेश दे, हिमालय ही चले गये । वहाँ ध्यान-अभिञ्ञा प्राप्त कर, जीवन भर ब्रह्मविहारों की भावना कर ब्रह्मलोक गामी हुए ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला—"भिक्षुओं, न केवल अभी, शास्ता पहले भी प्रज्ञावान् तथा दूसरों के सिद्धान्त का मरदन करने वाले ही रहे हैं" कह जातक का मेल बैठाया । उस समय के पाँच मिथ्या-दृष्टि वाले पुराण-काश्यप, मक्खलि गोसाल, पबुद्ध कच्चान, अजित केसकम्बली तथा निगण्ठ-नाथ पुत्र हुए, पिङ्गलवर्ण कुत्ता आनन्द था । महाबोध परिब्राजक तो मैं ही था ।

•

साठवाँ परिच्छेद

५२९. सोनक जातक

"कस्स सुत्वा सतं दम्मि. . . ."यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय नैषक्रम्य पारमिता के बारे में कही। उस समय भिक्षु धर्मसभा में बैठे नैषक्रम्य पारमिता का गुणगान कर रहे थे। शास्ता ने उनके बीच में बैठे "भिक्षुओं, न केवल अभी, तथागत ने पहले भी महाभिनिष्क्रमण किया ही है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में राजगृह में मगध नरेश राज्य करता था। बोधिसत्व उसकी पटरानी की कोख से उत्पन्न हुए। नामकरण के दिन नाम रक्खा गया अरिन्द-कुमार। उसके पैदा होने के दिन ही पुरोहित को भी पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया सोनकुमार। वे दोनों साथ-साथ बढ़कर, बड़े होने पर समान रूप से श्रीवान् हुए। रूप में दोनों बराबर होकर तक्षशिला गये और शिल्प सीखा। वहाँ से निकल 'सभी मत, शिल्प तथा देश-व्यवहार जानने के लिये' क्रमशः चलते-चलते वाराणसी पहुँच, राजोद्यान में रह, अगले दिन नगर में प्रविष्ट हुए। उस दिन कुछ आदमियों ने "ब्राह्मण-पाठ" कराने के लिये खीर तैयार की और आसन बिछाकर जाते समय उन कुमारों को देखा। उन्होंने कुमारों को घर लिवा लाकर आसनों पर बिठाया। बोधिसत्व जिस आसन पर बैठे थे, वहाँ श्वेत वस्त्र बिछा था और सोनक के आसन पर रक्त-वर्ण कम्बल। उसी लक्षण से उसने जाना कि "आज मेरा प्रिय मित्र अरिन्दमकुमार वाराणसी-नरेश होगा और मुझे वह सेनापति का पद देगा।" वे दोनों भोजनानन्तर उद्यान ही लौट आये।

उस समय वाराणसी-नरेश को मरे सात दिन हुए थे। राज-कुल पुत्र-रहित था। अमात्य आदि ने सिर से स्नान किया और इकठ्ठे होकर स्वयं-चालित पुष्यरथ छोड़ा कि यह राज्य के अधिकारी के पास जाकर रुकेगा। वह नगर से निकल क्रमशः उद्यान जा, उद्यान-द्वार पर रुक, आरोहण के लिये सज्जित होकर खड़ा हो गया। बोधिसत्व मङ्गल-शिला-पट पर सिर ढके पड़ा था। सोनक कुमार उसके पास बैठा था। उसने संगीत-ध्वनि सुन सोचा--"अरिन्दम के लिये पुष्यरथ आ रहा है। आज यह स्वयं राजा होकर मुझे सेनापति बनायेगा। मुझे ऐश्वर्य्य की आवश्यकता नहीं है। इसके चले जाने पर निकल कर प्रव्रजित होऊँगा।" इस विचार से वह छिपकर एक ओर खड़ा हो गया।

पुरोहित ने उद्यान में प्रवेश किया तो बोधिसत्व को लेटे देख बाजा रोक दिया। बोधिसत्व जगा, करवट ली, थोड़ा लेटा और फिर उठकर शिला-पट्ट पर पालथी मारकर बैठा। पुरोहित ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—"देव! राज्य आपका है?"

"क्या राज्य-कुल पुत्र-रहित है?"

"देव! हाँ।"

"तो, अच्छा।"

उन्होंने वहीं उसका अभिषेक किया, रथ पर बिठाया और बड़े ठाट-बाट से नगर में ले गये। उसने नगर की प्रदक्षिणा की और महल पर जा चढ़ा। ऐश्वर्य्य की महानता में उसे सोनक-कुमार याद ही नहीं आया। उसके नगर में चले जाने पर वह भी आकर शिला-पट्ट पर बैठा। उसके सामने ही बन्धन से मुक्त होकर शाल का एक सूखा पत्ता गिरा। वह उसे देखते ही सोचने लगा—"जैसे यह है, उसी प्रकार मेरा शरीर भी जरा को प्राप्त होकर गिर पड़ेगा।" इस प्रकार उसने अनित्यता आदि पर गहरा विचार कर प्रत्येक-बुद्धत्व लाभ किया। उसी क्षण उसका गृहस्थ-वेष अन्तर्धान हो गया। प्रव्रजित रूप प्रकट हुआ। वह "अब पुनर्जन्म नहीं है" उल्लास-वाक्य कहते हुए नन्द-मूलक पर्वत पहुँचा।

बोधिसत्व को भी चालीस वर्ष के बाद याद आया—"मेरा मित्र सोनक कहाँ है?" बार-बार याद करने पर भी जब उसे कोई यह कहने वाला नहीं मिला कि "मैंने सुना है, वा देखा है", तो अलङ्कृत महातल्ले पर राज-सिंहासन पर बैठे-बैठे गन्धर्व, नट, नर्तकी आदि से घिरे हुए, ऐश्वर्य्य का

अनुभव करते हुए उसने 'जो मुझे किसी से सुनकर कहेगा कि अमुक जगह सोनक रहता है, उसे सौ दूंगा, जो स्वयं देख कर कहेगा, उसे हजार दूंगा', की घोषणा करने के लिए एक उल्लासपूर्ण गीत की रचना कर पहली गाथा कही--

> कस्स सुत्वा सतं दम्मि सहस्सं दट्ठु सोनकं,
> कोमे सोनकं अक्खाति सहायं पंसुकीळितं ॥१॥

[किसी से सुनकर कहने वाले को सौ दूंगा, स्वयं देखकर कहने वाले को हजार दूंगा। कौन है जो मुझे मेरे लँगोटिया-यार सोनक का समाचार देगा ? ॥१॥]

उसके मुंह से छीन लेते हुए की तरह एक नर्तकी उस गीत को लेकर गाने लगी। उस से दूसरी। "यह हमारे राजा का प्रिय गीत है" मान सारा रनिवास गाने लगा। क्रमशः नगरवासी तथा जनपद वासी भी उसी गीत को गाने लगे। राजा भी बार-बार उसी गीत को गाता। पचास वर्ष बीतने पर उसके बहुत से बेटा-बेटी हो गये। ज्येष्ठ पुत्र का नाम दीघायु-कुमा था।

तब सोनक प्रत्येक-बुद्ध ने सोचा—"अरिन्दम राजा मुझे देखना चाहता है। जाता हूँ, इसे काम-भोगों की सदोषता और नैष्कम्य का महात्म्य समझाकर प्रव्रज्या की ओर झुकाता हूं।" वह ऋद्धि-बल से आकर उद्यान में बैठ गया।

उस समय पाँच चोटियों वाला एव सप्तवर्षीय कुमार माता की आज्ञा से उद्यान के उपवन में लकड़ियाँ बटोरता हुरा बारबार वही गीत गाता था। प्रत्येक-बुद्ध ने उसे बुलाकर पूछा--"कुमार ! तू और गीत न गाकर केवल एक ही गाता है, क्या और भी गीत जानता है ?"

"भन्ते ! जानता हूँ, किन्तु हमारे राजा का यह प्रिय गीत है, इसलिये इसे ही बार-बार गाता हूँ।"

"क्या तुझे इस गीत के मुकाबले का गीत गाने वाला कोई मिला ?"

"भन्ते ! नहीं मिला।"

"मैं तुझे सिखा दूंगा। क्या तू राजा के सामने जाकर मुकाबले का गीत गा सकेगा ?"

"भन्ते ! हाँ !"

उसने उसे मुकाबले का गीत सिखाते हुए "महह्यं सुत्वा..."सिखाया।

सिखाकर उसे बिदा किया—"कुमार जा ! राजा के साथ यह प्रति-गीत गा। राजा तुझे बहुत ऐश्वर्य्य देगा। तुझे लकड़ियों से क्या? शीघ्र जा।"

उसने 'अच्छा' कह उस प्रति-गीत को सीखा और प्रणाम कर बोला—"भन्ते ! मैं जब तक राजा को लेकर आता हूँ, तब तक आप यहीं रहें।" यह कह, शीघ्रता से माँ के पास पहुँचा और बोला—'माँ, मुझे शीघ्र स्नान कराकर अलंकृत कर। आज मैं तुझे दरिद्रता से मुक्त करूँगा।" इस प्रकार वह स्नान कर सज-सजा कर राज-द्वार पर पहुँचा और बोला—"आर्य द्वारपाल ! राजा को जाकर सूचना दे कि एक बालक द्वार पर खड़ा है और कहता है कि तुम्हारे साथ गाऊँगा।" उसने तुरन्त जाकर सूचित किया। राजा ने बुला भेजा और पूछा—

"तात ! तू मेरे साथ गीत गायेगा।"

"देव ! हाँ।"

"तो गा।"

"देव ! यहाँ नहीं गाऊँगा। नगर में मुनादी कराकर जनता को इकट्ठा करें। जनता के बीच गाऊँगा।"

राजा ने बैसाकर, अलंकृत मण्डप के नीचे सिंहासन पर बैठ उसके अनुरूप आसन दिला कर कहा—

"अब अपना गीत गा।"

"देव ! पहले आप गीत गायें, तब मैं प्रति-गीत गाऊँगा।"

तब राजा ने पहले गाते हुए यह गाथा कही—

> कस्स सुत्वा सतं दम्मि सहस्सं दट्ठू सोनकं
> कोमे सोनकं अक्खाति सहायं पंसुकीळितं ॥१॥

[अर्थ ऊपर आ गया है।]

इस प्रकार जब राजा ने पहली उदान-गाथा कही तो, पाँच चोटी वाले लड़के द्वारा कही गई प्रति-गाथा को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने अभिसम्बुद्ध हो, दो पद कहे—

अथ ब्रवी माणवको दहरो पञ्चचूळको
मय्हं सुत्वा सतं देहि सहस्सं दट्ठु सोनकं,
अहं सोनकं आक्खिस्सं सहायं पसुकीलितं ॥२॥

[पाँच चोटी वाला छोटा ब्रह्मचारी बोला—"मुझे सुनने वाले को सौ दे और मुझे देखने वाले को हजार दे। मैं तेरे लंगोटिया-यार सोनक को तुझे बता दूँगा ॥८॥

आगे की सम्बन्ध गाथायें पालि-क्रमानुसार ही है। राजा बोला—

कतरस्मिं (सो) जनपदे रट्ठेसु निगमेसु च
कत्थ ते सोनको दिट्ठो तं मे अक्खाहि पुच्छितो ॥३॥

[मैं तुझसे पूछता हूँ। मुझे बता कि तूने सोनक को किस जनपद में, किस राष्ट्र में, किस निगम में कहाँ देखा? ॥३॥]

लड़का--

तवेव देव विजिते तवेव उय्यान भूमिया
उजुवंसा महासाला निलोभासा मनोरमा ॥४॥
तिट्ठन्ति मेघसमोना रम्मा अञ्ञोञ्ञनिस्सिता
तेसं मूलस्मिं सोनको आयति अनुपादानो,
उपादानेसु लोकेसु उय्हमानेसु निब्बुतो ॥५॥

[राजन्! तेरे ही प्रदेश में, तेरे ही उद्यान में सीधे, बड़े-बड़े, नील-वर्ण-मेघों के समान परस्पर-आश्रित रमणीय मेघ खड़े हैं। उन्हीं के नीचे बैठा सोनक उपादान-रहित हो ध्यान करता है। जलते हुए उपादान लोकों में वह शान्त हो गया है ॥५॥]

ततो च राजा पायासि सेनाय चतुरंगिया
कारापेत्वा समं मग्गं अगमा येन सोनको ॥६॥
उद्यानभूमिं गन्त्वान विचरन्तो ब्रहावने
आसीनं सोनकं दक्खि डय्हमानेसु निब्बुतं ॥७॥

[तब चतुरंगिनी सेना सहित राजा वहाँ से निकला और रास्ता बराबर

कराकर जहाँ सोनक था वहाँ पहुँचा ॥६॥ उद्यान-भूमि में पहुँच उस महान् वन में विचरते हुए उसने जलते हुए लोक में शान्त हुए सोनक को बैठे देखा ॥७॥]

राजा सोचने लगा--

कपणो वत अयं भिक्खु मुण्डो संघाटिपारुतो
अमातिको अपीतिको रुक्खमूलस्मिं झायति ॥८॥

[यह सिरमुण्डा, संघाटी धारण किये, मातृ-हीन, पितृ-हीन विचारा भिक्षु पेड़ के नीचे ध्यान कर रहा है ॥८॥

इमं वाक्यं निसामेत्वा सोनको एतद् अब्रवी
न राजा कपणो होति धम्मं कायेन फस्सयं ॥९॥
यो च धम्मं निरंकत्वा अधम्मं अनुवत्तति
स राजा कपणो होति पापो पापपरायनो ॥१०॥

[यह वाक्य सुन सोनक बोला—राजा जो धर्म को शरीर से स्पर्श करता है, वह विचारा नहीं होता । जो धर्म का बहिष्कार करके अधर्मानुसार चलता हैं, वह पाप-मार्गी 'विचारा' होता है ॥९-१०॥]

इस प्रकार उसने बोधिसत्व की निन्दा की । उसने अपने निन्दा किये जाने को जानते हुए की तरह, अपना नाम-गोत्र सुना उसका कुशल-क्षेम पूछते हुए गाथा कही—

अरिन्दमो ति मे नामं, कासिराजा ति मं विदू
कच्चि भोतो सुखा सेय्या, इधपत्तस्स सोनक ॥११॥

[मेरा नाम अरिन्दम है । मुझे काशी-नरेश जानें । सोनक । ! यहाँ रहते आप सुखपूर्वक तो रहते हैं ? ॥११॥]

तब प्रत्येक-बुद्ध ने उसे "महाराज ! न केवल यहाँ, किन्तु अन्यत्र भी रहते समय मुझे असुविधा नहीं है", कह श्रमण-भद्र गाथायें कहीं--

सदापि भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
न तेसं कोटठे उपेन्ति न कुम्भे न कळोपिया,
परनिट्ठितं एसाना तेन यापेन्ति सुब्बता ॥१२॥

दुतियं पि भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
अनवज्जो पिण्डो भोतब्बो न च कोचुपरोधति ॥१३॥
ततियं पि भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
निब्बुतो पिण्डो भोतब्बो न च कोचुपरोधति ॥१४॥
चतुत्थं भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
मुत्तस्स रट्ठे चरतो संगो यस्स न विज्जति ॥१५॥
पंचमं भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
नगरम्हि डय्हमानम्हि नास्स किञ्चि अडय्हथ ॥१६॥
छट्ठं भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
रट्ठे विलुम्पमानम्हि नास्स किंचि अहीरथ ॥१७॥
सत्तमं भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
चोरेहि रक्खितं मग्गं ये च अञ्ञे पारिपंथिका
पत्तचीवरं आदाय सोत्थि गच्छन्ति सुब्बता ॥१८॥
अट्ठमं भद्रं अधनस्स अनागारस्स भिक्खुनो
यं यं दिसं पक्कमति अनपेक्खो व गच्छति ॥१९॥

[अकिञ्चन अनागरिक भिक्षु को सदैव ही आनन्द रहता है, न उनके कोठों में धन-धान्य रहता है, न घड़ों में और न टोकरियों में। उनका भिक्षाचार दूसरों पर निर्भर करता है और सुव्रत लोग उसी से जीवन-यापन करते हैं ॥१२॥ अकिञ्चन अनागरिक भिक्षु के लिए जो दूसरी आनन्द की बात है, वह यह है कि वह निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है और उसे कोई चित्त-मैल कष्ट नहीं देता ॥१३॥ अकिञ्चन अनागरिक भिक्षु के लिए जो तीसरी आनन्द की बात है वह यह है कि शान्त भिक्षा ग्रहण करता है और उसे कोई चित्त-मैल कष्ट नहीं देता ॥१४॥ अकिञ्चन अनागरिक भिक्षु के लिए जो चौथी आनन्द की बात है, वह यह है कि वह मुक्त होकर राष्ट्र में विचरता है और आसक्ति-रहित रहता है ॥१५॥ अकिञ्चन अनागरिक भिक्षु के लिए जो पाँचवीं आनन्द की बात है वह यह कि यदि नगर में आग भी लग जाय तो उसका कुछ नहीं जलता ॥१६॥ अकिञ्चन अनागरिक भिक्षु के लिए जो छठी आनन्द की बात है वह यह कि यदि सारा राष्ट्र लूटा जा रहा हो, तो भी उसका कुछ नहीं लूटा जा सकता ॥१७॥ अकिञ्चन

अनागरिक भिक्षु के लिए जो सातवीं आनन्द की बात है वह यह है कि चोरों तथा अन्य मार्ग चलने में बाधा डालने वाले लोगों के रहते हुए भी वह सुव्रती सकुशल जाता है ।।१८।। अकिञ्चन अनागरिक भिक्षु के लिए जो आठवीं आनन्द की बात है वह यह है कि वह जिधर-जिधर चाहता है, बिना किसी अपेक्षा के जा सकता है ।।१९।।]

इस प्रकार सौनक प्रत्येक बुद्ध ने आठ श्रमण-भद्र बातें कहीं । इससे आगे वह सौ भी, हजार भी अपरिमित श्रवण-भद्र बातें कह ही सकता था । राजा ने अपनी काम-भोग सम्बन्धी आसक्ति के कारण उसे बीच में से रोक दिया और बोला—"मुझे श्रमण-भद्र बातों को अपेक्षा नहीं ?" वह अपनी काम-भोग सम्बन्धी आसक्ति को प्रकट करता हुआ बोला—

बहू पि भद्रका एते यो त्वं भिक्खु पसंससि
अहं च गिद्धो कामेसु कथं काहामि सोनक ।।२०।।
पियो मे मानुसा कामा अथवा दिब्यापि मे पिया
अथ केन नु वण्णेन उभो लोके लभामसे ।।२१।।

[हे भिक्षु ! जिन भद्र बातों की तू प्रशंसा करता है, वे बहुत हैं । किन्तु मैं तो कामभोगों में आसक्त हूँ, हे सोनक मैं ! क्या करूँ ? ।।२०।। मुझे मनुष्य लोक के काम-भोग प्रिय हैं और मुझे दिव्य-लोक के काम-भोग भी प्रिय हैं । मैं किस प्रकार दोनों लोकों को प्राप्त करूँ ? ।।२१।।]

प्रत्येक बुद्ध ने उत्तर दिया—

कामेसु गिद्धा कामरता कामेसु अधिमुच्छिता
नरा पापानि कत्वान उपपज्जन्ति दुग्गत्ति ।।२२।।
ये च कामे पहत्वान निक्खन्ता अकुतोभया
एकोदिभावादिगता न ते गच्छन्ति दुग्गतिं ।।२३।।
उपमं ते करिस्ससि, तं सुणोहि अरिन्दम
उपमाय पिध एकच्चे अत्थं जानन्ति पण्डिता ।।२४।।
गंगाय कुणपं दिस्वा वुहमानं महाण्णवे
वायसो समचिन्तेसि अप्पपञ्ञो अचेतसो ।।२५।।

यानञ्च वत इदं लद्धं भक्खो चाय अनप्पको
तत्थ रत्तिं तत्थ दिवा तत्थ एव निरतो मनो ॥२६॥
खादं नागस्स मंसानि पियं भागीरसोदकं
सम्पस्सं वनचेत्यानि न पालित्थ विहंगमो ॥२७॥
तं व ओतरणी गंगा पमत्तं कुणपे रतं
समुद्दं अज्झगाहयि अगति यत्थ पक्खिनं ॥२८॥
सो च भक्खपरिक्खीणो उदापत्वा विहंगमो
न पच्छतो न पुरतो नुत्तरं नो पि दक्खिणं ॥२९॥
दीपं सो न अज्झगच्छि अगति यत्थ पक्खिनं
सो च तथेव पापत्थ यथा दुब्बलको तथा ॥३०॥
तञ्च सामुद्दिका मच्छा कुम्भीला मकरा सुसू
पसय्हकारा खादिंसु फंदमानं विपक्खिनं ॥३१॥
एवमेव तुवं राज ये च अञ्जे कामभोगिनो
गिद्धा चे न वमिस्सन्ति काक पञ्जाय ने विदू ॥३२॥
एसा ते उपमा राज अत्थसंदस्सनी कता
त्वं च पञ्ञायसे तेन यदि काहसि वा न वा ॥३३॥

[काम-भोगों में आसक्त, काम-भोगों में अनुरक्त तथा काम-भोगों में मूर्च्छित प्राणी पाप-कर्म करके दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥२२॥ जो काम-भोगों को त्याग, निकलकर, भय रहित तथा एकाग्रचित होकर विचरते हैं, वे दुर्गति को प्राप्त नहीं होते ॥२३॥ हे अरिन्दम ! सुन ! मैं तुझे एक उपमा देता हूँ। कुछ पण्डित लोग उपमा से भी समझ जाते हैं ॥२४॥ गंगा में एक हाथी की लाश महासमुद्र की ओर बही चली जा रही थी। उसे देख एक मूर्ख बुद्धिहीन कौआ सोचने लगा ॥२५॥ "यह मुझे एक यान मिल गया और मेरे लिये यह खाना भी बहुत है।" वह रात दिन वहीं रहने लगा और उसी में उसका मन रम गया ॥२६॥ हाथी का माँस खाता हुआ और गंगा-जल पीता हुआ तथा वन-चैत्यों को देखता हुआ वह कौआ वहाँ से उड़ा नहीं ॥२७॥ समुद्राभिमुखी गंगा (हाथी का मांस खाने में) अनुरक्त उस कौवे को समुद्र में बहा ले गयी, जहाँ पक्षियों की कोई गति नहीं ॥२८॥ वह

भोजन-हीन हो गया और पानी में गिरा। उसे न पीछे, न आगे, न पूर्व दिशा में और न उत्तर दिशा में कहीं कोई द्वीप नहीं मिला। वह दुर्बल प्राणी की तरह वहीं गिर पड़ा, जहाँ पक्षियों की कोई गति नहीं ॥२९-३०॥ उस तड़पते हुए पक्षी को समुद्र के मच्छ, मगर-मच्छ, मकर तथा सोंस (?) काबू करके खा गये ॥३१॥ हे राजन् ! इसी प्रकार तूं तथा अन्य जितने भी काम-भोगी हैं, यदि वह काम-भोगों को छोड़ते नहीं हैं, तो वे उस कौवे के ही समान हैं ॥३२॥ हे महाराज ! मैंने अर्थ को प्रकाशित करने वाली उपमा कही। अब यदि तूं इसके अनुसार करेगा तो तूं (देव-लोक में) उत्पन्न होगा, नहीं करेगा तो (नरक में) उत्पन्न होगा ॥३३॥]

इस प्रकार उसने इस उपमा से उपदेश दे, अब उसी उपदेश को स्थिर कर प्रतिष्ठित करते हुए गाथा कही—

एक वाचं पि द्वेवाचं भणेय्य अनुकम्पको
तदुत्तरिं न भासेय्य दासो अयिरस्स सन्तिके ॥३४॥

[अनुकम्पक को चाहिए कि एक या दो बात कहे। उससे अधिक न बोले। (क्योंकि वैसा करने वाला) मालिक के सामने बोलने वाले दास के समान होता है ॥३४॥]

यह सम्बुद्ध-गाथा है—

इदं वत्वान पक्कामि सोनको अमितबुद्धिमा
वेहासे अन्तलिक्खस्मिं अनुसासित्वान खत्तियं ॥३५॥

[अनन्त-बुद्धिमान् सोनक यह कहकर और इस प्रकार क्षत्रिय को अनुशासित कर; अन्तरिक्ष में चला गया ॥३५॥]

बोधिसत्व ने भी आकाश-मार्ग से जाते देख, जब तक वह दिखायी दिया तब तक खड़े देखते रहकर, उसके आँख से ओझल होने पर, मन में संवेग उत्पन्न कर सोचा—"यह ब्राह्मण हीन जन्मा होकर भी मुझ शुद्ध क्षत्रिय-वंश के सिर पर अपने पैरों की धूलि डालता हुआ आकाश में उछल कर गया है। मुझे भी आज ही निकल कर प्रव्रजित होना चाहिए।" उसने राज्य सौंप प्रव्रजित होने की इच्छा से दो गाथाएँ कहीं—

को नु मे राजकत्तारो, सूता वेय्यत्ति आगंता
रज्जं निय्यादयिस्सामि, नाहं रज्जेन-मत्थिको ॥३६॥
अज्जेव पब्बजिस्सामि को जञ्ञा मरणं सुवे
माहं काको व दुम्मेघो कामानं वसं अन्नगा ॥३७॥

[राज्याभिषेक का संस्कार करने वाले सूत तथा अन्य मेरे लोग कहाँ हैं ? मैं राज्य सौंपूंगा, मुझे राज्य की अपेक्षा नहीं ॥३६॥ मैं आज ही प्रव्रजित होऊँगा । कौन जानता है कि कल मरना हो । मैं मूर्ख कौवे की तरह काम-भोगों के वशीभूत न रहूँ ॥३७॥]

इस प्रकार जब अमात्यों ने सुना कि राजा राज्य त्याग रहा है, तो वे बोले—

अत्थि ते दहरो पुत्तो, दीघायु रट्ठवड्ढनो
तं रज्जेअभिसिञ्चस्सु, सोनो राजा भविस्सति ॥३८॥

[तेरा दीर्घायु नामक छोटा पुत्र राज्य की वृद्धि करने वाला है। उसका राज्याभिषेक करें। यह हमारा राजा होगा ॥३८॥]

इससे आगे राजा द्वारा कही गयी गाथा से आरम्भ करके शेष स्पष्ट-सम्बन्ध गाथाएँ पालिक्रम से ही जाननी चाहिए।

खिप्पं कुमारं आनेथ, दीघायुं रट्ठवड्ढनं
तं रज्जे अभिसिञ्चस्सु, सो वो राजा भविस्सति ॥३९॥

[राष्ट्र वर्धन दीर्घायु कुमार को शीघ्र लाओ। उसका राज्याभिषेक करो। वह राजा होगा ॥३९॥]

ततो कुमारं आनेसुं, दीघायुं रट्ठवड्ढन
तं दिस्वा आलपि राजा, एकपुत्तं मनोरमं ॥४०॥
सट्ठि गाम सहस्सानि, परिपुञ्ञानि सब्बसो
ते पुत्त पटिपज्जस्तु, रज्जं नियादयामि ते ॥४१॥
अज्जेव पब्बजिस्सामि, को जञ्जा मरणं सुवे
माहं काकोव दुम्मेघो, कामानं वसं अन्नगा ॥४२॥

[तब राष्ट्रवर्धन दीर्घायु कुमार को लाया गया। उस सुन्दर इकलौते पुत्र को देख राजा बोला—"सभी दृष्टियों से परिपूर्ण साठ हजार ग्राम हैं। हे पुत्र ! इन्हें। संभाल। मैं तुझे राज्य सौंपता हूँ ॥४०-४१॥ मैं आज ही प्रव्रजित होऊँगा. . . वशीभूत न रहूँ ॥४२॥

सट्ठिनागसहस्सानि, सब्बालंकारभूसिता
सुवण्णकच्छा मातंगा, हेमकप्पनवाससा ॥४३॥
आरुळहा गामणीयेहि, तोमरं कुसपाणिहि
ते पुत्त पटिपज्जस्सु, रज्जं निय्यादयामि ते ॥४४॥
अज्जेव.. ॥४५॥

[सब अलंकारों से विभूषित, स्वर्ण की हमेल वाले, सुनहरी वस्त्र वाले साठ हजार नाग हैं, जिन पर तोमर तथा अंकुशों वाले ग्रामणी चढ़े हैं। हे पुत्र ! इन्हें संभाल। मैं तुझे राज्य सौंपता हूँ ॥४३-४४॥ मैं आज ही प्रव्रजित होऊँगा. . .वशीभूत न रहूं ॥४५॥]

सट्ठिअस्ससहस्साति, सब्बालंकारभूसिता
अजानीया व जातिया, सिन्धवा सीघवाहिनो ॥४६॥
आरुळहा गामनीयेहि, इल्लियाचाधारिहि—
ते पुत्त पटिपज्जस्सु, रज्जं निय्यामि ते ॥४७॥
अज्जेव.. ॥४८॥

[सब अलंकारों से विभूषित, श्रेष्ठ, जाति से सैंधव, शीघ्रगामी साठ हजार घोड़े हैं, जिन पर इल्लिय तथा चाप-आयुध-धारी ग्रामणी चढ़े हैं। हे पुत्र ! इन्हें संभाल। मैं आज तुझे राज्य सौंपता हूँ ॥४६-४७॥ मैं आज ही प्रव्रजित होऊँगा. . .वशीभूत न रहूँ ॥४८॥]

सट्ठि रथसहस्सानि, सन्नद्धा उस्सितद्धजा
दीपा अथो पि वेय्यग्घा सब्बालंकारभूसिता ॥४९॥
आरुकळहा गामणीयेहि, चापहत्थेहिव म्मिहि
ते पुत्त पटिपज्जस्सु, रज्जं निय्यादयामि ते ॥५०॥
अज्जेव.. ॥५१॥

[सज्जित, ध्वजा-युक्त- चीते और व्याघ्र के चर्म वाले, सभी अलंकारों से युक्त साठ हजार रथ हैं, जिन पर हाथों में धनुष लिये, कवचधारी ग्रामणी बैठे हैं। हे पुत्र ! इन्हें सँभाल। मैं तुझे राज्य सौंपता हूँ ॥४९-५०॥ मैं आज ही प्रव्रजित होऊँगा.. वशीभूत न रहूँ ॥५१॥]

सट्ठि धेनुसहस्सानि, रोहञ्ञा पुङ्गवूसभा
ते पुत्त पटिपज्जस्सु, रज्जं निय्यादयामि ते ॥५२॥
अज्जेव.............................॥५३॥

[वृषभों के सहित, रक्तवर्ण साठ हजार गौवें हैं। हे पुत्र ! इन्हें सँभाल। मैं तुझे राज्य सौंपता हूँ ॥५२॥ मैं आज ही प्रव्रजित होऊँगा...वशीभूत न रहूँ ॥५३॥]

सोळसइत्थिसहस्सानि सब्बालंकारभूसिता
विचित्र हत्थाभरणा, आमुत्त मणिकुण्डला--
ता पुत्त पटिपज्जस्सु, रज्जं निय्यादयामिते ॥५४॥
अज्जेव.............................॥५५॥

[सुन्दर हस्ताभूषणों वाली, मोतियों तथा मणि-कुण्डलों वाली, सभी अलंकारों से विभूषित साठ हजार स्त्रियाँ हैं। हे पुत्र इन्हें सँभाल। मैं तुझे राज्य सौंपता हूँ ॥५४॥ मैं आज ही प्रव्रजित होऊँगा...वशीभूत न रहूँ ॥५५॥]

कुमार—

दहरस्सेव मे तात, माता मता ति मे सुतं
तया बिना अहं तात, जीवितुं हि न उस्सहे ॥५६॥
यथा आरञ्ञकं नागं, पोतो अन्वेति पच्छतो
जेस्सन्तं गिरिदुग्गेसु, समेसु विसमेसु च ॥५७॥
एवं नं अनुगच्छामि, पत्तं आदाय पच्छतो
सुभरो ते भविस्सामि, न ते हेस्सामि दुब्भरो ॥५८॥

[तात ! मैंने सुना था कि जब मैं बच्चा था, तभी मेरी माता मर गयी। हे तात ! तेरे बिना मैं जीने की ही इच्छा नहीं करता ॥५६॥ जिस प्रकार जंगली हाथी का बच्चा गिरि, गुफा, सम-विषम स्थल में सभी जगह जाने पर हाथी के पीछे-पीछे ही जाता है, इसी प्रकार मैं तेरा (भिक्षा-) पात्र लेकर पीछे-पीछे चलूंगा। मैं दूभर नहीं होऊँगा। सुभर ही रहूँगा ॥५७-५८॥]

राजा—

यथा सामुद्दिकं नावं, वाणिजानं धनेसिनं
बोहारो तत्थ गण्हेय्य, वाणिजा व्यसनी सिया ॥५९॥
एवमेवायं पुत्तकलि, अन्तरायकरो ममं
इमं कुमारं पापेथ, पासादं रतिवद्धनं ॥६०॥
तत्व कम्बुस्स हत्थायो, यथा सक्कं व अच्छरा
ता नं तत्थ रमेस्सन्ति, ताहि मेसो रमिस्सति ॥६१॥

[जैसे धन की खोज में निकले व्यापारियों की, समुद्र में जाने वाली नौका को जल-राक्षस पकड़ ले तो वे दुःख को प्राप्त हों। इस प्रकार यह पुत्र-बन्धन मेरे मार्ग में बाधक है। इस रति-वर्धन कुमार को महल पर ले जाओ। वहाँ स्वर्णाभरण युक्त-हाथों वाली स्त्रियाँ वैसे ही इसका दिल बहलायेंगी जैसे अप्सराएँ शक्र का, और यह भी उनके साथ रमेगा ॥५९-६१॥]

ततो कुमारं पापेसुं, पासादं रतिवद्धनं
तं दिस्वा अवचुं कञ्ञा, दीघायुं रट्ठद्धनं ॥६२॥

[तब उस रतिवर्धन कुमार को (अभिषेक के बाद) प्रासाद पहुँचा दिया गया। उस दीर्घायु राष्ट्रवर्धन को देख कर वे कन्यायें इस प्रकार बोलीं ॥६२॥]

देवता नु सि गन्धब्बो, आदु सक्को पुरिंददो
को वा त्वं कस्स वा पुत्तो, कथं जानेमुतंमयं ॥६३॥

[तू देवता है, गन्धर्व है, अथवा पुरेन्द्र शक्र है? तू कौन है और किसका पुत्र है? हम तुझे किस प्रकार जानें ॥६३॥]

राज्यभिषिक्त कुमार—

नम्हि देवो न गन्धब्बो, न पि सक्को पुरिंददो
कासिरञ्ञो अहं पुत्तो, दीघायु रट्ठवड्ढनो ॥६४॥

[न मैं देवता हूँ, न गन्धर्व हूँ और न पुरेन्द्र शक्र हूँ। मैं काशीराज का राष्ट्रवर्धन करने वाला दीर्घायु नाम का पुत्र हूँ ॥६४॥]

मम भरथ, भद्दं वो अहं भत्ता भवामि वो

[मेरी इच्छा करो, तुम्हारा भला हो, मैं तुम्हारा मालिक होता हूँ ॥६५॥]

तं तत्थ अवचुं कञ्ञा, दीघायुं रट्ठवड्ढनं

[उस राष्ट्र-वर्धन दीर्घायु से वे कन्यायें बोलीं ॥६५॥]

कुहिं राजा अनुपत्तो, इतो राजा कुहिं गतो ॥६५॥

[राजा कहाँ पहुँचा, यहाँ से राजा कहाँ गया ? ॥६५॥

पङ्कं राजा अतिक्कन्तो थले राजा पतिट्ठितो
अकण्टकं अगहनं, पटिपन्नो महापथं ॥६६॥
अहं च पटिपन्नोस्मि, मग्गं दुग्गतिगामिनं
सकण्टकं सगहनं, येन गच्छामि दुग्गतिं ॥६७॥

[राजा कीचड़ में से निकल कर स्थल पर प्रतिष्ठित हो गया । वह कण्टक-रहित, खुले महापन्थ का पथिक हो गया । ॥६६॥ मैं दुर्गम मार्ग का राही हो गया, जो कण्टकाकीर्ण है, जो गहन है, जिससे दुर्गति को प्राप्त होऊँगा ॥६७॥]

कन्यायें—

तस्स ते सागतं राज, सीहस्सेव गिरिब्बजं
अनुसास महाराज, त्वं नो सब्बासं इस्सरो ॥६८॥

[राजन् [जिस प्रकार गिरि-गह्वर में सिंह का स्वागत होता है, उसी प्रकार तुम्हारा स्वागत है । हे महाराज ! हमें आज्ञा करें । आप हम सबके 'ईश्वर' हैं ॥६८॥]

यह कह उन सभी ने बाजों को ग्रहण किया । नाना प्रकार का नृत्य-संगीत हुआ । महान् ऐश्वर्य्य हुआ । ऐश्वर्य्य में भूलकर उसे पिता याद नहीं आया । किन्तु वह धर्मानुसार राज्य कर यथाकर्म परलोक सिधारा ।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, भिक्षुओं, न केवल अभी पहले भी तथागत ने महान् अभिनिष्क्रमण किया ही है" कहाँ, जातक का मेल बैठाया ।

उस समय प्रत्येक-बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया । पुत्र राहुल-कुमार हुआ । अरिन्दम राजा तो मैं ही था ।

⊙

५३०. संकिच्च जातक

"दिस्वा निसिन्नं राजानं. . . ." यह शास्ता ने जीवक के आम्रवन में बिहार करते समय अजातशत्रु के पितृघात कर्म के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उसने देवदत्त के लिए, उसके कहने में आकर, पिता को मरवा दिया था। फिर उसने सुना कि देवदत्त का संघ बिखर गया और रोग उत्पन्न हो गया। तब वह तथागत से क्षमा माँगने के लिए डोली में बैठकर श्रावस्ती गया। जाते समय जेत-वन द्वार पर उसका पृथ्वी-प्रवेश हुआ। यह सुना तो उसके मन में भी भय उत्पन्न हुआ—"देवदत्त सम्यक्-सम्बुद्ध का प्रतिपक्षी हो गया। परिणाम स्वरूप उसका पृथ्वी-प्रवेश हुआ और वह अवीची नरक में पहुँचा। मैंने भी उसकी प्रेरणा से अपने धार्मिक धर्मराज पिता की हत्या की। मेरा भी पृथ्वी-प्रवेश होगा।" इस प्रकार सोचने से उसे राज्यश्री में कुछ आनन्द न अनुभव हुआ। 'थोड़ा सोऊँगा' सोच, वह लेटा तो निद्रा आते ही उसे ऐसा लगा मानो नौ योजन मोटी लोहे की पृथ्वी पर गिराकर उसे लोहे की शलाखाओं से ही कूटा जा रहा है। उसे लगा जैसे उसे कुत्ते नोच-नोचकर खा रहें हों। वह डर के मारे चिल्ला कर उठा। फिर एक दिन कार्तिक मास की चन्द्रिका में अमात्यों के बीच बैठे-बैठे उसने अपने वैभव की ओर देख सोचा "मेरे पिता का वैभव इससे अधिक था। मैंने वैसे धर्मराज को देवदत्त की प्रेरणा से मार डाला।" उसके इस प्रकार सोचते समय ही उसके शरीर में जलन होने लगी। सारा शरीर पसीना-पसीना हो गया। तब उसने विचार किया कि कौन है जो मुझे इस भय से मुक्त कर सके? उसकी समझ में आया कि दसबल के अतिरिक्त और कोई उसे इस भय से मुक्त नहीं कर सकता। फिर प्रश्न

हुआ—"मैंने उनका बड़ा अपराध किया है। मुझे कौन उनके पास ले जायेगा?" उसे सूझा—"जीवक के अतिरिक्त और कोई नहीं।" उसे लेकर चलने की तैयारी करते हुए उसने उल्लास-वाक्य कहा—"आज की रात्रि बड़ी रमणीय है? आज किस श्रमण अथवा ब्राह्मण की सेवा में चलें?" जब पुराण-शिष्यों ने पुराणकस्सप आदि का गुण वर्णन किया, तो उसने उनकी उपेक्षा की। किन्तु जब जीवक से पूछा और उसने तथागत का गुणानुवाद कर कहा कि देव उन भगवान् की सेवा में चलें, तो उसने हाथी-वाहन आदि तैयार करा, जीवकम्बवन में पहुँच, तथागत के समीप जा, प्रणाम किया। तथागत के कुशल-क्षेम पूछने पर उसने श्रामण्य के इह-लौकिक फल के बारे में जिज्ञासा की। फिर तथागत से श्रामण्य-फल के बारे में मधुर धर्मोपदेश सुन, सूक्त के अन्त में उपासकरूप से ग्राहण किये जाने की प्रार्थना की और तथागत से क्षमा मांग चल दिया। इसके बाद से वह दान देता हुआ, शील के नियमों का पालन करता हुआ, तथागत के साथ सत्संग करता हुआ, मधुर धर्मोपदेश सुनता हुआ रहने लगा। सत्संगति के फलस्वरूप उसके चित्त का भय, लोमहर्षण जाता रहा और उसने पुनः चित्त-प्रसाद प्राप्त किया। वह सुख से उठना-बैठना आदि करने लगा।

एक दिन धर्मसभा में भिक्षुओं ने बातचीत चलायी—"आयुष्मानों! अजातशत्रु पितृघात कर्म कर भयाकुल हुआ। राज्यश्री का सुख न भोगते हुए वह उठते-बैठते हर अवस्था में दुःखी रहने लगा। अब वह तथागत के पास पहुच सत्संगति के प्रभाव से भय-मुक्त हो गया और ऐश्वर्य-सुख अनुभव करने लगा।" तथागत ने आकर पूछा—"भिक्षुओं, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो?" "अमुक बातचीत" कहने पर "भिक्षुओं, न केवल अभी, इसने पहले भी पितृ-घात कर्म किया, किन्तु बाद में मेरे कारण सुख-पूर्वक सोया" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में ब्रह्मदत्त को वाराणसी में ब्रह्मदत्त-कुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय बोधिसत्व ने पुरोहित के घर में जन्म ग्रहण किया। पैदा होने पर उसका नाम संकिच्च-कुमार रक्खा गया। वे दोनों राज-भवन में साथ ही बढ़ने लगे। परस्पर मित्र होते हुए बड़े होने पर तक्षशिला गये और सभी शिल्प सीख कर आये।

राजा ने पुत्र को उप-राज बनाया। बोधिसत्व भी उपराज के ही पास रहे। एक दिन उपराज ने उद्यान-क्रीड़ा के लिए जाते समय पिता का महान् ऐश्वर्य देख, उसमें लोभ उत्पन्न कर सोचा—"मेरा पिता, मेरे भाई के समान है। यदि इसके मरण की प्रतीक्षा करूँगा, तो मुझे बूढ़े होने पर राज्य मिलेगा। उस समय राज्य मिलने से क्या लाभ ? पिता को मारकर राज्य करूँगा।" उसने अपना यह विचार बोधिसत्व पर भी प्रकट किया। बोधिसत्व ने मना किया—"मित्र ! पितृघात कर्म महान् पातक है, नरक का रास्ता है। यह नहीं किया जा सकता। ऐसा मत करें।" उसने बार-बार कहा। जब तीसरी बार भी मना किया तो उसने पैरों में बैठने वाले नौकरों से मन्त्रणा की। उन्होंने स्वीकार कर, राजा के मारने के उपाय पर विचार किया। बोधिसत्व को जब यह पता लगा तो उसने सोचा—"मैं इनके साथ शामिल नहीं होऊँगा।" उसने माता-पिता की आज्ञा भी नहीं ली और मुख्य द्वार से निकल, हिमालय में जा, ऋषि-प्रव्रज्या ले, ध्यान अभिञ्ञा प्राप्त कर, जंगल के फल-फूल खाता हुआ रहने लगा। राजकुमार ने भी उसके चले जाने पर पिता को मार बहुत ऐश्वर्य्य का अनुभव किया। यह सुन कि संकिच्चकुमार ने ऋषि-प्रव्रज्या ली है. बहुत से कुल-पुत्रों ने उसके पास जा प्रव्रज्या ली। वह अनेक ऋषि-गणों के साथ वहाँ रहने लग गया—सभी समापत्ति-लाभी ही थे।

पिता को मारने के बाद राजा ने थोड़े ही समय तक राज-सुख का अनुभव किया। उसके बाद भयाकुल हो, चित्त की शान्ति न पा, वह ऐसा हो गया जैसे नरकगामी कर्म किया हो। वह बोधिसत्व को याद कर सोचने लगा—"मेरे मित्र ने मुझे मना किया कि पितृघात कर्म महान् पातक है। जब उसने देखा कि मैं उसकी बात नहीं सुनता, तो अपने आप को निर्दोष रख वह कहीं चला गया। यदि वह यहाँ रहता तो मुझे पितृ-घात कर्म न करने देता। वह ही मेरे भय को दूर कर सकता है। किन्तु वह इस समय कहां विचरता है? यदि उसके निवास-स्थान का पता लगे तो उसे बुलवा लें। कौन है जो मुझे उसके निवासस्थान का पता दे?" उसके बाद से वह अन्तःपुर में तथा राज सभा में बोधिसत्व के ही गुण गाता। इस प्रकार समय बीतने पर बोधिसत्व ने जब यह देखा कि राजा मुझे याद करता है, तो उसने सोचा कि मुझे वहाँ जाकर धर्मोपदेश दे, उसे निर्भय करके आना चाहिए। पचास वर्ष पर्यन्त हिमालय में रहने के बाद, पाँच सौ तपस्वियों को साथ ले, दाय-पार्श्व

नाम के उद्यान में उतर, ऋषि-गणों के बीच शिला पर बैठा। उद्यान-पाल ने उसे देख पूछा—"भन्ते ! गणशास्ता का क्या नाम है ?" जब उसने सुना कि "संकिच्च-पण्डित" है, तो स्वयं भी पहचानकर निवेदन किया, "भन्ते ! जब तक मैं राजा को लेकर आऊँ, तब तक यहीं रहें। हमारा राजा तुम्हें देखने की इच्छा करता है। यह कहकर शीघ्रतापूर्वक राज-कुल पहुँच, राजा को उसके आगमन की सूचना दी। राजा ने उसके पास पहुँच, करने योग्य सेवा कर, प्रश्न पूछा।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

दिस्वा निसिन्नं राजानं, ब्रह्मदत्तं रथेसभं
अथस्स पटिवेदेसि, यस्ससि अनुकम्पको ॥१॥
संकिच्चायं अनुप्पत्तो, इसीनं साधुसम्मतो
तरमानरूपो निय्याहि, खिप्पं पस्स महेसिनं ॥२॥
ततो च राजा तरमानो, युत्तं आरुय्ह संदनं
मित्तामच्चपरिब्बूळहो, अगमासि रथेसभो ॥३॥
निक्खिप्प पंच ककुधानि, कासीनं रट्ठवड्ढनो
वाळवीजनिं उण्हीसं, खग्गं छत्तं उपाहनं ॥४॥
ओरुय्ह राजा यानम्हा, ठपयित्वा पटिच्छदं
आसीनं दायपस्सस्मिं, संकिच्चं उपसंकमि ॥५॥
उपसंकमित्वा सो राजा, सम्मोदि इसिना सह
तं कथं वीतिसारेत्वा, एकमन्तं उपाविसी ॥६ ॥
एकमंतं निसिन्नो व यथाकालं अमञ्ञथ
ततो पापानि कम्मानि पुच्छितुं पच्चपज्जथ ॥७॥
इसिं पुच्छामि संकिच्चं, इसीनं साधुसम्मतं
आसीनं दायपस्सस्मिं, इसिसंघपुरक्खतं ॥८॥
कं गतिं पेच्च गच्छन्ति, नरा धम्मातिचारिनो
अतिचिण्णो मया धम्मो, तं मे अक्खाहि पुच्छितो ॥९॥

[रथेसभ ब्रह्मदत्त राजा को बैठे देखकर उद्यान-पाल ने कहा—"राजन् ! जिस पर तेरी अनुकम्पा थी, वह ऋषियों द्वारा प्रशंसित संकिच्च आया है। शीघ्रता से आकर, जल्दी से महर्षि के दर्शन कर" ॥१-२॥ तब राजा जुते

हुए रथ पर चढ़, मित्र अमात्यों को साथ ले, शीघ्र ही गया ॥३॥ काशी-नरेश ने वावीजनि, उष्णीष, खड्ग, छत्र तथा उपाहन—इन पाँचों राजकीय चिह्नों को छोड़ा और यान से उतर तथा (राजकीय-) पोशाक को (भण्डारी को) सौंप, दायपार्श्व नाम के उद्यान में बैठे हुए संकिच्च के पास पहुँचा ॥४-५॥ समीप पहुँच उस राजा ने ऋषि के साथ शिष्ट बातचीत की पहली बात को भूलकर वह एक ओर समीप बैठा ॥६॥ एक ओर बैठ कर उसने योग्य समय देखा और पाप-कर्मों के बारे में पूछने के लिए सज्जित हुआ ॥७॥ वह बोला—"ऋषियों द्वारा प्रशंसित, ऋषिगणों में प्रमुख, दायपार्श्व (उद्यान) में बैठे संकिच्च ऋषि से मैं पूछता हूँ। धर्मविरोधी कार्य करने वाले आदमियों की क्या गति होती है? मैंने धर्म का अतिचार किया है, इसलिए मैं पूछता हूँ मुझे बताओ" ॥८-९॥]

शास्ता ने इस अर्थ को प्रकट करते हुए कहा—

इसि अवच संकिच्चो, कासीनं रट्ठवढनं
आसीनं दायपस्सस्मिं, महाराज सुणोहि मे ॥१०॥
उप्पथेन वजन्तस्स, यो मग्गं अनुसासति
तस्स वे वचनं कयिरा, नास्स मग्गेय्य कण्टको ॥११॥
अधम्मं पटिपन्नस्स,यो धम्मं अनुसासति
तस्स वे वचनं कयिरा, न सो गच्छेय्य दुग्गतिं ॥१२॥

[संकिच्च ऋषि ने दायपार्श्व में बैठे काशी-नरेश से कहा—"महाराज! मेरी बात सुनें। जो आदमी कुमार्ग से जाने वाले को मार्ग बताये, उस मार्ग बताने वाले की बात माननी चाहिये। बात मनाने वाले को काँटे नहीं लगते। उसी प्रकार अधर्म के रास्ते चलने वाले को जो धर्म की बात बताये, उस धर्म की बात बताने वाले का कहना करना चाहिए। वैसा करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।" ॥१०-१२॥]

इस प्रकार उसे उपदेश दे, और भी धर्मोपदेश देते हुए कहा—

धम्मो पथो महाराज, अधम्मो पन उप्पथो
अधम्मो निरयं नेति, धम्मो पापेति सुग्गतिं ॥१३॥
अधम्मचारिनो राजा, नरा विसमजीविनो
यं गतिं पेच्च गच्छन्ति, निरये ते सुणोहि मे ॥१४॥

सञ्जीवो काळसुत्तो च संघातो द्वे च रोरुवा
अथापरो महावोचि तपनो च पतापनो ॥१५॥

इच्चेते अट्ठ निरया अक्खाता दुरतिक्कमा
आकिण्णा लुद्दकम्मेहि पच्चेका सोळसुस्सदा ॥१६॥

कदरियातपना घोरा अच्चिमन्ता महब्भया
लोमहंसनरूपा च भेस्मा पटिभया दुखा ॥१७॥

चतुकण्णा चतुद्वारा विभत्ता भागसो मिता
अयोपाकारपरियन्ता अयसा पटिकुज्जिता ॥१८॥

तेसं अयोमया भूमि जलिता तेजसा युता,
समन्ता योजनसतं फुटा तिट्ठन्ति सब्बदा ॥१९॥

एते पतन्ति निरये उद्धपादा अवंसिरा
इसीनं अतिवत्तारो सञ्ञतानं तपस्सिनं ॥२०॥

ते भूनहनो पच्चन्ति मच्छाबीला कता यथा
संवच्छरे असंखेय्ये नरा किब्बिसकारिनो ॥२१॥

डय्हमानेन गत्तेन निच्चं सन्तरबाहिरं
निरया नाधिगच्छन्ति द्वारं निक्खमनेसिनो ॥२२॥

पुरत्थिमेन धावन्ति ततो धावन्ति पच्छतो,
उत्तरेनपि धावन्ति ततो धावन्ति दक्खिणं
यं यं द्वारं गच्छन्ति तं तं देवा पिथीयरे ॥२३॥

बहूनि वस्ससहस्सानि जना निरयवासिनो
बाहा पग्गय्ह कन्दन्ति पत्वा दुक्खं अनप्पकं ॥२४॥

आसीविसं व कुपितं तेजसिं दुरतिक्कमं
न साधुरूपे आसीदे न सञ्ञतानं तपस्सिनं ॥२५॥

अतिकायो महास्सासो अज्जुनो केककाधिपो
सहस्सबाहु उच्छिन्नो इसिं आसज्ज गोतमं ॥२६॥

अरजं रजसा वच्छं किसं अवकिरिय दण्डकी
तालो व मूलतो छिन्नो, स राजा विभवं गतो ॥२७॥

उपहच्च मनं मेज्झो मातंगस्मिं यसस्सिने
सपारिसज्जो उच्छिन्नो, मेज्झारञ्ञं तदा अहु ॥२८॥

कण्हदीपायन आसज्ज इसिं अन्धकवेण्हुयो
अञ्ञमञ्ञं मुसले हन्त्वा सम्पत्ता यमसादनं ॥२९॥

अथायं इसिना सत्तो अन्तलिक्खचरो पुरे
पावेक्खि पठविं चेच्चो हीनत्तो पत्तपरियायं ॥३०॥

तस्मा हि छन्दागमनं नप्पसंसन्ति पण्डिता,
अदुट्ठचित्तो भासेय्य गिरं सच्चुपसंहितं ॥३१॥

मनसा चे पदुट्ठेन यो नरो पेक्खते मुनिं
विज्जाचरण सम्पन्नं गन्ता सो निरयं अधो ॥३२॥

ये वद्धे परिभासेन्ति फरुसूपक्कमा जना
अन पच्चा आदायादा तालावत्थु भवन्ति ते ॥३३॥

यो च पब्बजितं हन्ति कतकिच्चे महेसिनं
स काळसुत्ते निरये चिररत्ताय पच्चति ॥३४॥

यो च राजा अधम्मट्ठो रट्ठविद्धसनो मगो
तापयित्वान जनपदं तपने पेच्च पच्चति ॥३५॥

सो च वस्स सहस्सानि सतं दिब्यानि पच्चति
अच्चिसंघपरेतो सो दुक्खं वेदेति वेदनं ॥३६॥

तस्सअग्गिसिखा काया निच्छरन्ति पभस्सरा
तेजोभक्खस्स गत्तानि लोमग्गेहि नखेहि च ॥३७॥

डह्यमानेन गत्तेन निच्चं सन्तरबाहिरं
दूक्खाभितुन्नो नदति नागो तुत्तद्दितो यथा ॥३८॥

यो लोभा पितरं हन्ति दोसा वा पुरिसाधमो
स काळसुत्ते निरये चिररत्तानि पच्चति ॥३९॥

स तादिसो पच्चति लोहकुम्भिया
पक्कं च सत्तीहि हनन्ति नित्तचं

अन्धं करित्वा मुत्तकरीसभक्खं
खारे निमुज्जन्ति तथाविधं नरं ॥४०॥

तत्तं पक्कुट्ठितं अयोगुलञ्च
दीघे च फाले चिररत्ततापिते
विक्खम्भं आदाय विभज्ज रज्जुहि
वत्ते मुखे संसवयन्ति रक्खसा ॥४१॥

सामा च सोणा च बला च गिज्झा
काकोलसंघा च दिजा अयोमुखा
संगम्म खादन्ति विप्फन्दमानं
जिव्हं विभज्ज विघासं सलोहितं ॥४२॥

तं दड्ढकोळं परिभिन्नगत्तं
निप्पोथयन्ता [अनु] विचरन्ति रक्खसा,
रतीहिनेसं, दुखिनो पन, ईतरे
एतादिसस्मिं निरये वसन्ति
ये केचि लोके इध पेत्तिघातिनो ॥४३॥

पुत्तो च मातरं हन्त्वा इतो गन्त्वा यमक्खयं
भुस आपज्जते दुक्खं अत्तकम्मफलूपगो ॥४४॥

अमनुस्सा अतिबला हन्तारं जनयन्तिया
अयोमयेहि कालेहि पीळयन्ति पुनप्पुनं ॥४५॥

तं पस्सुतं सका गत्ता रुहिरं अत्तसम्भवं
तम्बलोहविलीनं व तत्तं पायेन्ति मत्तिघं ॥४६॥

जिघञ्ञं कुणपं पूति दुग्गन्धं गूथकद्दमं
पुब्बलोहितसंकासं रहदं ओगय्ह तिट्ठति ॥४७॥

तं एनं किमयो तत्थ अतिकाया अयोमुखा
छविं छेत्वान खादन्ति पगिद्धा मंसलोहिते ॥४८॥

सो च ते निरयं पत्तो निमुग्गो सतपोरिसं
पूतीनं कुणपं वाति समन्ता सतयोजनं ॥४९॥

चक्खुमापी हि चक्खुहि तेन गन्धेन जीयति,
एतादिसं ब्रह्मदत्त मत्तिघो लभते दुखं ॥५०॥

खुरधारं अनुक्कम्म तिक्खं दुरभिसम्भवं
पतन्ति गब्भपातिनियो दुग्गं वेतरणिं नदिं ॥५१॥

अयोमया सिम्बलियो सोळसंगुलकण्टका
दुभतो-म-अभिलम्बन्ति दुग्गं वेतरणिं नदिं ॥५२॥

ते अच्चिमन्तो तिट्ठन्ति अग्गिक्खन्धाव आरका,
आदित्ता जातवेदेन उद्धं योजनं उग्गता ॥५३॥

एते सजन्ति निरये तत्ते तिखिणकण्टके
नारियो च अतिचारिनियो नरा च परदारगू ॥५४॥

ते पतन्ति अधक्खन्धा विवत्ता विहता पुथू,
सयन्ति विनिविद्धङ्गा, दीघं जग्गन्ति संवरिं ॥५५॥

ततो रत्या विवसने महतिं पब्बतूपमं
लोहकुम्भिं पवज्जन्ति तत्तं अग्गिसमूदकं ॥५६॥

एवं दिवा च रत्तो च दुस्सीला मोहपारुता
अनुभोन्ति सकं कम्मं पुब्बे दुक्कतं अत्तनो ॥५७॥

या च भरिया धनक्कीता सामिकं अतिमञ्ञति
सस्सुं वा ससुरं वापि जेट्ठं वापि ननन्दरं
तस्सा वंकेन जिव्हग्गं निब्बहन्ति सबन्धनं ॥५८॥

स ब्याममत्तं किमिनं जिव्हं पस्सति अत्तनि,
विञ्ञापेतुं न सक्कोति, तपने पेच्च पच्चति ॥५९॥

ओरब्भिका सूकरिका मच्छिका मिगबन्धिका
चोरा गोघातका लुद्दा अवण्णे वण्णकारका ॥६०॥

सत्तीहि लोहकूटेहि नेत्तिंसेहि उसूहि च
हञ्ञमाना खारनदिं पपतन्ति अवंसिरा ॥६१॥

सायं पातो कूटकारी अयोकूटेहि हञ्ञति
ततो वंतं दुरत्तानं परेसं भुञ्जते सदा ॥६२॥

धंका भरंडुका गिज्झा काकोळा च अयोमुखा
विप्फन्दमानं खादन्ति नरं किब्बिसकारिनं ॥६३॥
ये मिगेन मिगं हन्ति पक्खिं वा पन पक्खिना
असन्तो रजसा छन्ना गन्ता ते निरयं अधो ॥६४॥

[महाराज ! धर्म तो पथ है, अधर्म कुपथ है । अधर्म नरक में ले जाता है। धर्म सुगति लाभ कराता है ॥१३॥ हे राजन् ! जिस गति को अधार्मिक जीविका चलाने वाले नर मरकर प्राप्त होते हैं, वह मुझसे सुन ॥१४॥ सञ्जीव, कालसुत्त संघात, ज्वाल-रोरुव तथा धूम्र-रोरुव, महावीची, तपन और पतपन—ये आठ अतिक्रमण करने में अति दुष्कर नरक कहे गये हैं। ये रौद्रकर्मियों द्वारा भरे हैं। प्रत्येक नरक के साथ सोलह-सोलह उस्सद नरक हैं (८+१२८ =१३६) ॥१५-१६॥ ये सब पापियों को तपाने वाले हैं। घोर हैं। अर्चिमान हैं। महाभयानक हैं। रोंगट खड़े कर देने वाले हैं। चारद्वारों वाले हैं। विभक्त हैं। हिस्से हैं। नये हैं। लोहे की दीवार से घिरे हैं। लोहे से ढके हैं ॥१७-१८॥ उनकी लोहे की भूमि ज्वालाओं से चारों ओर सौ-सौ योजन तक सर्वदा स्पर्शित होकर जलती रहती है। संयत, तपस्वी, ऋषियों की कठोर वचन बोलने वाले सिर नीचे और पैर ऊपर करके नरक में गिरते हैं ॥१९-२०॥ वे पापी भ्रूण-हत्यारे असंख्य वर्षों तक मछलियों की तरह नरक में पकते हैं ॥२१॥ जलता हुआ शरीर लेकर वे नरक से बाहर जाना चाहते हैं, किन्तु उन्हें द्वार ही नहीं मिलता ॥२२॥ वे पूर्व द्वार की ओर दौड़ते हैं, पश्चिम द्वार की ओर दौड़ते हैं, उत्तर द्वार की ओर दौड़ते हैं और दक्षिण द्वार की ओर दौड़ते हैं—वे जिस-जिस द्वार की ओर दौड़ते हैं, देवता उसी को बन्द कर देते हैं ॥२३॥ नरक में रहने वाले लोग महान् दुःख प्राप्त कर बहुत हजार वर्ष तक बाहों में सिर देकर रोते हैं ॥२४॥ अतिक्रमण करने में दुष्कर, तेजस्वी, कुपित, विषैले सर्प के समान जो संयत तपस्वी हैं, वैसे साधुरूपों को कठोर-वचनों से कष्ट न दें ॥२५॥ विशालकाय, धनुषधारी सहस्रबाहु, केकक-नरेश अर्जुन ऋषि गौतम को प्राप्त हो नष्ट हुआ ॥२६॥ रज-विरहित, कृष, वत्स-गोत्रीय (?) की अवमानना करने से राजा दण्ड की ताड़ वृक्ष के

समूल नष्ट हो जाने की तरह नाश को प्राप्त हुआ[१] ॥२७॥ मेज्झ ने यशस्वी मातङ्ग के प्रति मन मैला किया। वह परिषद सहित नष्ट हो गया। वहाँ मेज्झारण्य हो गया[२] ॥२८॥ अन्धक वेण्हु कृष्ण द्वीपायन ऋषि को प्राप्त हुए तो परस्पर एक दूसरे की मूसलों से हत्या कर यम लोक सिधारे[३] ॥२९॥ आकाशगामी चेतिय राजा ऋषि द्वारा अभिशप्त होने के कारण मरकर पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ ॥३०॥ इसीलिए पण्डित लोग पक्षपात की प्रशंसा नहीं करते। आनमी को चाहिए कि वह द्वेष-रहित हो सच्ची बात कहे ॥३१॥ जो आदमी विद्याचरण मुनि को दुष्ट मन से देखता है, वह नीचे नरक लोक में जाता है ॥३२॥ जो आदमी कठोर वचनों से वृद्धों का मजाक उड़ाते हैं, वे सन्तान-रहित हो जाते हैं, वे दायाद-रहित हो जाते हैं और वे ताड़ वृक्ष की तरह समूल नष्ट हो जाते हैं ॥३३॥ जो कृतकृत्य, महषी, प्रव्रजित की हिंसा करते हैं, वह दीर्घकाल तक काल-सुत्त नरक में पकते हैं ॥३४॥ जो मूर्ख अधार्मिक राजा राष्ट्र का विनाश करता हुआ, जनपद को त्रास देता है, वह मरने पर तपन नामक नरक में तपता है ॥३५॥ वह सौ हजार दिव्य वर्षों तक नरक में पकता है। वह ज्वालाओं से घिरा हुआ महान् दुःख अनुभव करता है ॥३६॥ उसकी अग्निमय काया से ज्वालायें निकलती हैं। उसका शरीर अग्नि-भक्ष सा होता है। उसके रोम-रोम से तथा नखों से ज्वाला निकलती है ॥३७॥ भीतर बाहर जलते हुए शरीर से यह दुःखाभिभूति होकर वैसे ही चिल्लाता है जैसे अंकुश से मारा जाता हुआ हाथी ॥३८॥ जो नीच आदमी लोभ अथवा द्वेष के वशीभूत हो पिता की हत्या करता है वह दीर्घकाल तक काळसुत्त नरक में पकता है ॥३९॥ ऐसा पुरुष लोह-कुम्भी पाक नरक में पकता है। फिर उसकी चमड़ी उधेड़ कर उसे शक्ति आयुध से चूर्ण-विचूर्ण किया जाता है। फिर उसे अन्धा करके और उसके मुँह में मल-मूत्र भरकर उसे क्षार में डुबो दिया जाता है ॥४०॥ तप्त-मल-मूत्र तथा लोहे का गोला लेकर उसके मुँह में डालते हैं। जब वह मुँह बन्द करता है तो चिरकाल तक तप्त किये गये फालों से मुँह खोल कर और उसे रस्सियों से कसकर,

---

१. देखो सरभंग जातक (५२२)
२. देखो मातंग जातक (४९७)
३. देखो घट जातक (३५५)
४. देखो चेतिय जातक (४२२)

नरक-पाल, लोग उसे खुले मुँह में तप्त मल-मूत्र तथा लोहे के गोले डालते हैं ॥४१॥ श्याम-वर्ण कुत्ते, चितकबरे, कौवे, लोहमुख पक्षी इकट्ठे होकर उस तड़पते हुए सारक्त मनुष्य को जीभ से बखेर-बखेर कर, भुक्खड़ों की तरह खाते हैं ॥४२॥ उस जलकर कोयला हुए मनुष्य का, उस टुकड़े-टुकड़े शरीरवाले का, नरक-पाल लोग कचूमर निकालते घूमते हैं। यह उनकी क्रीड़ा मात्र है। दूसरे नरक-गामियों को दुःख होता है। पितृघात करने वाले लोग इस प्रकार के नरक में रहते हैं ॥४३॥ मातृ-हत्या करनेवाला मनुष्य यहाँ से यमलोक जाकर, अपने कर्म के फलस्वरूप बहुत दुःख भोगता है ॥४४॥ अति बलवान नरक-पाल मातृ हत्या करने वाले को लोहे के फलों से बार-बार पीटते हैं ॥४५॥ उसके अपने शरीर से निकले हुए गर्म रक्त को उसी मातृ-हत्यारे को पिलाते हैं ॥४६॥ वह घृणित, सड़े हुए, बदबूदार गूँह के कीचड़ वाले, रक्त मिश्रित तालाब में ठहरता है ॥४७॥ वहाँ बड़ी-बड़ी अयो-मुख चीटियाँ उसकी चमड़ी छेदकर खाती हैं, जो मांस तथा रक्त की अत्यन्त लोभी हैं ॥४८॥ वह उस सौ पुरुसा भर गहरे नरक में डूबता है। उसके चारों ओर सौ योजन तक दुर्गन्ध फैलती है ॥४९॥ उस दुर्गन्ध से आँख वाले की आँखें भी जाती रहती हैं ? हे ब्रह्मदत्त ! मातृ हत्यारे को इस प्रकार का दुःख मिलता है ॥५०॥ गर्भपात करने वाली स्त्रियाँ खुर-धार नरक को पार कर तेज, दुस्तर वेतरणी नदी में गिरती हैं ॥५१॥ वहाँ वेतरणी के तट पर सोलह अंगुल काँटों वाली शाखाओं वाले पेड़ हैं। वे उन शाखाओं को पकड़ती हैं ॥५२॥ वे दूर से ही अग्नि-स्कन्ध के समान अर्चिमान होती हैं। वे ऊपर योजन तक अग्नि से प्रज्वलित होती हैं ॥५३॥ अतिचार करने वाली स्त्रियाँ तथा पर-नारी गमन करने वाले पुरुष तीखे काँटों वाले नरक में गिरते हैं ॥५४॥ वे नीचे मुँह होकर गिरते हैं और अंग-प्रत्यंग विंधे होकर रहते हैं। उन्हें रात को नींद नहीं आती ॥५५॥ तब रात के बीतने पर महान् पर्वत समान, अग्नि-मुख लोह कुम्भि-पाक नरक में जाते हैं ॥५६॥ इस प्रकार मोह-ग्रस्त दुश्शील प्राणी अपने पूर्वकृत दुष्कर्म को भोगते हुए रात-दिन दुःख का अनुभव करते हैं ॥५७॥ जो धन-क्रीत पत्नियाँ, स्वामी, ससुर, जेठ अथवा अपनी ननद के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करतीं, उनकी जिह्वा टेढी-सण्डासी से खींच ली जाती है ॥५८॥ वे अपने मुँह को कृमियों से भरा देखती

हैं। बोलने की इच्छा रखने पर भी बोल नहीं सकती हैं। वे तपन नरक में पकती हैं ॥५६॥ भेड़ों को मारने वाले, सूअरों को मारने वाले, मछलियों को मारने वाले, हिरनों को मारने वाले, चोर, गौओं के हत्यारे, रौद्र, निन्दनीय की प्रशंसा करने वाले, शक्तियों से, लोहे के हथौड़ों से, तलवारों से तथा बाणों से मारे जाकर सिर नीचे पैर ऊपर क्षार नदी में गिरते हैं ॥६०-६१॥ ठगी करने वाले सांझ-सवेरे लोहे के हथौड़े से पीटे जाते हैं और फिर दूसरे दुर्गति प्राप्त हुओं का वमन किया हुआ खाना होता है ॥६२॥ कौवे, शृगाल, गीध तथा लोह-मुख चीलें तड़पते हुए पापी आदमी को खाती हैं ॥६३॥ जो पशुओं की सहायता से पशुओं का तथा पक्षियों की सहायता से पक्षियों का शिकार खेलते हैं, वे धूल से ढके हुए असत्पुरुष नीचे नरक में जाने वाले होते हैं ॥६४॥]

बोधिसत्व ने इतने नरक दिखा; अब लोक को प्रकट कर राजा को देव-लोक दिखाते हुए कहा—

> सन्तो च उद्धं गच्छन्ति सुचिण्णेन इध कम्मना
> सुचिण्णस्स फलं पस्स, सेन्ददेवा सब्रह्मका ॥६५॥
> तं तं ब्रूमि महाराज धम्मं रट्ठपती चर
> तथा तथा राज चराहि धम्मं
> यथा तं सुचिण्णं नानुतप्पेय्य पेच्च ॥६६॥

[सुकर्म करने से यहां सत्पुरुष लोग ऊपर जाते हैं। सुकर्म का फल देखो इन्द्र तथा ब्रह्मा सहित देव लोक ॥६५॥ महाराज ! यह यह कहता हूँ। हे राष्ट्रपति धर्मानुसार चल। हे राजन ! वैसे वैसे धर्माचरण कर जैसे मरने पर पीछे अनुताप न दे ॥६६॥]

उसने बोधिसत्व का धर्मोपदेश सुनकर आश्वासन लाभ किया। बोधिसत्व भी कुछ समय वहाँ रह स्वकीय निवास-स्थान को ही गये।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओं ! न केवल अभी, मेरे द्वारा यह पहले भी आश्वस्त हुआ ही है, कह जातक का मेल बैठाया। तब राजा अजातशत्रु था। ऋषिगण बुद्ध-परिषद्। संकिच्च-पण्डित तो मैं ही था।

⊙

उन्नीसवाँ परिच्छेद

सत्तरवाँ वर्ग

५३१. कुस जातक

"इदं ते रट्ठं..." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय उद्विग्न-चित्त भिक्षु के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

वह श्रावस्ती-वासी कुल-पुत्र (बुद्ध-) शासन में बड़ी श्रद्धा के साथ प्रव्रजित हुआ था। एक दिन श्रावस्ती में भिक्षाटन करते हुए, एक अलंकृत स्त्री को 'शुभ' दृष्टि से देख, रागाभिभूत हो, अनिच्छुक-मन हो रहने लगा। उसके बाल और नाखून लम्बे हो गये। शरीर कृष-वर्ण हो गया। चीवर मैला पड़ गया। वह पाण्डु-वर्ण हो गया। गात्र धमनियों से जा लगा। देव-लोक से च्युत होने वाले प्राणियों के पाँच-पूर्वनिमित्त दिखायी देते हैं। मालायें कुम्हला जाती हैं। वस्त्र मलिन हो जाते हैं। शरीर दुर्वर्ण हो जाता है। दोनों काछों से पसीना बहने लगता है। देवता का देवासन पर मन नहीं लगता। इसी प्रकार बुद्ध-शासन से च्युत होने वाले उद्विग्न-चित्त भिक्षु के पाँच पूर्व-लक्षण दिखायी देते हैं; श्रद्धा रूपी पुष्प मलिन पड़ जाते हैं, शील रूपी वस्त्र मैला हो जाता है, निस्तेजस्विता तथा अपयश के कारण दुर्वर्ण हो जाता है, रागादि क्लेश रूपी पसीना छूटता है तथा आरण्य, वृक्ष की छाया एकान्त-वास आदि में मन नहीं लगता। उसके भी यह लक्षण प्रकट हुए। उसे शास्ता के पास ले जाया गया और दिखाया गया, "भन्ते! यह उद्विग्न-चित्त है।" शास्ता ने "क्या सचमुच?" पूछकर "हाँ सचमुच" कहन पर "भिक्षु! राग के वशीभूत न हो स्त्रियाँ पाप हैं, उनके प्रति पैदा हुई आसक्ति को जीत, बुद्ध-

शासन में मन लगा, स्त्रियों के प्रति आसक्त हो जाने के कारण पुराने समय में तेजस्वी पण्डित को प्राप्त हुए" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में मल्ल राष्ट्र के कुसावती राजधानी में ओक्काक नाम का राजा धर्मानुसार राज्य करता था। उसकी सोलह हजार स्त्रियों में ज्येष्ठ शीलवती नामक पटरानी थी। उसे न लड़का होता, न लड़की। नगर तथा राष्ट्र के आदिवासी राजद्वार पर इकट्ठे चिल्लाने लगे" "राष्ट्र का नाश हो जायेगा, विनाश हो जायेगा।" राजा ने झरोखा खुलवाकर पूछा, "मेरे राज्य में अधर्मकारी नहीं है, क्यों चिल्लाते हो ?" "देव ! सचमुच अधर्मकारी नहीं है, किन्तु वंश की रक्षा करनेवाला पुत्र भी नहीं है, अन्य कोई राज्य पर राष्ट्र को चौपट कर देगा। इसलिए धर्मानुकूल राज्य करने में समर्थ पुत्र की कामना करें।"

"पुत्र की कामना करता हुआ क्या करूँ ?"

"पहले सप्ताह भर छोटी नटी को धर्म-नटी बना कर विदा करें। यदि पुत्र हो जाय, तो अच्छा। अन्यथा मध्यम नटी को धर्म-नटी बनाकर विदा करें। इसके बाद ज्येष्ठ नटी को विदा करें। इतनी स्त्रियों में कोई-न-कोई पुण्यवान अवश्य पुत्र लाभ करेगी।"

राजा ने उसके कथनानुसार वैसा कर, सप्ताह-सप्ताह भर सुख-पूर्वक रमण कर लौट आने पर पूछा, "क्या पुत्र लाभ हुआ ?" सभी ने उत्तर दिया—" देव ! नहीं।"

राजा निराश हो गया कि मुझे, पुत्र-लाभ नहीं होगा। नागरिकों ने फिर वैसे ही शोर मचाया। राजा बोला, "क्यों शोर मचाते हो। मैंने तुम्हारे कहने के मुताबिक नटियों को भेजा, एक को भी पुत्र-लाभ नहीं हुआ। अब क्या करूँ ?"

देव ! ये दुश्शील होंगी। अपुण्यवती। इतना पुण्य नहीं है कि पुत्र-लाभ कर सकें। इनसे पुत्र-लाभ न होने पर निराश न हों। पटरानी शीलवती शील-सम्पन्न है। उसे भेजें। उससे पुत्र-लाभ होगा।"

उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और मुनादी करा दी कि आज से सातवें दिन राजा पटरानी को "धर्म-नटी" बनाकर विदा करेगा। लोग इकट्ठे हों।" सातवें

दिन देवी को अलंकृत कर महल से उतार कर बिदा कर दिया गया। उसके शील-तेज से शक्र-भवन गरम हो गया। शक्र ने विचार किया कि क्या कारण है? उसे पता लगा कि देवी को पुत्र की कामना है। उसने निश्चय किया कि इसे पुत्र देना चाहिए। फिर उसने इस बात का विचार करते हुए कि इसके योग्य देव-लोक में कोई है अथवा नहीं, बोधिसत्व को देखा। बोधिसत्व उस समय त्रयोत्रिंश देव-लोक में आयु समाप्त कर, उससे भी ऊपर के देव-लोक में जन्म ग्रहण करने की इच्छा कर रहे थे। शक्र ने उसके विमान द्वार पर पहुँच, उसे कहा—"मित्र! तुझे मनुष्य लोक जाकर ओक्काक राजा की पटरानी के गर्भ में प्रवेश करना है" उसकी स्वीकृत ले, शक्र ने एक दूसरे देव-पुत्र को भी कहा—"तुझे भी उसी का पुत्र बनना है।" फिर उस देवी के शील की रक्षा करने के लिए वह बूढ़े-ब्राह्मण का भेष बना उस राजा के द्वार पर पहुँचा। जनता भी नहाकर, अलंकृत होकर 'देवी को ग्रहण करने के लिए' राजद्वार पर इकट्ठी हुई। शक्र को देखकर सभी परिहास करने लगे - "तू क्यों आया है?" शक्र ने उत्तर दिया—"निन्दा क्यों करते हो! यद्यपि शरीर बूढ़ा हो गया है, किन्तु राग शान्त नहीं हुआ है। यदि शीलवती मिलेगी, तो उसे ले जाने के लिए आया हूँ।" वह अपने प्रताप से सब के आगे जाकर खड़ा हुआ। उसकी तेजस्विता के कारण कोई उससे आगे नहीं हो सका। सभी अलंकारों से अलंकृत हो, देवी ज्यों ही घर से निकली, वह उसी समय उसे हाथ से पकड़ कर ले गया। उसे लोग 'रुक, रुक' करके निन्दा करने लगे। "अरे देखों, बूढ़ा ब्राह्मण इस प्रकार की रूपवान् देवी को लिये जा रहा है, उचित-अनुचित कुछ नहीं जानता।" देवी भी दुखी होती, लज्जित होती, घृणा करती कि बूढ़ा मुझे लिये जा रहा है। राजा ने भी जब खिड़की में खड़े होकर देखा कि देवी को कौन लिये जा रहा है, तो असन्तुष्ट हुआ। शक्र उसे ले नगर-द्वार से निकला और द्वार के समीप एक घर बनाया—खुले-द्वार वाला और लड़की के फरश वाला। देवी ने पूछा—"यही घर है क्या?" उसने "भद्रे! हाँ। पहले मैं अकेला था। अब हम दो हो गये। मैं भिक्षाटन करके चावल आदि लाता हूँ। तू इस काठ की शैय्या पर लेट" कह कोमल हाथ से उसका स्पर्श किया। उसने उसे दिव्य-स्पर्श से लिटा दिया। दिव्य-स्पर्श से वह बेहोश हो गयी। शक्र उसे अपने प्रभाव से त्रयोत्रिंश भवन ले गया और उसने उसे अलंकृत विमान में दिव्य-शैया पर लिटाया। सातवें दिन उसे होश आया तो उस सम्पत्ति को देख कर देवी ने समझा कि

वह ब्राह्मण मनुष्य नहीं होगा वह शक्र होगा। शक्र भी उस समय पारिच्छत-वृक्ष के नीचे, दिव्य-नटियों से घिरा हुआ बैठा था। वह शयनासन से उठ उसके पास पहुँचा और प्रणाम कर एक ओर खड़ा हुआ। शक्र बोला--

"देवी ! तुझे वर देता हूँ। माँग।"

"तो देव ! मुझे पुत्र दें।"

"देवी ! एक नहीं, मैं तुझे दो पुत्र दूंगा। उनमें से एक प्रज्ञावान् होगा, किन्तु रूपवान नहीं, दूसरा रूपवान होगा, किन्तु प्रज्ञावान् नहीं। तुझे पहले कौन चाहिए ?"

"देव ! प्रज्ञावान।"

उसने "अच्छा' कहा और उसे कुश-तृण, दिव्य-वस्त्र, दिव्य-चन्दन, पारिच्छत-पुष्प और कोकनद नाम की वीणा देकर; ले जाकर, राजा के शयनागार में पहुँचा दिया और वहाँ राजा के साथ एक शय्या पर लिटा, उसकी नाभि को अँगूठे से छुआ। उसी क्षण बोधिसत्व ने उसकी कोख में जन्म ग्रहण किया। शक्र अपने निवास-स्थान चला गया। पण्डित देवी जान गयी कि उसे गर्भ ठहर गया है।

राजा जागा तो उसने पूछा, तुझे कौन ले गया था ?

"देव ! शक्र।"

"मैंने प्रत्यक्ष देखा कि एक बूढ़ा ब्राह्मण तुझे ले गया था। मुझे किसलिये धोखा देती है ?"

"देव ! विश्वास करें। मुझे शक्र ही देव-लोक ले गया था।

"देवी ! विश्वास नहीं करता हूँ।"

उसने उसे शक्र का दिया हुआ कुश-तृण दिखा कर कहा कि देव विश्वास करें। राजा बोला--"मुझे विश्वास नहीं होता। कुश-तृण कहीं से भी मिल सकता है।"उसने उसे दिव्य-वस्त्र दिखाये। राजा ने उन्हें देख विश्वास किया और पूछा "भद्रे ! शक्र ही तुझे ले गया हो, क्या पुत्र-लाभ हुआ ?" महाराज ! हुआ। मुझे गर्भ ठहर गया है। उसने सन्तुष्ट हो उसे सभी गर्भिणी की आवश्यकतायें दीं। दस महीने बीतने पर उसने पुत्र को जन्म दिया। उसका कोई और दूसरा नाम न रख कुश-तृण ही नाम रखा गया।

जब कुसकुमार पैरों चलने लग गया तो दूसरे देव-पुत्र ने भी देवी की कोख में जन्म ग्रहण किया। उसका नाम रखा गया जयम्पति। वे बड़े ठाट-बाट से बढ़ने लगे। बोधिसत्व प्रज्ञावान् थे। उसने आचार्य से कुछ न सीखकर अपनी प्रज्ञा से ही सभी शिल्पों में दक्षता प्राप्त कर ली। जब उसकी आयु सोलह वर्ष की हो गयी तो राज्य देने की इच्छा से राजा ने देवी को सम्बोधन कर कहा, "भद्रे। तेरे पुत्र को राज्य देकर हम नृत्य करायेंगे, जीते जी उसे राज्य पर प्रतिष्ठित देखेंगे। सारे जम्बुद्वीप में जिस राजा की कन्या की इच्छा करे, उसे उसके लिए लाकर पटरानी बनायेंगे। जरा इसके मन का पता लगा कि वह किस राज-कन्या को चाहता है ?" उसने 'अच्छा' कहा स्वीकार किया और एक परिचारिका को भेजा कि कुमार को यह कह कर उसके चित्त की बात जान। उसने जाकर उससे वह बात कही। यह बात सुनी तो बोधिसत्व ने सोचा, "मैं रूप सम्पन्न नहीं हूँ। रूपवती राज-कन्या ले आयी भी गयी, तो मुझे इस कुरूप से क्या ?' कह कर भाग जायेगी। इससे मुझे लज्जित होना पड़ेगा। मुझे गृहस्थी से क्या काम ? माता-पिता के जीते जी उनकी सेवा करते रह कर, उनके बाद निकलकर प्रव्रजित होऊँगा।" वह बोला, 'मुझे न राज्य चाहिए, न नर्तकियाँ। मैं माता-पिता के बाद प्रव्रजित होऊँगा।" उसने जाकर उसकी यह बात देवी से कही। राजा का मन खिन्न हुआ। कुछ सप्ताह के बाद उसने फिर सन्देश भिजवाया। उसे भी उसने मना कर दिया। इस प्रकार तीन बार मना कर चुकने पर चौथी बार सोचा—"माता-पिता के साथ सर्वथा विरोधी भाव उचित नहीं। उपाय से काम लूंगा।" उसने सुनारों के चौधरी को बुला कर बहुत-सा सोना दिया और आज्ञा दी कि स्त्री का रूप बनाओ। उसके चले जाने पर उसने स्वयं भी स्त्री की मूरत बनायी। बोधिसत्वों का संकल्प पूरे होते हैं। वह मूरत इतनी सुन्दर बनी कि जिसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। बोधिसत्व ने उस मूरत को रेशमी वस्त्र पहना, शयन-गृह में रखवाया। जब सुनारों का चौधरी अपनी बनायी मूर्ति लाया, तो उसने उसे देख उसकी निन्दा की और कहा—"जा, हमारे शयनागार में रखी मूर्ति ला।" उसने शयनागार में प्रवेश कर जब उसे देखा तो सोचा कि कुमार के साथ रमण करने के लिए कोई देव-अप्सरा आयी होगी। वह हाथ न बढ़ा सका। तब उसने बाहर निकल कर कहा—"देव ! शयनागार में एक आर्या देव-कन्या खड़ी है। मैं वहाँ नहीं जा सकता।"

"तात ! जा । यह सोने की मूरत है । ले आ ।"

दुबारा भेजने पर वह ला सका । कुमार ने सुनार की बनायी हुई मूर्ति को शयनागार में डलवा दिया और अपनी बनायी मूरत को सजवा कर रथ में रखवाया और माता के पास सन्देश भेजा—"ऐसी (स्त्री) मिलने से ग्रहण करूँगा ।" उसने मंत्रियों को बुला कर कहा—"तात ! मेरा पुत्र महापुण्यवान् है, शक्र-प्रदत्त है, अपने अनुकूल कुमारी प्राप्त करेगा । तुम इस मूरत को ढकी हुई गाड़ी में रख सारे जम्बूद्वीप में घूमो । जिस राजा की ऐसी कन्या दिखायी दे, उसे यह मूरत देकर कहो कि ओक्काक राजा तुम्हारे साथ सम्बन्ध स्थापित करेगा और दिन निश्चय करके आओ ।" उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार किया । उसे ले, वह बड़ी शान-शौकत के साथ निकले । वे जिस-जिस राजधानी में पहुँचते वहाँ संध्या समय लोगों के आने-जाने की जगह पर उस मूरत को रख उसे वस्त्रों, पुष्पों तथा अलंकारों से अलंकृत कर उस पर सुनहरी तम्बू तान देते । फिर स्वयं लौटकर एक ओर खड़े हो, लौट कर आने वाले मनुष्यों की बातचीत सुनते । लोग उसे देख यह न जान कि यह सोने की मूरत है, कहते, "यह देव-अप्सरा मानुषी स्त्री के समान अत्यन्त सुन्दर है, यह यहाँ कैसे खड़ी है ? कहाँ से आयी है ? हमारे नगर में इस प्रकार की नहीं है ।" इस प्रकार प्रशंसा करते हुए चले जाते । यह सुन अमात्यगण सोचते कि यदि यहाँ ऐसी लड़की होती तो लोग कहते कि यह अमुक राजकन्या के समान है, अथवा अमुक अमात्यकन्या के समान है । निश्चय से यहाँ ऐसी नहीं है । वे उसे लेकर दूसरे नगर चले जाते । इस प्रकार घूमते-घूमते वे मद्दराष्ट्र के सागल नगर में जा पहुँचे । मद्द-राज की सात कन्यायें थीं, सुन्दर देवाप्सराओं सदृश। उनमें से सब से बड़ी का नाम था प्रभावती । उसके शरीर से बाल-सूर्य के समान प्रभा निकलती थी । काला अन्धेरा होने पर भी चार-हाथ के कमरे में प्रदीप की आवश्यकता नहीं होती थी । सारा कमरा प्रकाशित हो जाता था। उसकी दाई कुबड़ी थी । वह प्रभावती को खाना खिला, उसका सिर नहलाने के लिए आठ वर्ण-दासियों से आठ घड़े उठवा कर शाम के समय पानी के लिए जा रही थी । उसने पनघट के रास्ते पर उस मूरत को देख समझा कि यह 'प्रभावती' है । उसने सोचा कि यह अविनीत हैं, हमें सिर-नहाने के लिए पानी लेने भेज कर स्वयं पहले से आकर पन-घट के रास्ते में खड़ी हो गयी है । वह क्रोध में बोली, "अरी कुल को लज्जित करने वाली ! पहले से आकर यहाँ खड़ी हो गयी है । यदि राजा जान लेगा, तो हम सब की कुशल नहीं।"



इतना कह उसने कनपटी पर एक थप्पड़ मारा। हाथ टूट सा गया। तब 'सोने की मूरत है' जान हँसती हुई वह वर्ण-दासियों के पास पहुँची और बोली, "मेरा काम देखो। अपनी लड़की' समझ थप्पड़ मारा। इसका मेरी बेटी से क्या मुकाबला। केवल अपना हाथ दुखा लिया।" उसे घेर राजपूतों ने पूछा--"तू किसके बारे मे कहती है कि मेरी बेटी इससे भी अधिक सुन्दर है?"

"मद्द्राज की लड़की प्रभावती के बारे में यह रूप उसके सोलहवें हिस्से के भी बराबर नही है।"

वे प्रसन्न हुए और राज-द्वार पर पहुँच, सूचना भिजवायी कि ओक्काक राजा के दूत द्वार पर खड़े हैं। राजा ने आसन से उठ, खड़े ही खड़े कहा—"बुलाओ।" उन्होंने अन्दर प्रवेश किया और राजा को प्रणाम करके—"महाराज! हमारे राजा ने आपका कुशल-क्षेम पूछा है?" उनका सत्कार सम्मान किया गया। जब उनसे पूछा गया कि कैसे आये, तो बोले, "हमारे राजा के सिंह-स्वर पुत्र का नाम कुसकुमार है. राजा ने उसे राज्य देने की इच्छा से (हमें) आपके पास भेजा है। अपनी कन्या प्रभावती उसे दें और यह स्वर्ण-मूर्ति भेंट स्वरूप स्वीकार करें।" इतना कह वह मूर्ति उसे दे दी। उसने भी यह सोच कि इस प्रकार के राजा के साथ सम्बन्ध स्थापित होगा, प्रसन्न हो उसे स्वीकार किया।

तब दूत बोले—"महाराज! हम विलम्ब नहीं कर सकते। हम जा कर राजा को कुमारी मिल जाने की सूचना देते हैं। वह आकर ले जायेगा।" 'अच्छा' कह उनका सत्कार कर विदा किया। उन्होंने जाकर राजा और देवी को सूचना दी। राजा बड़े ठाट-बाट से कुसावती से निकला और क्रमशः सागर नगर पहुँचा। मद्द्राजा ने अगवानी कर, नगर में लिवा लाकर बड़ा सत्कार किया। शीलवती देवी ने अपने पाण्डित्य के कारण सोचा, "कौन जाने क्या हो?" उसने एक-दो दिन के बाद ही मद्द्राज से कहा—"महाराज! मैं पुत्र-बधू को देखना चाहती हूँ।"

उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और उसे बुलवा भेजा। अलंकारों से अलंकृत तथा दाइयों से घिरी हुई प्रभावती ने आकर सास को नमकार किया। उसने उसे देखते ही सोचा, "यह कुमारी रूपवान है। मेरा पुत्र कुरूप है। यदि उसे देख पायेगी, तो एक भी दिन न रह कर भाग जायेगी। मैं कुछ

उपाय करूंगी।" ससने मद्दराज को सम्बोधित कर कहा--"महाराज! पुत्र-वधू मेरे पुत्र के अनुकूल है। लेकिन हमारे कुल का एक परम्परागत रिवाज है। यदि यह उस चरित्र का पालन कर सकेगी, तो हम इसे ले जायेंगे ?"

"वह चरित्र क्या है ?"

"हमारे वंश में जब तक एक गर्भ नहीं ठहर जाता, तब तक दिन में पति दर्शन नहीं होता।"

राजा ने लड़की से पूछा, "क्या ऐसा कर सकेगी ?" उसका उत्तर था "हां। तात !" तब ओक्काक राजा ने मद्द नरेश को बहुत सम्पत्ति दी और उसे ले गया। मद्दराज ने भी बड़ी शान-शौकत के साथ लड़की को विदा किया। ओक्काक राजा ने कुसावती पहुँच, नगर को अलंकृत करा, सभी को बन्धन-मुक्त कर, पुत्र का राज्याभिषेक कर, प्रभावती को पटरानी बनाया। उसने मुनादी करा दी कि अब से कुसराज की आज्ञा चलेगी। जम्बुद्वीप भर में जिन राजाओं की लड़कियाँ थी, उन्होंने अपनी-अपनी लड़कियाँ कुस-राजा के पास भेजीं, जिनके लड़के थे, उन्होंने उसके साथ मैत्री-स्थापित करने के लिए, उन्हें 'सेवक' बना कर भेजा। बोधिसत्व के यहाँ बहुत सी नर्तकियाँ हो गयीं और वह बड़े ठाट-बाट से राज्य करने लगा। किन्तु न वह प्रभावती को दिन में देख सकता, न प्रभावती उसे दिन में देख सकती। दोनों एक-दूसरे से रात में ही मिलते। उस समय प्रभावती की शरीर-प्रभा प्रभावहीन रहती। बोधिसत्व भी शयानागार से रात को ही निकल आता। कुछ दिन से उसकी इच्छा प्रभावती को दिन में देखने की हुई। उसने माँ से कहा। उसने मना किया--"तू इसकी इच्छा मत कर। जब तक एक पुत्र न हो जाय, तब तक प्रतीक्षा कर।" उसने बार-बार आग्रह किया। "तो हाथी-शाला में जा हथवान के रूप में उसे वहाँ ले आऊँगी। उसे आँख भर कर देख लेना किन्तु, अपने आपको प्रकट न करना।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और हस्ति-शाला गया। राज-माता ने हस्ति मंगल करा, प्रभावती को कहा "आ तेरे स्वामी के हाथियों को देखें।" फिर उसे वहाँ ले जा कर दिखाया, "यह अमुक नाम का हाथी है और यह अमुक नाम का।' उस समय माता के पीछे-पीछे जाती हुई की पीठ पर राजा ने हाथी की लीद खींच कर मारी।

वह क्रोधित होकर देवी को उत्तेजित करती हुई बोली "राजा से तेरे हाथ कटावाऊँगी।" राज-माता ने उसे इशारा कर उसकी पीठ मली। राजा ने फिर उसे देखने की इच्छा से अश्व-शाला में साइस की शकल बना उस पर घोड़े की लीद फेंकी। उस दिन भी सास ने उस क्रोधिनी को शान्त किया।

फिर एक दिन प्रभावती की इच्छा हुई कि बोधिसत्व को देखें। उसने सास से कहा सास ने मना किया--"ऐसी इच्छा न कर।" उसका बार-बार आग्रह हुआ। तब वह बोली--"तो कल मेरा पुत्र प्रदक्षिणा करेगा, तू झरोखे से उसे देख लेना।" यह कह अगले दिन उसने नगर सजवाया और जयम्पति कुमार को राज-वेष पहना, हाथी पर बिठा नगर की प्रदक्षिणा करायी। फिर प्रभावती को ले जाकर झरोखे पर खड़ा किया और बोली, "अपने स्वामी की शरीर-शोभा देख।" वह प्रसन्न हुई कि मुझे अनुरूप स्वामी मिला।

किन्तु, उस दिन बोधिसत्व हथवान की शकल में जयम्पति के पीछे बैंठ, यथासंकल्प प्रभावती की ओर देखता हुआ उसे हाथी क्रीड़ा के बहाने अपनी मनोवाँछित क्रीड़ा दिखाने लगा। हाथी के चले जाने पर राजमाता ने प्रभावती से पूछा--"तूने अपना स्वामी देखा?"

"आर्ये! हाँ। किन्तु उसके पीछे बैठा हुआ हथवान बड़ा दुर्विनीत है। मुझे हस्तिविकार दिखाता था। इस प्रकार के अभागे आदमी को राजा के पीछे क्यों बिठाया है?"

"पीछे की ओर से राजा की रक्षा अपेक्षित रहती है।"

वह सोचने लगी,"यह हथवान अत्यन्त निर्भय है। राजा को राजा भी नहीं मानता है। कहीं यही कुसराजा न हो? निश्चय से वह कुरूप होगा। इसलिए मुझे नहीं दिखाते।"

उसने कुबड़ी के कान में कहा—"जा देख! अगले आसन पर बैठा हुआ 'राजा' है, अथवा पिछले आसन पर बैठा हुआ 'राजा' है?"

"मैं कैसे जानूंगी?"

"यदि वह राजा' होगा तो हाथी की पीठ से पहले उतरेगा। इस निशानी से पहचान लेना।"

वह जाकर एक ओर खड़ी हो गयी। उसने बोधिसत्व को पहले उतरते

देखा और जयम्पति को बाद में । बोधिसत्व ने भी इधर-उधर देखते हुए जब कुबड़ी को देखा तो समझ लिया कि इस कारण आयी होगी । उसने उसे बुला कर दृढ़तापूर्वक कहा कि यह भेद न कहे और विदा किया । उसने जाकर कहा—'अगले आसन पर बैठा पहले उतरा ।' प्रभावती ने उसके कहने का विश्वास कर लिया ।

राजा ने फिर उसे देखने की इच्छा से माँ से कहा । जब वह उसे न रोक सकी तो बोली, "अच्छा' भेस बदल कर उद्यान में जाना ।" वह उद्यान पहुँच, पुष्करिणी में गले तक पानी में उतरा और पद्मिनी के पत्तों से सिर ढक लिया तथा खिले पद्मों से मुँह को ढक कर खड़ा हुआ । उसकी माता भी प्रभावती को उद्यान में ले गयी और उसने उसे 'यह वृक्ष देख, पक्षी देख, मृग देख' इस प्रकार प्रलुब्धकर पुष्करिणी-तट पर भेजा । उसने पाँच प्रकार के पद्मों से ढकी पुष्करिणी देखी तो उसकी स्नान करने की इच्छा हुई । वह परिचारिकाओं के साथ पुष्करिणी में उतरी और खेलते-खेलते उस पद्म को देख लेने की इच्छा से हाथ बढ़ाया उस समय राजा ने पद्मिनी-पत्र को हटा "मैं कुसराजा हूँ, कह कर उसे हाथ से पकड़ा । उसने उसकी सकल देखी तो चिल्लायी कि यक्ष मुझे पकड़ रहा है और वहीं बेहोश हो गयी । राजा ने उसका हाथ छोड़ दिया । उसे होश आया, तो उसने सोचा, "मुझे कुसराजा ने हाथ से पकड़ा । इसी ने हस्तिशाला और अश्वशाला में मुझ पर लीद फेंकी थी । इसी ने हाथी के पीछे बैठ कर मुझसे मजाक किया था । मुझे ऐसे दुर्मुख पति से क्या ? मैं जीती रह कर दूसरा पति प्राप्त करूँगी ।" यह सोच उसने अपने साथ आये हुए अमात्यों को बुला कर कहा—"मेरा यान-वाहन तैयार कराओ । आज ही जाऊँगी ।" उन्होंने राजा को कहा । राजा ने सोचा, 'यदि जाने न मिलेगा, तो इसका हृदय फट जायेगा । यह चली जाय । इसे फिर अपने बल से ले आयेंगे ।" उसने उसे जाने की अनुज्ञा दे दी । वह पिता के नगर ही गयी । बोधिसत्व भी उद्यान से नगर में पहुँच अलंकृत प्रासाद पर चढ़े । उसने बोधिसत्व की पूर्व जन्म की प्रार्थना के कारण कामना नहीं की और बोधिसत्व भी पूर्व जन्म के कर्म के फलस्वरूप कुरूप हुआ ।

ख अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी-द्वार-ग्राम में ऊपर की गली में और नीचे की

गली में दो परिवार रहते थे। एक परिवार में दो लड़के थे, किन्तु एक में थी एक ही लड़की। दोनों लड़कों में बोधिसत्व छोटा भाई था। वह लड़की बड़े से ब्याह दी गयी। छोटा भाई बच्चे की तरह बड़े भाई के पास ही रहता था। एक दिन उस घर में बहुत स्वादिष्ट पूए पके। बोधिसत्व जंगल में गया था। उसके हिस्से का पूआ रख कर शेष बाँट कर खा गये। उसी क्षण प्रत्येक-बुद्ध भिक्षा के लिए घर पर पधारे। बोधिसत्व की भाभी ने 'देवर के लिए और पूआ पकाऊँगी' सोच, वह लेकर प्रत्येक-बुद्ध को दे दिया। वह भी उसी क्षण जंगल से लौट आया उसने उसे कहा, "स्वामी ! प्रसन्न हों। तुम्हारा हिस्सा प्रत्येक-बुद्ध को दिया है।" उसने उत्तर दिया "अपना हिस्सा खा कर, मेरा हिस्सा देती है, और क्या करेगी ?" क्रोधाभिभूत होकर उसने (भिक्षा-) पात्र में से पूआ ले लिया। उसने मां के घर से नया ला कर ताजे चम्पक पुष्प सदृश घी से पात्र भर दिया। उसमें से प्रकाश निकला। उसने उसे देख प्रार्थना की, "भन्ते ! जहाँ-जहाँ। मेरा जन्म हो, मेरा शरीर प्रकाश-युक्त हो, मैं श्रेष्ठ रूपवान हो जाऊँ। इस असत्पुरुष के साथ मेरा एक जगह रहना न हो।" अपनी इस पूर्व-प्रार्थना के कारण ही उसने उसे नहीं चाहा। बोधिसत्व ने भी वह पूआ उस पात्र में डाल प्रार्थना की "भन्ते ! चाहे यह सौ योजन पर हो, मैं इसे ला कर अपनी चरण-सेविका बना सकूँ।" उस समय उसने क्रोधाभिभूत हो जो पात्र में से पूआ ले लिया था, उस पूर्व-कर्म के प्रभाव से वह कुरूप हुआ। प्रभावती के चले जाने से वह शोकाकुल हो गया नाना प्रकार से परिचर्य्या करके भी शेष स्त्रियाँ उसकी ओर निहार तक न सकीं। उसे प्रभावती-विहीन सारा घर शून्य सा प्रतीत हुआ। यह समझ कि अब वह सागल नगर पहुँच गयी होगी, उसने प्रातः काल ही माँ के पास पहुँच "माँ, मैं प्रभावती को लाऊँगा, आप राज्य का अनुशासन करें" कह पहली गाथा कही--

> इदं ते रट्ठं सघनं सयोग्गं
> सकायुरं सब्बकामूपपन्नं,
> इदं ते रज्जं अनुसास अम्म
> गच्छाम अहं यत्थ पिया पभावति ॥१॥

[यह तेरा हस्ति-योग आदि सहित तथा पञ्च राज-चिह्नों सहित सभी काम्य वस्तुओं से परिपूर्ण राष्ट्र है। माँ ! तू इसका अनुशासन कर। मैं जहाँ प्रिया प्रभावती है, वहाँ जाऊँगा ॥१॥]

उसने उसकी बात सुनी तो बोली, "तात ! अप्रमादी रहना । स्त्रियाँ बहुत अशुद्धाशय होती हैं ।" फिर उसने एक सोने की चंगेर को नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजनों से भर, "यह रास्ते में खाना" कह विदा किया । वह ले, उसने माता को प्रमाण किया और तीन बार प्रदक्षिणा की । फिर "जीता रहा तो दर्शन करूँगा" कह, शयनागार में जा, पाँच-आयुध बाँधे, और भोजन की चंगेर के साथ हजार कार्षापण थैली में डाल, कोकनद वीणा ले, नगर से निकल मार्गारूढ़ हुआ । उस महाबलवान्, महाशक्तिशाली ने दोपहर तक पचास-योजन समाप्त कर भोजन किया और फिर दिन के शेष हिस्से में पचास-योजन जा एक ही दिन में सौ योजन रास्ता तय कर डाला । शाम को स्नान करके उसने बगल नगर में प्रवेश किया । उसके प्रवेश करते ही उसके तेज के प्रभाव से प्रभावती शैय्या पर न लेटी रह सकी, उतर कर भूमि पर लेट रही । थकावट से चूर बोधिसत्व को गली में जाते देख एक स्त्री ने बुला कर बैठाया, पैर धुलवाये और शैय्या पर लिटा दिया । उसके सो जाने पर भोजन बनाया और जगाकर खिलाया । उसने प्रसन्न हो उसे चंगेर सहित हजार कार्षापण दे दिये । फिर पाँच-आयुध वहीं रख 'हमें एक जगह जाना है' कह, वीणा लेकर हस्ति-शाला पहुँचा । वहाँ उसने हथवानी से कहा, "आज मुझे यहाँ रहने दो, मैं गन्धर्व करूँगा ।" हथवानों की स्वीकृति ले वह एक ओर लेट रहा और जब थकावट दूर हो गयी तो उठकर वीणा निकाल 'सारे नगर वासी सुने' संकल्प से वीणा बजाते हुए गाने लगा । प्रभावती ने भूमि पर पड़े-पड़े वह शब्द सुना तो जान गयी कि यह किसी दूसरे की वीणा का शब्द नहीं है, निस्सन्देह कुसराजा मेरे लिए आया है । मद्दराजा ने भी वह स्वर सुनकर सोचा, "अत्यन्त मधुर स्वर है । कल इसे बुला कर गन्धर्ब कराऊँगा ।"

बोधिसत्व ने सोचा, यहाँ रहते प्रभावती से भेंट नहीं हो सकती, यह स्थान ठीक नहीं ।" वह प्रातः काल ही वहाँ से उठा और जहाँ शाम को भोजन किया था, वहीं प्रातराश कर, वीणा रख, राजा के कुम्हार के पास पहुँच, उसका शिष्य बन गया । वहाँ उसने एक ही दिन में मिट्टी से घर भर दिया । फिर बोला—

"आचार्य ! बरतन बनाऊँ ।"

"तात ! बना ।"

उसने मिट्टी का एक लोंदा चाक पर रख घुमाया। एक बार घुमाया हुआ चाक मध्याह्न तक बिना रुके घूमता ही रहा। उसने नाना प्रकार के छोटे-बड़े बरतन बनाये और प्रभावती के लिए बरतन बनाते हुए उन पर नाना प्रकार के चित्र बना दिये। बोधिसत्व के अभिप्राय सफल होते हैं। उसने संकल्प किया कि उन चित्रों को केवल प्रभावती ही देख सके। सभी बरतन सुखाकर, पका कर घर भर दिया गया। कुम्हार नाना प्रकार के बरतन ले राज-कुल में पहुँचा। राजा ने देख कर पूछा—"इन्हें किसने बनाया?"

"देव! मैंने।"

"मैं यह जानता हूँ कि ये तेरे बनाये नहीं हैं, बता किसने बनाये?"

'देव! मेरे शिष्य ने।"

"यह तेरा शिष्य नहीं है। तेरा आचार्य है। उससे हुनर सीख। अब से वह मेरी लड़कियों के लिए बरतन बनाये। उसे यह हजार देना।"

इस प्रकार हजार दिला, उसने आज्ञा दी कि ये छोटे-छोटे बरतन मेरी लड़कियों को देना। वह उन्हें उनके पास ले गया और बोला कि ये खेलने के छोटे-छोटे बरतन हैं। वे सभी आ गयीं। कुम्भकार ने प्रभावती के लिये बनाये गये बरतन ही उसे दिये। उसने बरतन ले, उन पर अपना और कुबड़ी का चित्र देख जाना कि ये किसी और ने नहीं बनाये, ये कुसराजा ने ही बनाये हैं। वह क्रोधित हो बोली—"मुझे नहीं चाहिए, जो चाहे उसे दे दो।" उसकी बहनों ने मजाक किया—"शायद तू समझती है कि ये कुसराजा ने बनाये हैं। ये कुसराजा ने नहीं, ये कुम्हार ने ही बनाये हैं। इन्हें ले ले।" उसने उसके द्वारा निर्मित होने की बात और उसके आया हुआ होने की बात उन्हें नहीं कही। कुम्हार ने बोधिसत्व को हजार दिये और कहा "तात! राजा तुझ पर प्रसन्न है। अब से तू राजकन्याओं के लिए बरतन बनाया कर। मैं उनके लिए ले जाऊँगा।"

उसने समझ लिया कि यहाँ रहते भी प्रभावती को न देख सकूँगा। वह हजार उसने उसी को दिये और राजा के बंसफोड़ के यहाँ जा, उसका शिष्य बना। उसने प्रभावती के लिए पंखा बनाया और उसी पर श्वेत-छत्र लिये, पानागार तथा वस्तु सहित खड़ी प्रभावती के चित्र के साथ अन्य नाना प्रकार के रूप बनाये। बंस-फोड़ वह पंखा और उसका बनाया हुआ अन्य सामान लेकर

राजकुल गया। राजा ने देखकर पूछा—"इन्हें किसने बनाया ?"! फिर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार ही "ये बाँस का सामान मेरी लड़कियों को दे।"

उसने भी बोधिसत्व द्वारा प्रभावती के लिए बनाया गया पंखा उसे ही दिया। उसपर बने हुए चित्रों को भी और कोई न देख सकता था। प्रभावती ने देखा तो यह जान कर कि ये राजा के बनाये हैं, उन्हें क्रोध से जमीन पर फ़ेंक दिया " जिन्हें लेना हो ले लें।" शेष (बहिनें) उस पर हँसी। बँस-फोड़ ने हजार ले जाकर बोधिसत्व को दिये।

उसने यह स्थान भी मेरे अयोग्य है, समझ हजार उसी को दे वहाँ से भी चल दिया। वह राजा के माली के पास पहुँचा और उसका शिष्य बन कर नाना प्रकार के गजरे आदि बना, प्रभावती के लिए नाना प्रकार के चित्रों से युक्त एक गजरा बनाया। माली वे सब लेकर राज-कुल पहुँचा। राजा ने देख कर पूछा—

"इन फूलों को किसने गूँथा है ?

"देव ! मैंने।"

"मैं जानता हूँ कि तूने नहीं गूँथे हैं, बता किसने गूँथे हैं।

"देव ! मेरे शिष्य ने।"

"वह तेरा शिष्य नहीं है। वह तेरा आचार्य है। उससे हुनर सीख। अब से वह मेरी लड़कियों के लिए फूल गूँथे। उसे ये हजार दे।"

तब उसने कहा, 'ये पुष्प मेरी बेटियों को दे। बोधिसत्व द्वारा प्रभावती के लिए बनाया गया फूलों का गजरा उसे ही दिया गया। उसने उसी प्रकार अपने तथा राजा के रूप के साथ अन्य नाना प्रकार के चित्र देख और यह जान कि यह राजा का ही बनाया है, क्रोधित हो उसे जमीन पर फेंक दिया। शेष बहनें उस पर उसी तरह हँसी। माली ने भी हजार ले जाकर बोधिसत्व को दे, वह सामाचार कहा।

उसने यह स्थान भी मेरे अयोग्य है, समझ, हजार उसी को दिये और राजा के रसोइये के पास जा उसका शिष्य बना। एक दिन रसोइये ने राजा के लिए भोजन सामग्री ले जाते समय बोधिसत्व को अपने लिये भोजन पकाने को हड्डी-मांस दिया। उसने उसे ऐसा पकाया कि गन्ध सकल नगर में फैल गयी। राजा ने उसकी गन्ध पा, पूछा—क्या 'रसोईघर में और भी मांस पकाता है ?'

"देव ! नहीं। हाँ मैंने अपने शिष्य को हड्डी-मांस पकाने के लिए दिया। यह उसी की गन्ध होगी।"

राजा ने उसे मँगवा, उसमें से कुछ जिह्वा पर रखा। उसी समय जिह्वा इन्द्रियों को हजार गुना रस आया। राजा ने रस-तृष्णा के वशीभूत हो हजार दिया और आज्ञा दी कि अब से अपने शिष्य से मेरे तथा मेरी बेटियों के लिये भोजन बनवा, तू मेरे लिए लायाकर और वह मेरी बेटियों के लिये ले जाये। रसोइये ने जाकर कहा। उसने सुना तो प्रसन्न हुआ कि अब मेरा संकल्प पूरा हुआ। अब मैं प्रभावती को देख सकूँगा। उसने संतुष्ट हो, वह हजार उसी को दे दिया और अगले दिन भोजन बना राजा के भोजन के बरतन भेज, राजकन्याओं के भोजन की बँहँगी स्वयं ले, प्रभावती के निवास-स्थान पर जा चढ़ा। उसने जब उसे बँहँगी लिये प्रासाद पर चढ़ते देखा तो सोचा, "यह अपने लिये अयोग्य दासों तथा नौकरों द्वारा किया जाने वाला काम करता है, यदि मैं चुप रहूँगी, तो यह समझेगा कि अब मुझे चाहती है, और अन्यत्र कहीं न जा कर मुझे देखता हुआ, यहीं रहेगा। अभी इसे गाली दे, बुरा-भला कह, मुहूर्त भर भी यहाँ न ठहरने दे कर भगाऊँगी।" उसने द्वार को आधा खोला और एक हाथ को दरवाजे पर तथा दूसरे को अर्गल पर रख दूसरी गाथा कही—

> **अनुज्जु भूतेन हरं महन्तं**
> **दिवा च रत्तो च निसीथकाले,**
> **पटिगच्छ त्वं खिप्पं कुसावतिं कुस**
> **न इच्छामि दुब्बण्णं अहं वसन्तं ॥२॥**

[महाराज ! तू वक्र-चित्त से दिन रात इस भारी बँहँगी को ढोता हुआ बहुत कष्ट भोगता है। हे कुसराज ! तू शीघ्र कुसावती को लौट जा। मैं तुझ कुरूप का यहाँ रहना पसन्द नहीं करती ॥२॥]

वह प्रसन्न हुआ कि प्रभावती की बात तो सुनने को मिली। उसने तीन गाथायें कहीं--

> **नाहं गमिस्सामि इतो कुसावतिं**
> **प्रभावती वण्णपलोभितो तव,**

रमामि मद्दस्स निकेतरम्मे
हित्वान रट्ठं तव दस्सने रतो ।।३।।
पभावती वण्णपलोभितो तव
सम्मूलहरूपो बिचरामि मेदिनिं,
दिसं जानामि कुतोम्हि आगतो
तयम्हि मत्तो मिगमन्दलोचने ।।४।।
सुवण्णचोरवसने जातरूपसुमेखले
सुस्सोणि तव कामा हि नाहं रज्जेन-म-त्थिको ।।५।।

[मैं यहाँ से कुसावती नहीं जाऊँगा । हे प्रभावती ! मैं तेरे वर्ण पर मुग्ध हूँ । मैं तुझे देखने के लिए अनुरक्त होने के कारण (अपना) राष्ट्र छोड़ कर रमणीय मद्द राष्ट्र में रहूँगा ।।३।। हे प्रभावती ! मैं तेरे वर्ण पर मुग्ध हो मूढ़ बना पृथ्वी पर घूमता हूं । मैं कहाँ से आया हूँ, दिशा (नहीं) जानता हूँ । हे मृगनयनी ! तूने मुझे पागल बना दिया है ।।४।। हे स्वर्णपत्र वस्त्र धारण करने वाली ! हे सुनहरी मेखला वाली ! हे सुश्रेणी ! तेरी कामना के कारण मुझे राज्य की अपेक्षा नहीं रही ।।५।।]

ऐसा कहने पर उसने सोचा, 'मैं इसको भला-बुरा कहती हूँ कि यह पश्चाताप करेगा, किन्तु यह तो अनुराग की भाषा ही बोलता है । यदि 'मैं कुसराजा हूँ' कह कर यह हाथ पकड़ ले तो इसे कौन रोकेगा । 'कोई यह बातचीत न सुन ले ।' यह विचार कर उसने द्वार बन्द कर लिया और कुण्डी लगा कर अन्दर खड़ी हुई । उसने भी भोजन की बैहँगी ले जा राज-कन्याओं को भोजन कराया । प्रभावती ने कुबड़ी को भेजा, "जा कुसराज का पकाया भात ला ।" वह ले आयी और बोली," खा ।" उसने कहा, "मैं उसका पकाया भात नहीं खाऊँगी । तू खाकर अपने लिए मिले सीधे से भात पका कर ला । कुसराज के आने की बात किसी से मत कहना ।" इसके बाद से कुबड़ी उसका हिस्सा लाकर स्वयं खाती, अपना हिस्सा (पका) ले जा कर उसे देती । कुसराजा को भी जब उसके बाद से वह देखने को न मिली तो उसने सोचा, "मैं परीक्षा करूँगा कि प्रभावती के मन में मेरे प्रति स्नेह है अथवा नहीं ?" उसने राज-कन्याओं को भोजन कराया और भोजन की बैहँगी लिये जाते समय उसके

द्वार पर, प्रासाद-तल पर पैर पीट, बरतनों को लड़ा, आह करके नीचे मुंह गिर पड़ा। उसने उसके कराहने की आवाज सुन द्वार खोला और उसकी भोजन की बैहँगी को बिखरा देख सोचा, "यह सारे जम्बुद्वीप का श्रेष्ठ राजा है। मेरे कारण दुःख भोगता है। सुकुमार होने के कारण भोजन की बैहगी के भार से गिर पड़ा। यह जीता भी है वा नहीं?" उसने कमरे से निकल उसकी साँस का पता लगाने के लिए, गरदन निकाल कर मुँह देखा। उसने मुँह-भर थूक ले, उसके बदन पर गिरा दिया। वह उसे भला-बुरा कह, घर में घुसी और द्वार आधा बन्द करके खड़ी हुई, तथा यह गाथा कही—

अब्भु हि तस्स भो होति वो अनिच्छन्तं इच्छति
अकामं राज कामेहि अकन्तो कन्तं इच्छसि ॥६॥

[हे महाराज ! जो न चाहने वाले को चाहता है, उसकी परिहानि ही होती है। हे राजन् ! तू कामना के कारण स्वयं कुरूप होता हुआ भी अपनी कामना न करने वाली सुन्दरी को चाहता है ॥६॥]

उसने अनुरक्त रहने के कारण, भला-बुरा कहे जाने पर, परिहास किये जाने पर भी पश्चाताप न कर अगली गाथा कही—

अकामं वा सकामं वा यो नरो लभते पियं
लाभं एत्थ पसंसाम अलाभो तत्थ पापको ॥७॥

[कामना करने वाला हो चाहे न हो, जिस आदमी को उसका प्रिय प्राप्त हो जाता है, वह प्राप्ति प्रशंसनीय है। अप्राप्ति ही बुरी है ॥७॥]

उसके ऐसा कहने पर भी, उसने बिना पीछे हटे, कठोर वचन बोलकर उसे भगाने की इच्छा से गाथा कही—

पासाणसारं खणसि कणिकारस्स दारुना
वातं जालेन बाधेसि यो अनिच्छन्तं इच्छसि ॥८॥

[जो न चाहने वाले को चाहता है, वह कणिकार लकड़ी से पत्थर खोदता है अथवा जाल से हवा को बाँधता है ॥८॥]

यह सुन राजा ने तीन गाथायें कहीं—

पासाणो नून ते हदये ओहितो मुदुलक्खणे,
यो ते सातं न विन्दामि तिरो जनपदं गतो ॥९॥
यदा मं भृकुटिं कत्वा राजपुत्ति उदिक्खसि
आळारिको तदा होमि सञ्ञो मद्दस्स थीपुरे ॥१०॥
यदा उम्हयमाना यं राजपुत्ति उदिक्खसि
नाळारिको तदा होमि राजा होमि तदा कुसो ॥११॥

[हे मृदुलक्षणे ! निश्चय से तेरे हृदय में पाषाण है, तभी तो मैं इस सुदूर जनपद में आया हुआ भी आनन्द का अनुभव नहीं करता हूँ ॥९॥ हे राजपुत्री ! जब तू मुझे भृकुटी टेढ़ी करके देखती है, उस समय मैं मद्दराज के रनिवास का रसोइया हो जाता हूँ ॥१०॥ हे राजपुत्री ! जब मुझे प्रसन्न-वदन हो देखती है, उस समय मैं रसोइया नहीं रहता। उस समय मैं कुसराज हो जाता हूँ ॥११॥]

उसने उसकी बात सुन सोचा, "यह अत्यन्त अनुरक्त होकर बोल रहा है। इसे झूठ बोल कर यहाँ से उपाय से भगाऊँगी।" उसने यह गाथा कहीं—

सचेहि वचनं सच्चं नेमित्तानं भविस्सति
नेव मे त्वं पति अस्स कामं छिन्दन्तु सत्तधा ॥१२॥

[यदि ज्योतिषियों का कहना सत्य है, तो तू मेरा पति कभी नहीं हो सकता, चाहे मेरे सात टुकड़े कर दिये जायें ॥१२॥]

राजा ने उसकी बात सुन उसका विरोध करते हुए कहा—"भद्रे ! मैंने भी अपने राष्ट्र में ज्योतिषियों से पूछा है। उनका कहना है कि सिंह-स्वर कुसराज के अतिरिक्त तेरा दूसरा पति नहीं है। मैं भी अपने ज्ञान-बल से यही बात कहता हूं।" यह कह अगली गाथा कही—

सचे हि वचनं सच्चं अञ्ञेसं यदि वा मयं
न चेव ते पति अत्थि अञ्ञो सीहसरा कुसा ॥१३॥

[यदि दूसरों का अथवा मेरा ही कहना सत्य है, तो सिंह-स्वर कुसराज को छोड़ तेरा और कोई पति नहीं है ॥१३॥]

उसने उसकी बात सुनी तो सोचा, "इसे लज्जित नहीं कर सकती। जाये चाहे रहे।" अपना द्वार बन्द कर उसने अपने आप को छिपा लिया। वह भी बैहँगी लिये उतर आया। उसके बाद से वह उसे देख भी न पाता था। रसोइये का काम करता बहुत कष्ट पाता। प्रातराश करके लकड़ियाँ चीरता, बरतन धोता, बैहँगी से पानी लाता और सोना होता तो बोरी (?) पर ही सोता। प्रातःकाल उठकर यवागु आदि पकाता, ले जाता, खिलाता। काम-रोग के कारण असीम कष्ट सहन करता। एक दिन उसने भोजन-शाला के द्वार पर से गुजरती हुई कुबड़ी को देखकर पुकारा। वह प्रभावती के भय से उसके पास जाने का साहस न कर शीघ्र-गति से गुजरी। उसने तेजी से आगे बढ़कर कहा, "कुबड़ी।" उसने रुककर 'कौन है' कहा और फिर बोली, "तुम्हारी आवाज सुनायी नहीं दी।" वह बोला, "हे कुबड़ी! तू भी और तेरी स्वामिनी भी बहुत कठोर है। इतने समय से तुम्हारे पास रहता हूँ। कुशल-क्षेम भी नहीं पूछी जाती। देने को तो क्या दोगी? अच्छा इसे छोड़। यह बता कि क्या प्रभावती का चित्त कोमल करके दिखा सकेगी?" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। उसने उसे यदि तू उसे दिखा सकेगी, तो तेरा कुबड़ापन दूर कर, तुझे कण्ठा दूँगा" कह, लुभा पांच गाथायें कहीं--

नेक्खं गीवं ते कारेस्सं पत्वा खुज्जे कुसावतिं
सचे मं नागनासुरु ओलोकेय्य प्रभावती ॥१४॥
नेक्खं गीवं ते कारेस्सं. . . . .
सचे. . . . . . . .आलपेय्य पभावती ॥१५॥
नेक्खं गीवं ते कारेस्सं. . . . .
सचे. . . . . .पम्हापेय्य पभावती ॥१६॥
नेक्खं गीवं ते कारेस्सं. . . . .
सचे. . . . . . . .पाम्हापेय्य पभावती ॥१७॥
नेक्खं गीवं ते कारेस्सं पत्वा खुज्जे कुसावतिं
सचे मं नागनासूरु पाणिहि उपसम्फसे ॥१८॥

[हे कुबड़ी! यदि हाथी की सूण्ड के समान जाँघों वाली प्रभावती मेरी ओर देख लेगी, तो मैं कुसावती पहुँचने पर तेरे लिये सोने का कण्ठा

बनवाऊँगा. . .यदि बात कर लेगी,. . .यदि मुस्कुरा देगी,. .यदि खिलखिला कर हँस लेगी, और यदि हाथ से मेरा स्पर्श कर लेगी ॥१४-१८॥

उसकी बात सुन वह बोली, "देव ! आप जायें। मैं कुछ ही दिनों में उसे आपके वंश में कर दूँगी। मेरा पराक्रम देखें।" इतना कह उसने अपना निश्चय किया और प्रभावती के पास जाकर उसके रहने का कमरा साफ करती हुई सी होकर प्रहार देने योग्य मिट्टी का ढेला भी वहाँ न रहने दिया। यहाँ तक कि खड़ाऊँ भी निकाल डाली। फिर सारा कमरा साफ कर, कमरे के द्वार पर, देहली को बीच में करके ऊँचा आसन बनाया और प्रभावती के लिए एक नीची जगह तैयार करके बोली, "आ, तेरे सिर में जुएँ देखूँ।" उसने उसे वैसे बिठा, अपनी जाँघों के बीच उसका सिर रख, थोड़ा खुजला कर कहा, "ओह ! इसके सिर में बहुत जुएँ हैं।" फिर अपने सिर में से जुएँ निकाल कर उसके हाथ पर रख कर बोली, "देख ! तेरे सिर में कितनी जुएँ हैं।" इस प्रकार के प्यारे वचन कह, उसने बोधिसत्व की प्रशंसा करते हुए गाथा कही—

> न हि नूनायं राजपुत्ती कुसे सातं पि विन्दति,
> आळारिके भते पोसे वेतनेन अनत्थिके ॥ ९॥

[निश्चय से यह राजपुत्री वेतन न चाहने वाले, रसोइये कुसराज से आनन्दित नहीं होती है ॥१९॥]

वह कुबड़ी पर क्रोधित हुई। कुबड़ी ने उसे गर्दन से पकड़ अन्दर धकेल कर बाहर का दरवाजा बन्द कर दिया और लटकती हुई रस्सी के सहारे खड़ी हुई। प्रभावती उसे पकड़ने में असमर्थ थी। वह दरवाजे के पीछे खड़ी हो उसे अपशब्द कहती हुई गाथा कहने लगी—

> न हि नुनायं सा खुज्जा लभति जिह्वाय छेदनं
> सुनिसितेन सत्थेन एवं दुब्भासितं भणं ॥२०॥

[यह इस प्रकार का दर्भाषित करने वाली कुबड़ी की जिह्वा (क्यों) तेज शस्त्र से नहीं काट ली जाती ॥२०॥]

कुब्जा ने उस लटकती हुई रस्सी को पकड़े ही पकड़े कहा, "हे अपुण्यवान् !

हे दुर्विनीत ! तेरा रूप किसी के काम आयेगा ? क्या हम तेरा रूप खाकर जियेंगे ?" यह कह तेरह गाथाओं में बोधिसत्व का गुण प्रकाशित करते हुए उसने कुबड़ी की गर्जना की—

मा नं रूपेन पामेसि आरोहेन प्रभावति
महायसोति करस्सु करस्सु रुचिरे पियं ॥२१॥
मा नं रूपेन पामेसि आरोहेन पभावती
महद्धनोति कत्वान........पियं ॥२२॥
मा...... महब्बलो......,.पियं ॥२३॥
मा.......महारट्ठो.......पियं ॥२४॥
मा.......महाराजा.......पियं ॥२५॥
मा.......सीहसरो........पियं ॥२६॥
मा.......वग्गुसरो.......पियं ॥२७॥
मा.......बिन्दस्सरो......पियं ॥२८॥
मा.......मञ्जुस्सरो......पियं ॥२९॥
मा.......मधुस्सरो.......पियं ॥३०॥
मा.......सतसिप्पो.......पियं ॥३१॥
मा.......खत्तियो........पियं ॥३२॥
मा नं रूपेन पामेसि आरोहेन पभावति
कुसराजाति कत्वान करस्सु रुचिरे पियं ॥३३॥

(हे प्रभावती ! इसे रूप के माप से मत माप। इसे महायशस्वी जानकर इसे प्रेम कर ...महाबलशाली जानकर... महान् राष्ट्रवाला जानकर... महान् राजा जानकर...सिंह-स्वर जानकार...लीला युक्त-स्वर जानकर.. गोल-स्वर जानकर....सुन्दर-स्वर जानकर....मधुर-स्वर जानकर.... सौ शिल्पों का जानकर जानकार....क्षत्रिय जानकर तथा कुसराज जानकर प्रेम कर [२१-३३॥]

उसने कुबड़ी को धमकाया, "कुबड़ी बहुत गरजती है। हाथ आ जाय तो तुझे स्वामी की बात समझाऊँ।" उसने उसे डराया, मैंने तुझे बचाने के लिए; तेरे पिता को कुस-राज के आगमन की बात नहीं कही, अच्छा आज राजा को

कहूँगी।" उसने कुबड़ी को इशारा किया, "कोई सुन न ले।" बोधिसत्व को जब वह देखने को नहीं ही मिली तो सात महीने तक भोजन और सोने का दुःख सहते रहने के बाद वह भी सोचने लगा, "मुझे इससे क्या प्रयोजन! सात महीने रहने पर भी दिखायी तक नहीं देती। यह अत्यन्त कठोर है। दुस्साहसिक है। मैं जाकर अपने माता-पिता को देखूँगा।"

उस समय शक्र ने ध्यान लगा कर देखा तो उसे उसके उद्वेग की बात का पता लगा। उसने सोचा, "सात महीने रहने पर भी राजा को प्रभावती को देखने तक नहीं मिला। मैं ऐसा करूँगा कि जिससे इसे देखने मिले।" उसने मद्द-राज के दूतों की शकल बना सातों राजाओं के पास पृथक्-पृथक् दूत भेज कर कहलाया कि "प्रभावती कुसराज को छोड़ कर चली आयी है, आकर ले जायें।" वे बड़े ठाट-बाट से नगर में पहुँचे। वे परस्पर एक दूसरे के आने की बात नहीं जानते थे। उन्होंने एक दूसरे से पूछा, "तू क्यों आया है?" जब ज्ञात हुआ तो सभी क्रोधित हुए, "एक लड़की सात जनों को देगा। इसका अनाचार देखो। हमें ठगता है। इसे पकड़ो।" उन्होंने नगर घेर लिया और संदेश भिजवाया, "या तो हम सभी को प्रभावती दे, अन्यथा युद्ध करे।" मद्दराज ने सन्देश सुना तो भय-भीत हुआ और आमात्यों को बुलाकर पूछा-"क्या करें?"

"देव! ये सात के सात प्रभावती के लिये ही आये हैं। ये कहते हैं, 'यदि नहीं देगा, तो प्राकार तोड़, नगर में प्रवेश कर, जान मार, राज्य ले लेगें।' चहार-दिवारी को बिना टूटने दिये ही उनके पास प्रभावती को भेज दें।"

यह कह कर उन्होंने गाथा कही—

एते नागा उपत्थद्धा सब्बे तिट्ठन्ति वम्मिता
पुरा मद्दन्ति पाकारं आनेन्तेतं पभावतिं ॥३४॥

[ये योद्धा अति दारुण हैं। सभी कवच पहने खड़े हैं। इससे पहले कि ये प्राकार तोड़ें, इन्हें प्रभावती ला दी जाय ॥३४॥]

राजा ने यह बात सुनी तो, "यदि मैं एक को प्रभावती भेज दूँगा, तो शेष राजागण युद्ध करेंगे। मैं एक को नहीं दे सकता हूं। सारे जम्बुद्वीप के चक्रवर्ती राजा को छोड़ आने का फल भोगे। इसे मार सात टुकड़े कर सातों के पास भेजूंगा," कह अगली गाथा कही—

सत्त खण्डे करित्वान अहं एतं पभावतिं
खत्तियानं पदस्सामि ये मं हन्तुं इधागता ॥३५॥

[मैं इस प्रभावती के सात टुकड़े करके उन सातों राजाओं को दे दूंगा, जो मुझे मारने के लिये यहाँ आये हैं ॥३५॥]

उसकी यह बात सारे घर में फैल गयी। सेविकाओं ने जाकर प्रभावती से कहा "राजा तेरे सात टुकड़े करके सातों राजाओं के पास भेजेगा।" वह मृत्यु से भयभीत हो, आसन से उठ, बहनों को साथ ले माता के शयनागार में पहुँची।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

अपुट्ठहि राजपुत्ती सामा कोसेय्यवासिनी
अस्सुपुण्णेहि नेत्तेहि दासिगणपुरक्खता ॥३६॥

[कोषेय-वस्त्र धारिणी, स्वर्ण-वर्णा, अश्रुपूर्ण नेत्रों वाली राजपुत्री, दासगणों को साथ लिये, (माता के पास) पहुँची ॥३६॥]

वह माता के पास पहुँची और माता को नमस्कार कर रोते-पीटते हुए ली—

तं नून कक्कूपनिसेवितं मुखं
आदासदन्ताथरुपच्चवेक्खित,
सुभं सुनेत्तं विरजं अननंगणं
छुद्धं वने ठस्सति खत्तियेहि ॥३७॥
ते नून मे असिते वेल्लितग्गे
केसे मुदु चन्दनसारलित्ते
समाकुले सीवथिकाय मज्झे
पादेहि गिज्झा परिकड्ढयन्ति ॥३८॥
ता नून मे तम्बनखा सुलोभा
बाहा मुदू चन्दनसारलित्ता
छिन्ना वने उज्झिता खत्तियेह
गय्ह वको गच्छति येनकामं ॥३९॥

ते नून तालूपनिभे अलम्बे
निसेविसे कासिकचन्दनेन
थनेसु मे लम्बहीति सिगालो
मातू व पुत्तो तरुणो तनूजो ॥४०॥
तं नून सोणिं पुथुलं सुकोट्ठितं
निसेवितं कञ्चनमेखलाहि
छिन्नं वने खतियेहि अवत्थं
गय्हा वको गच्छति येनकामं ॥४१॥
सोणा वका सिगाला च ये च अञ्ञे सन्ति दाठिनो
अजरा नून हेस्सन्ति भक्खयित्वा पभावतिं ॥४२॥
सचे मंसा हरीयिसु खत्तिया दूरगामिनो
अट्ठीनि अम्म याचित्वा अनुपथे दहाथ-नं ॥४३॥
खेत्तानि अम्म कारेत्व कणिकार एत्थ रोपय
यदा ते पुप्फिता अस्सु हेमन्तानं हिमच्चये
सरेय्याथ मम अम्म: एवं वण्णा प्रभावति ॥४४॥

[अब मेरा वह मुँह, जिस पर पाउडर लगा है, जिसे हाथी दाँत वाले शीशे में देख देखकर सँवारा गया है, जो शुभ है, जो सुनेत्र-युक्त है, जो रज-विरहित है तथा जो दोष-युक्त है, क्षत्रियों द्वारा वन में फेंक दिया जायेगा ॥३७॥ अब निश्चय से मेरे काले, घुँघराले, कोमल, चन्दन-लिप्त आकुल केशों को श्मशान भूमि में गीध पैरों से मलेंगे ॥३८॥ अब निश्चय से ताम्रवर्ण नखों वाली, सुलोम, कोमल, चन्दन-लिप्त बाहों को, जिन्हें क्षत्रियों ने वन में फेंक दिया, भेड़िये यथेच्छ लिये घूमेंगे ॥३९॥ अब निश्चय से मेरे ताड़फल सदृश, काशी चन्दन लिप्त स्तनों में शृगाल ऐसे लटकेंगे जैसे तरुण बच्चा माता के स्तन से ॥४०॥ अब निश्चय से मेरे पृथुल, सुकोटित, श्रोणी भाग को जो स्वर्ण मेखला से अलंकृत रहा है और जिसे क्षत्रियों ने छिन्न-भिन्न करके वन में फेंक दिया है, भेड़िये यथेच्छ लिये घूमेंगे ॥४१॥ कुत्ते, भेड़िये, गीदड़ तथा अन्य जंगली-पशु प्रभावती को खाकर अजर हो जायेंगे ॥४२॥ यदि दूरगामी क्षत्रिय मेरा मांस ले जांय तो माँ तू उन से हड्डियों की माँग कर चौरस्ते

पर वर देता ॥४३॥ फिर उस जगह खेत करवा कर वहाँ कणिकार-पुष्प के पौधे लगवा देना । जब शरद ऋतु के बाद हेमन्त ऋतु आने पर वे पुष्पित हों तो माँ याद करना : प्रभावती इस वर्ण की थी ॥४४॥

इस प्रकार मृत्यु डर से उसने माता के पास विलाप किया । मद्दराजा ने आज्ञा दी कि कुल्हाड़ी और गण्डिका लेकर चोर-घातक यहीं आये । उसके आने की बात सारे राजभवन में प्रकट हो गयी । उसका आगमन सुनकर प्रभावती की माँ आसन से उठ शोक-विह्वल हो, राजा के पास पहुँची ।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने—

> तस्सा माता उदट्ठासिखत्तिया देववण्णिनी
> दिस्वा असिं च सूणञ्च रञ्ञो मद्दस्स थीपुरे ॥४५॥

[देव-वर्ण वाली उसकी क्षत्रिय माता राजा मद्द के रनिवास में तलवार और हत्यारे को देखकर (वहाँ) खड़ी थी ॥४५॥]

उसने विलाप करते हुए गाथा कही—

> इमिना नून असिना सुसञ्ञं तनुमज्झिमं
> धीतरं मद्दो हन्त्वान खत्तियानं पदस्सति ॥४६॥

[इस कुल्हाड़ी से मद्दराजा अपनी लड़की को अच्छी तरह बीच से कटवाकर राजाओं को देगा ॥४६॥]

राजा ने उसे समझाते हुए कहा—"देवी ! क्या कहती है; तेरी लड़की ने सारे जम्बुदीप के राजा को 'कुरूप' मानकर छोड़ दिया और चलने के चरण-चिन्हों के मिटने से भी पहले मृत्यु को सिर पर लेकर आयी । अब अपने 'रूप' के कारण बाण से बध हो ।" उसकी बात सुन माँ बेटी के पास पहुँच विलाप करने लगी—

> न मे अकासि वचनं, अत्थकामाय पुत्तकि
> साज्ज लोहितसञ्छन्ना, गच्छिसि यमसादनं ॥४७॥
> एवं आपज्जती पोसो, पापियं च निगच्छति
> यो वे हितानं वचनं, न करोति अत्थदस्सिनं ॥४८॥

सचे त्वं अज्ज वारेसि, कुमारं चारुदस्सनं
कुसेन जातं खत्तियं, सुवण्णमणिमेखलं
पूजिता ञातिसंघेहि, न गच्छिसि यमक्खयं ॥४९॥
यत्थ अस्सु भेरि नदति, कुञ्जरो च निकुञ्जति
खत्तियानं कुले भद्दे, किं नु सुखतरं ततो ॥५०॥
अस्सो च सिसति द्वारे, कुमारो च उपरोदति
खत्तियानं कुले भद्दे, किं नु सुखतरं ततो ॥५१॥
मयूरकोञ्चाभिरुदे, कोकिलाभिनिकुञ्जिते
खत्तियानं .... ततो ॥५२॥

[बेटी तूने मुझ हित-चिन्तक का कहना नहीं किया। सो आज तू रक्ता-च्छादित होकर यमराज के पास जायेगी ॥४७॥ जो पुरुष अर्थदर्शी हितेच्छुओं का कहना नहीं करता, वह इसी प्रकार दुःख को प्राप्त होता है ॥४८॥ यदि तूने चारु-दर्शन स्वर्ण-मेखला-युक्त क्षत्रिय कुसराज को वरा होता तो तू रिश्ते-दारों के द्वारा पूजित हुई होती और विनाश को न प्राप्त होती ॥४९॥ जहाँ क्षत्रियों के कुल में भेरी नाद होता हो और हाथी चिंघाड़ता हो, भद्रे ! उससे अधिक सुखकर क्या है ? ॥५०॥ जिस क्षत्रिय-कुल के द्वार पर घोड़ा हिन-हिनाता हो और [गन्धर्व-पटु] कुमार वाद्य बजाता हो, उससे अधिक सुखकर क्या है ? ॥५१॥ जहाँ मोर शब्द करते हों और कोयल गूँजती हो, उससे अधिक सुखकर क्या है ?॥५२॥]

इस प्रकार इतनी गाथाओं से उसके साथ संलाप कर उसने "यदि आज कुसराज यहाँ होता तो इन सात राजाओं को भगाकर मेरी लड़की को दुःख से मुक्तकर ले जाता," सोचते हुए गाथा कही—

कहं नु सत्तुमद्दनो, पर रट्ठप्पमद्दनो
कुसो सोळारपञ्ञाणो सो नो दुक्खा पमोचये ॥५३॥

[वह शत्रुओं का दमन करने वाला, वह परराष्ट्र जीतने वाला, वह विशाल-प्रज्ञ कुस-राज कहाँ है ? वह हो तो हमें दुःख से छुड़ाये ॥५३॥]

तब प्रभावती ने यह देख कि मेरी मां कुस-राज की प्रशंसा करने में

थकती नहीं है सोचा कि मैं इसे यह बता दूं कि वह रसोइये का काम करता हुआ यहीं रहता है । उसने गाथा कही––

इधेव नो सत्तुदमनो परपट्ठप्पमद्दनो,
कुसो सोळारपञ्ञानो, सो नो सब्बे वधिसस्सति ॥५४॥

[वह शत्रुओं का दमन करने वाला यहीं है, वह परराष्ट्र मर्दन करने वाला यहीं है, वह विशाल-प्रज्ञ यहीं है, वह हम सब का बध करेगा ॥५४॥]

उसकी माँ ने 'यह मृत्यु-भय से बोलती है' सोच गाथा कही—

उम्मत्तिका नु भणसि आहु बाला व भाससि
कुसो च आगतो अस्स किं न जानेमु तं मयं ॥५५॥

[क्या तू पागल हो गयी है ? अथवा मूर्ख की तरह बोलती है ? यदि कुस-राज यहाँ आया होता, तो क्या हम न पहचान पाते ? ॥५५॥]

ऐसा कहने पर उसने सोचा, "मेरी माता विश्वास नहीं करती । यह नहीं जानती कि उसे यहाँ आकर रहते सात महीने हो गये हैं । मैं उसे दिखाऊँगी ।" उसने माता का हाथ पकड़ा और खिड़की खोलकर हाथ फैलाकर दिखाते हुए गाथा कही—

एसो आळारिको पोसो, कुमारी पुरमन्तरे
बळहं कत्वान संवेल्लिं, कुम्भी धोवति ओनतो ॥५६॥

[यह कुमारियों के रहने की जगह में जो रसोइया काछ को अच्छी तरह बाँधे, झुककर बरतन धोता है; (यही वह है) ॥५६॥]

राजा ने सुना तो सोचा, "आज मेरा उद्देश्य पूरा होगा । निश्चय मृत्यु-भय से प्रभावती मेरे आने की बात कहेगी, मैं बरतनों को धोकर ठीक-ठाक रख दूं ।" वह पानी लाया और बरतनों को धोना आरम्भ किया । उसकी माता ने प्रभावती की निन्दा करते हुए गाथा कही––

वेणी त्वं असि चण्डाली, अद्दूसि कुलघातिनी
कथं मद्दकुले जाता, दासं कयिरासि कामुकं ॥५७॥

[तू बंस-फोड़नी है, चाण्डालिनी है अथवा कुलघातिनी है ? तू ने मद्दकुल में जन्म लेकर दास को कैसे किया है ? ॥५७॥]

प्रभावती ने यह सोच कि मेरी माँ इसका यहां मेरे कारण रहना नहीं जानती प्रतीत होती हैं, अगली गाथा कही—

न अम्हि वेणी न चण्डाली, न चम्हि कुलघातिनी
ओक्काकपुत्तो भद्दं ते त्वं नु दासो ति मञ्जसि ॥५८॥

[न मैं बंस-फोड़नी हूँ, न चाण्डालिनी हूँ और न कुलघातिनी ही हूँ। तेरा भला हो, तू ओक्काक-पुत्र को दास समझ रही है ॥५८॥

अब उसकी प्रशंसा करते हुए बोली—

यो ब्राह्मण सहस्सानि; सदा भोजेति वीसतिं
ओक्काकपुत्तो भद्दंते, त्वंनु दासो ति मञ्ञति ॥५९॥
यस्स नागसहस्सानि, सदा योजेन्ति वीसतिं
ओक्काकपुत्तो भद्दंते, त्वं न दासो ति मञ्ञसि. . . .॥६०॥
यस्स अस्ससहस्सानि सदा योजेन्ति वीसतिं. . . .॥६१॥
यस्स रथसहस्सानि, सदा योजेन्ति वीसतिं. . . .॥६२॥
यस्स उसभसहस्सानि, सदा योजेन्ति वीसतिं. . . .॥६३॥
यस्स धेनुसहस्सानि, सदा दुम्हन्ति वीसतिं. . . .॥६४॥

[जो सदा बीस-हजार ब्राह्मणों को भोजन कराता है, तेरा भला हो, तू उस ओक्काक-पुत्र को दास समझती है ॥५९॥ जिसके यहाँ सदा बीस हजार हाथी जुतते हैं, तेरा भला हो, तू उस ओक्काक-पुत्र को दास समझती है ॥६०॥ जिसके यहाँ सदा बीस हजार घोड़े जुतते हैं. . .जिसके यहाँ सदा बीस हजार रथ जुतते हैं, ...जिसके यहाँ सदा बीस हजार बैल जुतते हैं, . . जिसके यहाँ सदा बीस हजार गौवें दुही जाती हैं, तेरा भला हो, तू उस ओक्काक पुत्र को दास समझती है ॥६१-६४॥

इस प्रकार उसने छः गाथाओं से बोधिसत्व का गुणानुवाद किया। तब उसकी माता को विश्वास हुआ, "यह निर्भय होकर बोल रही है, सम्भव हैऐसा

ही हो।" उसने जाकर राजा से यह बात कही। उसने जल्दी से प्रभावती के पास पहुँच पूछा—

"सचमुच क्या कुसराज यहाँ आया है?"

"हाँ तात! उसे लड़कियों का रसोइयापन करते हुए सात महीने हो गये।"

उसने उसका विश्वास न किया। तब कुबड़ी से पूछा और यथार्थ बात जानकर लड़की को फटकारते हुए गाथा कही—

> तग्घ ते दुक्कतं बाले, यं खत्तियं महब्बलं
> नागं मण्डूकवण्णेन, न तं अक्खासिधागतं ॥७५॥

[हे मूर्खे! तूने बहुत बुरा किया जो यह नहीं बताया कि महाबलवान् क्षत्रिय हाथी मेण्डक के रूप में यहाँ आया है ॥६५॥]

इस प्रकार बेटी को फटकार, वह जल्दी से उसके पास पहुँचा और स्वागत किये जाने पर, हाथ जोड़ अपना दोष प्रकट करते हुए बोला--

> अपराधं महाराज, त्वं नो खम रथेसभ
> यं तं अञ्ञातवेसेन, न जानिम्ह इधागतं ॥६६॥

[हे महाराज! हमारे अपराध को क्षमा करें। हमने अप्रकट वेश में यहाँ आने के कारण नहीं पहचाना ॥६६॥]

यह सुन बोधिसत्व ने, "यदि मैं कठोर बोलूंगा, तो यहीं इसका हृदय फट जायेगा, मैं इसे आश्वस्त करूँगा" सोच बरतनों के बीच में खड़े ही खड़े, गाथा कही--

> मादिसस्स न तं छन्नं, योहं आळारिको भवे
> त्वञ्ञेव मे पसीदस्सु, नत्थि ते देव दुक्कतं ॥६७॥

मेरे जैसे के लिए यह योग्य नहीं है कि मैं रसोइया बनूं। किन्तु देव! आप प्रसन्न हों। आप का कोई दोष नहीं है ॥६७॥]

राजा ने उससे आदृत हो, प्रासाद पर चढ़, प्रभावती को बुला, क्षमा माँगने के लिए भेजते हुए कहा—

गच्छ बाले खमापेहि, कुसराजं महब्बलं
खमापितो कुसराजा सो, ते दस्सति जीवितं ॥६८॥

[मूर्खे ! जा महाबलवान् कुसराज से क्षमा माँग। क्षमा कर देने पर कुसराजा तुझे जीवन दान देगा ॥६८॥]

पिता के ऐसा कहने पर वह बहनों तथा सेविकाओं सहित उसके पास गयी। उसने कमकर वेष में खड़े ही खड़े जब यह जाना कि वह उसके पास आ रही है, तो तय किया कि आज प्रभावती के अभिमान को चूर कर उसे कीचड़ में पैरों पर गिराऊँगा। वह जितना पानी लाया था उसको गिराकर खलिहान-मात्र जगह में कीचड़ ही कीचड़ कर दिया। वह उसके पास पहुँची और कीचड़ में उसके पाँवों पर पड़ क्षमा माँगी।

इस अर्थ को प्रकट करते हुए शास्ता ने—

पितुस्स वचनं सुत्वा, देववण्णी प्रभावती
सिरसा अग्गाहि पादे कुसराजं महब्बलं ॥६९॥

[देव-वार्णी प्रभावती ने पिता का कहना मान महाबलशाली कुसराज के पैरों पर सिर रखा ॥६९॥]

उसने तीन गाथायें कहीं—

या इमा रत्या अतिक्कन्ता इमा देव तया विना,
वन्दे ते सिरसा पादे, मा मे कुज्झि रथेसभ ॥७०॥
सच्चं ते पटिजानामि, महाराज सुणोहि मे
न चापि अप्पियं तुय्हं, करेय्यामि अहं पुन ॥७१॥
एवञ्चे याचमानाय, वचनं मे न काहसि
इदानि मं ततो हन्त्वा, खत्तियानं पदस्सति ॥७२॥

[हे देव ! ये जो इतनी रातें तेरे बिना बीतीं, मैं तेरे पैरों में सिर रखती हूँ, तुम मुझपर क्रोध न कर ॥७०॥ हे महाराज ! मैं आपको वचन देती हूँ। मेरी बात सुनें। मैं अब फिर कभी आपको 'अप्रिय' नहीं करूँगी ॥७१॥ यदि इस प्रकार प्रार्थना करने वाली का मेरा कहना नहीं करेंगे, तो मुझे अभी मार कर राजाओं को दे दिया जायेगा ॥७२॥]

यह सुन राजा ने "यदि मैं इसे कहूँगा कि 'तू ही जान' तो इसका हृदय फट जायेगा। मैं इसे आश्वस्त करूँगा" सोच कहा—

एवं ते याचमानाय किं, न काहामि ते वचो,
वि-क्कुद्धो त्यास्मि कल्याणि, मा त्वं भायि पभावति ॥७३॥
सच्चं ते पाटिजानामि, राजपुत्ति सुणोहि मे
न चापि अप्पियं तुय्हं, करेय्यामि अहं पुन ॥७४॥
तव कामाहि सुस्सोणि, बहुं दुक्खं तितिक्खिस्सं
बहू मद्दकुले हन्त्वा, नयितुं तं पभावति ॥७५॥

[इस प्रकार याचना करने पर मैं तेरा कहना क्यों न करूँगा ? हे कल्याणी मेरे मन में तेरे प्रति क्रोध नहीं है। भयभीत न हो ॥७३॥ हे राज-पुत्री ! मेरी बात सुन ! मैं तुझे सच्चा वचन देता हूं कि अब फिर तुझे "अप्रिय" नहीं करूँगा ॥७४॥ हे सुश्रोणी ! तेरी कामना से मैंने मद्दकुल को मारकर तुझे ले जाने में समर्थ होते हुए भी बहुत दुःख सहन किया ॥७५॥

देवराज शक्र के परिवार की तरह उसने अपना परिवार देख, क्षत्रिय-मान से अभिभूत हो, राजांगन में सिंह की तरह गर्जना की—"मेरे जीते जी, दूसरे मेरी भार्य्या ले जायेंगे ! सारे नगरवासी जान लें कि मैं आ गया हूं।" इस प्रकार घोषणा करता हुआ, चिल्लाता हुआ और तालों पीटता हुआ बोला, "अब उन्हें जीते जी पकड़ूँगा। रथादि जोड़े जायँ।" यह कह कर उसने गाथा कही—

योजयन्तु रथे अस्से, नानाचित्रे समाहिते
अथ दक्खथ मे वेगं, विधमेन्तस्स सत्तवो ।७६॥

[नाना प्रकार के अलंकृत, सुशिक्षित अश्वों को रथ में जोतो और तब शत्रुओं को विध्वंस करने में मेरा वेग देखो ॥७६॥]

उसने उसे विदा किया, ' शत्रुओं को पकड़ना मेरा काम है। तू जा स्नान कर अलंकृत हो, प्रासाद पर चढ़ा।" मद्दराजा ने भी उसे ठीक-ठाक करने के लिए आमात्यों को भेजा। उन्होंने रसोई-घर के सामने ही कनात तनवा कर नाइयों की व्यवस्था की। हजामत बनवा चुकने पर उसने सिर से स्नान किया और सब अलंकारों से अलंकृत हो, आमात्यों को साथ ले 'प्रासाद पर

चढ़ूंगा' कह चारों ओर देख ताली बजायी। जहां-जहां उसकी नजर पड़ी, सब कांप उठे। वह बोला, "अब मेरा पराक्रम देखो।"

तञ्च तत्थ उदिक्खिंसु, रञ्ञो मद्दस्स थीपुरे
विजम्भमानं सीहं व, पोथेन्तं दिगुणं भुजं ॥७७॥

[मद्द नरेश के रनिवास की स्त्रियों ने उसे सिंह की तरह गरजते और दोनों बाहों को ठोकते हुए देखा ॥७७॥

मद्दराजा ने उसके पास स्थिर, अलंकृत हाथी भेजा। उसने श्वेत-छात्र युक्त हाथी के कन्धे पर चढ़ प्रभावती को भी मंगाकर पीछे बैठाया और चारों प्रकार की सेना ले, पूर्व द्वार से निकल शत्रु-सेना की ओर देखा "मैं कुसराज हूँ, जो जान बचाना चाहें, पेट के बल लेट जायें" तीन बार सिंह-नाद कर शत्रु-मर्दन किया।

[इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—]

हत्थिक्खन्धं च आरुय्ह, आरोपेत्वा पभावतिं
संगामं ओतरित्वान, सीहनादं नदी कुसो ॥७८॥

तस्स तं नदतो सुत्वा, सीहस्सेव इतरे मिगा
खत्तियापि पलायिंसु, कुससद्दभयट्टिता ॥७९॥

हत्थारुहा अनीकट्ठा, रथिका पत्तिकारिका
अञ्ञमञ्ञस्स छिन्दन्ति, कुससद्दभयट्टिता ॥८०॥

तस्मिं संगामसीसस्मिं, पस्सित्वा हट्ठमानसो
कुसस्स रञ्ञो देविन्दो, अदा वेरोचनं मणिं ॥८१॥

सो तं विजित्वा संगामं, लद्धा वेरोचनं मणिं
हत्थिक्खन्धगतो राजा, पावेक्खि नगरं पुरं ॥८२॥

जीवगाहं गहेत्वान, बन्धित्वा सत्तखत्तिये
ससुरस्स उपनामेसि इमे ते देव सत्तवो ॥८३॥

सब्बे व ते वसं गता, अमित्ता विहता तव,
कामं करोहि ते तया, मुञ्च वा ते हनस्सु वा ॥८४॥

[प्रभावती के साथ हाथी के कन्धे पर बैठकर कुस राज ने संग्राम में उतर सिंह-नाद किया ॥७८॥ जिस प्रकार सिंह की गर्जना को सुनकर दूसरे जानवर, उसी प्रकार कुस राज की आवाज से भयभीत क्षत्रिय भी भाग गये ॥७९॥ कुसराज के शब्द से भयभीत हस्तिआरोही, अश्वारोही, रथारोही तथा पैदल चलने वाले आपस में एक दूसरे को छेड़ने लगे। उसी संग्राम भूमि में सन्तुष्ट-चित्त देवेन्द्र ने (उसका पराक्रम) देख कुसराजा को वेरोचन मणि दी ॥८०-८१॥ उसने उस संग्राम को जीतकर वेरोचन मणि प्राप्त की और हाथी पर चढ़े राजा ने नगर में प्रवेश किया ॥८२॥ शत्रु राजाओं को जीते जी पकड़कर श्वसुर के सामने ले आया। देव ! ये तेरे शत्रु हैं ॥८३॥ ये सब वशीभूत हो गये हैं। अब जो तुम्हारी इच्छा हो करें--मारें चाहें छोड़ें ॥८४॥]

राजा बोला—

> तुम्ह एव सत्तवो एते, न हेते मय्हं सत्तवो
> त्वञ्ञेव नो महाराज, मुञ्च वा ते हनस्सुवा ॥८५॥

[ये तेरे ही शत्रु हैं। ये मेरे शत्रु नहीं। तू ही हमारा महाराज है, चाहे छोड़ चाहे मार ॥८५॥]

ऐसा कहने पर बोधिसत्व ने सोचा, "इन्हें मारने से क्या लाभ ! इनका आगमन निरर्थक न हो, प्रभावती से छोटी मद्दराजा की सात कन्यायें हैं। वे इन्हें दिलाऊँगा।" यह सोच यह गाथा कही—

> इमा ते धीतरो सत्त, देवकञ्ञासमा सुभा
> ददाहि तेसं एकेकं, होन्तु जामातरो तवं ॥८६॥

[ये देवकन्याओं के समान तेरी सात सुन्दर कन्यायें हैं। इन्हें एक-एक दे दे। ये तेरे जामाता हो जायें ॥८६॥]

राजा ने उत्तर दिया—

> अम्हाकञ्चेव तासं च, त्वं नो सब्बेसं इस्सरो
> त्वञ्ञेन नो महाराजा, देहि नेसं यदिच्छसि ॥८७॥

[हमारा और इन सब का तू ही 'ईश्वर' है। तू ही हमारा महाराज है। जो देना चाहे दे ॥८७॥]

उसने उन सबको अलंकृत कर एक-एक राजा को एक-एक दिलवायी। इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने पाँच गाथायें कहीं—

एकमेकस्स एकेकं, अदा सीहस्सरो कुसो
खत्तियानं तदा तेसं, रञ्ञो मद्दस्स धीतरो ॥८८॥
पीणिता तेन लाभेन, तुट्ठा सीहस्सरे कुसे
सकरट्ठानि पायिंसु, खत्तिया सत्त तावदे ॥८९॥
पभावतिं च आदाय, मणिं वेरोचनं तदा
कुसावतिं कुसो राजा, अगमासि महब्बलो ॥९०॥
त्यस्सु एकरथे यन्ता, पविसन्ता कुसावतिं
समानवण्णरूपेन, न अञ्ञमञ्ञातिरोचिसुं ॥९१॥
माता पुत्तेन संगञ्छि, उभयो च जयम्पती
समग्गा ते तदा आसुं, फीतं धरणिं आवासुं ॥९२॥

[सिहस्वर कुसराज ने उन राजाओं में से एक-एक को मद्दराजा की एक-एक कन्या दी ॥८८॥ उस लाभ से प्रसन्न हो सिहस्वर कुसराज के प्रति प्रसन्नचित्त सातों राजा उसी समय अपने-अपने राज्य चले गये ॥८९॥ उस समय महाबलवान कुसराज प्रभावती और वेरोचन मणि को लेकर कुसावती पहुँचा ॥९०॥ वे एक रथ में बैठकर जाते हुए और कुसावती में प्रविष्ट होते हुए वर्ण और रूप में समान होने से परस्पर एक दूसरे से अधिक नहीं चमक रहे थे ॥९१॥ माता पुत्र से मिली और तब से वे दोनों पति-पत्नी मिलकर रहे और पृथ्वी धनधान्य पूर्ण रही ॥९२॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला सत्यों का प्रकाशन कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों के अन्त में उद्विग्न-चित्त भिक्षु स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय माता-पिता महाराज कुल थे। छोटा (भाई) आनन्द था। कुवड़ी खुज्जुत्तरा थी। प्रभावती राहुल-माता। परिषद् बुद्ध-परिषद्। कुसराज तो मैं ही था।

⊙

५३२. सोन-नन्द जातक

"देवता नु सि. ." यह शास्ता ने जेतवन में बिहार करते समय मातृसेवक भिक्षु के बारे में कही। कथा साम जातक[1] के समान ही है। उस समय शास्ता ने 'भिक्षुओं, इस भिक्षु को हैरान मत करो। पुराने पण्डितों ने सारे जम्बुद्वीप के राज्य को भी अस्वीकार कर माता-पिता का पोषण किया है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी ब्रह्मवर्धन का नगर था। वहाँ मनोज नाम का राजा राज्य करता था। वहाँ एक अस्सी करोड़ धन वाला महासारवान ब्राह्मण था—पुत्र विहीन। उसकी ब्राह्मणी ने उसी के कहने पर कि "पुत्र की प्रार्थना कर" पुत्र की प्रार्थना की। तब बोधिसत्व ने ब्रह्मलोक से च्युत होकर उसकी कोख में जन्म ग्रहण किया। पैदा होने पर उसका सोनकुमार नाम रखा गया। उसके पैरों से चलने लगने के समय दूसरे प्राणी ने भी ब्रह्म-लोक से च्युत हो उसी की कोख में जन्म ग्रहण किया। पैदा होने पर उसका नाम नन्द कुमार रखा गया। उनके वेद सीख चुकने पर और सब शिल्पों में पारंगत हो जाने पर, उनकी रूप-सम्पत्ति देख ब्राह्मण ने ब्राह्मणी को बुलाकर कहा—"भवति ! पुत्र सोनकुमार को गृहस्थी के बन्धन में बाँधे।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार कर पुत्र को यह बात कही। वह बोला—"मुझे गृहस्थी नहीं चाहिए। मैं जीवन भर तुम्हारी सेवा कर, तुम्हारे बाद हिमालय में प्रविष्ट हो प्रव्रजित होऊँगा।" उसने ब्राह्मण को वह बात कही। बार-बार कहकर भी जब वे उसे नहीं मना सके तो उन्होंने नन्द कुमार को बुलाकर

---

१. साम जातक (५४०)

कहा—"तो तात ! तू ही वंश-परम्परा को चालू कर।" वह बोला—"मैं भाई द्वारा त्यागे काम-भोगों को सिर पर धारण नहीं करूँगा। मैं भी तुम्हारे न रहने पर भाई के साथ प्रव्रजित होऊँगा।" तब वे सोचने लगे, "ये तरुण होकर भी इस प्रकार काम-भोगों का त्याग करते हैं। हमारी क्या बात है। हम सभी प्रव्रजित होंगे।" उन्होंने "तात ! हमारे बाद प्रव्रजित होने से क्या, हम सभी अभी प्रव्रजित होंगे" कह राजा को सूचना दे, सारा धन दान कर, दासों को मुक्त कर, रिश्तेदारों को देने योग्य दिया। फिर चारों जने ब्रह्म-वर्धन नगर से निकल, हिमालय-प्रदेश में, पाञ्च-पद्मों से ढके तालाब के पास रमणीक वन-खण्ड में आश्रम बना, प्रव्रजित हो वहीं रहने लगे। दोनों भाई माता-पिता की सेवा करते। प्रातःकाल ही उन्हें दातून और मुँह धोने का जल देते। पर्णशाला तथा आँगन साफ करते। पानी लाते। जंगल से मीठे फल लाकर माता-पिता को खिलाते। गरम या ठण्डे जल से स्नान कराते। जटाओं को साफ करते। पैर दबाना आदि करते।

इस प्रकार समय के बीतने पर नन्द पण्डित ने अपने ही लाये हुए फला-फल माता-पिता को खिलाने के इरादे से, कल और परसों जहाँ से फल इकट्ठें किए थे, उसी स्थान से प्रातःकाल ही जैसे-तैसे फल लाकर माता-पिता को खिलाने आरम्भ किये। वे उन्हें खाकर मुख-प्रक्षालन कर उपोसथ-व्रतधारी हो जाते। सोन पण्डित दूर जाकर मधुर पके फल लेकर आता। वे कहते, "तात ! तेरे छोटे भाई द्वारा लाये गये प्रातःकाल ही खाकर हमने व्रत ग्रहण कर लिया। अब हमें इनकी आवश्यकता नहीं।" इस प्रकार उसके लाये फलाफल काम में न आते। खराब हो जाते। आगे भी यही होता रहा। वह अपने पाँच प्रकार के ज्ञान के कारण दूर जाकर भी लाता। वे फिर न खाते।

तब बोधिसत्व ने सोचा—"मेरे माता-पिता सुकुमार हैं। नन्द जैसे-तैसे कच्चे-पक्के फल लाकर खिला देता है। इस प्रकार तो यह अधिक काल तक न जीते रह सकेंगे। इसे रोकता हूँ।" उसने कहा—"नन्द ! अब से फलाफल लाकर मेरे आने तक प्रतीक्षा किया कर। दोनों मिलकर खिलाया करेंगे।" ऐसा कहने पर भी अपने लिये ही पुण्य की आकांक्षा करने के कारण, उसने वैसा नहीं किया। बोधिसत्व ने 'नन्द मेरा कहना न मानकर ठीक नहीं कर रहा है, सोच निश्चय किया, 'इसे भगाऊँगा।' फिर यह सोच कि अकेला ही माता-

पिता की सेवा करूंगा, उसने कहा, "नन्द ! तुझे उपदेश देना बेकार है। तू पण्डितों का कहना नहीं करता है। मैं ज्येष्ठ हूँ। मेरे ऊपर ही माता-पिता की जिम्मेदारी है मैं ही इनकी सेवा करूंगा। तुझे यहाँ रहने नहीं मिलेगा। अन्यत्र जा।" यह कह उसे थप्पड़ (?) मारा। वहाँ से भगा दिये जाने के कारण वह वहाँ न ठहर सका। भाई को प्रणाम करके वह माता-पिता के पास गया और वह बात कह अपनी पर्णशाला में प्रवेश किया। उसने ध्यान-विधि का अभ्यास कर उसी दिन पाँच अभिञ्जा तथा आठ समापत्तियाँ प्राप्त कर सोचा, "मैं सुमेरु-पर्वत के नीचे से रतन-बालु लाकर अपने भाई की पर्णशाला के आँगन में बिखेर कर भाई से क्षमा याचना करने में समर्थ हूँ। लेकिन यह बहुत शोभनीय नहीं होगा। अनोतप्त (सर) से जल लाकर क्षमा-याचना करूँगा। यह भी शोभनीय न होगा। यदि मेरा भाई देवताओं के वशीभूत हो क्षमा न करे तो चारों महाराज तथा शुक्र को लाकर क्षमा कराऊँगा। यह भी मेरे लिये शोभनीय न होगा। सारे जम्बुद्वीप के महाराज मनोज के साथ अन्य राजाओं को लाकर क्षमा कराऊँगा। ऐसा होने पर मेरे भाई का गुण सारे जम्बुद्वीप में फैल जायेगा। चाँद-सूर्य की तरह प्रकट हो जायेगा।" वह उसी समय ऋद्धि-बल से ब्रह्म-वर्धन नगर में उस राजा के दरवाजे पर उतरा और सूचना भिजवाबी कि एक तपस्वी भेंट करना चाहता है। राजा ने भात भिजवा दिया—"प्रव्रजित मुझसे भेंट करके क्या करेगा? आहार के लिए आया होगा।" उसने भात नहीं लिया। चावल भिजवाया। वस्त्र भिजवाया। नकद भिजवाया। नकद की भी इच्छा नहीं की। तब उसके पास दूत भेजा, "किस लिये आया है?" उसने दूत को उत्तर दिया—"राजा की सेवा करने आया हूँ।" राजा ने उत्तर भिजवाया—"मेरे सेवक बहुत हैं। अपना तपस्वी-धर्म करे।" उसने यह बात सुन, कहलाया, "मैं तुम्हारे राजा को अपने बल से सारे जम्बुद्वीप का राज्य लेकर दूँगा।" राजा ने यह सुना तो सोचा, 'प्रव्रजित पण्डित होते हैं। कोई उपाय जानते होंगे।" उसने बुलवाया, आसन दिलवाया और नमस्कार करके पूछा, "भन्ते। आप मुझे सारे जम्बुद्वीप का राज्य लेकर देंगे।"

"महाराजा। हाँ।"

'कैसे लेंगे?"

"महाराज ! छोटी मक्खी जितना रक्त पीती है, उतना रक्त भी बिना बहाये, बिना तेरे धन की हानि किये, अपने ऋद्धि-बल से ही लेकर दूँगा। केवल बिना विलम्ब किये आज ही निकलने की आवश्यकता है।"

वह उसका विश्वास कर सेना को साथ ले निकला। यदि सेना को गरमी लगती तो नन्द अपने ऋद्धि-बल से छाया करके ठण्डक कर देता, वर्षा होती तो सेना के ऊपर बरसने न देता, गरम हवा को रोक लेता, मार्ग के काँटे, ठूंठ आदि सभी बाधायें हर लेता, रास्ते को कसिण-मण्डल की तरह समतल बना स्वयं आकाश में चर्म बिछा, पालथी मार सेना के आगे-आगे जाता। इस प्रकार सेना ले चलकर पहले कोशल राष्ट्र पहुँचा। वहाँ नगर से कुछ ही दूर पर छावनी डाल कोशल-नरेश के पास दूत भिजवाया, या युद्ध करो, या अधीनता स्वीकार करो।" वह गुस्सा हुआ और सेना लेकर आगे बढ़ा, "क्या मैं राजा नहीं हूँ, युद्ध करूँगा।" दोनों सेनाओं में युद्ध होना आरम्भ हुआ। नन्द ने दोनों सेनाओं के बीच में जिस अजिन-चर्म पर वह बैठा था, उसे बड़ा करके फैला दिया। दोनों सेनाओं के फेंके तीरों को चमड़े से ही रोक लिया। किसी एक सेना में से भी किसी एक को भी तीर नहीं लगा। हाथ के तीर समाप्त होने पर दोनों सेनायें निरुपाय हो गयीं। नन्द ने कोशल-नरेश के पास जाकर आश्वासन दिया, "महाराज! डरें नहीं। आप को कोई खतरा नहीं। आपका राज्य आप का ही रहेगा। केवल मनोज राजा के अधीन हो जाना होगा।" उसने उसका विश्वास कर 'अच्छा' कह स्वीकार किया। उसने उसे मनोज के पास ले जाकर कहा, "महाराज! कोशल-नरेश आप की अधीनता स्वीकार करता है। इसका राज्य इसका ही रहे।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। तब दोनों सेनाओं को ले अंग राष्ट्र जाकर, अंग को अधीन बनाया और मगध राष्ट्र जाकर मगध को। इस प्रकार सारे जम्बुद्वीप के राजाओं को अपने वश में कर उन्हें साथ ले ब्रह्म-वर्धन नगर ही पहुँचा। राज्य लेने में उसे सात वर्ष, सात महीने और सात दिन लग गये। एक-एक राजधानी में उसने नाना प्रकार का खाद्य-भोज्य मँगवाया और सौ राजाओं को ले उनके साथ सप्ताह भर तक महापान किया। नन्द ने सोचा, "जब तक राजा सप्ताह भर ऐश्वर्य-सुख में मस्त है, तब तक मैं इसे अपने आपको न दिखाऊँगा।" वह उत्तर-कुरु में भिक्षा माँग हिमालय में कञ्चन-गुप्त द्वार पर सप्ताह भर रहा। मनोज ने भी सातवें

दिन अपने वैभव की ओर देखते हुए सोचा, "यह ऐश्वर्य मुझे न माता-पिता से और न अन्य किसी से मिला है। यह नन्द तपस्वी से ही मिला है। किन्तु उसे न देखे आज सातवाँ दिन हो गया है। मेरा वह ऐश्वर्य-दायक मित्र कहाँ चला गया ?" जब उसे मालूम हुआ कि राजा उसे याद कर रहा है तो वह सामने आकर आकाश में खड़ा हो गया। राजा ने सोचा, "मैं नहीं जानता कि यह तपस्वी मनुष्य है, अथवा देवता है। यदि यह मनुष्य होगा तो सारे जम्बुद्वीप का राज्य इसे ही दे दूंगा। यदि देवता होगा तो इसका देवता-सत्कार करूँगा।" उसने इसकी जाँच करने के लिए पहली गाथा कही—

देवता नु सि गन्धब्बो अदु सक्को पुरिंददो
मनुस्सभूतो इद्धिमा कथं जानेमु तं मयं ॥१॥

[तू देवता है ? तू गन्धर्व है ? तू शक्र है ? अथवा तू ऋद्धिवान् पुरुष है ? हम तुझे क्या समझें ? ॥१॥]

उसकी बात सुन यथार्थ बात कहते हुए उसने दूसरी गाथा कही—

नम्हि देवो न गन्धब्बो, न पि सक्को पुरिंददो
मनुस्सभूतो इधिमा, एवं जानाहि भारत ॥२॥

[न मैं देवता हूँ, न गन्धर्व हूँ और न शक्र ही हूँ। मैं ऋद्धि-प्राप्त मनुष्य हूँ। हे भारत ! तू मुझे ऐसा जान ॥२॥]

यह सुन राजा ने, "यह मनुष्य है, इसने मुझ पर बहुत उपकार किया है, मैं इसे भारी ऐश्वर्य से सन्तुष्ट करूँगा" सोच, कहा—

कतरुपं इधं भोता, वेय्यावच्चं अनप्पकं
देवम्हि वस्समानम्हि, अन्वावस्सं भवं अका ॥३॥
ततो वातातपे घोरे, सीतच्छायं भवं अका
ततो अमित्तमज्झेसु, सुरतानं भवं अका ॥४॥
ततो फीतानि रट्ठानि, वसिनो ते भवं अका
ततो एकसतं खत्ते, अनुयुत्ते भवं अका ॥५॥

पतीत अस्सु मयं भोतो, वर तं भञ्वं इच्छसि,
हत्थियानं अस्सरथं, नारियो च अलंकता
निवेसनानि रम्मानि, मयं भोतो ददामसे ॥६॥
अथ [वा] अंगे वा मगधे, [वा] मयं भोतो ददामसे
अथ वा अस्सकावन्ति, सुमना दम्म ते मयं ॥७॥
उपड्ढं वापि रज्जस्स, मयं भोतो ददामसे
सचे ते अत्थो रज्जेन, अनुसास यद इच्छसि ॥८॥

[आपका यह कार्य कैसा है कि देव के बरसते होने पर आपने वर्षा रोक दी ॥३॥ तब आप ने घोर धूप में शीतल छाया कर दी । तब शत्रुओं तथा मध्यस्थों को अपना प्रेमी बना लिया ॥४॥ तब समृद्धशाली राष्ट्रों को अपने अधीन कर लिया । तब एक सौ राजाओं को अपना अनुयायी बना लिया ॥५॥ हम आप पर प्रसन्न हैं । जिस वर की इच्छा हो, वह माँगें-- हाथी, अश्व, अलंकृत नारियाँ और रमणीय घर । हम आप को सब देंगे ॥६॥ हम आप को अंग, मगध, अश्मक अथवा अवन्ती राष्ट्र भी देंगे । हम आपको आधा राज्य भी देंगे ॥७॥ यदि आप को राज्य की इच्छा हो तो कहें ॥८॥]

यह सुन नन्द ने अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए कहा—

न मे अत्थो हि रज्जेन, नगरेन धनेन वा
अथो हि जनपदेन अत्थो, मय्हं न विज्जति ॥९॥

[न मुझे राज्य की आवश्यकता है, न नगर की, न धन की और न मुझे जनपद ही चाहिए ॥६॥]

"यदि तेरे मन में मेरे लिये स्नेह है तो मुझे एक वचन दे" कह गाथायें कहीं—

भोतो च रट्ठे विजिते, अरञ्ञे अत्थि अस्समो
पिता मय्हं जनेत्ती च, उभो सम्मन्ति अस्समे ॥१०॥
तेसहं पुब्बचरियेसु पुञ्ञं, न लभामि कातवे
भवन्तं अज्झाचरं कत्वा, सोनं याचामु संवरं ॥११॥

[आप के राज्य में, आरण्य में एक आश्रम है। उस आश्रम में मेरे पिता और माता दोनों रहते हैं। ॥१०॥ मैं अपने एक अपराध के कारण उनकी सेवा नहीं कर सकता। आप को साथ करके मैं उनसे क्षमा माँगना चाहता हूँ ॥११॥]

राजा बोला—

करोमि ते तं वचनं, यं मं भणसि ब्राह्मण
एतञ्च खो नो अक्खाहि कीवन्तो भोन्तु याचका ॥१२॥

[हे ब्राह्मण ! जो तू कहता है, मैं तेरा वचन करूँगा। यह तू हमें कह। कितने याचक अपेक्षित हैं ? ॥१२॥]

नन्द पण्डित बोला—

परोसतं जानपदा, महासाला च ब्राह्मणा
इमे च खत्तिया सब्बे, अभिजाता यसस्सिनो
भवं च राजा मनोजो, अलं हेस्सन्ति याचका ॥१३॥

[शताधिक जानपद, शताधिक महासारवान् ब्राह्मण, ये सब यशस्वी अभिजात क्षत्रिय तथा आप भवान राजा मनोज पर्याप्त याचक होंगे ॥१३॥

राजा बोला—

हत्थी अस्से च योजेन्तु, रथं सन्नाय्ह नं रथि
आबान्धनानि गण्हाथ, पादासुस्सारयं धजे,
अस्समं तं गमिस्सामि, यत्थ सम्मति कोसियो ॥१४॥

[हाथी, घोड़ों को तैयार करें। रथी ! रथ को तैयार करो। हाथी, घोड़ों आदि के साज-सामान लो तथा रथों पर ध्वजा चढ़ाओ। जहाँ कोसिय गोत्र रहता है, हम उस आश्रम में जायेंगे ॥१४॥]

यह सम्बुद्ध गाथा है—

ततो च राजा पायासि सेनाय चतुरंगिनी
अगमा अस्समं रम्मं यत्थ सम्मति कोसियो ॥१५॥

[तब चतुरंगिनी सेना के साथ राजा पायासी कोसिय के निवास-स्थान रमणीक आश्रम को गया ॥१५॥]

उसके आश्रम पहुँचने के दिन सोन ने सोचा, "मेरे भाई को निकाले सात वर्ष, सात महीने और सात दिन हो गये। वह इस समय कहाँ है?" उसे दिव्य-चक्षु से दिखायी दिया। "चौबीस अक्षोहिणी सेना तथा सौ राजाओं के साथ मुझसे ही क्षमा माँगने के लिये चला आ रहा है।" तब उसने सोचा, "इस परिषद् तथा इन राजाओं ने मेरे छोटे भाई द्वारा प्रदर्शित बहुत सी प्रातिहार्यिँ देखी होंगी। मेरे प्रताप को न जानने के कारण यह सोच सकते हैं कि यह ढोंगी जटिल अपनी सामर्थ्य नहीं जानता, हमारे आर्य के साथ झगड़ा करता है। इस प्रकार यह मेरीं निन्दा करने से नरक-गामी हो सकती है। इसलिये मैं इन्हें अपना ऋषि-बल दिखाऊँगा।" उसने बैहँगी को कन्धे से बिना स्पर्श किये, चार अंगुल ऊपर रखकर उठाया और अनोतप्त (सर) से पानी लाने के लिये राजा से थोड़ी दूर रह चला। नन्द ने उसे आता देखा तो सामने न हो सकने के कारण, जहाँ बैठा था वहीं अन्तर्धान हो, भाग कर हिमालय पहुँचा। मनोज राजा ने सुन्दर ऋषि-वेश में उसे आते देखा तो गाथा कही—

> कस्स कादम्बयो काचो वेहासं चतुरंगुलं
> अंसं असम्फुसं एति उदाहारस्स गच्छतो ॥१६॥

[यह किसकी बैहँगी है, जो पानी लेने जा रहा है और जिसके कन्धे को बिना स्पर्श किये बैहँगी आकाश में चार अंगुल-ऊपर-ऊपर जा रही है?॥१६॥
ऐसा करने पर बोधिसत्व ने दो गाथायें कहीं—

> अहं सोनो महाराज तापसो सहितंबतो
> भरामि मातापितरो रत्तिदिवं अतंदितो ॥१७॥
> वने फलञ्च मूलञ्च आहरित्वा दिसम्पति
> पोसेमि मातापितरो पुब्बेकतं अनुस्सरं ॥१८॥

[महाराज! मैं व्रती तपस्वी हूँ। आलस्य रहित होकर रात-दिन माता-पिता की सेवा करता हूँ॥१७॥ हे राजन्! मैं माता-पिता के पूर्व-उपकार को याद करके वन से फल-फूल लाकर उनका पोषण करता हूँ॥१८॥]

यह सुन राजा ने उसके मन में विश्वास पैदा करने के लिए अगली गाथा कही—

इच्छाम अस्समं गन्तुं यत्थ सम्मति कोसियो
मग्गं नो सोन अक्खाहि येन गच्छेमु अस्समं ॥१९॥

[मैं उस आश्रम में जाना चाहता हूँ, जहाँ कोसिय रहता है। हे सोन! मुझे मार्ग बता जिससे आश्रम चलें ॥१९॥]

बोधिसत्व ने अपने प्रताप से आश्रम जाने का रास्ता बना गाथा कही—

अयं एकपदी राजा येनेतं मेघसन्निभं
कोविळारेहि सञ्छन्नं एत्थ सम्मति कोसिय ॥२०॥

[राजा! यह पगडण्डी जिस मेघवर्ण कोविळार-पुष्प से आच्छादित कानन को जाती है, वहीं कोसिय रहता है ॥२०॥]

ये अभिसम्बुद्ध गाथायें हैं—

इदं वत्वान पक्कामि तरमानो महाइसि
वेहासे अन्तलिक्खस्मिं अनुसासित्वान खत्तिये ॥२१॥
अस्समं परिमज्जित्वा पञ्ञापेत्वान आसनं
पण्णसालं पविसित्वा पितरं पटिबोधयि :
इमे आयन्ति राजानो अभिजाता यस्सिनो
अस्समा निक्खमित्वान निसीद त्वं महाइसे
तस्स त्वं वचनं सुत्वा तरमानो महाइसि
अस्समा निक्खमित्वान पण्णद्वारम्हि उपाविसि ॥२२-२४॥

[यह कह कर महान् ऋषि राजा को अनुशासित कर शीघ्रता से आकाश मार्ग से अन्तरिक्ष में चला गया ॥२१॥ उसने आश्रम साफ करके, आसन बिछाकर पर्णशाला में प्रवेश कर पिता को सूचना दी : हे महान् ऋषि! ये यशस्वी अभिजात राजागन चले आ रहे हैं। आप आश्रम से बाहर निकल कर बैठें। उसकी यह बात सुन महान् ऋषि शीघ्रता से निकल पर्णशाला के द्वार पर बैठा ॥२२-२४॥

बोधिसत्व के अनोतप्त (सरोवर) से पानी लेकर आश्रम लौट आने पर नन्द ने भी राजा के पास आ आश्रम से कुछ ही दूर पर छावनी डाली। राजा ने स्नान कर, सब अलकारों से अलंकृत हो, नन्द तपस्वी को साथ ले, बड़े

ऐश्वर्य्य के साथ, बोधिसत्व से क्षमा कराने के लिए, आश्रम में प्रवेश किया। उसे वैसे आता देख, बोधिसत्व के पिता ने पूछा। उसने भी उत्तर दिया।

[इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—]

तञ्च दिस्वान आयंतं जलन्तरिव तेजसा
खत्तसङ्घ परिब्बूळ्ह कोसियो एतद् अब्रवि ॥२५॥
कस्स भेरी मुतिंगा च संखा पणवडेण्डिमा
पुरतो पटिपन्नानि हासयन्ता रथेसभं ॥२६॥
कस्स कञ्चनपट्टेन पुथुना विज्जुवण्णिना
युवा कलापसन्नद्धो, को एति सिरिया जलं ॥२७॥
उक्कामुखे पहट्ठं व खदिरंगार सन्निभं
मुखं चारुरिवाभाति को एति सिरिया जलं ॥२८॥
कस्स पग्गहितं छत्तं ससलाकं मनोरमं
आदिच्चरंसावरणं, को एति सिरिया जलं ॥२९॥
कस्स अकं परिग्गय्ह वालवीजनि उत्तमं
चरति वरपञ्ञास्स हत्थिक्खन्धेन आयतो ॥३०॥
कस्स सेतानि छत्तानि आजानीया च वम्मिता
समन्ता परिकिरन्ति, को एति सिरिया जलं ॥३१॥
कस्स एकसतं खत्या अनुयुत्ता यस्ससिनो
समन्ता अनुपरियन्ति, को एति सिरिया जलं ॥३२॥
हत्थि अस्सरथपत्ति सेनाय, चतुरंगिनी
समन्ता अनुपरियाति, को एति सिरिया जलं ॥३३॥
कस्स एसा महती सेना, पिट्ठितो अनुवत्तति
अक्खोभणी अपरियन्ता सागरस्सेव ऊमियो ॥३४॥

[उसे तेज से प्रकाशमान् की तरह क्षत्रिय-संघ सहित आते हुए देख कोसिय यह बोला ॥२५॥ यह किस राजा को सन्तुष्ट करते हुए भेरी मृदंग, शंख ढोल तथा दुन्दुभि आगे बज रहें हैं ? ॥२६॥ किस तरुण का तूणीर बिजली समान, विशाल सुनहरी पट्टे से बँधा है ? कौन श्री से प्रकाशित चला आता है ? ॥२७॥ सुनार की अँगीठी में डाले हुए सोने की तरह अथवा खदिरङ्गार

की तरह किसका मुँह चमकता है ? कौन श्री से प्रकाशित चला आता है ? ॥२८॥ सूर्य की रश्मियों से ढका हुआ, मनोरम डण्डी सहित, यह छत्र किसके सिर पर धारण किया हुआ है ? कौन श्री से प्रकाशित चला आता है ? ॥२९॥ हाथी-कन्धे पर बैठे आते समय, किस श्रेष्ठ प्रज्ञावान् के सिर पर उत्तम पंखा झला जाता है ? ॥३०॥ यह श्वेत-छत्र और श्रेष्ठ कवचधारी किसे चारों ओर से घेरे हैं ? कौन श्री से प्रकाशित चला आता है ? ॥३१॥ यह एक सौ यशस्वी क्षत्रिय किसे चारों ओर से घेरे हैं ? कौन श्री से प्रकाशित चला आता है ? ॥३२॥ हाथी, अश्व, रथ तथा पैदल यह चतुरंगिनी सेना किसे लिये चली आती है ? कौन श्री से प्रकाशित चला आता है ? ॥३३॥ समुद्र की लहरों की तरह यह असीम अक्षोहिणी सेना किसके पीछे चली आती है ? ॥३४॥]

सोन ने उत्तर दिया—

राजाभिराजा मनोजो इन्दो व जयं-पति
नन्दस्स अज्झावारं एति अस्समं ब्रह्मचारिनं ॥३५॥
तस्सेसा महती सेना पिट्ठितो अनुवत्तति
अक्खोभणी अपरियन्ता सागरस्सेव ऊमियो ॥३६॥

[इन्द्र के समान विजयी राजाभिराजा मनोज नन्द को मुझसे क्षमा दिलाने के लिये ब्रह्मचारियों के आश्रम आता है ॥३५॥ समुद्र की लहरों की तरह यह असीम अक्षोहिणी सेना उसी के पीछे चलती है ॥३६॥]

शास्ता ने कहा--

अनुलित्ता चन्दनेन कासिकवत्थधारिनो
सब्बे पञ्जलिका हुत्वा इसीनं अज्झुपागमुं ॥३७॥

[चन्दन अनुलिप्त, काशी वस्त्र धारी वे सभी राजा हाथ जोड़े हुए ऋषियों के पास आये ॥३७॥]

तब मनोज राजा ने नमस्कार किया और एक ओर खड़े हो कुशल-क्षेम पूछते हुए दो गाथायें कहीं--

कच्चि नु भोतो कुसलं, कच्चि भोतो अनामयं
कच्चि उञ्छेन यापेथ, कच्चि मूलफला बहू ॥३८॥

कच्चि डंसा च मकसा च अप्पं एव सिरिंसपा
वने वाळमिगाकिण्णे कच्चि हिंसा न विज्जति ॥३९॥

[आप सकुशल तो हैं ? आप निरोग तो हैं ? क्या उञ्छाचर्या से जीविका चलती है ? और क्या फलमूल खूब हैं ? ॥३८॥ क्या डांस, मच्छर और सर्पादि कम हैं ? क्या मृगों से आकीर्ण जंगल में हिंसा नहीं होती ? ॥३९॥]

कुसलं चेव नो राजा अथो राजा अनामयं
अथो उञ्छेन यापेम, अथो मूलफला बहू ॥४०॥
अथो डंसा च मकसा च अप्पं एव सिरिंसपा
वने वाळमिगाकिण्णे हिंसा अम्हं न विज्जति ॥४१॥
बहूनि वस्स पूगानि अस्समे सम्मतं इध
नाभिजानामि उप्पन्नं आबाधं अमनोरमं ॥४२॥
स्वागतं ते महाराज अथो ते अदुरागतं,
इस्सरो सि अनुप्पत्तो, यं इध अत्थि पवेदय ॥४३॥
तिण्डुकानि पियालानि मधुके कासुमारियो
फलानि खुद्दकप्पानि, भुञ्ज राज वरं वरं ॥४४॥
इदं पि पानीयं सीतं आभतं गिरिगव्हरा
ततो पिव महाराजा सचे त्वं अभिकंखसि ॥४५॥

[हम सकुशल हैं । हम निरोग हैं । हम उञ्छा-चर्य्या से काम चलाते हैं । बहुत फल-मूल हैं ॥४०॥ और डांस, मच्छर तथा रेंगने वाले जानवर थोड़े ही हैं । मृगाकीर्ण वन में भी हम में हिंसा नहीं है ॥४१॥ यहाँ आश्रम में बहुत से आदृत पूग हैं कभी कोई अमनोज्ञ बाधा उत्पन्न नहीं हुई है ॥४२॥ महाराज ! आप का स्वागत है । आप का शुभागमन है । आप हमारे 'ईश्वर' आये हैं । जो यहाँ करणीय हो, कहें ॥४३॥ तिन्दुक, पियाल, मधुक तथा कासुमारिय आदि छोटे कुछ फल हैं । राजन् अच्छे-अच्छे खायें ॥४४॥ यह गिरिगह्वर से लाया हुआ शीतल पानी भी है । हे राजन् ! यदि इच्छा हो तो इसका पान करें ॥४५॥]

राजा बोला--

पटिग्गहीतं यं दिन्नं च सब्बस्स अग्घियं कतं,
नन्दस्सापि निसामेथ वचनं पं सो पवक्खति ॥४६॥
अज्झावर अम्ह नवस्सगोतो सेतिकं आगता,
सुणातु भवं वचनं नन्दस्स परिसाय च ॥४७॥

[जो कुछ आपने दिया, वह सब हमने स्वीकार किया। आपने सब के प्रति अमूल्य व्यवहार किया। अब नन्द की बात भी सुने कि यह क्या कहता है ? ॥४६॥ हम नन्द के साथी होकर आप के पास आये हैं। आप नन्द और परिषद् का कहना सुनें ॥४७॥]

ऐसा कहे जाने पर नन्द ने भी आसन से उठ माता-पिता तथा भाई को नमस्कार कर, परिषद् के साथ बातचीत करते हुए कहा—

परोसतं जनपदा महासाला च ब्राह्मणा
इमे च खत्तिया सब्बे अभिजाता यसस्सिनो
भवं च राजा मनोजो अनुमञ्ञन्तु मे वचो ॥४८॥
ये हि सन्ति समीतारो यक्खानि, इध अस्समे
अरञ्ञे भूत भब्यानि सुणन्तु वचनं मम ॥४९॥
नमो कत्वान भूतानं इसिं वक्खामि सुब्बतं
सो त्याहं दक्खिणो बाहु तव कोसिय सम्मतो ॥५०॥
पितरं मे जनेतिञ्च भत्तुकामस्स मे सतो
वीर पुञ्ञं इदं ठानं, मा मं कोसिय वारय ॥५१॥
सब्भि हेतं उपञ्ञातं, यं एतं उपनिस्सज
उट्ठानपारिचरियाय दीघरत्तं तया कतं,
मातापितुसु पुञ्ञानि मम लोकददो भव ॥५२॥
तत्थेव सन्ति मनुजा धम्मे धम्मपदं विदू
मग्गो सग्गस्स लोकस्स यथा जानासि त्वं इसे ॥५३॥
उट्ठानपारिचरियाय मातापितु सुखावहं
तं मं पुञ्ञाभिवारेति अरियमग्गवरो नरो ॥५४॥

[शताधिक जानपद और महा सारवान् ब्राह्मण, ये सभी यशस्वी अभिजात क्षत्रिय तथा आप राजा मनोज मेरे कथन का समर्थन करें ॥४८॥ इस आश्रम

में जितने यक्ष आये हैं और आरण्य में जितने भव्य भूत हैं, वे भी मेरा कहना सुनें ॥४९॥ मैं भूतों को नमस्कार करके सुव्रती ऋषि से निवेदन करता हूँ : हे कोसिय ! मैं उसकी दाहिनी भुजा हूँ ॥५०॥ पिता तथा माता की सेवा करने की इच्छा रखने वाले मुझ को हे कोसिय ! वैसा करने से न रोकें, क्योंकि यह पुण्य-लाभ का मार्ग है ॥५१॥ सभी ने इसकी प्रशंसा की है। तू (माता-पिता की सेवा का कार्य) मुझे सौंप दे। तू ने दीर्घ काल तक माता-पिता की सेवा की। माता-पिता की सेवा पुण्य-लाभ कराती है। इस प्रकार तू मेरा (स्वर्ग) लोक का दाता हो जा ॥५२॥ हे ऋषि ! जैसे तू स्वर्ग के मार्ग को जानता है, उसी प्रकार दूसरे भी लोग धर्म में धर्म-स्थान को जानने वाले हैं ॥५३॥ माता-पिता की सेवा सुखावह होती है। उस पुण्य से तू मुझे रोकता है। तू आर्य-मार्ग में बाधक होता है ॥५४॥]

इस प्रकार नन्द के कहने पर बोधिसत्व ने कहा 'तुमने इसका कहना सुन लिया, अब मेरा भी कहना सुनें' कह सुनाते हुए कहा--

सुणन्तु भोन्तो वचनं भातुर अज्झावरा ममः
कुलवंसं महाराज पोराणं परिहापयं
अधम्मचारि जेट्ठेसु निरयं सो उपपज्जति ॥५५॥
यो च धम्मस्स कुसला पोराणसस्स दिसम्पति
चारित्तेन च सम्पन्ना न ते गच्छन्ति दुग्गतिं ॥५६॥
माता पिता च भाता च भगिनी ञाति ब्रन्धवा
सब्बे जेट्ठस्स ते भारा, एवं जानाहि भारत ॥५७॥
आदियित्वा गरूं भारं नाविको विय उस्सहे,
धम्मं च नप्पमज्जामि, जेट्ठो चस्मि रथेसभ ॥५८॥

[आप सब लोग जो मेरे भाई के समर्थक हैं, मेरा कहना सुनें। महाराज ! जो पुरानी परम्परा को तोड़ अपने से ज्येष्ठ के प्रति अधर्माचरण करता है, वह नरक में उत्पन्न होता है ॥५५॥ हे राजन् ! जो परम्परागत धर्म में कुशल है और आचारवान हैं वे दुर्गति को प्राप्त नहीं होते ॥५६॥ हे भारत ! यह समझ की माता-पिता, भाई-बहन तथा जाति-बन्धु सभी ज्येष्ठ पर ही भार होते हैं ॥५७॥ जिस प्रकार नाविक भारी नौका को ढोने का प्रयत्न करता

है, उसी प्रकार मैं धर्म में प्रमाद नही करता हूँ। हे रथेसभ ! मैं ज्येष्ठ हूँ ॥५८॥]

यह सुन सभी राजा सन्तुष्ट हुए और बोले कि आज हमने जाना कि बड़े भाई पर सभी का भार होता है। उन्होंने नन्द का पक्ष छोड़ बोधिसत्व के आश्रित हो उसकी प्रशंसा करते हुए दो गाथायें कहीं—

अधितम्ह तमे ञानं जालं व जातवेदतो
एवमेव नो भवं धम्मं कोसियो पविदंसयि ॥५९॥
यथा उदयं आदिच्चो वासुदेवो पभंकरो
पाणिनं पविदंसेति रूपं कल्याणपापकं
एवमेव नो भवं धम्मं कोसियो पविदंसयीति ॥६०॥

[आज हमने अन्धकार में ज्ञान को इस प्रकार प्राप्त कर लिया जैसे अग्नि की ज्वाला को। इसी प्रकार आप कोसिय ने हमें धर्म का ज्ञान कराया ॥५९॥ जैसे समुद्र में से उत्पन्न होने वाला प्रभास्वर वासुदेव सूर्य प्राणियों को सभी अच्छे-बुरे रूपों का दर्शन कराता है उसी प्रकार आप कोसिय ने हमें धर्म का ज्ञान कराया ॥६०॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने उन सभी राजाओं को जो नन्द को प्रातिहारी देख अभी तक उसके प्रति श्रद्धावान् थे, ज्ञान-बल से, उसकी ओर से विमुख कर, अपनी ओर कर लिया। तब नन्द ने यह समझ कि "मेरा भाई पण्डित है, व्यक्त है, धर्मकथिक है, इसने सभी राजाओं को अपनी ओर कर लिया है, इसे छोड़ और कोई मेरा शरणदाता नहीं है' मैं उसी से प्रार्थना करूँगा" गाथा कही—

एव मे याचमानस्स अञ्जलिं नावबुज्झसि,
तव बद्धञ्चरो हेस्सं वुट्ठितो परिचारको ॥६१॥

[इस प्रकार मेरे क्षमा याचना करने पर भी यदि आप मुझे क्षमा नहीं करते हैं, तो मैं आपका ही आज्ञाकारी सेवक बनूँगा ॥६१॥]

बोधिसत्व के मन में स्वभाव से भी नन्द के प्रति वैर अथवा रोष नहीं था। अति कठोर वाणी उसका मान मर्दन करने के लिये तथा उसका निग्रह करने के लिए ही थी। वैसा करके, अब उसका कहना सुन, प्रसन्न-चित्त हो,

उसके प्रति स्नेह उत्पन्न कर "अब तुझे क्षमा करता हूँ, अब तू माता-पिता की सेवा कर सकेगा" कह, उसका गुण प्रकाशित करते हुए कहा—

> अद्धा नन्द विजानासि सद्धम्मं सब्भि देसितं,
> अरियो अरियसमाचारो, बाळहं त्वं मम रुच्चसि ॥६२॥
> भवन्तं वदामि भोतिञ्च सुणोथ वचनं मम
> नायं भारो भारमतो अरु मझं कुदाचनं ॥६३॥
> तं मं उपट्ठितं संतं मातापितुसुखावहं
> नन्दो अज्झावरं कत्वा उपट्ठनाय याचति ॥६४॥
> यो वे इच्छति कामेन सन्तानं ब्रह्मचारिनं
> नन्वं वो वदथ एके कं नन्दो उपतिट्ठतु ॥६५॥

[निश्चय से नन्द तू सत्पुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म को पहचानता है। तू श्रेष्ठ है। तेरा आचरण श्रेष्ठ है। तू मुझे और भी रुचता है ॥६२॥ मैं पिताश्री तथा माताश्री से निवेदन करता हूँ। मेरा कहना सुनें। आप की सेवा मुझे कभीं भार नहीं हुई ॥६३॥ माता-पिता की सुखदायक सेवा करते हुए मुझ से नन्द सिफारिश लाकर सेवा कर सकने की याचना करता है ॥६४॥ हम दोनों ब्रह्मचारियों में से आप कहें कि नन्द आप दोनों में से किस एक की सेवा करे ॥६५॥]

तब माता ने आसन से उठ कहा, ,'तात सोन ! छोटा भाई चिरकाल से बाहर रहा है। तो भी मैं उससे याचना नहीं कर सकती। हम तेरे भरोसे ही रहे हैं। अब तू ने आज्ञा दे दी है। मैं चाहती हूँ कि मैं इस ब्रह्मचारी को बाँहों में लेकर इस का सिर सूँघूं।" इस अर्थ को प्रकाशित करती हुई वह बोली—

> तया तात अनुञ्ञाता सोन तं निस्सितामयं
> उपघातुं लभे नन्दं मुद्धनि ब्रह्मचारिनं ॥६६॥

[तात सोन ! तेरी अनुज्ञा हो गयी है। हम तेरे ही भरोसे हैं। हमें ब्रह्मचारी नन्द के सिर को सूँघना मिले ॥६६॥

बोधिसत्व ने कहा, "तो माँ ! अनुज्ञा है। तू जाकर पुत्र नन्द का

आलिंगन कर, सिर को सूँघ, चूम, हृदय के शोक को शांत कर।" वह उसके पास पहुँची और नन्द का सभा के बीच में ही आलिंगन कर सिर सूँघ तथा चुम्बन ले उसने अपने हृदय के शोक को शान्त कर बोधिसत्व के साथ बातचीत करते हुए गाथायें कहीं--

अस्सत्थस्सेव तरुणं पवाळं मालुचेतेरितं
चिरस्सं नन्दं दिस्वान हृदयं क पवेधति ॥६७॥
यदा सुत्तापि सुप्पन्ते नन्द पस्सामि आगतं
उदग्गा सुमना होमि नन्दो नो आगतो अयं ॥६८॥
यदा च पटिबुज्झित्वा नन्दं पस्सामि नागतं
भिय्यो आविसती सोको दोमनस्सञ्चानप्पकं ॥६९॥
साहं अज्ज चिरस्सं पि नन्दं पस्सामि आगतं
भत्तुच्च मय्यञ्च पियो नन्दो नो पाविसी घरं ॥७०॥
पितु पि नन्दो सुप्पियो, यं नन्दो पाविसी घरं
लभतु तात नन्दो तं यं नन्दो उपतिट्ठतु ॥७१॥

[जैसे हवा से चालित तरुण अश्वत्थ की कोपल काँपती है, उसी प्रकार आज चिरकाल के बाद नन्द को देखकर मेरा हृदय काँप रहा है ॥६७॥ जब सोते समय स्वप्न में भी नन्द को आया हुआ देख लेती थी तो मैं प्रसन्नता से व्यग्र होकर उठ जाती थी। यह हमारा नन्द आ गया ॥६८॥ जब जागकर नन्द को आया हुआ नहीं देखती थी, तो शोक और भी बढ़ जाता था तथा बहुत दुःख होता था ॥६९॥ आज मैं चिरकाल के बाद नन्द को घर में आया हुआ देखती हूँ। स्वामी का तथा मेरा प्रिय नन्द आज घर आया है ॥७०॥ जो नन्द घर आ गया है, वह पिता को भी सुप्रिय हैं। हे तात ! नन्द जो चाहता हे उसे मिले और नन्द मेरी सेवा करे ॥७१॥

बोधिसत्व ने 'ऐसा हो" कह माता की आज्ञा शिरोधार्य की और नन्द को उपदेश देते हुए कहा, "नन्द ! तुझे बड़ा हिस्सा मिल गया है। माता के अनन्त गुण हैं। अप्रमादी होकर सेवा करना।" फिर माता के गुणों को प्रकाशित करते हुए दो गाथायें कहीं—

अनुकम्पका पतिट्ठा च पुब्बे रस ददी च नो
मग्गो सग्गस्स लोकस्स माता ते वरते इसे ॥७२॥
पुब्बे रसददी गोत्ती माता पुञ्ञूपसंहिता
मग्गो सग्गस्स लोकस्स माता तं वरते इसे ॥७३॥

[हे ऋषि ! जो अनुकम्पा करने वाली है, प्रतिष्ठा है, जो (क्षीर रूपी) रस की प्रथम दायिका है तथा जो स्वर्ण-लोक का मार्ग है, वह माता तेरा चुनाव करती है ॥७२॥ प्रथम (क्षीर-रूपी) रस का पान कराने वाली, रक्षा करने वाली पुण्य-दायिका तथा स्वर्ग-लोक का मार्ग जो माता है, वह हे ऋषि तेरा चुनाव करती है ॥७३॥]

इस प्रकार दो गाथाओं से माता का गुण प्रकाशित कर; फिर उसके आकर आसन पर बैठने पर, कहा—"नन्द ! तुझे बड़ी दुष्कर क्रिया करने वाली माता का लाभ मिला है। हम दोनों को ही माँ ने बड़े कष्ट से पाला है। अब तू अप्रमादी होकर उसकी सेवा कर। उसे अमधुर फलाफल मत खिलाना।" यह कह सभा में ही माता की दुष्कर-क्रिया का प्रकाशन किया—

आकंखमाना पुत्तफलं देवताय नमस्सति
नक्खत्तानि च पुच्छति उतुसंवच्छरानि च ॥७४॥
तस्सा उतुसिनाताय होति गब्भस्स अवक्कमो
तेन दोहळिनी होति, सुहदा तेन वुच्चति ॥७५॥
संवच्छरं वा ऊनंवा परिहरित्वा विजायति,
तेन सा जनयन्ती जनेत्ती तेन वुच्चति ॥७६॥
थनखीरेन गीतेन अंगपापुरणेन च,
रोदन्तं एव तोसेति, तोसेन्ती तेन वुच्चति ॥७७॥
ततो वातातपे घोरे मंमिकत्वाव दारकं
अप्पजानन्तं पोसेति, पोसेन्ती, तेन वुच्चति ॥७८॥
यंच मातु धनं होति, यं च होति पितू धनं
उभयं एतस्स गोपेति, अपि पुतस्स नो सिया ॥७९॥
एवं पुत्त अदू पुत्त इति माता विहञ्ञति
पमत्तं परदारेसु निसीथे पत्तयोब्बने
साय पुत्तं अनायन्तं इति माता विहञ्ञति ॥८०॥

एवं किच्छा भतो, पोसो, मातु अपरिचारको
मातरि मिच्छा चरित्वान निरयं सो उपपज्जति ॥८१॥
एवं किच्छा भतो पोसो पितु अपरिचारको
पितरि मिच्छा चरित्वान निरयं सो उपपज्जति ॥८२॥
धनापि धनकायानं नस्सति इति मे सुतं,
मातरं अपरिचरित्वान किच्छं वा सोनिगच्छति ॥८३॥
धनंपि धनका यानं नस्सति, इतमे सुतं
पितरं अपरिचरित्वान किच्छं वा सीनिगच्छति ॥८४॥
आनन्दो च पमादो च सदा हसितं कीळितं
मातरं परिचरित्वान लब्भं एत विजानतो ॥८५॥
आनन्दो च पमादो च सदा हासित कीळितं
पितरं परिचरित्वान लब्भं एत विजानतो ॥८६॥
दानं च पेय्यवासं च अत्यचर्या च या इध
समानत्ताच धम्मेसु तत्थ तत्थ यथारहं
एते खो संगहा लोके रथस्साणीव यायतो,
एतेव संगहा नास्सु न माता पुत्त कारणा ॥८७-८८॥
लभेथ मानं पूजं च पिताव पुत्रकारणा,
यस्माच संगहा एते समवेक्खन्ति पंडिता ॥८९॥
यस्मा महत्तं पप्पोन्ति पासंसा च भवन्तिते,
ब्रह्मा ही माता पितरो पुब्बाचरियाति वुच्चरे ॥९०॥
आहुनेय्या च पुत्तानं पजाय अनुकम्पका,
तस्मा हि ते नमस्सेय्य सक्करेय्याथ पंडितो ॥९१॥
अनेन यथोपानेन वत्थेन सयनेन च,
उच्छादनेन नहापनेन पादनं धोवनेन च,
तायं नं परिचर्याय मातापितुसु पंडिता,
इधचेव न पसंसंति पेच्च सग्गे च मोदति ॥९२-९३॥

[पुत्र की इच्छा करती हुई वह देवताओं को नमस्कार करती है, नक्षत्रों के बारे में, ऋतु के बारे में तथा वर्ष के बारे में पूछती है ॥७४॥

उसके ऋतुनी होने पर गर्भस्थापित होता है। उससे वह दोहद-वाली और सुहृदा कहलाती है ॥७५॥ वर्ष भर या कम, गर्भ धारण किए रहकर वह जन्म देती है, उसी से वह जननी है; और इसी कारण से जननी कहलाती है ॥७६॥ स्तन-पान कराके, गाकर तथा अंग संचालन द्वारा वह रोते हुए को संतुष्ट करती है, इसीलिए वह संतुष्ट करने वाली कहलाती है ॥७७॥ तब ममत्व के साथ भोले बच्चे की घोर हवा-धूप से रक्षा करती हुई उसका पोषण करती है, इसलिए पोषण करने वाली कहलाती है ॥७८॥ जो माता का धन होता है, और जो पिता का धन होता है, वह दोनों की रक्षा करती है कि यह मेरे पुत्र का धन होगा ॥७९॥ इस प्रकार पुत्र को अमुक अमुक कर्म करने की शिक्षा देती हुई माता कष्ट पाती है यौवन-प्राप्त होने पर रात्रि को पर स्त्री गमन करने वाले पुत्र के, शाम को घर लौट कर न आने पर माता कष्ट पाती है ॥८०॥ इस तरह कठिनाई से पोषण किया हुआ पुरुष जब माता की सेवा नहीं करता तो वह नरक में उत्पन्न होता है ॥८१॥ इस तरह कठिनाई से पोषण किया गया पुरुष जब पिता की सेवा नहीं करता, तो वह नरक में उत्पन्न होता है ॥८२॥ मैंने सुना है कि माता की सेवा न करने वाले धन-कामियों का धन भी चला जाता है, अथवा वे कष्ट को प्राप्त होते हैं ॥८३॥ मैंने सुना है कि पिता की सेवा न करने वाला धन-कामियों का धन भी चला जाता है, अथवा वे कष्ट को प्राप्त होते हैं ॥८४॥ माता की सेवा करने वाले बुद्धिमान आदमियों को आनन्द, मस्ती और हँसना-खेलना सदा मिलता है ॥८५॥ पिता की सेवा करने वाले बुद्धिमान आदमियों को आनन्द, मस्ती और हंसना-खेलना सदा मिलता है ॥८६॥ दान, प्रियवचन, परोपकार तथा यथायोग्य समानता का व्यवहार ये चलते रथ की अणी की तरह संग्रह-वस्तुएँ हैं। यदि ये संग्रह-वस्तुएँ न हों तो न माता को पुत्र के कारण सम्मान अथवा पूजा की प्राप्ति हो सकती है और न पिता को पुत्र के कारण से। क्योंकि ये संग्रह-वस्तुएँ हैं, इसीलिए पण्डित जन अच्छी तरह देखते हैं ॥८६॥ इसलिए माता-पिता महत्व को प्राप्त होते हैं, प्रशंसनीय होते हैं, वे ब्रह्मा हैं और वे ही प्रथम-आचार्य कहलाते हैं, ॥९०॥ वे पुत्रों द्वारा आदरणीय होते हैं, सन्तान पर अनुकम्पा करने वाले होते हैं इसीलिए पण्डित को चाहिए कि उन्हें नमस्कार करें तथा उनका आदर करें ॥९१॥

जो पण्डित-जन अन्न से, पान से, वस्त्र से, शयनासन से, मालिश से, स्नान से, और पाँव धोने आदि से माता-पिता की सेवा करता है। यहाँ उसकी प्रशंसा होती है और वह स्वर्ग में जाने पर आनन्द को प्राप्त होता है ॥९२-९३॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने सुमेरु पर्वत उलटने के समान धर्मोपदेश को समाप्त किया। यह सुन सभी राजा तथा सारी सेनायें प्रसन्न हुईं। उन्हें पाँच शीलों में प्रतिष्ठित कर प्रेरित किया कि दानादि में अप्रमादी रहें। उन सभी ने धर्मानुसार राज्य कर आयु पूरी होने पर स्वर्ग लाभ किया। सोन तथा नन्द आयु भर माता-पिता की सेवा करते रह कर ब्रह्मलोक-गामी हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला सत्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्यों का प्रकाशन हो जाने पर मातृ-सेवक भिक्षु स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय के माता-पिता महाराज-कुल ही थे, नन्द आनन्द था; मनोजराजा सारिपुत्र, एक सौ राजा अस्सी महास्थविरगण तथा दूसरे स्थविर थे, चौबीस अक्षोहिणी सेना बुद्ध-परिषद्। सोन पण्डित तो मैं ही था।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

अस्सीवाँ वर्ग

५३३. चुल्लहंस जातक

"सुमुखा......" यह शास्ता ने वेळुवन में विहार करते समय आयुष्मान आनन्द के आत्म-बलिदान के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

देवदत्त ने जिस धनुर्धारी को पहली बार; तथागत की जान लेने के लिए भेजा था उसने लौटकर कहा, "भन्ते ! मैं भगवान् की जान नहीं ले सकता। वह भगवान् महान् ऋद्धिवान् हैं, महान् प्रताप वाले हैं।" देवदत्त बोला, "आवुस ! रहने दे। तू श्रमण गौतम की जान मत ले, मैं ही उसकी जान लूंगा।" इतना कह, उसने जिस समय तथागत गृध्र-कूट पर्वत के पीछे छाया में चन्क्रमण कर रहे थे, गृध्र-कूट पर्वत पर चढ़ पूरे जोर से एक बड़ी भारी शिला गिरा दी—'इस शिला में श्रमण गौतम की जान लूंगा।" दो-पर्वत-शिखरों ने आकर उस शिला को रोक लिया। उस शिला में से एक पपटिका उछलकर, जाकर, भगवान् के पैरों में लगी। उसने खून निकाल दिया। बड़ी पीड़ा हुई। जीवक ने तथागत के पाँव की शल्य-चिकित्सा कर, खराबखून निकाल, सड़ा हुआ मांस काट, दवाई लगा, उसे निरोग किया। शास्ता पूर्ववत् भिक्षु संघ सहित महान् बुद्ध-लीला के साथ विचरने लगे।

यह देवदत्त ने सोचा, "श्रमण गौतम के शरीर के सौन्दर्य के कारण कोई मनुष्य उनके पास नहीं फटक सकता। राजा का नाळागिरि नामक हाथी चण्ड-स्वभाव का है। वह बुद्ध-धर्म तथा संघ के गुणों से अपरिचित होने के कारण

श्रमण-गौतम को जान से मार देगा।" उसने जाकर वह बात राजा से कही। राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और हथवान को बुलाकर आज्ञा दी, "सौम्य, कल नाळागिरि को मद-मस्त करके प्रातःकाल ही श्रमण-गौतम के आने जाने की गली में छोड़ देना।" देवदत्त ने भी उसे पूछा, 'और दिनों में हाथी कितने घड़े सुरा पीता है?" उत्तर मिला, "आठ घड़े।" देवदत्त बोला —"कल सोलह घड़े पिलाकर श्रमण-गौतम की गली में सामने करना।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। राजा ने नगर में मुनादी करा दी, "कल नाळागिरि को मद-मत्त करके नगर में छोड़ा जायेगा। नागरिक प्रातःकाल ही सब काम कर निपटा लें। कोई गली में न निकलें।"

देवदत्त ने भी राज-भवन से उतर हस्ति-शाला जा हाथी-रक्षकों को बुलाकर कहा—"हम उच्च पदस्थ को नीचे कर देने में समर्थ हैं। यदि तुम्हें ऐश्वर्य चाहिए तो कल प्रातःकाल ही नाळागिरि को तेज शराब के सोलह घड़े पिलाकर श्रमण गौतम के आने के समय तीक्ष्ण अंकुश से बींध कर, क्रोधित कर हस्ति-शाला तुड़वा, श्रमण-गौतम के जाने की गली में सामने कर, श्रमण-गौतम को जान से मरवा डालो।" उन्होने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। यह समाचार सारे नगर में फैल गया। बुद्ध धर्म तथा संघ के प्रति ममत्व की भावना रखने वाले उपासकों ने जब यह समाचार सुना तो शास्ता के पास जा निवेदन किया—"भन्ते! देवदत्त राजा के साथ मिलकर कल आपके आने-जाने की गली में नाळागिरि को छोड़ेगा। कल भिक्षाटन के लिए न जा यहीं रहें। हम विहार ही में बुद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ को भिक्षा देंगे।" शास्ता ने "कल भिक्षाटन के लिए जाऊँगा" न कह, और यह सोचा कि "मैं कल नाळागिरि का दमन कर, प्रतिहारि दिखा, तैर्थिकों का मर्दन कर, बिना राजगृह में भिक्षाटन किये ही, भिक्षुसंघ सहित नगर से निकल वेळुवन जाऊँगा। राजगृहवासी भी बहुत से भात के बरतन ले वेळुवन ही जायेंगे। कल विहार में भोज होगा" उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे यह जान कि तथागत ने उनकी प्रार्थना मान ली है, भात के बरतन लिवा विहार में ही दान देने के इरादे से चले गये।

शास्ता ने भी (रात्रि के) प्रथम याम में धर्मोपदेश दे, दूसरे याम में प्रश्नों का उत्तर दे, तीसरे याम के पहले हिस्से में सिंह शैय्या में लेट, दूसरे हिस्से में

समाधिस्थ रह, तीसरे हिस्से में महा-करुण-भावना से अभिभूत हो विचार किया कि आज किन-किन प्राणियों को बोध करा सकूँगा। उन्होंने देखा कि नाळागिरि का दमन करने से चौरासी हजार प्राणियों की धर्म की आँख खुल जायेगी। रात्रि के समाप्ति पर प्रभात होते ही प्रातःकृत्य कर चुकने के अनन्तर उन्होंने आयुष्मान् आनन्द को बुलाकर आज्ञा दी—"आज राजगृह की सीमा में सभी अठारह विहारों के भिक्षु मेरे साथ राजगृह में प्रवेश करें।" स्थविर ने वैसी सूचना दे दी। सभी भिक्षु वेळुवन में इकट्ठे हो गये। महान् भिक्षु संघ सहित शास्ता ने राजगृह में प्रवेश किया। हाथियों के झुण्ड योजनानुसार आ पहुँचे। बड़ी भीड़ हो गयी। जो श्रद्धावान् थे, वे यह सोच "आज बुद्ध-नाग का पशुनाग के साथ मुकाबला है। अनुपम बुद्ध-लीला से नालागिरि का दमन देखेंगे" प्रासाद, हर्म तथा घरों की छत पर चढ़ बैठे। जो अश्रद्धावान् मिथ्या-दृष्टि वाले थे, उन्होंने सोचा, "नाळागिरि चण्ड है, वह बुद्ध आदि का गुण नहीं जानता। वह आज श्रमण-गौतम के स्वर्ण-वर्ण का नाश कर उसे जान से मार डालेगा। आज शत्रु की पीठ देखने को मिलेगी।" वे भी प्रासाद आदि पर चढ़ बैठे। हाथी ने भी जब भगवान् को आते देखा तो मनुष्यों को त्रास दे, घरों को उजाड़, गाड़ियों को चूर्ण-विचूर्ण कर, सुण्ड को ऊपर उठा, कान तथा पूँछ को खड़ा किया और पर्वत के समान बढ़ता आता हुआ जहाँ भगवान् बुद्ध थे वहाँ पहुँचा। यह देख भिक्षु भगवान् से बोले—"भन्ते! यह नाळागिरि, चण्ड है, कठोर है, मनुष्यों की हत्या करने वाला है, वह इस रास्ते आ रहा है। यह बुद्ध आदि के गुण से अपरिचित है, भन्ते भगवान् लौट पड़ें, सुगत लौट पड़े।"

"भिक्षुओं, डरो मत। मैं नाळागिरि का दमन करने में समर्थ हूँ।"

तब आयुष्मान् सारिपुत्र ने शास्ता से प्रार्थना की—

"भन्ते! पिता के काम का भार बड़े लड़के पर आकर पड़ता है। मैं इसका दमन करता हूँ।"

शास्ता ने मना किया—

"सारिपुत्र! तू रुक। बुद्ध-बल दूसरी चीज है। श्रावक-बल दूसरी चीज है।"

इस प्रकार सभी अस्सी महास्थविरों ने प्रार्थना की। शास्ता ने सभी को मना किया। शास्ता के प्रति अत्यन्त स्नेह होने के कारण आयुष्मान् आनन्द सहन

नहीं कर सके । 'यह हाथी पहले मुझे मार डाले,' इस प्रकार तथागत के लिए जीवन-त्याग कर शास्ता के आगे जाकर खड़े हो गये । शास्ता ने मना किया-- "आनन्द ! हट, मेरे सामने न खड़ा हो।"

"भन्ते ! यह हाथी चण्ड है, कठोर है, मनुष्य-हत्यारा है, कल्प के अन्त में उठने वाली आग के समान है, पहले यह मुझे मार डाले, तब आप के पास आये।"

तीन बार मना करने पर भी उसी जगह खड़े रहे। वहाँ से हिले नहीं। भगवान् ने आनन्द को ऋद्धि-बल से हटाकर और भिक्षुओं के बीच पहुँचा दिया।

उसी समय नाळागिरि को देख मृत्यु-भय से भीत एक स्त्री भागती-भागती आयी और गोदी के बच्चे को हाथी तथा तथागत के बीच छोड़ भाग गयी। हाथी उसका पीछा करते हुए बच्चे के समीप आया। बच्चा जोर से चिल्लाया। शास्ता ने नाळागिरि को मैत्री-भावना से अभिभूत कर सुमधुर ब्रह्म-स्वर से बुलाया--"भो ! नाळागिरि ! तुझे सोलह घड़े सुरा पिलाकर मद-मत्त करने वालों ने यही सोचकर मदमत्त किया कि तू किसी और को नहीं धरेगा, मुझे ही धरेगा। व्यर्थ जाँघों को कष्ट देता हुआ मत विचर। यहाँ आ।" वह शास्ता की वाणी सुन, आँखें खोललकर, भगवान् का रूप-सौन्दर्य देख, संवेग को प्राप्त हुआ। बुद्ध तेज से उसका नशा जाता रहा। वह सुण्ड लटका कर, कानों को चलाकर, जाकर तथागत के चरणों मे गिर पड़ा। शास्ता ने उसे कहा— "नाळागिरि ! तू पशु-हाथी है। मैं बुद्ध-हाथी हूँ। अब से तू चण्ड मत रह। कठोर मत रह। मनुष्य-घातक मत रह। मैत्री-चित्त का लाभ कर।" फिर दाहिना हाथ बढ़ा सुण्ड पर फेरते हुए धर्मोपदेश दिया--

मा कुञ्जर नागं आसदो
दुक्खो हि कुञ्जर नागमासदो
न हि नागहतस्स कुञ्जर
सुगती होति इतो परायनो
मा च मदो मा च पमादो
न हि पमत्ता सुगतिं वजन्ति,
तेन त्वञ्ञेन तथा करिस्ससि
येन त्वं सुगतिं गमिस्ससि ॥

[हे कुञ्जर नाग ! इस चक्कर में मत पड़। हे कुञ्जर नाग ! इस चक्र में पड़ने से दुःख होता है। हे कुञ्जर ! नाग से मारे गये की परलोक में सुगति नहीं होती। मद मत कर। प्रामाद मत कर। प्रमादी सुगति प्राप्त नहीं होते। इसलिए तुझे ही वैसा आचरण करना होगा जिससे तू सुगति-लाभ कर सके ॥]

उसका सारा शरीर नित्य-प्रीति से स्पर्श हो रहा था। यदि नाळागिरि पशु न होता तो स्रोतापत्ति फल को प्राप्त हो गया होता। मनुष्यों ने यह प्रातिहारी देखी तो निनाद किया, ताली बजायी, सौमनस्य के मारे नाना प्रकार के आभरण उछाले। उनसे हाथी का शरीर ढक गया। तब से नाळागिरि का नाम धन-पालक हो गया। इस धन-पालक के समागम में चौरासी हजार प्राणियों ने अमृत-लाभ किया। शास्ता ने धन-पालक को पञ्च शीलों में प्रतिष्ठित किया। धन-पालक ने तथागत के चरणों की धूल सुण्ड में लेकर अपने सिर पर बिखेरी, झुका और मुड़कर दर्शन करने की मुद्रा में खड़े हो, उस बल को प्रणाम किया और रुक कर हस्तिशाला में ही चला गया। उसके बाद से वह शान्त तथा संयत हो गया और किसी को भी कष्ट नहीं पहुँचाता था। सिद्ध-मनोरथ शास्ता ने संकल्प किया, "जिन्होंने जो धन फेंका, वह उनका ही हो गया।' फिर यह सोच कि 'आज मैंने महान् प्रातिहारी की है, इस नगर में भिक्षाटन करना योग्य नहीं', तैर्थिकों का मर्दन कर, जय-प्राप्त क्षत्रिय की तरह, भिक्षु-संघ सहित नगर से निकल वेळुवन में ही प्रवेश किया। नगरवासियों ने बहुत सा अन्न, पान ले जाकर विहार में ही महादान दिया। उस दिन शाम के समय धर्म-सभा में बैठे भिक्षुओं ने बातचीत चलायी—"आयुष्मानों ! आयुष्मान आनन्द ने तथागत के लिए प्राण-त्याग करके बड़ी दुष्कर बात की थी, नाळागिरि को देख तथागत द्वारा तीन बार मना किये जाने पर भी नहीं हटे ! ओह ! आयुष्मान् स्थविर दुष्कर-कर्म करने वाले हैं !" शास्ता ने यह देख कि आनन्द का गुणा नुवाद हो रहा है, मुझे वहाँ पहुँचना चाहिए, गन्ध-कुटी से निकल, वहाँ पहुँच, पूछा—

"भिक्षुओं ! बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?"

"भिक्षुओं ! आनन्द ने केवल अभी मेरे लिये जीवन परित्याग नहीं किया।

उसने पशु-योनि में उत्पन्न होने पर भी किया ही है" कह पूर्व-जन्म की कथा कही।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में महिंसक राष्ट्र में सकुळ नगर में सकुळ नाम का राजा धर्मानुसार राज्य करता था। उस समय नगर से थोड़ी ही दूर पर एक निषाद-ग्राम में एक निषाद पक्षियों को जाल में फँसा, उन्हें नगर में बेच जीविका चलाता था। नगर के पास ही बारह योजन घेरे वाला मानुसिय नाम का पद्म-सरोवर था, पाँच प्रकार के कमलों से आच्छादित। वहाँ नाना प्रकार के पक्षीगण आते थे। वह शिकारी जब-तब वहाँ जाल फैलाता था।

उस समय धृतराष्ट्र नामक हंस-राज छियानबे हजार हंसों के साथ चित्रकूट पर्वत पर स्वर्ण-गुफा में वास करता था। सुमुख उसके सेनापति का नाम था। एक दिन उस हंस-समूह में से कुछ स्वर्ण-वर्ण हंस मानुसिय-सर आये और उस भरपूर-गोचर स्थान में सुखपूर्वक चुग कर उन्होंने जाकर धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज! मनुष्य-पथ में मानुसिय नाम का पद्म-तालाब है। वहाँ चुगने को बहुत है, हम वहाँ चुगने जाते हैं।" उसने मना किया, "मनुष्य-पथ में खतरा है, वहाँ न चलें।" उनके बार-बार कहने पर बोला—"यदि तुम्हें अच्छा लगता है तो चलें।" वह सब के साथ उस सरोवर पर पहुँचा। आकाश से उतरते समय ही उसका पाँव जाल में फँस गया। जाल ने उसके पाँव को ऐसे ग्रस लिया मानो संडासी ने धर लिया हो। जाल तुड़ाने के प्रयत्न में पहली बार उसका चर्म छिल गया, दूसरी बार मांस, तीसरी बार नसें और इस प्रकार जाल हड्डी से जा चिपटा। लहू बहने लगा। बड़ा जोर का दर्द हुआ। उसने सोचा "यदि मैं बँध जाने की आवाज लगाता हूँ, तो मेरे सम्बन्धी त्रास के मारे बिना कुछ चुगे भूखे ही उड़ जायेंगे और दुर्बलता के कारण समुद्र में जा पड़ेंगे।" उसने वेदना को सहन किया और जब जाति वाले यथेच्छ चुगने के बाद हंस-क्रीड़ा करने लगे तब उसने जोर से बँध जाने की आवाज लगायी। वह आवाज सुनते ही मृत्यु-भय से भीत हंस चित्रकूट की ओर चले गये। उनके चले जाने पर सुमुख नामक हंस-सेनापति ने सोचा, "पता लगाऊँगा, कहीं महाराज ही तो नहीं फँस गये हैं?" उसने बड़े वेग से उड़कर आगे जाने वाले हंस-समूह में महाराजा को ढूँढा। जब वहाँ न देखा तो बीच में उड़ने

वाले समूह में ढूंढ़ा। वहाँ भी दिखायी न देने पर निश्चय हो गया कि निस्सन्देह यह भय महाराज को ही उत्पन्न हुआ है। वह रुका और लौट आया। उसने देखा कि बोधिसत्व जाल में फँसे हैं, लहू में भीगे हैं, दुखित हैं और कीचड़ में पड़े हैं। वह उतर कर कीचड़ में जा बैठा और बोधिसत्व को आश्वासन देता हुआ बोला—"महाराज! डरें न। मैं अपनी जान देकर भी तुम्हें बन्धन से मुक्त करूँगा।" उससे बात करते हुए बोधिसत्व ने पहली गाथा कही—

सुमुख अनुपचिनन्ता पक्कमन्ति विहंगमा,
गच्छ त्वं पि, मा कङ्खि, अत्थि बद्धे सहायता ॥१॥

[हे सुमुख! दूसरे सारे पक्षी बिना मेरी ओर देखे ही चले जा रहे हैं। तू भी जा। चिन्ता न कर। जाल में फँसे की सहायता नहीं हो सकती ॥१॥]

उससे आगे (वह) बोला—

गच्छेवाहं न वा गच्छे न तेन अमरो सियं
सुखितं तं उपासित्वा दुक्खितं तं कथं जहे ॥२॥

[चाहे मैं यहाँ से जाऊँ, चाहे न जाऊँ, उससे मैं अमर नहीं हो जाऊँगा। सुख में तेरी सेवा करते रहकर, अब दुःख में तुझे कैसे छोड़ूँ? ॥२॥]

मरणं वा तया सद्धिं जीवितं वातया बिना
तत्थेव मरणं सेय्यो यञ्चे जीवे तया बिना ॥३॥
नेस धम्मो महाराज यं तं एवं गतं जहे,
या गति तुय्हं सा मय्हं रुच्चते विहंगाधिप ॥४॥

[तेरे बिना जीने से तेरे साथ मरना ही श्रेष्ठ है ॥३॥ हे महाराज! यह धर्म नहीं है कि तुम्हें इस अवस्था में छोड़ दिया जाय। हे पक्षीराज! जो तुम्हारी गति सो मेरी गति ॥४॥]

बोधिसत्व—

का नु पासेन बद्धस्स गति अञ्ञा महानसा,
सा कथं चेतयानस्स मुत्तस्स तव रुच्चति ॥५॥

कं वा त्वं पस्ससे अत्थं मम तुय्हं च पक्खिम,
ञातीनं वावसिट्ठानं उभिन्नं जीवितक्खये ॥६॥
यं न कञ्चनदेपिच्छ अन्धेन तमसा गतं
तादिसे सञ्चजं पाणं क अत्थं अभिजोतये ॥७॥

[हे पक्षी ! जाल में फँसे हुए की दूसरी कौन-सी गति होगी ! वह तुझ मुक्त, चेतना-युक्त को कैसे अच्छी लगती है ? ॥५॥ हे पक्षी ! दोनों की जान जाने में तुझे मेरा, अपना अथवा जातिवालों का कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता दिखायी देता है ? ॥६॥ हम दोनों स्वर्ण-पंख वालों के अन्धकार से अन्धकार में चले जाने पर और इस प्रकार के प्राण-त्याग होने पर क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥७॥]

सुमुख बोला—

कथं नु पततं सेट्ठ धम्मे अत्थं न बुज्झसि,
धम्मो अपचितो सन्तो अत्थं दस्सेति पाणिनं ॥८॥
सोहं धम्मं अपेक्खानो धम्मा चत्थं समुट्ठितं
भत्तिञ्च तयि सम्पस्सं नावकंखामि जीवितं ॥९॥

[हे पक्षियों में श्रेष्ठ ! तू धर्म में अर्थ कैसे नहीं देखता है ? आचरित धर्म प्राणियों के लिए अर्थ सिद्ध करने वाला होता है ॥८॥ मैं धर्म द्रष्टा होने के कारण और यह जानने के कारण कि धर्म से अर्थ सिद्ध होता है तथा तेरे प्रति भक्ति होने के कारण तुझे छोड़ना नहीं चाहता ॥९॥]

बोधिसत्व—

अद्धा एसो सतं धम्मो यो मित्तो मित्तं आपदे
न चजे जीवितस्सापि हेतु धम्मं अनुस्सरं ॥१०॥
स्वायं धम्मो च ते चिण्णो, भत्ती च विदिता मयि,
कामं करस्स मय्हेतं, गच्छेवानुमतो मया ॥११॥

[निश्चय से विपत्ति आ पड़ने पर मित्र का मित्र को न छोड़ना सत्पुरुषों का धर्म है। धर्म का स्मरण कर प्राणों को बचाने के लिए भी मित्र को न छोड़े ॥१०॥]

तू ने अपना यह धर्म किया। मैंने तेरी भक्ति भी जान ली। अब तू मेरी इच्छा पूरी कर। मैं अनुमति देता हूँ, जा ॥११॥]

अपि त्व एवं गते काले पं बंधं आतिनं मया
तय तं बुद्धिसम्पन्नं अस्स परमसंवुतं ॥१२॥

[ऐसा अवसर आ जाने पर, मेरा जाति वालों के साथ जो बन्धन है, उसे हे बुद्धिमान ! तूने परिपूर्ण कर दिया ॥१२॥]

उच्चेव मंतयन्तामं अरियानं अरियवुत्तिनं
पच्चादिस्सथ नेसादो आतुरानं इव अन्तको ॥१३॥

[इस प्रकार उन श्रेष्ठ आचरण वाले आर्यों के आपस में विचार-विनिमय करने के समय रोगी को यमराज दिखायी देने की तरह निषाद दिखायी दिया ॥१३॥]

ते सत्तुं अभिसमिक्ख वीघरत्तं हिता दिजा
तुण्हीं आसित्य उभयो न च सञ्चेसुं आसना ॥१४॥

[दीर्घकाल से परस्पर एक दूसरे का हित करने वाले उन पक्षियों ने जब शत्रु को सामने देखा तो वे दोनों चुपचाप बैठ गये। वे अपने आसन से हिले नहीं ॥१४॥]

धतरट्ठे च दिस्वान समुड्डेन्ते ततो ततो
अभिक्कमथ वेगेन दिजसत्तु दिजाधिपे ॥१५॥

[हंसों को जहाँ-तहाँ उड़ते देख कर पक्षियों का शत्रु पक्षि-राज के पास शीघ्रता से आया ॥१५॥]

सो च वेगेन अभिक्कम्म आसज्ज परमे दिजे
पच्चकम्पित्थ नेसादो बद्धाति विचिन्तयं ॥१६॥

[उसने शीघ्रता से आकर जब उन द्विजों को देखा तो 'वे फँसे हैं अथवा नहीं ?' सन्देह होने के कारण उसके पैर काँपे ॥१६॥]

एकञ्च बद्धं आसीनं अदद्धञ्च पुनापरं
आसज्ज बुद्धं आसीनं पेक्खमानं आदीनवं ॥१७॥

[एक को फँसा हुआ तथा दूसरे को मुक्त देखा। दुष्परिणाम देखते हुए भी फँसे के पास बैठा हुआ! ॥१७॥]

ततो सो विमतो येव पण्डरे अज्झभासथ
पवद्धकाये आसीने दिजसंघगणाधिपे ॥१८॥

[तब उसने संदेह-निवारण के लिए महाशरीर वाले पक्षिराज हंस को सम्बोधन किया ॥१८॥]

यं नु पासेन महता बद्धो न कुरुते वेसं
अथ कस्मा अबद्धो त्वं बली पक्खी न गच्छसि ॥१९॥

[जो यह बड़े जाल में फँसा है, वह तो नहीं जा सकता। लेकिन हे बलवान् पक्षी! तू मुक्त होकर भी क्यों नहीं जाता है? ॥१९॥]

किं नु तायं दिजो होति, मुत्तो बद्धं उपाससि,
ओहाय सकुणा यन्ति, किं एको अवहीयसि ॥२०॥

[यह पक्षी तेरा क्या लगता है? तू मुक्त होकर भी इस जाल में फँसे हुए के पास बैठा है। (दूसरे) पक्षी छोड़ कर जा रहे हैं। तू अकेला ही क्यों पीछे रहता है? ॥२०॥]

सुमुख बोला—

राजा मे सो दिजा मित्त सखा पाणसमो च मे
नेव नं विजहिस्सामि याव कालस्स परियायं ॥२१॥

[हे शिकारी! यह हमारा राजा है और प्राण के समान प्रिय सखा है। मैं प्राण रहते इसे नहीं छोड़ूँगा ॥२१॥]

कथं पनायं विहगो, नाद्दस पासं ओड्डितं,
पदं हेतं महन्तानं, बोधुं अरहन्ति आपदं ॥२२॥

[इस पक्षी ने फैले हुए जाल को क्यों नहीं देखा? बड़ों के लिए यह योग्य है कि वह आने वाली विपत्ति को देख लें ॥२२॥]

यदा पराभवो होति पोसो जीवितसंखये
अथ जालञ्च पासञ्च आसज्जापि न बुज्झति ॥२३॥

[जब आदमी की अवनति होने को होती है, तो वह पास के जाल को भी नहीं देख पाता है ।।२३।।]

अपि त्वेव महापुञ्ञ पासा बहुविधा तता,
गूळ्हं आसज्ज बज्झन्ति अथ एवं जीवितक्खये ।।२४।।

[हे महापुण्य ! तूने अनेक प्रकार का जाल फैलाया है। जीवन पर संकट आने पर जो छिपा हुआ जाल है, उसमें फँस ही जाते हैं ।।२४।।]

इस प्रकार बात-चीत करके उसका हृदय कुछ मृदु कर बोधिसत्व के जीवन की प्रार्थना करते हुए आगे कहा--

अपि नायं तया सद्धि सम्भासस्स सुखुद्रयो,
अपि नु अनुमञ्ञसि, अपि नो जीवितं ददे २५।।

[तेरे साथ भाषण का यह सुख-दायक फल हो सकता है कि तू हमें चित्रकूट लौटने की अनुमति भी दे सकता है और शायद जीवन-दान भी दे सकता है ।।२५।।]

उसने उसकी मधुर वाणी से प्रभावित होकर गाथा कही—

न चेव मे त्वं बद्धोसि, न पि इच्छामि ते वधं,
कामं खिप्पं इतो गन्त्वा जीव त्वं अनिघो चिरं ।।२६।

[न तू मेरे बन्धन में है और न मैं तेरा बध ही करना चाहता हूँ। तू जब चाहे यहाँ से शीघ्र ही जाकर सुखपूर्वक चिरकाल तक जी सकता है ।।२६।।]

तब सुमुख ने चार गाथायें कहीं

नेवाहं एतं इच्छामि अञ्ञत्र एतस्स जीविता,
सचे एकेन तुट्ठोसि मुञ्च एतं मंच भक्खय ।।२७।।
आरोहपरिणाहेन तुल्यस्मा वयसा उभो,
न ते लाभेनजीन अस्थि, एतेन निमिता तुवं ।।२८।।
तव इङ्घ समवेक्खस्सु, होतु गिद्धि तवास्मसु,
मं पुब्बे बन्ध पासेन, पच्छा मुञ्च दिजाधिपं ।।२९।।
तावदेव च ते लाभो कतस्सा याचनाय च
मेत्ती च धतरट्ठेहि यावजीवाय ते सिया ।।३०।।

[मैं बिना इसके जीवन के अपनी मुक्ति की कामना नहीं करता। यदि एक से संतुष्ट है तो इसे छोड़ दे और मुझे खा ले ॥२७॥ लम्बाई और गोलाई तथा आयु में हम दोनों समान हैं। यदि तू मुझसे इसका बदला कर ले तो मेरे लाभ की हानि नहीं है ॥२८॥ इसलिए थोड़ा देख और मुझ में लोभ उत्पन्न कर। मुझे पहले जाल में बांध ले और पक्षिराज को बाद में छोड़ ॥२९॥ हमारी प्रार्थना स्वीकार करने से तुझे इतना लाभ होगा कि यावज्जीवन हंसों से मैत्री रहेगी ॥३०॥]

इस प्रकार उसकी धर्म-देशना से तेल में डाले गये पुई के फाहे की तरह मृदु-चित्त हो उसने बोधिसत्व को उसका दास (?) करके देते हुए कहा--

पस्सन्तु नो महासंघा तया मुत्तं इतो गतं,
मित्तामिच्चा च भच्चा च पुत्तदारा च बन्धवा ॥३१॥
न च ते तादिसा मित्ता बहून्नं इध विज्जति
यथा त्वं धतरट्ठस्स पाणसाधारणो सखा ॥३२॥
सो ते सहायं मुञ्चामि, होतु राजा तवानुगो,
कामं खिप्पं इतो गन्त्वा ञातिमज्झे विरोचथ ॥३३॥

[सारे मित्र-अमात्य, पुत्र-दारा तथा बान्धव सारा महान् पक्षि-संघ यहाँ से जाने पर, तेरे द्वारा मुक्त इसे देखें ॥३१॥ यहाँ तेरे जैसे ऐसे मित्र नहीं हैं, जैसे तुझे धृतराष्ट्र प्राणों से भी अधिक प्यारा है ॥३२॥ इसलिए तेरे मित्र को छोड़ता हूँ। यह राजा तेरा अनुयायी हो। अब तुम चाहे जितनी जल्दी यहाँ से जाकर जातियों के बीच में सुशोभित हो सकते हो ॥३३॥

इतना कह निषाद-पुत्र ने प्रेम-भरे चित्त से बोधिसत्व के पास पहुँच, बन्धन खोल, छाती से लगा, तालाब के पास ले जा, तालाब के किनारे कोमल दूब पर बिछा पैरों में बँधे बन्धन को कोमल-चित्त से थोड़ा खोल, उसे दूर फेंक दिया। फिर बोधिसत्व के प्रति प्रगाढ़ स्नेह की भावना को मन में स्थान दे, मैत्री-चित्त से पानी ला, रक्त को धो बार-बार साफ किया। उसके मैत्री पूर्ण चित्त के प्रताप से बोधिसत्व के पाँवों की शिरा-शिराओं से, मांस-मांस से तथा चर्म-चर्म से जा मिला। उसी समय उसका पाँव ठीक हो गया, चमड़ी आ गयी, बाल उग आये। वैसे ही हो गया जैसा जाल में फँसने से पहले था।

सुखपूर्वक स्वाभाविक ढंग से बैठे। तब सुमुख ने अपने कारण बोधिसत्व को सुखी हुआ देख, प्रसन्न हो, निषाद की स्तुति की।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

> सो पतीतो पमुत्तेन भत्तुना भत्तुगारवो
> अज्झभासथ वक्कंगो वाचं कण्ण सुखं भणं ॥३४॥
> एवं लुद्दक नन्दस्सु सह सब्बेहि ञातिभि
> यथाहं अज्ज नन्दामि मुत्तं दिस्वा दिजाधिपं ॥३५॥

[उसने स्वामी के प्रति गौरव-युक्त होने से, स्वामी को मुक्त हुआ देख, सन्न हो, कानों को सुख देने वाली बात कही' 'हे शिकारी ! जिस प्रकार मैं पक्षि-राज को मुक्त देख आज आनन्दित हो रहा हूँ, उसी प्रकार सभी रिश्ते-दारों के साथ तू भी आनन्दित हो" ॥३४-३५॥]

इस प्रकार 'हे शिकारी !, यह स्तुति कर सुमुख ने बोधिसत्व को सम्बोधित किया, "महाराज ! इसने हम पर बहुत उपकार किया है, यदि यह हमारा कहना न मान हमको क्रीड़ा हंस बनाकर श्रीमानों को दे देता, तो इसे बहुत धन मिलता, मारकर मांस बेचने से भी मिलता। इसने अपनी जीविका की ओर न देख, हमारा कहना किया है, इसे राजा के पास ले जाकर जीविका की ओर से निश्चिन्त करें।" बोधिसत्व ने स्वीकार किया। सुमुख ने अपनी भाषा में बोधिसत्व के साथ बात-चीत कर फिर मनुष्य-भाषा में शिकारी को सम्बोधित किया—"मित्र ! तू ने जाल किस लिये फैलाया था ?"

"धन के लिए।"

"यदि ऐसा है, तो तू हमें लेकर, नगर में जा, राजा को दिखा। हम तुझे बहुत धन दिलायेंगे।"—

> एहि तं अनुसिक्खामि तथा त्वं पि लच्छसे
> लाभं यथायं धतरट्ठो पापं किञ्चि न दक्खाति ॥३६॥
> खिप्पं अन्तेपुरं नेत्वा रञ्ञो दस्सेहि नो उभो
> अबद्धे पकतिभूते कावे उभयतो ठिते ॥३७॥
> धतरट्ठा महाराज हंसाधिपतिनो इमे,
> अयं हि राजा हंसानं, अयं सेनापतीतरो ॥३८॥

असंसयं इमं दिस्वा हंसराजं नराधिपो
पतीतो सुमनो वित्तो बहुं दस्सति ते धनं ॥३९॥

[इस प्रकार तुझे सिखाता हूँ, जिससे तुझे लाभ हो सके। इस धृतराष्ट्र में कुछ बुराई नहीं है ॥३६॥ तू शीघ्र ही हम दोनों को अन्तः पुर में ले जाकर राजा को दिखा--खुले हुए, यथापूर्व, बँहगी पर बैठे हुए ॥३७॥ (और राजा से कहा—) महाराज ! ये हंसाधिप धृतराष्ट्र कुल के हैं। यह हंसों का राजा है। दूसरा सेनापति है ॥३८॥ निस्सन्देह इस हंस-राज को देखकर प्रसन्न हुआ राजा तुझे बहुत धन देगा ॥३९॥]

ऐसा कहने पर शिकारी ने निवेदन किया--"स्वामी ! राज-दर्शन की इच्छा न करें। राजा चंचल होते हैं। वे तुम्हें क्रीड़ा-हंस भी बना सकते हैं और मरवा भी डाल सकते हैं।"

"मित्र ! डर मत। मैंने तेरे सदृश कठोर, रक्त-हस्त शिकारी को धर्म-कथा से कोमल बना अपने पाँव में गिराया; राजा लोग तो पुण्यात्मा होते हैं, प्रज्ञावान होते हैं तथा सुभाषित उर्भाषि को पहचानने वाले होते हैं। शीघ्र ही हमें राजा के पास ले चल।"

"अच्छा ! तो मुझ पर क्रोधित न होना। मैं आपकी इच्छा से ही ले चलता हूँ", कह, दोनों को बँहगी पर बिठा, राजकुल पहुँच, राजा के पूछने पर यथार्थ बात कही।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा--

तस्स तं वचनं सुत्वा कम्मना उपपादयि,
खिप्पं अन्तेपुरं गन्त्वा रञ्ञो हंसे अदस्सयि
अबद्धे पकतिभूते काचे उभयतो ठिते ॥४०॥
धतरट्ठा महाराज हंसाधिपतिनो इमे,
अयं हि राजा हंसानं, अयं सेनापतीतरो ॥४१॥

[उसका यह कहना सुन, उसने उसे कार्य-रूप में परिणत किया। शीघ्रता से अन्तःपुर पहुँच राजा को हंस दिखाये गये—खुले हुए, स्वाभाविक दशा में, दोनों बँहगी पर बैठे हुए ॥४०॥ महाराज ! ये हंसाधिप धृतराष्ट्र कुल के हैं। यह हंसों का राजा है, और यह उनका सेनापति है ॥४१॥]

राजा—

कथं पन इमे विहगा, तव हत्थत्थं आगता,
कथं लुद्दो महन्तानं, इस्सरे-मिध-मज्झगा ॥४२॥

[हे शिकारी ! ये पक्षी तेरे हाथ में कैसे आये ? तू इन महान् ऐश्वर्यवानों को कैसे प्राप्त हुआ ? ॥४२॥]

शिकारी—

विहिता सन्तइमे पासा, पल्ललेसु जनाधिप,
यं यदा यतनं मञ्ञे दिजानं पाणरोधनं ॥४३॥
तादिसं पासं आसज्ज, हंसराजा अबज्झथ,
तं अबद्धो उपासीनों ममायं अज्झभासथ ॥४४॥
सुदुक्करं अनरियेहि दहते भावं उत्तमं,
भत्तुरत्थे परक्कन्तो धम्मे युत्तो विहंगमो, ॥४५॥
अत्तानायं चजित्वान जीवितं जीवितारहो,
अनुत्थनन्तो आसीनो भत्तु याचित्थ जीवितं ॥४६॥
तस्स तं वचनं सुत्वा पसादं अहं अज्झगं
ततो तं पामुञ्चिं पासा अनुञ्ञासिं सुखेन च ॥४७॥
सो पतीतो पमुत्तेन भत्तुना भत्तुगारवो,
अज्झभासथ वक्कंगो वाचं कण्णसुखं भणं ॥४८॥
एवं लुद्दक नन्दस्सु सहसब्बेहि ञातिभि,
यथाहं अज्ज नन्दामि मुत्तं दिस्वा दिजाधिपं ॥४९॥
एहि तं अनुसिक्खामि यथा त्वं पि लच्छसे,
लाभं यथाय धतरट्ठो पापं किञ्चि न दक्खति ॥५०॥
खिप्पं अन्तेपुरं गन्त्वा रञ्ञो दस्सेहि नो उभो,
अबद्धे पकतिभूते काचे उभयतो ठिते ॥५१॥
धतरट्ठा महाराज हंसाधिपतिनों इमे,
अथं हि राजा हंसानं अयं सेनापतीतरो ॥५२॥
असंसथं इमं दिस्वा हंसराजं नराधिपो,
पतीतो सुमनो वितो बुं दस्सति ते धनं ॥५३॥

एवं एतस्स वचना आनीता मे उभो मया,
एत्थ एव हि इमे अस्सु, उभो अनुमता मया ॥५४॥
सो यं एवं गतो पक्खी दिजो परमधम्मिको,
मादिसस्स हि लुद्दस्स जने य्याथ मद्दवं ॥५५॥
उपायनं हि ते देव नाञ्ञं पस्सामि एदिसं,
सब्बसाकुणिक गामे, तं पस्स मनुजाधिप ॥५६॥

[हे जनाधिप ! मैंने ऐसी सब जगहों पर कीचड़ में जाल फैला दिया था, जहाँ से भी पक्षियों के प्राण बचाने की सम्भावना मानता था ॥४३॥ हंस राजा उस प्रकार के जाल में फँस गया। उसके पास मुक्त बैठे (हंस) ने मुझे इस प्रकार कहा ॥४४॥ उस समय उसने हमारे सदृश अनार्यों के सम्मुख अपना उत्तम-भाव प्रकाशित करके बड़ा दुष्कर कार्य किया। वह पक्षी अपने स्वामी के हित पराक्रम करता हुआ, धर्म में युक्त था ॥४५॥ इस जीने के योग्य ने अपने जीवन का त्याग करके; बैठकर प्रशंसा करते हुए, स्वामी के जीवन की कामना की ॥४६॥ उसका यह कथन सुनकर मैं प्रसन्न हुआ और उसे छोड़ दिया तथा सुखपूर्वक जाने को कहा ॥४७॥ स्वामी के प्रति गौरव-वान इसने स्वामी की मुक्ति से प्रसन्न हो मुझसे मीठी वाणी बोली ॥४८॥ अर्थ ऊपर आ गया है ॥४९-५३॥ इस प्रकार इसके कहने के अनुसार मैं दोनों को ले आया। यहीं (मानुसिय) सरोवर पर ही मुझे ये दोनों मिले ॥५४॥ इस प्रकार इस परम धार्मिक पक्षी ने मेरे जैसे शिकारी के मन में भी कोमलता पैदा कर दी ॥५५॥ हे देव ! ये आपकी भेंट हैं। मुझ तमाम पक्षियों में और कोई ऐसे नहीं दिखायी दिये। हे राजन् ! आप इन्हे देखें ॥५६॥]

इस प्रकार उसने खड़े ही खड़े सुमुख के गुणों का वर्णन किया। तब राजा ने हंस-राज के लिए बहुत मूल्यवान आसन और सुमुख के लिए सोने का श्रेष्ठ पीढ़ा दिलवाया; फिर उनके वहाँ बैठ जाने पर सोने के बरतनों में खीर; मधु, खाण्ड आदि दिलवायी। खाना समाप्त होने पर हाथ जोड़ बोधिसत्व से धर्मोपदेश देने की प्रार्थना करता हुआ स्वयं सोने के पीढ़े पर बैठा। उसके प्रार्थना करने पर उसने पहले कुशल-क्षेम पूछा।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा--

विस्वा निसिन्नं राजानं, पीठे सोवण्णये सुभे,
अज्झभासथ वक्कंगो वाचं कण्णसुखं भणं ॥५७॥
कच्चि नु भोतो कुसलं, कच्चि भोतो अनामयं'
कच्चि रट्ठं इदं फीतं धम्मेन-म-नुसिस्सति ॥५८॥
कुसलञ्चेव मे हंस, अथो हंस अनामयं,
अथो रट्ठ इदं फीतं, धम्मेन-मनुसिस्सति ॥५९॥
कच्चि भोतो अमच्चेसु दोसो कोचि न विज्जति,
कच्चिं नु ते तवत्थेसु, नावकंखन्ति जीवितं ॥६०॥
अथो पि मे अमच्चेसु दोसो कोचि न विज्जति
अथो पिमे मं अत्थेसु, नावकं खन्ति जीवितं ॥६१॥
कच्चि ते सादिसी भरिया, अस्सवा पियभाणिनी,
पुत्तरुपयसूपेता तवच्छन्दवासानगा ॥६२॥
अथो पि मे सादिसी भरिया अस्सवा पियभाणिनी
पुत्तरुपयसूपेता ममच्छन्दवसानुगा ॥६३॥

[राजा को सुन्दर सुनहले पीढ़े पर बैठे देखकर पक्षी ने प्रिय वाणी बोली ॥५७॥ पक्षी–"क्या आप सकुशल हैं ? क्या आप निरोग हैं ? क्या यह राष्ट्र समृद्धिशाली है ? क्या यहाँ धर्मानुसार शासन होता है ?" ॥५८॥ राजा–"हंस ! मैं सकुशल हूँ । मैं निरोग हूँ । यह राष्ट्र समृद्धिशाली है । यहाँ धर्मानुसार राज्य होता है ।" पक्षी—"क्या तुम्हारे अमात्यों में कोई दोष तो नहीं है ? क्या अवसर आ पड़ने पर ये प्राणों का मोह तो नहीं करते ?" ॥५९-६०॥ राजा—"मेरे अमात्यों में कोई दोष नहीं है । और अवसर आ पड़ने पर ये प्राणों का मोह नहीं करते" ॥६१॥ हंस—"क्या तेरी भार्या तेरे समान है ? कहना मानने वाली है ? प्रियभाषिणी है ? पुत्र, रूप तथा ऐश्वर्य से युक्त हैं ? तथा तेरे वश में हैं ?" ॥६२॥ राजा—"मेरी भार्या मेरे समान है । कहना मानने वाली है । प्रियभाषिणी है । पुत्र, रूप तथा ऐश्वर्य से युक्त हैं । तथा मेरे वश में हैं" ॥६३॥]

इस प्रकार बोधिसत्व के कुशल-क्षेम पूछने पर, फिर राजा ने उसके साथ बात-चीत की—

भवं तु कच्चि नु महासत्त हत्थत्थतं गतो,
दुक्खं आपज्जि विपुलं तस्मिं पठममापदे ॥६४॥
कच्चि यं नापतित्वान दण्डेन समपोथयि
एवं एतेसं जम्मानं पाकतिकं भवति तावदे ॥६५॥

[आप तो महान् शत्रु के हाथ में पड़ गये थे। उस पहली आपत्ति के आ पड़ने पर ही विपुल दुःख अनुभव किया ! ॥६४॥ इसने आकर उसी समय दण्ड से नहीं पीटा ? इन दुष्टों का यही स्वाभाविक धर्म है ॥६५॥]

खेमं आसि महाराज एवं आपदि संसति,
न चायं किञ्चिर अस्मासु सत्तु व समपज्जथ ॥६६॥

[महाराज। इस प्रकार की आपत्ति आ पड़ने पर भी कुशल ही रहा। यह शत्रु की भाँति हम पर नहीं टूटा ॥६६॥]

पच्चकम्पित्थ नेसादो, पुब्बे अऽझभासथ,
तदायं सुमुखो येव, पण्डितो पच्चभासथ ॥६७॥

[यह निषाद हिचका। यही पहले बोला। तब यह पण्डित सुमुख बोला ॥६७॥]

तस्स तं वचनं सुत्वा, पासादं अयं अज्झगा,
ततो मं पामुञ्चि पासा, अनुञ्ञासि सुखेन च ॥६८॥

[उसका कहना सुन कर यह (शिकारी) प्रसन्न हुआ। तब इसने मुझे बंधन से मुक्त कर दिया और सुखपूर्वक चले जाने की अनुज्ञा दी ॥६८॥

इदं पि सुमुखेनेव एतदत्थाय चिन्तितं,
भोतो सकासे आगमनं एतस्स धनं इच्छता ॥६९॥

[यह आप के पास आने की बात भी इसके लिए धन की इच्छा करने वाले सुमुख ने ही सोची ॥६९॥]

राजा--

स्वागतं चेव इदं भवतं पतीतो चस्मि वस्सना,
एसो अपि बहु वित्तं लभतं यावत इच्छि ॥७०॥

[आपका स्वागत है आपके दर्शन से मैं बहुत परेशान हूँ । यह भी यथेच्छ धन ले ॥७०॥]

यह कह राजा ने एक अमात्य की ओर देखा । वह बोला—"देव ! क्या आज्ञा है ?" "इस शिकारी की हजामत बनवा, स्नान करा, चन्दन का लेप करा, सब अलंकारों से अलंकृत करा कर लाओ ॥" जब वह यह सब कराकर ले आया तो उसने प्रतिवर्ष लाख की आय का गाँव, दो गलियों को घेर कर बना हुआ घर, रथ तथा और बहुत-सा सोना दिया ।

इस अर्थ को प्रकट करते हुए शास्ता ने—

संतप्पयित्वा नेसादं भोगेहि मनुजाधिपो
अज्झभासथ वक्कंगं वाचं कण्णं सुखं भणं ॥७१॥

[राजा शिकारी को भोग-वस्तुओं से संतुष्ट कर पक्षी से मधुर वाणी बोला ॥७१॥

तब बोधिसत्व ने राजा को धर्मोपदेश दिया । उसने धर्म-कथा सुन, प्रसन्न हो, धर्म-कथिक का सत्कार करने के लिए उसे श्वेत-छत्र चढ़ा, राज्य सौंपते हुए कहा--

यं खलु धम्मं आधीनं वसो वत्तति किञ्चनं,
सब्ब अत्थ इस्सरियं भवतं पसासथ यदिच्छथ ॥७२॥
दानत्थं उपभोत्थुं वा यं चञ्ञं उपकप्पति,
एतं ददामि वो वित्तं इस्सरं विस्सजामि वो ॥७३॥

[जो कुछ है, धर्म के आधीन है । जहाँ तक मेरा वश है, वहाँ तक सारा ऐश्वर्य आपका है । जो चाहें आज्ञा करें ॥७२॥ दान देने के लिए अथवा उपभोग करने के लिए अथवा और जो भी कुछ योग्य हो, मैं यह धन आपको देता हूँ ॥७३॥

तब बोधिसत्व ने राजा का दिया हुआ श्वेत-छत्र फिर उसे ही वापिस कर दिया । राजा ने भी सोचा : "हंस राजा से तो मैंने धर्म-कथा सुनी । किन्तु

शिकारी ने इस सुमुख की बड़ी प्रशंसा की है कि यह अत्यन्त मधुर-भाषी है, इससे भी धर्म-कथा सुनूंगा।" उससे बात-चीत करते हुए उसने अगली गाथा कही—

यथा च म्यायं सुमुखो अज्झभासेय्य पण्डितो
कामसा बुद्धिसम्पन्नो तं म्या-स्स परमप्पियं ॥७४॥

[जैसे भी अपनी रुचि के अनुसार यह पण्डित सुमुख मुझे उपदेश देगा, वह मेरे लिए परम प्रिय होगा ॥७४॥]

तब सुमुख बोला—

अहं खलु महाराज नागराजारिव अन्तरं,
पतिवत्तुं न सक्कोमि, न मे सो विनयो सिया ॥७५॥
अम्हाकं एवं यो सेट्ठो त्वञ्च उत्तमसत्तवो,
भूमिपालो मनुस्सिन्दो पूजा बहुहि हेतुभि ॥७६॥
तेसं उभिन्नं भणतं वत्तमाने विनिच्छये,
नान्तरं पतिवत्तब्बं पेसेन मनुजाधिप ॥७७॥

[मैं नागराज की तरह (आपके) बीच में नहीं बोल सकता। यदि बोलूं तो वह मेरा विनय नहीं होगा ॥७५॥ यह हमारा श्रेष्ठ है, और तू भी श्रेष्ठ प्राणी है, भूमिपाल है, मानवेन्द्र है और अनेक तरह से पूज्य है ॥७६॥ हे राजन्! आप दोनों के बोलते हुए बीच में मेरा बोलना ठीक नहीं ॥७७॥

राजा उसकी बात सुन प्रसन्न हुआ। शिकारी ने, तुम्हारे जैसा दूसरा धर्मकथिक नहीं है", कहा हे, कह आगे बोला—

धम्मेन किर नेसादो पण्डितो अण्डजो इति,
न हेव अकतत्तस्स नयो एतादिसो सिया ॥७८॥
एवं अग्गपकतिमा एवं उत्तमसत्तवो
यावतअत्थि मया दिट्ठा नाञ्ञं पस्सामि एदिसं ॥७९॥
तुट्ठोस्मि वो पकतिया वाक्येन मधुरेन च,
एसो चापि मम छन्दो चिरं पस्सेय्य वो उभो ॥८०॥

[शिकारी ने यह ठीक कहा कि पक्षी पण्डित है। जिसने आत्म-विकास

नहीं किया, उसकी ऐसी प्रज्ञा नहीं ही होती ॥७८॥ मैंने जितने अग्र-स्वभाव तथा श्रेष्ठ प्राणी देखे, उनमें से कोई दूसरा ऐसा नहीं दिखायी दिया ॥७९॥ मैं तुम्हारे स्वभाव से प्रसन्न हूँ तथा मधुर वाक्य से । मेरी यही इच्छा है कि दोनों को चिरकाल तक देखता रहूँ ॥८०॥]

तब बोधिसत्व ने राजा की प्रशंसा करते हुए कहा—

यं किञ्चि परमे मित्ते कतरस्मासु तं तया,
पत्ता निस्संसयं त्यम्हा भत्तिरस्मासु या तव ॥८१॥
अदुञ्च नून सुमहा ञातिसंघस्स-मन्तरं,
अदस्सनेन अम्हाकं दुक्खं बाहूसु पक्खिसु ॥८२॥
तेसं सोकविघाताय तथा अनुमता मयं
तं पदक्खिणतो कत्वा ञाती पस्सेम अरिंदम ॥८३॥
अद्धाहं विपुलं पीति भवतं विन्दामि दस्सना,
एसो चापि महा अत्थो ञातिविस्सासना सिया ॥८४॥

[जो कुछ परम मित्रों द्वारा करणीय होता है, वह तूने हमारे लिये किया। निस्सन्देह हमारे प्रति जो तेरी भक्ति है, उसे हम प्राप्त हुए ॥८१॥ यह निश्चय से हमारे और रिश्तेदारों के बीच में महान् अन्तर पड़ गया। हमें न देखने से बहुत से पक्षियों को बहुत दुःख होता होगा ॥८२॥ उनका शोक दूर करने के लिये तूने (जाने की) अनुमति दे दी। हे नरेन्द्र ! हम तेरी प्रदक्षिणा करके रिश्तेदारों से जा मिलें ॥८३॥ निश्चय से आपके दर्शन से हमें बहुत आनन्द मिला है। किन्तु यह बड़ी बात है कि रिश्तेदारों का विश्वास मिले ॥८४॥]

ऐसा कहने पर राजा ने उन्हें जाने की अनुज्ञा दी। बोधिसत्व ने भी राजा को पाँच प्रकार की दुश्शीलता में दोष और शीलपालन का सुपरिणाम कह कर, "इस शील की रक्षा कर, धर्मानुसार राज्य कर, चारों संग्रह-वस्तुओं से आदमियों का संग्रह कर" उपदेश दे चित्रकूट की ओर प्रयाण किया।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

इदं वत्वा धतरट्ठो हंसराज नराधिपं
उत्तमजवमत्ताय ञातिसंघं उपागमुं ॥८५॥

ते अरोगे अनुप्पत्ते दिस्वान परमे दिजे
केका तिम-अकरुं हंसा, पुथुसद्दो अजायथ ॥८६॥
ते पतीता पमुत्तेन भत्तुना भत्तुगारवा
समन्धा परिकरिंसु अण्डजा लद्धपच्चया ॥८७॥

[हंस-राज धृतराष्ट्र ने राजा को यह कहा और उत्तम चाल से ज्ञाति-संघ में आ पहुँचा ॥८५॥ उनको निरोग वापिस लौटा देख कर मोरों ने शब्द किया बहुत आवाज हुई ॥८६॥ स्वामी के प्रति गौरव का भाव होने से स्वामी को मुक्त देखकर प्रतिष्ठा-प्राप्त सभी पक्षियों ने उसे चारों ओर से घेर लिया ॥८७॥]

उन हंसों ने इस प्रकार घेर कर "महाराज ! कैसे मुक्त हुए ?" पूछा । बोधिसत्व ने सुमुख के कारण मुक्त होने की बात, सागल-राजा तथा शिकारी की करनी कही । यह सुन हंस-समूह ने "सेनापति सुमुख, राजा तथा शिकारी सभी सुखी हों, दुःख-विहीन हों और चिरकाल तक जियें" कह, स्तुति की ।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने अंतिम गाथा कही—

एवं मित्तवतं अत्था सब्बे होन्ति पदक्खिणा
हंसा यथा धतरट्ठा ञातिसंघ उपगमुं ॥८८॥

[इस प्रकार मित्रों की सहायता से सभी अर्थ इष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार धृतराष्ट्र-हंस जातियों के समूह में वापिस चले आये ॥८८॥]

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला "भिक्षुओं, न केवल अभी, पहले भी आनन्द ने मेरे लिये जीवन-परित्याग किया है" कह जातक का मेल बैठाया । उस समय शिकारी छन्न था, राजा सारिपुत्र, सुमुख आनन्द, नौवे हजार हंस बुद्ध-परिषद् और हंस-राजा तो मैं ही था ।

०

५३४. महाहंस जातक

'एते हंसा पक्कमन्ति...' यह शास्ता ने वेळुवन में विहार करते समय स्थविर के जीवन-परित्याग के ही बारे में कही। (वर्तमान) कथा उक्त प्रकार से ही है। यहाँ शास्ता ने पूर्व-जन्म की बात कहते हुए इस प्रकार कहा।

क. वर्तमान कथा

पूर्व समय में सेय्य नाम के वाराणसी नरेश की खेमा नाम की पटरानी थी। उस समय नौवे हजार हंसों सहित बोधिसत्व चित्रकूट पर्वत पर रहते थे। एक दिन खेमा देवी ने प्रातःकाल स्वप्न देखा : स्वर्ण-वर्ण हंसों ने आकर राज-सिंहासन पर बैठ मधुर-स्वर से धर्मोपदेश दिया। देवी के 'साधु-साधु' कहते हुए, धर्म-श्रमण से अतृप्त रहते हुए ही रात बीत गयी। हंस धर्म-कथा कह झरोखे से निकल चले गये। वह जल्दी से उठी और हाथ पसार कर चिल्लाने लगी, "भागे जा रहे हंसों को पकड़ो, पकड़ो।" तभी उसकी आँख खुल गई। उसकी बात सुनकर परिचारिकायें थोड़ी हँसी—"हँस कहाँ हैं ?" उस समय उसने उसे स्वप्न जान सोचा, "मैंने अविद्यमान वस्तुओं को नहीं देखा होगा। निश्चय से इस लोक में स्वर्ण-हंस होंगे। यदि मैं राजा से यह कहूँगी कि 'मैं स्वर्ण-हंस से धर्म सुनना चाहती हूँ' तो राजा विशेष प्रयत्न नहीं करेगा, कहेगा 'हमने स्वर्ण-हँस नहीं देखे हैं। हंसों की कथा मिथ्या ही है।' यदि कहूँगी, 'दोहद उत्पन्न हुआ है', तो जैसे-तैसे खोजेगा। इस प्रकार मेरा मनोरथ पूरा होगा। वह रोगी की सूरत बना, सेविकाओं को इशारा कर, जा लेट रही। राजा ने सिंहासन पर बैठे हुए उसके दिखायी देने के समय जब उसे नहीं देखा, तो पूछा--"खेमा देवी कहाँ है ?" जब सुना कि "रोगिणी" है, तो उसके पास पहुँचा, और शैय्या के एक किनारे बैठ पीठ मलते हुए पूछा--"कष्ट है ?" "कष्ट नहीं है, मुझे दोहद उत्पन्न हुआ है", देवी ने उत्तर दिया। "देवी कह, जिस चीज की इच्छा हो;

शीघ्र मंगवाऊँ।" "महाराज, मैं एक स्वर्ण-हंस को श्वेत छत्र के नीचे सिंहासन पर बिठा, गन्धमाला आदि से पूजन कर, 'साधु साधु' कहते हुए, उससे धर्म सुनना चाहती हूँ। यदि यह होता है तो ठीक, अन्यथा मैं जीती नहीं रह सकती।"

राजा ने आश्वासन दिया, "चिन्ता न कर, यदि मनुष्य लोक में होगा तो मिलेगा।" शयनागार से बाहर आ, उसने मन्त्रियों से पूछा—"भो, खेमा देवी का कहना है कि स्वर्ण-हंस से धर्म-कथा सुनने को मिलेगी, तो जीऊँगी, नहीं मिलेगी तो नहीं जीऊँगी। क्या स्वर्ण-वर्ण हंस होते हैं ?"

'देव! न हमने देखे, न सुने।"

"तो कौन जानते होंगे ?"

"देव ! ब्राह्मण।"

राजा ने ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा--"आचार्य्यों ! क्या स्वर्ण-हंस होते हैं ?"

"हाँ महाराज ! हमारे यहाँ यह आया है कि मच्छ, केकड़े, कछुवे, मृग, मोर तथा हंस ये तिरश्चीन प्राणी स्वर्ण-वर्ण होते हैं। धृतराष्ट्र-कुल के हंस पण्डित तथा ज्ञानी होते हैं। इस प्रकार मनुष्यों को शामिल करके ये सात स्वर्ण-वर्ण होते हैं।"

राजा ने सन्तुष्ट हो पूछा, "आचार्य्यों ! यह धृतराष्ट्र हंस कहाँ रहते हैं ?"

"महाराज, नहीं जानते हैं।"

"तो कौन जानते होंगे ?"

"शिकारी।"

राजा ने अपने राज्य के सभी शिकारियों को बुलवाकर पूछा—"तात ! धृतराष्ट्र-कुल के स्वर्ण-हंस कहाँ रहते हैं ?" एक बोला, "देव ! परम्परा से सुनते आये हैं कि हिमालय में चित्रकूट पर्वत पर।"

"उनके पकड़ने की विधि जानते हो ?"

"देव ! नहीं जानता हूँ।"

उसने ब्राह्मण-पण्डितों को बुलवा भेजा और उन्हें यह बताकर कि चित्रकूट पर्वत पर स्वर्ण-हंस हैं, पूछा—

"क्या उनके पकड़ने का तरीका जानते हो ?"

"महाराज ! उन्हें जाकर पकड़ने से क्या ! उपाय से उन्हें नगर के समीप लाकर पकड़ेंगे ।"

"क्या उपाय है ? "

'महाराज ! नगर से उत्तर की ओर तीन गव्यूति तालाब खनवाकर, उसे पानी से भर, नाना प्रकार के धान्य बो, पाँच वर्णों के कमलों से ढक, एक होशियार शिकारी को छिपा, मनुष्यों के जाने पर प्रतिबन्ध लगा घोषणा कराये कि चारों कोनों पर स्थित प्राणियों के लिये अभय है। ये सुन नाना प्रकार के पक्षी उतरेंगे। वे हंस भी परम्परा से उस तालाब के क्षेमकर होने की बात सुन वहाँ आयेंगे। तब उन्हें जाल में फँसा कर पकड़वा लेना।"

यह सुन राजा ने उनके कहे स्थान पर यथोक्त तालाब खुदवाया और होशियार शिकारी को बुला उसे हजार दे खेम तालाव सौंपते हुए उसे आश्वस्त करते हुए कहा--"अब से तू अपना काम मत कर। मैं तेरे पुत्र-स्त्री का पालन करूँगा। तू अप्रमादी होकर खेम तालाब की रक्षा कर। मनुष्यों को न आने दे। चारों कोनों पर 'अभय' की घोषणा कर जो-जो पक्षी आयें, उनकी मुझे सूचना दे। स्वर्ण-हंसों से आगमन पर बहुत ऐश्वर्य मिलेगा।" तब से वह राजा के कहे अनुसार ही करने लगा। खेम तालाब का पहरा देता है,' इसलिये उसका नाम ही खेम निषाद पड़ गया। तब से नाना प्रकार के पक्षी-गण उतरे। 'खेम निर्भय-सरोवर है' परम्परा से यह बात सुन नाना प्रकार के हंस भी आये। पहले तृण-हंस आये, उनकी बात सुन पाण्डु-वर्ण हंस, उनकी बात सुन मनोशिला-हंस, उनकी बात सुन श्वेत-हंस, और उनकी बात सुन पाक-हंस आये उनके आने पर खेमक ने राजा से कहा, "देव ! पाँच वर्ण के हंस आकर तालाब पर चोगा चुगते हैं। चिन्ता न करें। पाक-हंसों के आने के बाद अब कुछ दिन में स्वर्ण-हंस आयेंगे।" यह सुन राजा ने नगर में मुनादी करा दी, "कोई दूसरा वहाँ न जाय, जो जायेगा हाथ-पाँव कटवा दिये जायेंगे और घर लुटवा दिया जायेगा।" तब से वहाँ कोई न जाता था।

चित्रकूट के पास ही कञ्चन-गुफा में पाक हंस रहते थे। वे बहुत बलवान थे। धृतराष्ट्र-कुल के हंसों से उनका शरीर-वर्ण विशेष था।पाक-हंस राजा की

लड़की स्वर्ण-वर्णा थी। वह 'उस धृतराष्ट्र महाराज के अनुरूप है' सोच उसकी चरण-सेविका बनाकर भेजी गयी। वह उसकी प्रिया हुई, उसके मन को अच्छी लगने वाली। इसी कारण से वे दोनों हंस-कुल परस्पर बहुत विश्वासी हो गये।

एक दिन बोधिसत्व के परिवार के हंसों ने पाक-हंसों को पूछा—"तुम इन दिनों कहाँ चुगने जाते हो?"

"हम यहाँ से कुछ ही दूर पर खेम सर पर चोगा चुगते हैं। और तुम कहाँ घूमते हो?"

"अमुक जगह।"

"खेम तालाब किस लिये नहीं जाते?" पूछते हुए उन्होंने खेम-सरोवर की प्रशंसा की—"वह सरोवर रमणीय है, नाना प्रकार के पक्षियों से युक्त है, पाञ्च-वर्ण के तालाबों से आच्छादित है, नाना धान्यों तथा फलों से युक्त है, नाना प्रकार के भ्रमर गूंजते हैं और चारो कोनों में नित्य अभय-घोषणा होती है। कोई दूसरा उपद्रव करने की तो क्या बात, कोई वहाँ पहुँच ही नहीं सकता। ऐसा है वह सरोवर।"

उन्होंने उसकी बात सुन सुमुख को कहा, "वाराणसी के पास इस प्रकार का खेम-सरोवर है। पाक-हंस वहाँ जाकर चोगा चुगते हैं। आप भी धृतराष्ट्र महाराज से कहें। यदि अनुज्ञा हो तो हम भी वहाँ जाकर चोगा चुगें।" सुमुख ने राजा से कहा। उसने सोचा: "मनुष्य बहुत मायावी तथा उपाय-कुशल होते हैं। वहाँ कोई बात होगी। अभी तक वहाँ कोई तालाब नहीं था। अब हमें पकड़ने के लिए बनाया होगा।" उसने सुमुख से कहा—"तुझे वहाँ जाना अच्छा नहीं लगना चाहिये। उन्होंने वह तालाब धार्मिक भावना से नहीं बनाया है। हमारे पकड़ने के लिये बनाया है। मनुष्य कठोर-मन वाले तथा उपाय-कुशल होते हैं। तुम अपनी चुगने की जगह पर ही चुगो।" स्वर्ण-हंसों ने दूसरी बार भी अपनी खेम-सरोवर जाने की इच्छा व्यक्त की। उसने उनकी वहाँ जाने की इच्छा बोधिसत्व से व्यक्त की।

तब बोधिसत्व ने सोचा, "मेरे सम्बन्धी मेरे कारण कष्ट न पायें, तो चलें।" नौवे हजार हंसों के साथ वह वहाँ पहुँचा और चोगा चुगकर तथा हंस-क्रीड़ा करके चित्रकूट ही लौट आया। खेमक ने उनके चुगकर चले जाने

पर, उनके आने की बात राजा से कही। राजा ने प्रसन्न हो, उसे खर्चा देकर प्रेरणा की--"सौम्य खेमक, एक या दो हंसों को पकड़ने का यत्न कर। तुझे बहुत ऐश्वर्य्य दूंगा।"

वह वहाँ जा मिट्टी के बरतन के झरोखे (?) में बैठ हंसों के विचरने की जगह का विचार करने लगा। बोधिसत्व की चर्य्या लोभ-रहित होती है। इसलिए बोधिसत्व जिस जगह उतरे, वहाँ से क्रमशः धान चुगते हुए आगे बढ़े। शेष जहाँ-तहाँ खाने लगे।

तब शिकारी ने सोचा, "इस हंस की लोभरहित-गति है। इसे पकड़ना चाहिए।" अगले दिन हंसों के सरोवर पर उतरने से पहले ही वह मिट्टी के बरतन के झरोखे में बैठा ही बैठा वहाँ पहुँचा और झरोखे के समीप ही अपने को छिपा कर, बैठकर छेद में से देखने लगा। तब जिस जगह कल उतरना हुआ था, उसी जगह उतर कर बोधिसत्व सीमा पर बैठ चुगता हुआ आगे बढ़ा। शिकारी ने झरोखे के छेद में से उसका सौन्दर्य देखा--शकट जितना बड़ा शरीर, स्वर्ण-वर्ण, गर्दन पर लाल रंग की तीन धारियाँ, गले से उतर कर पेट के बीच तक गयी हुई तीन धारियाँ, तीन पिछली ओर गयी हुई धारियाँ, लाल कम्बल के धागों के सिरों पर लटकने वाले कञ्चन की तरह प्रज्वलित। उसने सोचा, "यही इनका राजा होगा। इसे ही पकड़ूंगा।" हंस-राजा भी बहुत देर तक चोगा चुग; जल-क्रीड़ा कर, हंसों के साथ चित्रकूट ही लौट गया। इस प्रकार छः दिन तक चोगा चुगता रहा। सातवें दिन खेमक ने काले घोड़े के बालों की मजबूत रस्सी बँट, लकड़ी का जाल बना, 'कल हंस राजा यहाँ उतरेगा, इसका सही-सही अन्दाजा कर, पानी के भीतर लकड़ी का जाल फैलाया।

अगले दिन हंस-राज उतरता हुआ पाँव जाल में फँसाता हुआ ही उतरा। जाल ने उसके पैर को ऐसे जकड़ लिया जैसे लोहे के पट्टे ने। उसने उसे काटने के लिये जोर से झटका मारा। पहली बार में स्वर्ण-वर्ण चमड़ी कट गयी, दूसरी बार में कम्बल-वर्ण मांस कट गयीं, तीसरी बार में नसें कट गयीं, चौथी बार ऐसा हुआ कि पाँव ही कट जायेगा। 'अंग-विहीन हो जाना राजाओं के लिये अशोभन है', सोच उसने प्रयत्न नहीं किया। तीव्र वेदना होने लगी। उसने सोचा: "यदि मैं फँस जाने की आवाज लगाता हूँ, तो मेरे सम्बन्धी त्रस्त

होकर बिना चुगे, भूखे ही उड़ जायेंगे और (निर्बलता के कारण) समुद्र में जा गिरेंगे।" वह पीड़ा को सहते हुए, पासा पलट कर धान चुगते हुए की तरह बना रहा। फिर जब वे यथेच्छ चुग कर हंस-क्रीड़ा करने लगे तो जोर से फँस जाने की आवाज लगाई। यह सुन हंस पूर्वोक्त प्रकार ही भाग गये। सुमुख ने भी उक्त प्रकार से ही सोचकर, खोजकर, तीनों हिस्सों में बोधिसत्व को न देख, स्थिर किया, कि निश्चय से "बोधिसत्व पर ही यह विपत्ति आयी होगी।" वह रुका और उसने उतर कर बोधिसत्व को आश्वासन दिया, "महाराज ! मत डरें। मैं अपनी जान देकर भी तुम्हें छुड़ाऊँगा।" यह कहते हुए वह बोधिसत्व को आश्वस्त करता हुआ कीचड़ पर बैठा। बोधिसत्व ने लहू लगे-लगे, जाल की लाठी में लटके ही लटके, इस बात की परीक्षा करनी चाही कि 'नौवे हजार हंसों में जब सभी मुझे छोड़कर चले गये हैं, और यही एक आया है, तो क्या यह भी शिकारी के आगमन पर मुझे छोड़कर चला जायेगा अथवा नहीं ?' उसने तीन गाथायें कहीं—

एते हंसा पक्कमन्ति वक्कंगा भयमेरिता,
हरित्तचा हेमवण्णा कामं सुमुख पक्कम ॥१॥

ओहाय मं ञातिगणा एकं पासवसं गते
अनपेक्खमाना गच्छन्ति, किं एको अवहिय्यसि॥२॥

पतेव पततं सेट्ठ, नत्थि बद्धे सहायता,
मा अनीघाय हापेसि, कामं सुमुख पक्कम ॥३॥

[भय के मारे ये स्वर्ण-वर्ण पक्षी उड़े जाते हैं। हे सुमुख ! तू भी जा ॥ १ ॥ मुझे जाल में अकेला फँसा देखकर सभी रिश्तेदार मुझे अकेला छोड़ निरपेक्ष भाव से चले जा रहे हैं। तू अकेला क्यों रहता है ? ॥ २ ॥ पक्षी के लिये उड़ जाना ही श्रेष्ठ है। जाल में फँसे की सहायता नहीं हो सकती। सुख को मत छोड़। सुमुख ! चाहे तो चला जा ॥ ३ ॥]

यह सुन सुमुख ने सोचा : "यह राजा मेरा भाव नहीं जानता। मुझे केवल मीठी-मीठी बात करने वाला मित्र समझता है। मैं इसे अपना स्नेही होना प्रकट करूँगा।" उसने चार गाथायें कहीं—

नाहं दुक्खपरेतोपि धतरट्ठ तवं जहे,
जीवितं मरणं वा मे तया सद्धि भविस्सति ।।४।।
नाहं दुक्खपरेतोपि धतरट्ठ तवं जहे,
न मं अनीरय संयुत्ते कम्मे योजेतुं अरहसि ।।५।।
सकुमारो सखा त्य-अस्मि सचित्ते समिते ठितो,
ञातो सेनापति त्याहं हंसानं पवरुत्तम ।।६।।
कथं अहं विकत्तिस्सं ञातिमज्झे इतो गतो,
तं हित्वा पततं सेट्ठ किं ते वक्खामितो गतो,
इध पाणं चजिस्सामि न अनरियं कत्तुं उस्सहे ।।७।।

[दुःख आ पड़ने पर भी हे धृतराष्ट्र ! मैं तुझे नहीं छोड़ूंगा । मेरा जीना या मरना तेरे साथ ही होगा ।।४।। दुःख आ पड़ने पर भी हे धृतराष्ट्र, मैं तुझे नहीं छोड़ूंगा । मुझे अनार्य-कर्म में लगाना उचित नहीं ।।५।। मैं बालकाल से तेरा सखा हूँ । तेरे वश में हूँ । हे हंसों में श्रेष्ठ ! मैं तेरा ज्ञात सेनापति हूँ ।।६।। यहाँ से जाकर मैं जाति-वालों को क्या कहूँगा ? हे पक्षियों में श्रेष्ठ ! यहाँ तुझे छोड़ जाकर क्या कहूँगा । मैं यहीं प्राण त्याग कर दूंगा । मैं अनार्य-कर्म नहीं करूंगा ।।७।।]

इस प्रकार सुमुख के चार गाथाओं द्वारा सिंह-नाद करने पर उसके गुण का प्रकाशन करते हुए बोधिसत्व ने कहा—

एसो हि धम्मो सुमुख यं त्वं अरियपथे ठितो
यो भत्तारं सखारं मं न परिचत्तुं उस्सहे ।।८।।
तं हि मे पेक्खमानस्स भयं न त्वेव जायति
अधिगच्छसि त्वं मय्हं एवं भूतस्स जीवितं ।।९।।

[हे सुमुख ! यह जो तेरा आर्य-आचरण है, यही धर्म है । तू मुझे स्वामी तथा सखा को छोड़ना नहीं चाहता है ।।८।। तुझे देखते हुए मेरे मन में भय पैदा नहीं होता । तू मेरे जीवन की रक्षा कर सकेगा ।।९।।

इस प्रकार उनके बातचीत करते समय सरोवर के किनारे पर खड़े शिकारी ने हंसों को तीन हिस्सों में भागे जाते देखा तो जाल की जगह को

देखकर सोचा—क्या बात है ? फिर बोधिसत्व को जाल की लकड़ी में फँसा देखा तो उसे हर्ष हुआ। उसने काछ मारी और हाथ में मुग्दर ले, वह कल्प के अन्त में उठने वाली आग की तरह उतरा। वह एड़ी तक के कीचड़ में ऊपर-ऊपर जा, शीघ्रता से आगे जा पहुँचा।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये शास्ता ने कहा—

इच्चेव मन्तयन्तानं अरियानं अरियवत्तिनं
दण्डं आदाय नेसादो आपादी तुरितो भुसं ॥१०॥
तं आपतंतं दिस्वान सुमुखो अपरिब्रूहयि
अट्ठासि पुरतो रञ्ञो हंसो विस्सासयं व्यथं ॥११॥
मा भायि पततं सेट्ठ, न हि भायन्ति तादिसा
अहं योगं पयुञ्जिस्सं युत्तं धम्मूपसंहितं
तेन परियापदानेन खिप्पं पासा पमोक्खसि ॥१२॥

[इस प्रकार उन आर्याचरण आर्यों के बात-चीत करते समय शिकारी डण्डा लेकर शीघ्र वहाँ पहुँच गया ॥१०॥ उसे आता देख सुमुख जोर से बोला। वह हंस को आश्वस्त करता हुआ राजा के सामने खड़ा हुआ ॥११॥ हे पक्षी-राज ! भयभीत मत हो। तेरे जैसे डरते नहीं हैं। मैं धर्मानुकूल उपाय करूँगा। मेरे उस उपाय से तू शीघ्र बन्धन से मुक्त हो जायेगा ॥१२॥]

इस प्रकार सुमुख ने बोधिसत्व को आश्वस्त कर शिकारी के पास जा मधुर मानुषी-वाणी में पूछा—

"सौम्य ! तेरा क्या नाम है ?"

"स्वर्ण हंसराज ! मेरा नाम खेमक है" कहने पर कहा, "सौम्य खेम ! यह मत समझ कि तूने जो जाल फैलाया था, उसमें यूँ ही कोई जैसा-तैसा आ फँसा है। नौवे हजार हंसों में श्रेष्ठ धृतराष्ट्र-हंस-राज तेरे जाल में बँधा है। वह ज्ञानी है, सदाचारी है तथा दयावान है, इसे मार डालना उचित नहीं। जो कुछ यह तेरे लिए कर सकता है, वह सब मैं करूँगा। यह भी स्वर्ण-वर्ण है, और मैं भी। इसके लिए मैं अपनी जान दूँगा। यदि तु इसके पंख लेना चाहता है, तो मेरे पंख ले। यदि चर्म, मांस, नसों तथा हड्डी में से कोई चीज लेना

चाहता है, तो मेरे ही शरीर से ले। यदि इसे क्रीड़ा-हंस बनाना चाहता है तो मुझे ही बना। जीते जी यदि बेचकर धन कमाना चाहता है, जो मुझे ही बेच। इस ज्ञानादि गुणों से युक्त (पक्षी) का बध मत कर। यदि बध करेगा तो नरक आदि से मुक्त नहीं होगा।" इस प्रकार उसे नरक का भय दिखा और अपनी मधुर-वाणी स्वीकार करा सुमुख ने बोधिसत्व के पास पहुंच उसे आश्वस्त किया। शिकारी ने उसकी बात सुनी तो सोचने लगा "यह तिरश्चीन होकर भी वह बात कर रहा है, जो मनुष्य भी नहीं कर सकते। मनुष्य भी इस प्रकार मित्र-धर्म को नहीं निभा सकते। ओह! यह कितना ज्ञानी है, मधुर-भाषी है तथा धार्मिक है।" उसका सारा शरीर प्रीति सौमनस्य से भर गया। उसे रोमांच हो आया। उसने दण्ड छोड़ दिया और सिर पर हाथ जोड़ सूर्य को नमस्कार करते हुए की तरह, खड़े होकर सुमुख का गुण कहने लगा।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

तस्स तं वचनं सुत्वा सुमुखस्स सुभासितं
पहट्ठलोमो नेसादो अञ्जलिस्स पणामयि ॥१३॥
न मे सुतं वा दिट्ठं वा भासन्तो मानुसिं दिजो
न मे सुतं वा दिट्ठं वा भासन्तो मानुसिं दिजो ॥१४॥
किं नु तायं दिजो होति मुत्तो बद्धं उपासयि
ओहाय सकुणा यन्ति, किं एको अवहिय्यसि ॥१५॥

सुमुख के उस सुभाषित को सुनकर, रोमांचित शिकारी ने उसे हाथ जोड़कर नमस्कार किया ॥१३॥ मैंने कभी किसी पक्षी को निर्दोष मानुषी-वाणी बोलते न देखा, न सुना ॥१४॥ यह पक्षी तेरा क्या लगता है कि तू (स्वयं) मुक्त होकर भी उस (जाल में) फंसे हुए के पास खड़ा है। और सभी पक्षी उसे छोड़े चले जा रहे हैं। अकेला तू ही क्यों पीछे रहता है? ॥१५॥]

इस प्रकार उस संतुष्टचित्त शिकारी द्वारा पूछे जाने पर सुमुख ने सोचा, "यह कोमल पड़ गया है। अब इसे और भी अधिक प्रसन्न करने तथा मृदु बनाने के लिए अपना गुण प्रकट करूंगा।" वह बोला—

राजा मे सो दिजामित्त, सनापच्चस्स कारयिं,
तं आपदे परिच्चतुं, न उस्सहे विहगाधिपं ॥१६॥

महागणाय भत्ता मे मा एको व्यसनं अगा,
तथा तं सम्म नेसाद भत्तायं अभितो रमे ॥१७॥

[हे शिकारी ! यह मेरे राजा हैं, मैं इनका सेनापति (?) हूँ। इस पक्षी-राज को मैं आपत्ति में छोड़कर नहीं जा सकता ॥१६॥ यह महान् पक्षी-संघ का स्वामी है। यह किसी आपत्ति में न पड़े। सौम्य शिकारी ! तू ऐसा (कर) जिससे यह स्वामी सुख से रहे ॥१७॥]

उसकी धर्म-युक्त मधुरवाणी सुनकर सौमनस्य-प्राप्त रोमांचित शिकारी ने सोचा "यदि मैं इस शीलादि गुणों से युक्त हंस-राज का वध कर दूंगा, तो मैं चारों नरकों से मुक्त न हो सकूंगा। राजा मेरा जो चाहे सो करे। मैं उसे सुमुख की भेंट कर के छोड़ देता हूँ।" उसने गाथा कही—

अरियवत्तासि वक्कंग यो पिण्डं अपचायसि,
चजामि ते तं भत्तारं, गच्छतु भो यथासुखं ॥१८॥

[हे पक्षी ! तू आर्य्य-कर्मा है। तू (स्वामी से मिले) पिण्ड को पूजा करता है। मैं तुझे और तेरे स्वामी को मुक्त करता हूँ। तुम दोनों सुख से जाओ ॥१८॥]

ऐसा कह कर शिकारी कोमल-चित्त से बोधिसत्व के पास पहुँचा, लकड़ी झुकायी और कीचड़ पर बैठ, उसने जाल की लकड़ी खोली। फिर (बोधिसत्व को) उठा, सरोवर से निकाल कोमल दूब पर बिठा, पाँव में बंधे हुए बंधन को धीरे-धीरे खोला। फिर बोधिसत्व के प्रति प्रगाढ़ स्नेह पैदा कर, मैत्री-चित्त से पानी ला लहू पोंछा और बार-बार हाथ फेरा। उसकी मैत्री से शिरा से शिरा, मांस से मांस तथा चर्म से चर्म मिल गया। पैर पूर्ववत् हो गया, ठीक दूसरे के ही समान। बोधिसत्व सुखी हो स्वाभाविक-रूप से बैठा। सुमुख ने जब यह देखा कि राजा उसके कारण सुखी हो गया है, तो वह प्रसन्न हो; सोचने लगा, "इस (शिकारी) ने हमारा बहुत उपकार किया है। हमने इसका कुछ उपकार नहीं किया है। यदि इसने हमें राजा-महामात्य आदि के लिये हमें पकड़ा तो उनके पास ले जाने से बहुत धन प्राप्त कर सकता था,

यदि अपने लिये पकड़ा तो हमें बेचकर धन लाभ कर ही सकता था। मैं इससे पूछूंगा।" उसने उसका उपकार करने की इच्छा से कहा—

> सचे अत्तप्पयोगेन ओहितो हंसपक्खिनं
> पतिगण्हाय ते सम्म एतं अभयदक्खिणं ॥१९॥
> नोचे अत्तप्पयोगेन ओहितो हंसपक्खिनं
> अनिस्सरो मुञ्चं अम्हे थेय्य कयिरासि लुद्दक ॥२०॥

[सौम्य यदि तूने अपने प्रयोजन के लिये, पक्षियों के लिए जाल फैलाया, तो हम तेरे इस उपकार को अभय-दक्षिणा मान कर ग्रहण करते हैं ॥१९॥ यदि तू ने अपने प्रयोजन के लिए जाल नहीं फैलाया, तो तू स्वयं स्वामी न होने के कारण हमें छोड़कर चौर-कर्म कर रहा है ॥२०॥]

यह सुन शिकारी ने, "मैंने तुम्हें अपने लिये नहीं पकड़ा। वाराणसी राजा की आज्ञा से पकड़ा है", कह, देवी द्वारा देखे गये स्वप्न से लेकर, राजा द्वारा उनके आने की बात, और "सौम्य ! एक या दो हंस पकड़ने का प्रयत्न कर, बहुत ऐश्वर्य मिलेगा", कह, खर्च देकर प्रेरित करने की बात आदि तमाम बातें कह सुनायीं। यह सुन सुमुख ने सोचा "इस शिकारी ने अपनी जान की परवाह न कर हमें मुक्त करके दुष्कर कार्य किया है। यदि हम यहाँ से चित्र-कूट जायेंगे तो न धृतराष्ट्र की प्रज्ञा और न मेरी मैत्री ही प्रकट होगी, न शिकारी को ऐश्वर्य मिलेगा, न राजा पाञ्च शीलों में प्रतिष्ठित होगा और न देवी का मनोरथ ही पूरा होगा।" इसलिये उसने कहा, "मित्र ! यदि ऐसा है तो हमें मुक्त नहीं कर सकेगा, हमें राजा के पास ले चल। वह हमारे साथ जो चाहेगा, करेगा।"

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए—

> यस्स त्वं भतको रञ्ञो कामं तस्सेव पापय
> तत्थ संयमानो राजा यथाभिन्नं करिस्सति ॥२१॥

[जिसका तू नौकर है, वहीं ले चल। वहाँ वह संयमी (?) राजा यथा-रुचि करेगा ॥२१॥]

यह सुन शिकारी बोला, "भन्ते। राज-दर्शन की इच्छा न करें। राजा लोग

खतरनाक होते हैं। वे क्रीड़ा-हंस भी बना सकते हैं और मार भी डाल सकते हैं।" सुमुख ने उत्तर दिया--"सौम्य शिकारी! हमारी चिन्ता मत कर। मैंने धर्म-कथा से तेरे सदृश कठोर-स्वभाव को भी मृदु बना लिया। राजा को क्या नहीं जानूंगा! राजा लोग पण्डित होते हैं, सुभाषित के जानने वाले। हमें शीघ्र राजा के पास ले चल। ले चलते समय बाँध कर मत ले चल। फूल के पिञ्जरे में बिठाकर ले चल। फूलों का पिञ्जरा बनाते हुए धृतराष्ट्र के लिए बड़ा श्वेत पद्मों से ढका हुआ बना। मेरे लिये छोटा, लाल कमलों से ढका हुआ बना। धृतराष्ट्र को आगे और मुझे पीछे, नीचे करके; ले जाकर यथाशीघ्र राजा को दिखा।" उसने उसका कहना सुन सोचा, "सुमुख राजा को देख, मुझे बहुत ऐश्वर्य दिलाना चाहता होगा।" वह प्रसन्न हुआ और कोमल लताओं से पिञ्जरे बना, कमलों से ढक, यथोक्त प्रकार से ही (उन्हें) ले गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

इच्चेव वुत्तो नेसादो हेमवण्णे हरित्तचे,
उभो हत्थेहि संगय्ह पञ्जरे अज्झवोदहि ॥२२॥
ते पञ्जर गते पक्खी उभो भस्सर वण्णिने,
सुमुखं धतरट्ठं च लुद्दो आदाय पक्कमि ॥२३॥

[इस प्रकार कहे गये शिकारी ने स्वर्ण-वर्ण पक्षियों को दोनों हाथों से पकड़ पिञ्जरे में रखा ॥२२॥ उन दोनों प्रभापूर्ण पक्षियों को धृतराष्ट्र तथा सुमुख को लेकर शिकारी गया ॥२३॥]

जिस समय शिकारी उन्हें लिये जा रहा था, उस समय धृतराष्ट्र को पाक राज हंस-कुमारी अपनी भार्या याद आ गयी और वह सुमुख को सम्बोधित कर रागाभिभूत हो रो पड़ा।

इस अर्थ को प्रकट करते हुए शास्ता ने कहा—

हरियमानो धतरट्ठो सुमुखं एतद अब्रवि,
बाळ्हं भायामि सुमुखं सामाय लक्खणूरुया,
अस्माकं बधं अञ्ञाय अथ अत्तानं वधिस्सति ॥२४॥
पाकहंसा च सुमुख सुहेमा हेमसुत्तचा,
कोञ्ची समुद्दतीरे व कपणा नून रुच्छति ॥२५॥

[ले जाया जाता हुआ धृतराष्ट्र सुमुख से इस प्रकार बोला--"सुमुख ! मुझे स्वर्ण-वर्ण, लक्षण-जांघ वाली अपनी भार्या से बहुत डर लगता है कि हमारे बध किये जाने की बात सुनकर वह अपने आपको मार डालेगी ॥२४॥ हे सुमुख ! वह स्वर्ण-वर्ण, स्वर्ण-त्वचा-वाली (मेरी भार्या) उसी प्रकार रोयेगी जैसे समुद्र तीर पर विचारी क्रौञ्ची" ॥२५॥]

यह सुन सुमुख ने सोचा--"यह हंस औरों को उपदेश देने योग्य है, किन्तु स्त्री के लिए (स्वयं) रागाभिभूत हो रोता है। पानी में आग लगने जैसा हो गया। बाढ़ ही उठकर खेत को खाने लग गयी हो—ऐसा हो गया। मैं अपने बल से स्त्रियों के दोष प्रकट कर इसे होश में लाऊँ।" वह बोला--

एवं महन्तो लोकस्स अप्पमेय्यो महागणी,
एकित्थिं अनुसोचेय्य, न इदं पञ्ञवतो-मिव ॥२६॥

वातो व गन्धं आदेति उभयं छेकपापकं,
बालो आमकपक्कं व लोलो अन्धो व आमिसं ॥२७॥

अविनिच्छयञ्ञू अत्थेसु मन्दो व पटिभासि मं,
किच्चाकिच्चं नजानासि सम्पत्तो कालपरियायं ॥२८॥

अड्ढुम्मत्तो उदीरेसि यो सेय्या मञ्ञसित्थियो
बहूसाधारणा हेता सोण्डानं व सुराघरं ॥२९॥

माया चेसा मरीचि च सोको रोगो चुपद्दवो,
खरा च बन्धना चेता मच्चुपासो गुहासयो,
तासु यो विस्ससे पोसो सो नरेसु नराधमो ॥३०॥

[इस प्रकार का महान्, (हंस) लोक में अप्रमाण गुणों वाला, महान् गुणी इस प्रकार एक स्त्री की चिन्ता करे, यह प्रज्ञावानों का लक्षण नहीं ॥५६॥ जिस प्रकार हवा अच्छी-बुरी सब तरह की गन्ध को ग्रहण करती है, मूर्ख कच्चे पक्के फल को ग्रहण करता है, अन्धा रस-लोभी भले-बुरे भोजन को ग्रहण करता है। (उसी प्रकार स्त्रियाँ सभी को ग्रहण करती हैं) ॥२७॥ मुझे लगता है कि तू मन्दबुद्धि है, क्योंकि तू निर्णय नहीं कर सकता, मरण-काल उपस्थित होने पर भी तू कृत्याकृत्य नहीं जानता ॥२८॥ जो स्त्रियों को श्रेष्ठ

मानता है, वह आधे पगले की तरह प्रलाप करता है। जिस प्रकार शराबियों का प्याऊ, उसी प्रकार स्त्रियाँ अत्यन्त सर्व-सुलभ हैं ॥२९॥ ये माया हैं, ये मृग-तृष्णा हैं, ये शोक हैं, ये रोग हैं, ये उपद्रव हैं, ये कठोर हैं, ये बन्धन हैं, ये मृत्युपाश हैं और ये गुह्याशय हैं। जो आदमी इनका विश्वास करे, वह नरों में अधम नर है ॥३०॥]

तब धृतराष्ट्र ने स्त्रियों के प्रति आसक्ति रहने के कारण—"तू स्त्रियों के गुण से अपरिचित है, पण्डित जानते हैं, इनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए॥" बात को प्रकट करने के लिए गाथायें कहीं—

यं बुद्धेहि उपञ्ञातं को तं निन्दितुं अरहति,
महाभूतित्थियो नाम लोकस्मिं उपपज्जिसुं ॥३१॥
खिड्डा पणिहिता त्यासु, रती त्यासु पतिट्ठिता,
बीजानि त्यासु रूहंति, यदिदं सत्ता पजायरे,
तासु को निब्बिदे, पोसो, पाणं आसज्ज पाणिभि ॥३२॥
त्वं एव नञ्ञो सुमुख थोनं अत्थेसु युञ्जसि,
तस्स त्यज्ज भये जाते भीतेन जायते मति ॥३३॥
सब्बोहि संसयं पत्तो भयं भीरु तितिक्खति,
पंडिता च महंता नो अत्थे युञ्जन्ति दुय्युजे ॥३४॥
एतदत्थाय राजानो सूरं इच्छन्ति मतिन,
पटिबाहति यं सूरो आपदं अत्तपरियायं ॥३५॥
मा नो अज्ज विकंतिसु रञ्ञो सूदा महानसे,
तथा हि वण्णो पत्तानं फलं वेणुं व तं वधि ॥३६॥
मुत्तोपि न इच्छि उड्डेतुं, सयं बन्धं उपागमि,
सो पज्ज संसयं पत्तो, अत्थं गण्हाहि मा मुखं ॥३७॥

[ज्ञानवृद्धों ने जिनके गुणों को जाना है, उन स्त्रियों की कौन निन्दा कर सकता है? स्त्रियों में अनेक गुण हैं। संसार में उन्हीं की प्रथम उत्पत्ति हुई है ॥३१॥ उन्हीं में क्रीड़ा प्रतिष्ठित हैं, वे ही रति का आधार हैं, उन्हीं में

बीज अंकुरित होते हैं तथा उन्हीं से प्राणी उत्पन्न होते हैं। अपने प्राण दे कर भी उन्हें प्राप्त होने वाला कौन मनुष्य उनसे विरक्त होगा ? ॥३२॥ हे सुमुख ! दूसरा नहीं, तू ही स्त्रियों के काम में लगता है। आज भय उपस्थित होने पर, भय के कारण ही तेरी ऐसी मति हो गयी है॥३३॥ भयभीत मनुष्य भय के कारण सभी बातों में संशय करता है। जो पण्डित हैं, जो महान् हैं, वे कठिन कार्यो का सम्पादन करते हैं ॥३४॥ इसीलिए राजागण शूर मंत्री की कामना करते हैं, क्योंकि शूर पुरुष आयी हुई आपत्ति का निवारण कर सकता है और रक्षा भी कर सकता है। जिस प्रकार फल के उत्पन्न होने पर बांस का वध होता है, उसी प्रकार राजा का रसोइया आज रसोईघर में हमारा वध न करे ॥३५-३६॥ मुक्त होकर भी तूने उड़ना नहीं चाहा, स्वयं बँध गया। इसी से आज संशय-ग्रस्त हुआ। अब मतलब की बात कर (स्त्री-निन्दा के लिए) मुंह मत खोल ॥३७॥]

इस प्रकार स्त्रियों की प्रशंसा कर सुमुख को अप्रतिहत किया। फिर यह जान कि वह असंतुष्ट हो गया, उसे उत्साहित करने के लिए गाथा कही--

> सो त्वं योगं पयुञ्जस्सु, युत्तं धम्मूपसंहितं,
> तव परियापदानेन, मम पाणेसनं चर ॥३८॥

[तू योग्य धर्मानुसार कार्य में रत हो। तेरे शुद्ध आचरण से मेरे प्राणों की रक्षा हो ॥३८॥]

फिर सुमुख ने 'यह मृत्यु से अत्यन्त भयभीत हो गया है, यह मेरा बल नहीं जानता, राजा को देखकर थोड़ी बात्त-चीत करके देखूंगा, अभी इसे आश्वस्त करूँ' सोच, गाथा कही—

> मा भायि पततं सेट्ठ, न हि भायन्ति तादिसा,
> अहं योगं पयुञ्जिस्सं, युत्तं धम्मूपसंहितं,
> मम परियायपदानेन, खिप्पं पासा पमोक्खसि ॥३९॥

[हे पक्षि-श्रेष्ठ ! डर मत। तेरे जैसे डरा नहीं करते। मैं धार्मिक उपाय करूँगा। मेरे उपाय से तू शीघ्र ही बन्धन से मुक्त हो जायेगा ॥३९॥]

वे अपनी पक्षि-बोली बोल रहे थे, इसलिए शिकारी कुछ नहीं समझा। वह उन्हे बैंहगी पर लिये लिये वाराणसी पहुंचा। आश्चर्य के मारे हाथ जोड़े हुए लोग पीछे लग गये। उसने राजद्वार पर पहुँच, अपने आने की सूचना राजा को भिजवायी।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

सो लुद्दो हंसकाचेन राजद्वारं उपागमि,
पटिवेदेथं मं रञ्ञो धतरट्ठायं आगतो ॥४०॥

[हंस को बैंहंगी पर उठा वह शिकारी राज-द्वार पर आ पहुँचा। उसने सूचना भिजवायी—राजा से निवेदन करो कि धृतराष्ट्र आ गया है ॥४०॥]

द्वारपाल ने जाकर निवेदन किया। प्रसन्न-मन राजा ने आज्ञा दी—",शीघ्र चला आये।" फिर अमात्यों से घिरे, श्वेत-छत्र के नीचे राज-सिहासन पर बैठे राजा ने हंसों की बैहंगी लेकर खेमक को महल के ऊपर आते देख तथा स्वर्ण-वर्ण हंसों को देख सोचा, 'मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ! उसने अमात्यों को आज्ञा दी कि उसके प्रति योग्य कृत्य करें।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

ते दिस्वा पुञ्ञसंकासे उभोलक्खञ्ञसम्मते,
खलु सञ्ञमानो राजा अमच्चे अज्झभासथ ॥४१॥
देथ लुद्दस्स वत्थानि अन्नपानञ्च भोजनं,
कामं करो हिरञ्ञास्स यावन्तो एव इच्छति ॥४२॥

[उन पुण्यवान्, श्रेष्ठ प्रसिद्ध दोनों को देखकर राजा ने अमात्यों से कहा शिकारी को वस्त्र दो। खाना-पीना तथा भोजन दो। जितना चाहें उतना सोना लेकर यह अपना काम करे ॥४१-४२॥]

इस प्रकार प्रसन्न हो, प्रीति तथा सौमनस्य से उत्साहित हो वह बोला—"जाओ, इसे अलंकृत करके लाओ।" तब अमात्यों ने उसे महल से उतार, हजामत बनवा, स्नान कर, लेप करा, सब अलंकारों से अलंकृत कर राजा को दिखाया। राजा ने लाख की वार्षिक आय वाले बारह गाँव, श्रेष्ठ घोड़ों

वाला रथ और अलंकृत बड़ा भारी घर, इस प्रकार ऐश्वर्य दिया। उसने बहुत ऐश्वर्य पा अपनी करनी प्रकट करने के लिए कहा—"देव ! मैं आपके लिए यूँ ही कोई जैसा-तैसा हंस नहीं ले आया हूं। यह नब्बे हजार हँसों का धृतराष्ट्र नामक राजा है और यह सुमुख नामक सेनापति है।" तब राजा ने पूछा, "सौम्य ! इन्हें कैसे पकड़ा ?"

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

दिस्वा लुद्दं पसन्नत्तं कासीराजा तदाब्रवी,
यदायं सम्म खेमक पुण्णा हंसेहि तिट्ठति ॥४३॥
कथं रुचि मज्झगतं पासहत्थो उपागमि,
ओकिण्णं ञातिसंघेहि निमज्झिमं कथं गही ॥४४॥

[उस समय शिकारी को प्रसन्न देख काशी-राज बोले कि सौम्य खेमक जब यह (पुष्करिणी) हसों से भरी थी, तो यह बीच में का हंस कैसे जाल में फँस गया ? रिश्तेदारों से घिरे हुए को कैसे पकड़ा ?॥४३-४४॥

उसने उसे उत्तर देते हुए कहा—

अज्ज मे सत्तमा रत्ति आदानानि उपासतो,
पदं एतेस्स अन्वेसं अप्पमत्तो घरस्तितो ॥४५॥
अथ अस्स पदं अद्दक्खिं, चरतो आदनेसनं,
तत्थाहं ओदहं पासं, एवेतं दिजं अग्गहिं ॥४६॥

[इसके चुगने की जगह का अध्ययन करते हुए आज मेरी यह सातवीं रात है। मैं इसके पद-चिह्न को खोजता हुआ अप्रमादी रहा। मैंने चर-भूमि में चरते हुए इसके पैरों को देखा। वहाँ मैंने जाल फैलाया। इसी प्रकार इस पक्षी को पकड़ा ॥४५-४६॥]

यह सुन राजा ने, "यह दरवाजे पर खड़ा होकर भी धृतराष्ट्र के ही आगमन की सूचना देता है और अब भी 'इस एक को ही पकड़ा' कहता है। यह क्या बात है ?" सोचते हुए गाथा कही—

लुद्द द्वे इमे सकुणा, अथ एकोति भाससि,
चित्तं नु ते विपरियत्थं, आदु किं नु जिगिंसति ॥४७॥

[शिकारी ! ये दो पक्षी हैं, किन्तु तू एक ही कहता है। तेरा चित्त कुछ गड़बड़ है, अथवा तू कुछ सोच रहा है ? ॥४७॥]

तब शिकारी ने 'देव ! न तो मेरा चित्त गड़बड़ है, और न मैं एक किसी दूसरे को देने की सोच रहा हूँ, किन्तु मेरे फैलाये जाल में एक ही फँसा था', प्रकट करते हुए कहा—

यस्स लोहितका ताला तापनेय्यनिभा सुभा,
उरं संहच्च तिट्ठन्ति सो मे बन्धं उपागमि ॥४८॥
अथायं भस्सरो पक्खी अबद्धो बद्धं आतुरं,
अरियं ब्रुवानो अट्ठासि चजन्तो मानुसिं गिरं ॥४९॥

[जिसके (गले में से होकर) छाती तक ये तीन स्वर्णाभा वाली लाल धारियाँ गयी हैं, वही मेरे बन्धन में फँसा था ॥४८॥ यह दूसरा प्रभास्वर पक्षी स्वयं मुक्त होता हुआ भी मानुषी आर्य-वाणी बोलता हुआ (दूसरे) फँसे हुए के पास खड़ा था ॥४६॥]

"धृतराष्ट्र के बँधे होने की खबर जान, रुककर, इसे आश्वस्त कर, मेरे आगमन की प्रतीक्षा कर, आकाश में (उड़ते हुए ही) मेरे साथ मधुर वार्तालाप कर, मनुष्य-भाषा में धृतराष्ट्र के गुण कहता रहा। इस प्रकार मेरे चित्त को कोमल बना फिर इसी के पास खड़ा हुआ। तब हे देव ! मैंने सुमुख का सुभासित सुन, प्रसन्न हो, धृतराष्ट्र को छोड़ दिया। इस प्रकार धृतराष्ट्र की बंधन-मुक्ति और इन हंसों को लेकर मेरा यहाँ आना सुमुख के ही कारण हुआ।" इस प्रकार उसने सुमुख के गुण कहे। यह सुन राजा की इच्छा हुई कि वह सुमुख से धर्म सुने। शिकारी का सत्कार करते-करते ही सूर्यास्त हो गया। दीप जल गये। बहुत से क्षत्रिय आदि इकट्ठे हो गये। नाना प्रकार की नारियों के साथ देवी भी राजा के दाहिनी ओर बैठी। उस समय राजा ने सुमुख को बुलवाने की इच्छा से गाथा कही—

अथ किं नु दानि सुमुख हनू संहच्च तिट्ठसि,
अदु मे परिसं पत्तो भया भीतो नो भाससि ॥५०॥

[हे सुमुख ! अब तेरा मुंह क्यों बन्द है ? क्या मेरी परिषद् में आकर भय के मारे नहीं बोल पाता है ? ॥५०॥]

यह सुन सुमुख ने अपनी निर्भयता प्रकट करते हुए कहा—

नाहं कासिपति भीतो ओगय्ह परिसं तव,
नाहं भया न भासिस्सं वाक्यं अत्थस्मिं तादिसे ॥५१॥

[हे काशीराज ! मैं तेरी परिषद् को देखकर भयभीत नहीं हूँ। वैसी अवस्था होने पर मैं भय के मारे चुप नहीं रहूँगा ॥५१॥]

यह सुन राजा ने बात-चीत बढ़ाने की इच्छा से उसकी हँसी उड़ाते हुए कहा—

न ते अभिसरं पस्से न रथे नापि पत्तिके,
नास्स चम्मं वा कीटं वा वम्मिने च धनुग्गहे ॥५२॥
न हिरञ्ञं सुवण्णं वा नगरं वा सुमापितं,
ओतिण्णं परिखं दुग्गं दळहं अट्टालकोट्ठकं,
यत्थ पविट्ठो सुमुख भायितब्बं न भायसि ॥५३॥

[न तू अपने चारों ओर पहरा देखता है, न रथ, न पैदल, न चर्म, ढाल (?) तथा कवच पहने धनुर्धारी, न सोना, न सुनिर्मित नगर, जिसके गिर्द खाई है, जिसमें दुर्ग हो, जहाँ दृढ़ अटारी और कोठे हैं—ऐसा सब कुछ है—जहाँ सुमुख डर लगने वाले को भी डर न लगे ॥५२-५३॥]

इस प्रकार राजा के "तेरे भय का क्या कारण है ?" पूछने पर उसे कहते हुए, उत्तर दिया—

न मे अभिसरेन अत्थो नगरेन धनेन वा,
अपथेन पथं याम अन्तलिक्खेचरा मयं ॥५४॥
सुता च पण्डिता त्यम्हा निपुणा अत्थचिन्तका,
भासेय अत्थवतिं वाचं सच्चे चस्स पतिट्ठितो ॥५५॥
किं च तुय्हं असच्चस्स अनारियस्स करिस्सति,
मुसावादिस्स लुद्दस्स भणितं पि सुभासितं ॥५६॥

[न मुझे पहरेदारों की अपेक्षा है, न धन की और न नगर की। हम पथ-रहित जगह में पथ बनाने वाले हैं। हम आकाश-चारी हैं ॥५४॥ तू ने सुना कि

हम पण्डित हैं, दक्ष हैं, अर्थचिंतक हैं। हम तुझे सार्थक बात कहेंगे, यदि तू सत्य पर प्रतिष्ठित हो ॥५५॥ लेकिन इससे तुझ मृषावादी अनार्य का क्या भला होगा ? तेरे लिये मृषावादी शिकारी का कथन भी सुभाषित ही है ॥५६॥]

तब राजा ने पूछा—"मुझे अनार्य तथा मृषावादी क्यों कहता है, मैंने क्या किया है ?" सुमुख बोला, तो सुन—

तं ब्राह्मणानं वाचना इमं खेमिं अकारयि,
अभयं च तया घुट्ठं इमायो दसधा दिसा ॥५७॥

ओगय्ह ते पोक्खरणिं विप्पसन्नोदकं सुचिं,
पहूतं चादनं तत्थ अहिंसा चेत्थ पक्खिनं ॥५८॥

इदं सुत्वान निग्घोसं आगम्हा तव अंतिके,
ते ते बद्धस्मा पासेन, एतं ते भासितं मुसा ॥५९॥

मुसावादं पुरक्खत्वा इच्छालोभं च पापकं,
उभो सन्धिं अतिक्कम्म असातं उपपज्जति ॥६०॥

[तू ने ब्राह्मणों के कहने से यह खेमी नाम का सरोवर बनवाया । तू ने दसों दिशाओं में अभय की घोषणा करायी । उस साफ, स्वच्छ जल वाली पुष्करिणी पर उतरने से पक्षियों को चुगने को बहुत मिलता है और वहाँ पक्षियों के प्रति अहिंसा का व्यवहार है ॥५७-५८॥ इस घोषणा को सुन कर हम तेरे पास आये । हमें जाल में फाँस लिया गया । यह तेरा कथन "मिथ्या" रहा ॥५९॥ इच्छालोभ से युक्त पापी मनुष्य मृषावाद को आगे करने से देव-लोक तथा मनुष्य लोक में जन्म ग्रहण न कर नरक में पैदा होता है ॥६०॥]

इस प्रकार परिषद् के बीच में ही राजा को लज्जित किया । तब राजा ने "सुमुख! मैंने तुम्हें मरवाकर मांस खाने की नीयत से नहीं पकड़वाया। तुम्हारे पाण्डित्य की बात सुन सुभाषित सुनने की इच्छा से ही पकड़वाया है" कह, गाथा कही--

ना परज्झाम सुमुख, न पि लोभा वं अग्गहिं,
सुता ज पण्डिता त्यत्य, निपुणा अत्थचिन्तका ॥६१॥

अप्पेव अत्थवतिं वाचं, व्याकरेय्युं इधागता,
तथा तं सम्म नेसादो, वुत्तो सुमुख-म-अग्गहि ॥६२॥

[हे सुमुख ! हमने अपराध नहीं किया है, और न ही लोभ से पकड़वाया है। सुना कि तुम पण्डित हो, दक्ष हो तथा अर्थ-चिंतक हो। यह समझा कि यहाँ आने पर सार्थक बात कहोगे। इसीलिए हे सौम्य ! हमारे कहने से शिकारी ने तुम्हें पकड़ा ॥६१-६२॥]

यह सुन सुमुख ने "महाराज ! आप ने अनुचित किया" कह गाथा कही–

नेव भीता कासिपति उपनीतस्मिं जीवते,
भासेम अत्थवतिं वाचं सम्पत्ता कालपरियायं ॥६३॥

यो मिगेन मिगं हन्ति पक्खिं वा पन पक्खिना
सुतेन वा सुतं किणे किं अनरियतरं ततो ॥६४॥

यो च अयरिकदं भासे अनरियधम्म, अवस्सितो
उभो सो धंसते लोका इध चेव परत्थ च ॥६५॥

न मज्जेथ यसं पत्तो, न व्यथे पत्तसंसयं,
वायमेथेव किच्चेसु, संवरे विवरानि च ॥६६॥

ये वद्धा अब्भतिक्कन्ता, सम्पत्ता कालपरियायं,
इध धम्मं चरित्वान, एव ऐते तिदिवं गता ॥६७॥

इदं सुत्वा कासिपति धम्मं अत्तनि पालय,
धतरट्ठञ्च मुञ्चाहि हंसानं पवरुत्तमं ॥६८॥

[हे काशीपति ! मृत्यु के समीप पहुँचे हुए, भयभीत हुए, अर्थ-वाली वाणी नहीं बोला करते ॥६३॥ जो पशु के द्वारा पशु की, पक्षी के द्वारा पक्षी की हिंसा करता है, अथवा श्रुत के द्वारा बहुत-श्रुत को जाल में फँसवाये, क्या इससे बढ़कर कुछ अनार्य-कर्म हो सकता है ? ॥६४॥ जो अनार्याचरण करता हुआ आर्य-वाणी बोलता है, वह देव-लोक तथा मनुष्य-लोक से वंचित होकर यहाँ तथा परलोक में कष्ट पाता है ॥६५॥ ऐश्वर्य मिलने पर प्रसाद न करे, विपत्ति आ पड़ने पर दुःखी न हो, (शुभ) कर्मों में प्रयत्न करे और अपने रन्ध्रों

में संयम रखे ॥६६॥ जो पण्डित-जन यहाँ विपत्ति आ पड़ने पर भी धर्माचरण करते हैं, वे देव-लोक को प्राप्त होते हैं ॥६७॥ यह सुनकर हे काशीराज ! आप धर्म का पालन करें और हंसों में श्रेष्ठ धृतराष्ट्र को छोड़ दें ॥६८॥]

यह सुन कर राजा बोला—

आहरन्त उदकं पज्जं आसनं च महारहं,
पञ्जरतो पमोक्खामि धतरट्ठं यसस्सिनं ॥६९॥
तञ्च सेनापतिं धीरं निपुणं अत्थचिन्तकं,
यो सुखे सुखितो रञ्ञो दुक्खिते होति दुक्खितो ॥७०॥
एतादिसो सो अरहति पिण्डं अस्नातु भत्तुनो,
यथायं सुमुखो रञ्ञो पाणसाधारणो सखा ॥७१॥

[पानी और पाद-अभ्यञ्जन लाओ। महामूल्यवान् आसन भी लाओ। मैं यशस्वी धृतराष्ट्र को पिञ्जरे से निकालता हूँ ॥६९॥ और धीर, दक्ष, अर्थ-चिंतक सेनापति को भी, जो (राजा के) सुखी होने पर सुखी होता है और दुःखी होने पर दुःखी ॥७०॥ इसी प्रकार का प्राणी अपने स्वामी का अन्न खाने के योग्य है, जैसा यह सुमुख, जो राजा का प्राण-प्रिय सखा है ॥७१॥]

राजा का कहना सुन उनके लिए आसन लाये गये, उन पर बैठने पर सुगन्धित जल से उनके पाँव धोये गये और सौ-पाक तेल से माखे गये।

शास्ता ने यह अर्थ प्रकाशित करते हुए कहा—

पिट्ठं च सब्बसोवण्णं अट्ठपादं मनोरमं,
मट्ठं कासिकवत्थिनं धतरट्ठो उपाविसि ॥७२॥

कोच्छञ्च सब्बसोवण्णं वेय्यग्घपरिसिब्बितं,
सुमुखो अज्ज पावेक्खि धतरट्ठस्स अनन्तरा ॥७३॥

तेसं कञ्चनपत्तेहि पुथू आदाय कासियो,
हंसानं अभिहारेय्युं अग्गरञ्ञो पवासितं ॥७४॥

[स्वर्ण-मय आठ पाँवों वाले सुन्दर पीढ़े पर जिस पर काशी का चिकना वस्त्र बिछा था, धृतराष्ट्र बैठा ॥७२॥ व्याघ्रचर्म से ढके हुए, स्वर्णमय आसन

पर धृतराष्ट्र के बाद सुमुख (बैठा) दिखायी दिया ॥७३॥ काशी के लोग चक्रवर्ती राजा द्वारा भेजे गये बहुत से खाद्य सामान, स्वर्ण-पात्रों में उन हंसों के लिए लाये ॥७४॥]

इस प्रकार पात्रों के लाये जाने पर काशी-राज ने उनका आतिथ्य करने के लिए स्वयं स्वर्ण-पात्र ले, आगे धरा। उन्होंने उसमें से मधुर-खीरें खा मीठा पानी पिया। जब बोधिसत्व ने राजा की भेंट और श्रद्धा देखी तो उससे कुशल समाचार पूछा।

इसे प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

> दिस्वा अभिहटं अग्गं कासिराजेन पेसितं;
> कुसलो खत्तधम्मानं ततो पुच्छि अनन्तरा ॥७५॥
> कच्चिं नु भोतो कुसलं कच्चि भोतो अनामयं,
> कच्चि रट्ठं इदं धम्मेन-म-नुसिस्सति ॥७६॥
> कुशलं चेव मे हंस अथो हंस अनामयं,
> अथो रट्ठं इदं फीतं धम्मेन-म-नुसिस्सति ॥७७॥

[काशी-राज द्वारा प्रेषित तथा सम्मुख आनीत श्रेष्ठ भोजन को देखकर कुशल-क्षेम पूछने में कुशल बोधिसत्व ने पूछा ॥७५॥ आप सकुशल हैं न? आप निरोग हैं न? यह राष्ट्र समृद्ध है न? और धर्म से अनुशासित है? ॥७६॥ हंस! मैं सकुशल हूँ। मैं निरोग हूँ। यह राष्ट्र समृद्ध है। यह धर्म से अनुशासित है ॥७७॥]

बोधिसत्व—कच्चि भोतो अमच्चेसु दोसो कोचिन विज्जति,
कच्चिं नु ते तव अत्थेसु नावकंखन्ति जीवितं ॥७८॥

राजा—— अथो पि मे अमच्चेसु दोसो कोचि न विज्जति,
अथो पि ते मं अत्थेसु नावकंखन्सि जीवितं ॥७९॥

बोधिसत्व—कच्चि ते सादिसी भरिया अस्सवा पियभाणिनी,
पुत्तरूपयसूपेता तव छन्दवसानुगा ॥८०॥
अथो मे सादिसी भरिया अस्सवा पियभाणिनी,
पुत्तरूपयसूपेता मम छन्दवसनानुगा ॥८१॥

[अर्थ ऊपर जातक (५३३) में आ गया है ॥७८-८१॥]

बोधिसत्व—कच्चि रट्ठं अनुप्पीळं अकुतोचि उपद्दवं,
असाहसेन धम्मेन समेन-म-नुसिस्सति ॥८२॥

राजा— अथो रट्ठं अनुप्पीलं अकुतोचि उपद्दवं
असाहसेन धम्मेन समेन-म-अनुसिस्सति ॥८३॥

[क्या राष्ट्र उत्पीड़न-रहित है ? क्या वह उपद्रव-रहित है ? क्या बिना जबर्दस्ती के समतापूर्वक शासन होता है ॥८२॥ राष्ट्र उत्पीड़न रहित है। वह उपद्रव-रहित है। बिना जबर्दस्ती के समतापूर्वक शासन होता है ॥८३॥]

बोधिसत्व—कच्चि सन्तो अपचिता असन्तो परिवज्जिता
नोचे धम्मं निरंकत्वा अधम्मं अनुवत्तसि ॥८४॥

राजा— सन्तो च मे अपचिता असन्तो परिवज्जिता
धम्मे चेवानुवात्तमि अधम्मो मे निरंकतो ॥८५॥

[क्या सत्पुरुष आदृत होते हैं ? क्या असत्पुरुष दूर रखे जाते हैं ? क्या धर्म को छोड़कर अधर्माचरण तो नहीं होता ? ॥८४॥ मैंने सत्पुरुषों की पूजा की है। असत्पुरुष दूर रखे जाते हैं। मैंने अधर्म को छोड़कर धर्माचरण किया है ॥८५॥]

बोधिसत्व—कच्चि नानागतं दीघं समवेक्खसि खत्तिय,
कच्चि मत्तो मदनीये परलोकं न सन्तसि ॥८६॥

राजा— नाहं अनागतं दीघं समवेक्खामि पक्खिम,
ठितो दससु धम्मेसु परलोकं न सन्तसे ॥८७॥

[हे क्षत्रिय ! कहीं भावी जीवन को (बहुत) लम्बा तो नहीं समझते ? कहीं प्रमादकारी बातों में प्रमाद करके परलोक से तो नहीं डरते ॥८६॥ हे पक्षी ! मैं भावी जीवन को (बहुत) लम्बा तो नहीं समझता। मैं दस धर्मों में स्थित होने के कारण पर-लोक से नहीं डरता ॥८७॥]

दानं सीलं परिच्चागं अज्जवं मद्दवं तपं,
अक्कोधं अविहिंसं च खन्तिं च अविरोधनं ॥८८॥

[दान, शील, त्याग, आर्जव, मृदुता, तप, अक्रोध, अविहिंसा, क्षमा तथा अविरोध ॥८८॥]

इच्चेते कुसले धम्मे ठिते पस्सामि अत्तनि,
ततो मे जायते पीति सोमनस्सञ्च अनप्पकं ॥८९॥

[इन कुशल-धर्मों को अपने में स्थित देखने के कारण मेरे मन में प्रीति तथा असीम आनन्द पैदा होता है ॥८९॥]

सुमुखो च अचिन्तेत्वा विस्सज्जि फरुसं गिरं,
भावदोसं अनञ्ञाय अस्माकायं विहंगमो ॥९०॥
सो कुद्धो फरुसं वाचं निच्छारेसि अयोनिसो,
यान अस्मासु न विज्जन्ति न इदं पञ्ञवतामिव ॥९१॥

समुख ने बिना विचारे, कठोर वाणी बोली। इस पक्षी ने हममें बिना दोष देखे (कठोर वाणी बोली) ॥९०॥ उसने क्रोध के मारे अनुचित रूप से कठोर बात मुंह से निकाली। जो दोष हममें नहीं हैं, (वह उसने कहा)—यह प्रज्ञा-वान् जैसी बात नहीं की ॥९१॥]

यह सुन कर सुमुख ने 'मैंने गुणवान राजा को अप्रसन्न किया, वह मुझसे क्रोधित हो गया, मैं उससे क्षमा मांगता हूं' सोचकर कहा—

अत्थि मे तं अतिसारं वेगेन मनुजाधिप,
धतरट्ठे च बद्धस्मिं दुक्खं मे विपुलं अहु ॥९२॥
त्वं पिता विय पुत्तानं भूतानं धरणी-रिव
अस्माकं अधिपन्नानं खमस्सु राजकुञ्जर ॥९३॥

[राजन् ! यह जल्दी में मेरी भूल हो गयी। धृतराष्ट्र के जाल में फंस जाने से मुझे बहुत दुःख हुआ ॥९२॥ तू पुत्रों के लिए पिता के समान है, प्राणियों के लिए धरणी के समान है। हे राजकुञ्जर ! हम अपराधियों का अपराध क्षमा कर ॥९३॥]

तब राजा ने उसका आलिंगन कर, स्वर्ण-पीढ़े पर बिठा, उसकी अपराध-स्वीकृति स्वीकार कर गाथा कही—

एतं ते अनुमोदाम, यं भावं न निगूहसि,
खिलं पभिन्दसि पक्खी, उजुकोसि विहंगम ॥९४॥

[जो तू अपने भाव को छिपाता नहीं हैं, हम उसका अनुमोदन करते हैं। हे पक्षी ! तू चित्त-मैल को दूर करता है। हे पक्षी ! तू ऋजु-स्वभाव है ॥४९॥]

यह कहकर राजा ने बोधिसत्व की धर्म-कथा तथा सुमुख की सरलता से प्रसन्न हो, 'प्रसन्न को प्रसन्न का सा व्यवहार करना चाहिए' सोच, उन दोनों को अपनी राज्य-लक्ष्मी सौंपते हुए कहा—

यं किञ्चि रतनं अत्थि कासिराज निवेसने,
रजतं जातरूपञ्च मुत्ता वेळुरिया बहू ॥९५॥
मणयो संखमुत्तञ्च वत्थकं हरिचन्दनं
अजिनं दन्तभण्डञ्च, लोहं काळायसं बहुं
एतं ददामि वो वित्तं इस्सरं विस्सजामि वो ॥९६॥

[जो भी काशि राज के घर में रतन हैं, चाँदी है, सोना है, मोती हैं, बहुत बिलौर हैं, मणि हैं, संख हैं, वस्त्र हैं, मोती हैं, हरित वर्ण चन्दन हैं मृग-चर्म हैं, (हाथी) दाँत के बरतन हैं, ताँबा तथा लोहा है--मैं यह धन देता हूँ। मैं तुम्हारे लिए ऐश्वर्य्य का त्याग करता हूँ ॥९५-९६॥]

ऐसा कह, उन दोनों की श्वेत-छत्र से पूजा की और राज्य सौंप दिया। तब बोधिसत्व ने राजा से बातचीत करते हुए कहा--

अद्धा अपचिता त्यम्हा, सक्कता च रथेसभ,
धम्मेसु वत्तमानानं त्वं, नो आचरियो भव ॥९७॥
आचरियसमनुञ्ञाता, तया अनुमता मयं,
तं पदक्खिणतो कत्वा ञाती पस्सेम अरिंदम ॥९८॥

[राजन् ! निश्चय से तूने हमारी पूजा और आदर किया है। लेकिन धर्मारूढ़ होने के कारण तू हमारा आचार्य है ॥९८॥ हे राजन् ! तुझ आचार्य की अनुमति से, तुम्हारी प्रदक्षिणा करके हम हे राजन् ! अपने रिश्तेदारों को देखें ॥९९॥]

उसने उन्हें जाने की अनुज्ञा दी। बोधिसत्व को भी धर्मोदेश देते रहते अरुणोदय हो गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने कहा—

सब्बरत्तिं चिन्तयित्वा मन्तयित्वा यथातथं
कासिराजा अनुञ्ञासि हंसानं पवरुत्तमं ॥९९।

[सारी रात विचार करके तथा मन्त्रणा करके काशी राजा ने हंसों के सरदार को जाने की अनुमति दे दी ॥९९॥]

इस प्रकार उससे अनुज्ञा मिलने से बोधिसत्व ने राजा को "अप्रमादी रहकर धर्मानुसार राज करो" कह पञ्च शीलों में प्रतिष्ठित किया। राजा ने भी उनके स्वर्ण-पात्रों में मीठी खीर तथा शरबत लाकर, उनके खाना समाप्त कर लेने पर, गन्ध, माला आदि से पूजा कर, बोधिसत्व को स्वर्ण-वर्ण-पेटी में स्वयं उठाया। क्षेमा देवी ने सुमुख को उठाया। फिर उन्हें खिड़की खोल सूर्योदय के समय "स्वामी जायें" कह विदा किया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने कहा—

ततो रत्या विवसने सुरियुग्गमनं पति,
पेक्खतो कासिराजस्स भवता ते विगाहिसुं ॥१००॥

[तब रात के बीतने पर सूर्योदय को देखते हुए काशी-राज के भवन से वे आकाश में उड़ गये ॥१००॥]

उन दोनों में से बोधिसत्व ने स्वर्ण-पिटारी में से ऊपर उछल, आकाश में खड़े हो, "महाराज, चिंता न करें। अप्रमादी होकर हमारे उपदेशानुसार चलें।" इस प्रकार राजाओं को आश्वस्त कर सुमुख सहित चित्रकूट पर ही पहुँचा। वे नब्बे हजार पक्षी भी कंचन-गुफा से निकल पर्वत के नीचे बैठे। उन्हें आता देख आगे जाकर घेर लिया। रिश्तेदारों के समूह-सहित वे चित्रकूट तल पर पहुँचे।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

ते अरोगे अनुप्पत्ते दिस्वान परमे दिजे,
केके ति-म-अकरूं हंसा-पुथु सद्दो अजायथ ॥१०१॥

ते पतीता पमुत्तेन भत्तुना भत्तुगारवा
समन्ता परिकरिसं अण्डजा लद्धपच्चया ॥१०२॥

[अर्थ--देखो जातक (५३३) की गाथायें संख्या ८६ तथा ८७ ॥१०-१॥१०२॥]

इस प्रकार घेर कर उन हंसों ने पूछा, "महाराज, कैसे मुक्त हुए ?" बोधिसत्व ने सुमुख को अपनी मुक्ति का श्रेय दिया और संयम राजपुत्र की करनी कही। यह सुन प्रसन्न-चित हंसों ने आशीर्वाद दिया—"सुमुख सेनापति, राजा और शिकारी, सुखी हों और चिरकाल तक जीते रहें "

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा--

एवं मित्तवतं अत्था सब्बे होन्ति पदक्खिणा
हंसा यथा धत्तरट्ठा ञातिसंघं उपागमुं ॥१०३

[अर्थ--देखो जातक (५३३) की गाथा संख्या ८८॥ १०३॥]

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला जातक का मेल बैठाया। उस समय शिकारी छन्न था। खेमा देवी खेमा भिक्षुणी थी। राजा सारिपुत्र। परिषद बुद्ध-परिषद। सुमुख आनन्द। धृतराष्ट्र तो मैं ही था।

५३५. सुधा भोजन जातक

"नगुत्तमे. . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय एक दानी-स्वभाव भिक्षु के बारे में कही ।

क. वर्तमान कथा

वह श्रावस्ती का एक तरुण, शास्ता से धर्म सुन, श्रद्धावान् हो, प्रव्रजित हुआ । वह सदाचार के नियमों का पालन करता था, धुतांग-नियमों से युक्त था, सब्रह्मचारियों के प्रति मैत्री-भाव रखता था और दिन में तीन बार बुद्ध, धर्म, संघ की सेवा में उपस्थित हो, अप्रमाद-सहित आचार का पालन करता तथा दान देता । वह स्मरण-रखने योग्य धर्म की पूर्ति करता । जो कुछ उसे मिलता लेने वाले के उपस्थित रहने पर वह बिना स्वयं खाये भी उसे देता ही था । उसका वह दानी स्वभाव होना भिक्षु-संघ में प्रकट हो गया ।

तब एक दिन धर्म-सभा में बात चली, "आयुष्मानों, अमुक भिक्षु दानी स्वभाव का है । उसे यदि चुल्लू भर पानी भी मिलता है तो भी उसमें लोभ न कर सब्रह्मचारियों को देता ही है । इसका आशय बोधिसत्व का आशय है ।" शास्ता ने दिव्य-श्रवण शक्ति से वह कथा सुनी और गन्धकुटी से निकल, आकर पूछा, "भिक्षुओं, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?"

'अमुक बातचीत," कहने पर "भिक्षुओं, यह भिक्षु पहले अदाता था, कंजूस था, तिनके के सिरे पर लगाने वाली तेल की बूंद तक न दे सकता था । मैंने इसका दमन कर, इसे नम्र बना, दान-फल की महिमा कह, दान में प्रतिष्ठित किया है । इसने मुझसे वर लिया है कि 'चुल्लू भर पानी भी बिना दिये न पीऊँ' । उसी के फलस्वरूप दानी-स्वभाव दान देने की नीयत वाला हो गया है" कह पूर्व जन्म की कथा कही ।

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य के समय एक गृहपति धनी था, अस्सी करोड़ धन वाला। उसे राजा ने 'श्रेष्ठी' का पद दिया। उसने राज्य-पूजित, नगर-जनपद-पूजित हो तथा एक दिन अपनी सम्पत्ति की ओर देखते हुए सोचा "यह सम्पत्ति मैंने पूर्व-जन्म में सोते पड़े रहकर, कायिक दुष्कर्म आदि करके प्राप्त नहीं की है, सुकर्म करके ही प्राप्त की है। मुझे अपने भविष्य जीवन के लिए निश्चित व्यवस्था करनी चाहिए।" उसने राजा से जाकर कहा--"देव! मेरे घर में अस्सी करोड़ धन है, उसे ग्रहण करें।"

'मुझे धन नहीं चाहिए। मेरे पास बहुत धन है। तुम्हें ही जितना अपेक्षित हो लो।"

राजा के यह उत्तर देने पर उसने पूछा, "देव! तो क्या मैं अपने धन दान कर सकता हूँ?" राजा ने कहा, "जो चाहो करो।" उसने चारों नगर द्वारों पर, नगर के बीच में तथा प्रवेश-द्वार पर छ: दानशालायें बनवायीं और वह प्रति दिन छः लाख का त्याग कर महादान देने लगा। वह जन्म भर दान देता रहा और पुत्रों को आदेश दिया कि मेरी यह दान-परम्परा न टूटने पावे। मरने पर वह शक्र होकर उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र भी उसी प्रकार दान दे चन्द्र होकर पैदा हुआ। उसका पुत्र सूर्य होकर, उसका पुत्र मातली होकर और उसका पुत्र पंचशिख होकर उत्पन्न हुआ। उसका पिता छठा सेठ मात्सर्य-कोष नाम का हुआ। धन उसके पास भी अस्सी करोड़ ही था। उसने सोचा, "मेरे पितामह मूर्ख थे। दुःख से प्राप्त धन का परित्याग किया। किन्तु मैं धन को सुरक्षित रखूंगा। किसी को कुछ न दूँगा।" यह निश्चय कर उसने दानशालायें उजड़वा दीं, उन्हें जलवा दिया और कंजूस मक्खीचूस बन बैठा।

उसके द्वार पर भीख माँगने वाले हाथ पीट-पीट कर जोर से रोते चिल्लाते ,'महासेठ, अपने पिता-पितामह की वंश-परम्परा को नष्ट मत कर। दान दे।" यह सुन जनता उसकी निन्दा करने लगी, "मात्सर्य-कोष ने अपना वंश उजाड़ दिया।" उसने लज्जित हो प्रवेश-द्वार पर भिखमंगों का

आगमन रोकने के लिए पहरा बैठा दिया। निराश्रित हो जाने के कारण उन्होंने फिर उसके घर की ओर मुड़ कर नहीं देखा। इसके बाद वह सेठ एकमात्र धन के संग्रह में ही लग गया। वह न अपने खाता, न पुत्र-पत्नी आदि को देता, काञ्जी तथा सकुण्डक (?) भात खाता, जड़ों जैसे धागों वाले मोटे वस्त्र पहनता, पत्तों का छाता सिर पर ले, बूढ़े बैल जुते पुराने रथ में बैठ कर जाता। इस प्रकार उस असत्पुरुष का इतना धन कुत्ते को मिले नारियल के समान हो गया।

एक दिन वह राजा की सेवा में जा रहा था। उसने, सोचा 'अनु-श्रेष्ठी को लेकर जाऊँगा।" वह उसके घर पहुँचा। उस समय बेटा-बेटी से घिरा हुआ अनु-श्रेष्ठी नवीन घी, शक्कर पड़ी हुई 'खीर खाने बैठा था। उसने मात्सर्य-कोष को देखा तो आसन से उठकर बोला, "महासेठ! आ, इस पलंग पर बैठ खीर खायें।" उसकी खीर देखते ही उसके मुँह में पानी आ गया। खाने की इच्छा हुई। किन्तु उसने सोचा, "यदि मैं खाऊँगा, तो श्रेष्ठी के अपने घर आने पर उसका भी सत्कार करना होगा। इस प्रकार मेरा धन नष्ट होगा। नहीं खाऊँगा।" उसके बार बार कहने पर भी, "मैंने अभी खाया है। पेट भरा है" कह उसने नहीं खाया। किन्तु अनु-श्रेष्ठी को बैठे खाते देखते समय उसके मुँह में पानी आता रहा। उसके खा चुकने पर उसके साथ राज-भवन गया। फिर अपने घर आ खीर-तृष्णा से पीड़ित होने के कारण सोचने लगा, "यदि मैं कहूँगा कि मैं खीर खाना चाहता हूँ, तो बहुत से लोग खीर खाने की इच्छा वाले हो जायेंगे। बहुत सा चावल आदि खराब होगा। मैं किसी को नहीं कहूँगा।" वह रात दिन खीर की चिन्ता करता रहा। किन्तु धन नाश के भय से उसने किसी को नहीं कहा और अपनी उस प्यास को सहता ही रहा। क्रमशः सहन न कर सकने के कारण उसका रंग पीला पड़ गया। इतना होने पर भी उसने धन-नाश के भय से किसी को कुछ नहीं कहा। आगे चलकर दुर्बल हो उसने चारपाई पकड़ ली।

उसकी भार्या ने उसके पास जा पीठ मलते हुए पूछा—"स्वामी! क्या रोग है?"

"रोग तेरे ही शरीर में हो, मेरे शरीर में रोग नहीं है।"

"स्वामी! पीले पड़ गये हैं। कोई चिन्ता है? राजा क्रुध हो गया है; पुत्रों ने अपमान किया है? कोई तृष्णा उत्पन्न हुई है?"

हाँ, तृष्णा उत्पन्न हुई है।"

"स्वामी ! कहें।"

"पूरी कर सकेगी ?"

"पूरी की जा सकने वाली कामना को पूरा करूँगी।"

तब भी वह धन-नाश के भय से अपनी इच्छा व्यक्त न कर सका। उसके बारबार तंग करने पर बोला। "भद्रे ! मैंने एक दिन अनुश्रेष्ठी को घी-शक्कर पड़ी हुई खीर खाते देखा। तब से वैसी खीर खाने की इच्छा पैदा हो गयी।"

असत्पुरुष ! क्या तू दरिद्र है। इतनी खीर पका दूंगी कि सारी वाराणसी के लोग खायें।"

उसे ऐसा लगा जैसे उसके सिर में किसी ने डण्डा मार दिया हो। वह उस पर क्रोधित हो बोला ! "जानता हूँ कि तू बड़ी धनवान् है। यदि तू अपने घर से लायी है तो खीर पकाकर नगर के लोगों को खिला।"

"तो उतनी ही पकाऊँगी कि एक गली के लोगों के लिए पर्याप्त हो।"

"उन्हें इससे क्या, अपने पास का खायें।"

"तो यहाँ से यहाँ तक सात घरों के लिए पर्याप्त भर।"

"उन्हें इससे क्या ?"

"तो इसी घर के लोगों के लिए।"

"तुझे उनसे क्या ?"

"तो केवल बन्धु-जनों के लिए।"

"तुझे इससे क्या ?

"तो स्वामी ! केवल तेरे लिए और अपने लिए पकाऊँ।"

"तू कौन है। तुझे नहीं चाहिये।"

"स्वामी ! अकेले तेरे लिए ही पकाऊँगी।"

"मेरे लिए भी मत पका। घर में पकाने पर बहुत लोग आशा लगायेंगे। तू मुझे प्रस्थ भर चावल, चार हिस्से दूध, चुटकी भर सक्कर, करण्डकी (?) भर मधु और एक पकाने का बरतन दे। मैं जंगल में जा, वहाँ पकाकर खाऊँगा।"

उसने वैसा ही किया। सेठ ने वह सब सामान नौकर से उठवाया और

कहा, "जा तू अमुक जगह खड़ा रह।" इस प्रकार उसे आगे भेज, (बाद में) स्वयं अकेले ही सिर ढक, अप्रकट वेश में वहाँ जा, नदी-तट पर एक वृक्ष की छाया में चूल्हा बना, लकड़ियाँ तथा पानी मँगवा उसे आज्ञा दी, "तू जा, रास्ते पर खड़ा रह। किसी को देखे तो मुझे इशारा करना। मेरे बुलाने पर आना।" उसे विदाकर, आग बना, खीर पकायी।

उस समय देवेन्द्र शक्र-राजा ने अपने दस हजार योजन के अलंकृत देवनगर वाले, साठ योजन की स्वर्ण-गली वाले, हजार योजन ऊँचे वैजयन्त वाले, पाँच सौ योजन के सुधर्मा वाले, साठ योजन के पाण्डु-वर्ण कम्बल शिला वाले, पाँच योजन गोलाई के स्वर्ण-माला युक्त श्वेत छत्र वाले, ढाई करोड़ अप्सराओं से अलंकृत अपने आप के ऐश्वर्य को देख सोचा, "मुझे यह ऐश्वर्य किस प्रकार मिला?" उसे इसका कारण अपना वाराणसी के सेठ होने के समय का दिया हुआ दान ही दिखायी दिया। तब उसने देखा कि मेरे पुत्रादि कहाँ पैदा हुए। उसे दिखायी दिया कि उसका एक पुत्र चन्द्र देव-पुत्र होकर पैदा हुआ, उसका पुत्र सूर्य.... । इस प्रकार सब का उत्पत्ति स्थान देख उसने जाना चाहा कि पञ्च-शिख पुत्र कैसा है? उसे दिखायी दिया कि उसकी परम्परा उजड़ गयी है। उसने सोचा, "यह असत्पुरुष कंजूस होने के कारण न स्वयं खाता है, न दूसरों को देता है, इसने मेरा वंश उजाड़ दिया है। यह मरने पर नरक में पैदा होगा। इसे उपदेश दे, अपने वंश की स्थापना कर, ऐसा करूँगा कि जिसमें यह इस देव-नगर में पैदा हो सके। उसने चन्द्रादि को बुलाकर कहा—"जाओ, मनुष्यों के रास्ते पर चलें। मात्सर्य-कोष ने हमारा वंश उजाड़ दिया। दान शाला जला दी। न अपने खाता है और न दूसरों को देता है। अब खीर खाने की इच्छा हुई। घर पकाने से दूसरे को भी देना होगा, इसलिए जंगल में जा अकेला ही पका रहा है। इसका दमन कर, दान-फल प्रकट कर आयें। सम्भव है हम सबके एक साथ माँगने लगने पर वह वहीं मर जाय। मैं पहले जाकर खीर माँगूंगा। उसके बाद क्रमश: तुम भी ब्राह्मण-वेष बना आकर माँगना।" यह कह स्वयं ब्राह्मण-वेश बना और उसके पास पहुँच पूछा—

"भो! वाराणसी का कौन-सा मार्ग है।"

मात्सर्य-कोष बोला, "अरे क्या पागल है। वाराणसी का रास्ता भी नहीं जानता! इधर क्या आता है। उधर जा।"

शक्र को जैसे उसका कहना सुनायी ही नहीं दिया । वह आगे बढ़ता चला गया—"क्या कहता है ?" वह भी चिल्लाया--"अरे बहरे ब्राह्मण ! इधर क्या आता है, उधर जा ।"

"चिल्लाता किसलिए है ? धुआँ दिखायी देता है । आग दिखायी देती है । खीर पकता है । ब्राह्मण निमंत्रण स्थान होगा । मैं भी ब्राह्मणों को भोजन मिलने के समय कुछ पा जाऊँगा । भगाता क्यों है ?"

"यहाँ ब्राह्मण-निमंत्रण नहीं है । दूर हट ।"

"तो क्रुद्ध क्यों होता है । तेरे ही भोजन करने के समय कुछ पा जाऊँगा ।"

"मैं तुझे एक छिलका भी न दूंगा । यहाँ थोड़ी-सी मेरे लिए ही है । मुझे भी यह माँगने से ही मिली है । तू अन्यत्र अपना भोजन खोज ।"

यह बात उसने भार्या से माँग कर प्राप्त करने के कारण ही कही । वह बोला--

नेव किणामि नपि विक्किणामि
न चापि मे सन्निचयो च अत्थि,
सुकिच्छरूपं वत इदं परित्तं,
पत्थोदनो नालं अयं दुविन्नं ॥१॥

[न खरीदता हूँ, न बेचता हूँ और न मेरे पास संग्रह ही है । यह प्रस्थ भर भात बहुत थोड़ा सा है । यह दोनों के लिए पर्याप्त नहीं है ॥?॥]

यह सुन शक्र ने 'मैं भी तुझे मधुरवाणी से एक श्लोक कहता हूँ, सुन' कहा । वह मना ही करता रह गया कि मुझे तेरे श्लोक से प्रयोजन नहीं, तो भी शक्र ने दो गाथाएँ कहीं --

अप्पम्हा अप्पकं दज्जा अनुमज्झतो मज्झकं,
बहुम्हा बहुकं दज्जा, अदानं न उपपज्जति ॥२॥
तं तं वदामि कोसिय देहि दानानि भुञ्ज च
अरियं मग्गं समारूह नेकासी लभते सुखं ॥३॥

[थोड़ी मात्रा में से थोड़ा दे । बीच की मात्रा में से बीच का दे । बहुत में से बहुत दे । न देना उचित नहीं ॥२॥ हे कोसिय ! मैं तुझे कहता हूँ—दान दे

और खा-पी। आर्य-मार्ग का अनुगामी हो। अकेले खाने से सुख नहीं प्राप्त होता ॥३॥

उसकी बात सुनी तो वह बोला—"ब्राह्मण ! तू ठीक कहता है। खीर के पकने पर कुछ पायेगा, बैठ।" शक्र एक ओर बैठा। उसके बैठने पर चन्द्र उसी प्रकार पहुँचा, और उसी प्रकार की बात-चीत के बाद उसके मना करते रहने पर भी गाथा कही—

> मोघञ्चस्सहुतं होति मोघञ्चापि समीहितं
> अतिथिस्मिं यो निसिन्नस्मिं एको भुञ्जति भोजनं ॥४॥
> तं तं वदामि कोसिय देहि दानानि भुञ्ज च,
> अरियमग्गं समारूह नेकासी लभते सुखं ॥५॥

[उसका यज्ञ व्यर्थ है, उसका प्रयत्न व्यर्थ है, जो अतिथि के बैठे रहने पर अकेला भोजन करता है ॥४॥ अर्थ ऊपर आ चुका है ॥५॥]

उसने उसकी बात सुन बड़ी कठिनाई से कहा, "तो बैठ, कुछ मिलेगा।" वह जाकर शक्र के पास बैठा। इसके बाद सूर्य उसी प्रकार उसके पास पहुँचा और उसी प्रकार बात चला, उसके मना करते रहने पर भी उसने दो गाथाएँ कहीं—

> सच्चं तस्स हुतं होति सच्चं चापि समीहितं
> अतिथिस्मिं यो निसिन्नस्मिं नेको भुञ्जति भोजनं ॥६॥
> तं तं वदामि............॥७॥

[अर्थ स्पष्ट है ॥६-७॥]

उसकी भी बात सुन वह बड़ी ही कठिनाई से बोला, "तो बैठ, थोड़ा मिलेगा।" वह जाकर चन्द्र के पास बैठ गया। तब मातली उसी प्रकार पास पहुँचा, उसी प्रकार बात बनायी और उसी प्रकार उसके मना करने पर भी गाथाएँ कहीं—

> सरसञ्च यो जुहति बहुकाय गयाय च
> दोणे तिम्बरुतित्थस्मिं सीघसोते महावहे ॥८॥

अत्र चस्स हुतं होति अत्र चस्स समीहितं
अतिथिस्मिं यो.......सुखं ॥९-१०॥

[जो सरोवर में यज्ञ करता है; बहुका तथा गया में और शीघ्र श्रोत महान् प्रवाह वाले द्रोण तथा तिम्बरू तीर्थ में। उसकी अपेक्षा यही यज्ञ अच्छा है--अतिथि के बैठे रहने पर अकेले भोजन न करना।.... अकेले खाने से नहीं प्राप्त होता ॥८-९॥

उसकी भी बात सुन, पर्वत से दब गये की तरह बड़ी ही कठिनाई से बोला--"तो बैठ, कुछ मिलेगा।" मातली जाकर सूर्य के पास बैठा। तब पञ्चशिख उसी प्रकार पहुँचा, उसी प्रकार बात चलायी और उसी प्रकार उसके मना करने पर भी उसने दो गाथाएँ कहीं--

बलिसं हि सो निगिलति दीघसुतं सबन्धनं
अतिथिस्मिं यो..............सुखं ॥११-१२॥

[वह बन्धन-सहित, लम्बी डोरी वाला मछली का काँटा ही निगलता है, जो अतिथि के बैठे रहने पर . . .होता ॥११॥

मात्सर्य-कोष ने यह सुना तो सभी दुखों के एक साथ इकट्ठे हो जाने से दुखी होते हुए कहा--"तो बैठ, कुछ मिलेगा।" पञ्चशिख जाकर मातली के पास बैठ गया। उन पाँचों ब्राह्मणों के बैठते ही खीर पक कर तैयार हो गयी। कोसिय ने उसे चूल्हे से उतारा और बोला, "अपने-अपने पत्ते लाओ।" उन्होंने बैठे-बैठे ही हाथ फैलाये और हिमालय से मालुवा-लता के पत्ते मंगवा लिये। कोसिय ने उन्हें देखा तो बोला, "तुम्हें इतने बड़े-बड़े पत्तों में देने लायक खीर नहीं है। खदिर आदि के पत्ते ले आओ।" वे वैसे ले आये। एक एक पत्ता योधाओं के फलक के समान था। उसने सभी को कड़छी से खीर दी। सबसे अन्तिम को देते समय भी खीर के बर्तन में किसी प्रकार की कमी नहीं दिखायी दी। पाँचों को देकर स्वयं खीर का बर्तन लेकर बैठा। उसी समय पञ्चशिख उठा और अपना रूप बदल, कुत्ता बनकर उसके सामने पेशाब करता हुआ आया। ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी खीर पत्तों से ढक ली। कोसिय के हाथ पर पेशाब की बूंद गिर पड़ी। ब्राह्मणों ने कुण्डी में से पानी लिया

और खीर पर छीटे दे खाने की तैयारी की। कोसिय बोला, "मुझे भी पानी दें। हाथ धोकर खाऊँगा।"

"अपना पानी लाकर हाथ धोवो।"

"मैंने तुम्हें खीर दी। मुझे कुछ पानी दो।"

"हम दान के बदले में दान नहीं देते।"

"तो इस बर्तन को देखें, मैं हाथ धोकर आता हूँ" कह वह नदी पर गया।

उस समय कुत्ते ने खीर के बर्तन में पेशाब कर दिया। जब उसने उसे पेशाब करते देखा तो बड़ा डण्डा ले, धमकाता हुआ आया। वह श्रेष्ठ घोड़े जितना बड़ा हो उसका पीछा करने लगा और नाना वर्ण बदले—काला भी, श्वेत भी, स्वर्ण-वर्ण भी, चितकबरा भी, ऊँचा भी और नीचा भी। इस प्रकार शकलें बना मात्सर्य-कोष का पीछा किया। वह मृत्यु-भय से ब्राह्मणों के पास पहुँचा। वे भी उछल कर आकाश में जा पहुँचे। उसने उनका यह ऋषि-बल देखा तो बोला—

> **उळारवण्णा वत ब्राह्मणा इमे,**
> **अयं च वो सुनखो किस्स हेतु**
> **उच्चावचं वण्णनिभं विकुब्बति,**
> **अक्खाय नो ब्राह्मणा को नु तुम्हे ॥१३॥**

[ये सभी ब्राह्मण श्रेष्ठ-वर्ण के हैं, किन्तु यह कुत्ता किसलिए तरह-तरह की शकलें बनाता है। हे ब्राह्मणों, मुझे कहो कि तुम कौन हो? ॥१३॥]

यह सुन देवेन्द्र शक्र बोला—

> **चन्दो च सुरियो च उभो इधागता,**
> **अयं पन मातलि देवसारथि**
> **सक्को हमस्मि तिदसानं इन्दो,**
> **एसो च खो पञ्चसिखोति वुच्चति ॥१४॥**

[चन्द्र तथा सूर्य दोनों यहाँ आये हैं। यह देवसारथी मातली है। मैं देवेन्द्र शक्र हूँ, तथा यह पञ्चशिख कहलाता है ॥१४॥

फिर उसके ऐश्वर्य की बड़ाई करता हुआ बोला—

पाणिस्सरा मुतिंगा च मुरजालम्बरानि च
सुत्तं एतं पबोदेन्ति, पटिबुद्धो च नन्दति ॥१५॥

[पाणि-स्वर, मृदंग, मुरज तथा आलम्बर (वाद्य-यन्त्र) इसे सोते को जगाते हैं, जागने पर यह आनन्दित होता है ॥१५॥

उसकी बात सुन उसने प्रश्न किया, "इस प्रकार की दिव्य-सम्पत्ति क्या करने से मिलती है ?" "जो दानी नहीं हैं, जो पापी हैं, जो कंजूस हैं, वे देव लोक नहीं जाते हैं। वे नरक में पैदा होते हैं" प्रकट करने के लिए यह गाथा कही—

ये केचिमे मच्छरिनो कदरिया
परिभासका समणब्राह्मणानं
इधेव निक्खिप्प सरीरदेहं
कायस्स भेदा निरयं वजन्ति ॥१६॥

[जो कंजूस हैं, जो स्वार्थी हैं और जो श्रमणों की हँसी उड़ाने वाले हैं, वे शरीर को यहीं छोड़कर, मरने पर नरक गामी होते हैं ॥१६॥

फिर धर्म में स्थित रहने वालों का देव-लोक लाभ प्रकट करने के लिए—

ये केचिमे सुग्गतिं आससाना
धम्मे ठिता संयमे संविभागे,
इधेव निक्खिप्प सरीरदेहं
कायस्स भेदा सुगतिं वजन्ति ॥१७॥

[जो लोग सुगति की आशा करते हैं, धर्माचरण करते हैं, संयमी होते हैं तथा दानी होते हैं। वे यहीं शरीर को छोड़कर, मृत्यु होने पर सुगति लाभ करते हैं ॥१७॥]

यह कह 'कोसिय ! हम तेरे पास खीर के लिये नहीं आए। तुझ पर करुणा करने के लिए ही आये हैं' कह, इस बात को प्रकाशित किया—

त्वं नो सि ञाती पुरिमासु जातिसु
सो मच्छरी रोसको पापधम्मो,
तवेव अत्थाय इधागतम्हा
मा पापधम्मो निरयं अपत्थ ॥१८॥

[तू हमारा पूर्व-जन्म का सम्बन्धी है । तू कंजूस, क्रोधी तथा पापी हो गया है । हम तेरे ही लिए यहाँ आये हैं । यह पापी नरक न जाये ॥१८॥

यह सुन कोसिय 'ये मेरा भला चाहने वाले हैं, मुझे नरक से निकाल स्वर्ग में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं' सोच प्रसन्न हुआ और बोला—

अद्धा (हि) मं वो हितकामाय मं समन् सासथ
सोहं तथा करिस्सामि सब्बं वुत्तं हितेसिहि ॥१९॥

एसाहं अज्जेव उपारमामि
न चापहं किञ्चि करेय्य पापं
न चापि मे किञ्च-म-अदेय्यं अत्थि
न चापि दत्वा उदकं पहं पिवे ॥२०॥

एवं च मे ददतो सब्बकालं
भोगा इमे वासव खीयिस्सन्ति
ततो अहं पब्बजिस्सामि सक्क
हित्वान कामानि यथोधिकानि ॥२१॥

[आप निश्चय से मेरे हित-चिन्तक हैं, जो मेरा अनुशासन करते हैं। जैसा मेरे सभी हितैषी कहते, मैं वैसा ही करूँगा ॥१९॥ मैं आज से ही विरत होता हूं। मैं कोई पाप-कर्म नहीं करूँगा। मेरे लिए कुछ भी अदेय नहीं है। मैं बिना दिये पानी भी नहीं पीऊँगा ॥२०॥ हे इन्द्र ! इस प्रकार निरन्तर देते रहने से मेरी भोग-सामग्री कम हो जायेगी। हे शक्र ! तब मैं इन कामों को छोड़ प्रव्रजित होऊँगा ॥२१॥

शक्र मात्सर्य-कोष का दमन कर, नम्र बना, दान-फल प्रकट कर, धर्म देशना द्वारा पाँच शीलों में प्रतिष्ठित कर उनके साथ देव-नगर ही चला गया। मात्सर्य-कोष भी नगर में प्रविष्ट हुआ। उसने राजा से अनुज्ञा ले, याचकों को धन दिया, "जो बर्तन जिसके पास हो, भर-भर कर ले जाय।" फिर निकल कर हिमालय के दक्षिण ओर गंगा तथा एक तालाब के बीच पर्णशाला बना, प्रव्रजित हो, जंगल के फल मूल खाता हुआ वहीं रहने लगा। वह चिर-काल तक वहीं रहता रहता बूढ़ा हो गया। उस समय शक्र की चार-कन्यायें

थीं—आशा, श्रद्धा, श्री तथा ह्री। वे बहुत दिव्य गन्ध-माला ले जल-क्रीड़ा के लिए अनोतप्त सरोवर जा, वहाँ क्रीड़ा कर, मनोशिलातल पर बैठीं।

उस समय नारद नाम का ब्राह्मण तपस्वी त्रयोत्रिंश भवन में दिन बिताने के लिए गया। उसने नन्दवन, चित्रकूट तथा लतावन में दिन बिताया और छाया के लिए पारिच्छतक पुष्प को छाते की तरह धारण कर, मनोशिलातल के ऊपर अपने निवास-स्थान कञ्चन-गुहा की ओर चला। उन्होंने उसके हाथ में वह फूल देख याचना की।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

नगुत्तमे गिरिवरे गन्धमादने
मोदन्ति ता देववराभिपालिता,
अथागमा इसिवरो सब्बलोकगू,
सुपुप्फितं दुमवरसाखं आदिय ॥२२॥

सुचिं सुगन्धं तिदसेहि सक्कतं
पुप्फुत्तमं अमरवरेहि सेवितं
अलद्ध मच्चेहि वा दानवेहि वा
अञ्ञत्रदेवेहि तदारहं हिदं ॥२३॥

ततो चतस्सो कनकत्तचूपमा
उट्ठाय नरियो पमदाधिपा मुनिं
आसा च सद्धा च सतो सिरि हिरी
इच्चब्रवुं नारददेवब्राह्मणं ॥२४॥

सचे अनुद्दिट्ठं तया महामुनि
पुप्फं इमं पारिच्छत्तस्स ब्रह्मे
ददाहि नो, सब्बगती ते इज्झन्तु
त्वं पि नोहोहि यथेव वासवो ॥२५॥

तं याचमानाभि समेक्ख नारदो
इच्च-ब्रवी संकलहं उदीरयि
न मय्हं अत्यत्थि इमेहि कोचि नं,
या येव वो सेय्यसि सा पिळय्हथ ॥२६॥

[शक्र द्वारा पालित वे कन्यायें उस उत्तम, श्रेष्ठ गन्धमादन पर्वत पर आनन्द मना रहीं थीं। वहाँ सब लोगों में पहुँच रखने वाला श्रेष्ठ-ऋषि श्रेष्ठ-वृक्ष की पुष्पित शाखा (का फूल) लेकर वहाँ आ पहुँचा ॥२२॥ पवित्र, सुगन्धित देवताओं द्वारा सत्कृत, शक्र द्वारा सेवित, देवताओं के अतिरिक्त अन्य मनुष्यों अथवा दानवों को अप्राप्त, देवताओं के ही योग्य.उत्तम·पुष्प (था) ॥२३॥ तब स्त्रियों में श्रेष्ठ उन चारों स्वर्णिम-त्वचा वाली आश, श्रद्धा, श्री तथा ह्री नारियों ने उठकर देव-ब्राह्मण नारद मुनि को इस प्रकार कहा ॥२४॥ हे महामुनि ! यदि उस परिच्छित पुष्प के बारे में पहले से किसी को देने का संकल्प नहीं है, तो यह हमें दे दें। तुम्हारी सब इच्छायें पूरी हों। तू भी हमारे लिए (हमारे पिता) इन्द्र के समान हो ॥२५॥ उन्हें याचना करते हुए पा नारद मुनि ने कलह बढ़ाने वाली बात कही मुझे इसकी कुछ आवश्यकता नहीं। तुममें जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है, वह इसे धारण करे ॥२६॥]

उसकी बात सुन उन चारों ने गाथा कही--

त्वं नो' त्तमो वाभि समेक्ख नारद
यस्स इच्छसि तस्सं अनुप्पवेच्छसु,
यस्सा हि नो नारद त्वं पदस्ससि
सा येव नो होहिति सेट्ठसम्मदा ॥२७॥

[हे नारद ! तू ही हममें से जिस किसी को श्रेष्ठ समझे, उसी को दे दे। हे नारद ! जिस किसी को तू देगा, वह ही हममें श्रेष्ठ हो जायेगी ॥२७॥]

उसकी बात सुन नारद ने उन्हें सम्बोधित किया—

अकल्लं एतं वचनं सुगत्ते
को ब्राह्मणो को कलहं उदीरये
गन्त्वान भूताधिपं एव पुच्छथ
सचे न जानाथ इध उत्तमाधमं ॥२८॥

[हे सुगात्रे ! यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। कौन ब्राह्मण कलह बढ़ाने जायें। यदि तुम अपना ऊँच-नीच नहीं जानती तो जाकर (अपने पिता) सुरेन्द्र को ही पूछो ॥२८॥]

तब शास्ता ने—

ता नारदेन परमप्पकोपिता
उदीरिता वण्णमदेन मत्ता
सकासे गन्त्वान सहस्सचक्खुनो
पुच्छिंसु भूताधिपं का नु सेय्यसि ॥२९॥

[नारद द्वारा अत्यन्त उत्तेजित की हुई, (पिता को ही जाकर पूछो, यह) कही गयी, वर्ण-मद से मत्त वे कन्यायें सहस्र-नेत्र के पास पहुँची और जाकर पूछा—हम में कौन श्रेष्ठ है ? ॥२९॥

वे ऐसा पूँछ कर खड़ी हुई :

ता दिस्वा आयतमना पुरिंददो
इच्च-अब्रवी देववरो कतञ्जलि
सब्बा व वो होथ सुगत्ते सादिसी,
को नेव भद्दे कलहं उदीरयि ॥३०॥

[उन्हें (आया) देख उदार-मन कृताञ्जलि देवेन्द्र शक्र बोला : हे सुगात्र—तुम सभी समान हो। भद्रे ! कौन है जो तुम्हारे बीच में कलह बढ़ाना चाहता है ? ॥३०॥]

उन्होंने उसे उत्तर देते हुए गाथा कही :

यो सब्बोलोकं चरको महामुनि
धम्मे ठितो नारदो सच्चनिक्कमो
सो नो ब्रवी गिरिवरे गन्धमादने
गन्त्वान भूताधिपं एव पुच्छथ
सचे न जानाथ इध उत्तमाधमं ॥३१॥

[जो सब लोगों में घूमने वाला नारद मुनि है, जो धर्म में स्थित है, जो सत्यवादी है, उसने हमें गन्धमादन पर्वत पर कहा कि यदि यह नहीं जानती कि कौन उत्तम है और कौन निकृष्ट है तो जाकर सुरेन्द्र से पूछो ॥३१॥]

यह सुन शक्र ने "यह चारों मेरी कन्यायें हैं, यदि मैं इनमें से किसी एक को गुणवान्, उत्तम कहूँगा, तो शेष क्रुद्ध हो जायेंगी। मैं इस विवाद का निर्णय नहीं कर सकता। मैं इन्हें हिमालय में कोसिय तपस्वी के पास भेजूँगा। वह इनके विवाद का फैसला करेगा" सोच, उन्हें कहा: "मैं तुम्हारे विवाद का फैसला नहीं करूँगा। हिमालय में कोसिय तपस्वी है। उसके पास मैं अपना अमृत भोजन भेजूँगा। वह बिना किसी को दिये नहीं खाता और देता है तो गुणवान का विचार करके देता है। तुम में से जिस किसी को उसके हाथ से भोजन मिलेगा, वह उत्तम होगी।"

यह कहते हुए गाथा कही—

असु ब्रहारञ्ञचरो महामुनि
नादत्वा भत्तं वरगत्ते भुञ्जति,
विचेय्य दानानि ददाति कोसियो,
यस्सा हि सो दस्सति सा व सेय्यसि ॥३२॥

[हे वर गात्रे! महारण्य वासी महामुनि हैं। वह बिना दिये नहीं खाता है। कोसिय विचार करके दान देता है। जिसे वह देगा, वही श्रेष्ठ होगी ॥३२॥]

इस प्रकार उन्हें तपस्वी के पास भेज, मातलि को बुला, उसके पास भेजते हुए दूसरी गाथा कही—

असू हि यो सम्मति दक्खिणं दिसं
गंगाय तीरे हिमवन्तपस्सनि
स कोसियो दुल्लभपानभोजनो
तस्स सुधं पापय देवसारथि ॥३३॥

[वह दक्षिण दिशा में गंगा के तट पर हिमालय के पार्श्व में रहता है। उस कोसिय को खाना पीना कठिनाई से मिलता है। हे सारथी! उसके पास अमृत (= सुधा) ले जा ॥३३॥]

तब शास्ता ने कहा—

स मातलि देववरेन पेसितो
सहस्सयुत्तं अभिरूय्ह सन्दनं

स खिप्पं एव उपगम्म अस्समं
अदिस्समानो मुनिनो सुधं अदा ॥३४॥

[देवेन्द्र द्वारा भेजा गया वह मातली सहस्र (घोड़ों के) रथ पर चढ़कर शीघ्र ही आश्रम पहुँचा। उसने अदृश्य कहकर ही मुनि को अमृत दिया ॥३४॥]

कोसिय ने वह ले खड़े-ही-खड़े दो गाथाएँ कहीं—

उदग्गिहुत्तं उपतिट्ठतो हि मे
पभंकरं लोकतमोनुद, उत्तमं
सब्बानि भूतानि अतिच्च वासवो
कोनेव मे पाणिसु किं सुधोदहि ॥३५॥
संखूपमं सेतं अतुल्यदस्सनं
सुचिं सुगन्धं पियरूपं अब्भुतं
अदिट्ठपुब्बं मम जातचक्खुहि
का देवता पाणिसु किं सुधोदहि ॥३६॥

[अग्नि-होत्र करने के अनन्तर जब मैं लोक-तम नाशक, उत्तम सूर्य की उपासना कर रहा था, तो क्या सभी प्राणियों का अतिक्रमण कर मेरे हाथों में इन्द्र ने कुछ रखा है ? ॥३५॥ शंख के समान श्वेत, अतुल्य-दर्शन, पवित्र, सुगन्धित, प्रियरूप, अद्भुत, जन्म लेने के बाद से इन आँखों से अदृश-पूर्व, यह किस देवता ने मेरे हाथों में क्या रखा है ॥३६॥]

तब मातलि बोला—

अहं महिन्देन महेसि पेसितो
सुधाभिहासिं तुरितो महामुनि,
जानाहि मं मातलि देवसारथि,
भुञ्जस्सु भत्तुत्तमं, मा विचारयि ॥३७॥
भुत्ता च सा द्वादस हन्ति पापके
खुदं पिपासं अरतिं दुरवलमं

को धूपनाहञ्च विवादपेसुणं
सीतुण्हतन्दिञ्च रसुत्तमं इदं ॥३८॥

[हे महर्षि ! मैं महेन्द्र द्वारा भेजा गया हूँ । हे महामुनि ! मैं तुम्हारे लिये शीघ्रता से अमृत लाया हूँ । मुझे आप देव सारथि मातलि जानें और निश्चिन्त होकर उत्तम भोनज ग्रहण करें ॥३७॥ यह श्रेष्ठ रस ग्रहण करने पर बारह बुराइयों को, दूर करता है—क्षुधा को, प्यास को, उत्कण्ठा को थकावट को, क्रोध को, डाह को, विवाद को, चुगलखोरी को, शीत को, उष्णता को तथा तन्द्रा को ॥३८॥]

यह सुन कोसिय ने अपने व्रत की बात प्रकट की—

न कप्पति मातलि मय्ह भुञ्जितुं
पुब्बे अदत्वा इति मे वतुत्तमं
न चापि एकासनं अरियपूजितं
असंविभागी च सुखं न विन्दति ॥३९॥

[हे मातलि ! मेरा उत्तम व्रत है कि मैं बिना पहले दिये नहीं खा सकता । अकेले भोजन करना आर्य-प्रशंसित नहीं है । दान न देने वाला सुख लाभ नहीं करता ॥३९॥]

"भन्ते ! बिना दूसरे को दिये खाने में तुमने क्या दोष देख कर यह व्रत ग्रहण किया ?" मातलि के पूछने पर कहा—

थीधातका ये चिमे पारदारिका
मित्तद्दुनो ये च सपन्ति सुब्बते
सब्बे च ते मच्छरिपञ्चमाधमा
तस्मा अदत्वा उदकं पि नास्मिये ॥४०॥
सो हित्थिया वा पुरिसस्स वा पन
दस्सामि दानं विदुसं पवण्णितं,
सद्धा वदञ्ञू इध वीतमच्छरा
भवन्ति हेते सुचि सच्चसम्मता ॥४१॥

[स्त्री का घात करने वाले, परस्त्री गमन करने वाले, मित्र द्रोही, सुव्रतियों को भला-बुरा कहने वाले तथा पाँचवें कंजूस---ये सभी अधम हैं। इसलिए मैं बिना दिये पानी भी नहीं पीता ।।४०।। मैं स्त्री अथवा पुरुष किसी को भी जो विद्वानों द्वारा प्रशंसित दान देता हूँ, वे सब वाणी के ज्ञाता होते हैं, मात्सर्य्य-रहित होते हैं तथा पवित्रता और सत्य से युक्त होते हैं ।।४१।।]

यह सुन मातलि प्रकट रूप में उपस्थित हुआ। उस समय वे चारों देव कन्यायें चारों दिशाओं में खड़ी हुई---श्री पूर्व दिशा में खड़ी हुई, आशा दक्षिण दिशा में श्रद्धा पश्चिम दिशा में और ह्री उत्तर दिशा में।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

अतो मुता देववरेन पेसिता
कञ्ञा चतस्सो कनकत्तचूपमा
आसा च सद्धा च सिरि हिरी ततो
तं अस्समं आगमुं यत्थ कोसियो ।।४२।।

ता दिस्वा सब्बो परमप्पमोदितो
सुभेन वण्णेन सिखारिव अग्गिनो
कञ्ञा चतस्सो चतुरो चतुद्दिसा
इच्च ब्रवी मातलिनो च सम्मुखा ।।४३।।

पुरिमं दिसं का त्वं पभासि देवते
अलंकता तारवरा व ओसधी,
पुच्छामि तं कञ्चनवेल्लिविग्गहे
आचिक्ख मे त्वं कतमासि देवता ।।४४।।

सिराहं देवी मनुजेसु पूजिता
अपापसत्तूपनिसेविनी सदा
सुधाविवादेन तवन्तिमागता,
तं मं सुधाय वरपञ्ञ भाजय ।।४५।।

यस्साहं इच्छामि सुखं महामुनि
स सब्बकामोहि नरो पमोदति,

सिरीति यं जानहि जूहतुत्तम
तं मं सुधाय वर पच्च भाजय ॥४६॥

[देवेन्द्र द्वारा अनुज्ञात तथा प्रेषित, स्वर्ण-त्वचा जैसी, आशा, श्रद्धा, श्री तथा ह्री--चारों कन्यायें जहाँ कोसिय का आश्रम था, वहाँ पहुँची ॥४४॥ वे सब चारों दिशाओं में खड़ी, चारों कन्याओं को अग्निशिखा के समान शुभ-वर्ण सम्पन्न देख कर,परम प्रसन्न हो वहमतिलि की उपस्थिति में बोला ॥४३॥ हे देवी ! पूर्व दिशा को प्रकाशित करने वाली, ओषधी तारे की तरह चमकने वाली हे कञ्चन शरीरे ! मुझे बता कि तू कौन देवी है ? ॥४५॥ मैं मनुष्यों द्वारा पूजित 'श्री' हूँ, मैं सदा निष्पाप प्राणियों की संगति में रहती हूँ। सुधा-विवाद के कारण तेरे पास आयी हूँ। हे श्रेष्ठ प्रज्ञ ! तू मुझे सुधा दे ॥४५॥ हे महा मुनि ! मैं जिसका सुख चाहूँ, वह नर सभी कामनाओं से आनदिन्त होता है। हे याज्ञिक-श्रेष्ठ ! यह जान कि मैं 'श्री' हूँ। हे श्रेष्ठ-प्रज्ञ ! मुझे सुधा दे ॥४६॥]

यह सुन कोसिय बोला—

सिप्पेन विज्जाचरणेन बुद्धिया
नरा उपेता पगुणा सकम्मना
तया विहीना न लभन्ति किञ्चनं,
तदिदं न साधु यदिदं तया कतं ॥४७॥

पस्सामि पोसं अलसं महाघसं
सुदुक्कुलीनं पि अरूपिमं नरं
तयानुगुत्तो सिरि जातिमां अपि
पेसेति दासं विय भोगवा सुखी ॥४८॥

तं तं असच्चं अविभज्जं सेविनिं
जानामि मूळ्हं विदुरानुपातिनिं
न तादिसी अरहति आसनूदकं
कुतो सुधा, गच्छ न मय्ह रुच्चसि ॥४९॥

[शिल्प, विधा, आचरण, बुद्धि से युक्त तथा अपने कार्य में दक्ष आदमी

भी तेरे बिना कुछ प्राप्त नहीं कर सकते । यह जो तूने किया है, यह अच्छा नहीं है ।।४७।। मैं देखता हूँ कि आलसी, बहुत खानेवाला, खराब कुल का कुरूप भोग-सम्पन्न, सुखी, आदमी तेरा कृपा पात्र होकर जाति-सम्पन्न व्यक्ति को भी 'दास' की तरह भेजता है ।।४८।। हे अविवेक-रहित सेवा करने वाली ! यह सब असत्य है । हे पण्डितों को गिराने वाली यह सब मूढ़ता है। तुझे आसन तथा उदक भी देना योग्य नहीं । अमृत तो कहाँ से। जा, तू मुझे अच्छी नहीं लगती ।।४९।।]

वह वहीं अन्तर्धान हो गयी । तब उसने आशा के साथ बात की । पूछा—

> का सुक्कदाठा पटिमुत्तकुण्डला
> चित्तंगदा कम्बुविमट्ठधारिनी
> ओसित्त वण्णं परिदय्ह सोभसि
> कुसग्गिरत्तं अपिळय्ह मञ्जरिं ।।५०।।
> मिगीव भन्ता सरचापधारिना
> विराधिता मंदं इव उदिक्खसि,
> को ते दुतियो इध मन्दलोचने,
> न भायसि एकिका कानने वने ।।५१।।

[हे शुक्ल-दन्ते ! कुण्डल-धारिणी ! हे चित्रांगदे । हे स्वर्णालंकार-धारिनी ! हे उदक धारा के समान वस्त्र धारण कर सुशोभिते ! हे कुशाग्नि के समान रक्त-वर्ण मञ्जरी को धारण करने वाली ; हे शर-चापधारी शिकारी द्वारा आहत मृगी की तरह देखने वाली ! हे मन्द लोचने ! यहाँ तेरा द्वितीय कौन है ? तुझे इस वन में डर नहीं लगता ?।।५१।।]

उसने उत्तर दिया—

> न मे दुतियो इध-म-अत्थि कोसिय,
> मसक्कसारप्पभवम्हि देवता
> आसा सुधासाय तवन्तिमा आगता,
> तं मं सुधाय वरपञ्ञ भाजय ।।५२।।

[हे कोसिय ! यहाँ मेरा कोई द्वितीय नहीं है । मैं त्रयोत्रिंश भवन में उत्पन्न

देवा हूँ । मेरा नाम आशा है । मैं सुधा की आशा से तेरे पास आयी हूँ। हे श्रेष्ठ-प्रज्ञ ! मुझे सुधा दे ॥५२॥]

यह सुन कोसिय ने 'जो तुझे अच्छा लगता है उसे तू फल मिलने की आशा देती है, जो तुझे अच्छा नहीं लगता उसे नहीं देती है। तेरा साथ विनाशकारी नहीं है, प्रकट करते हुए कहा—

आसाय यन्ति वाणिजा धनेसिनों,
नावं समारुय्ह परेन्ति अण्णवे,
ते तत्थ सीदन्ति अथो पि एकदा
जीनाधना एन्ति विनट्ठ पाभता ॥५३॥

आसाय खेत्तानि कसन्ति कस्सका,
वपन्ति बीजानि, करोन्ति पायसों,
इतीनिपातेन अवुट्ठिकाय वा
न किञ्चि विन्दन्ति ततो फलागम् ॥५४॥

अथ अत्तकारानि करोन्ति भत्तुसु
आसं पुरक्खत्वा नरा सुखेसिनो,
ते भतुरत्था अति गाळ्हिता पुन
दिसा पनस्सन्ति अलद्ध किञ्चनं ॥५५॥

जहित्व धञ्ञं च धनं च ञातके
आसाय सग्गाधिमना सुखोसिनो
तपन्ति लूखं पि तपं चिरंतरं,
कुम्मग्गं आरुय्ह परेन्ति दुग्गतिं ॥५६॥

आसाविसंवादिकसम्मता इमे,
आसे सुधाय विनयस्सु अत्तनि,
न तादिसी अरहति आसनूदकं
कुतो सुधा, गच्छ न मय्ह रुच्चसि ॥५७॥

[आशा से प्रेरित होकर व्यापारी धन की खोज में जाते हैं । वे नौका पर चढ़ कर समुद्र में जाते हैं। वे कभी-कभी वहाँ डूब भी जाते हैं वे धनविहीन

होकर विनाश को प्राप्त होते हैं ॥५३॥ कृषक आशा से खेती करते हैं। वे बीज बोते हैं और अनेक उपाय करते हैं। किसी उपद्रव के कारण अथवा वर्षा न होने के कारण उन्हें कुछ फल नहीं मिलता है ॥५४॥ सुख-कामी मनुष्य आशा लगा कर युद्ध में स्वामी की बहुत सेवा करते हैं। वे स्वामी के निमित्त शत्रुओं से अत्यन्त पीड़ित होकर किसी दिशा में भागने के लिए मजबूर हो जाते हैं। उन्हें कुछ नहीं मिलता ॥५५॥ धन, धान्य तथा रिश्ते-दारों को छोड़कर सुखकामी नर स्वर्ग की आशा से चिरकाल तक कठोर तप भी करते हैं। वे कुमार्गगामी होकर दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥५६॥ हे आशा ! तू ठगिनी है। इसलिए तू अमृत की आशा छोड़ दे। तेरे सदृश को आसन और जल भी देना योग्य नहीं। अमृत तो कहाँ पायेगी ? जा, तू मुझे अच्छी नहीं लगती ॥५७॥]

उसके मना करने पर वह भी वहीं अन्तर्ध्यान हो गयी। तब श्रद्धा के साथ बातचीत करते हुए गाथा कही--

दद्दल्लमाना यससा यसस्सिनी
दिघञ्ञनामव्हयनं दिसं पति,
पुच्छामि तं कञ्चनवेल्लिविग्गहे
आचिक्ख मे त्वं कतमासि देवता ॥५८॥

[हे यश से यशस्विनी ! हे निकृष्ट नाम से सम्बोधित की जाने वाली दिशा में खड़ी हुई जाज्वल्यमान देवी ! स्वर्ण-गात्रे ! मैं तुझसे पूछता हूँ कि तू कौन देवी है ?॥५८॥

तब उसने गाथा कही--

सद्धाहं देवी मनुजेसु पूजिता
अपापसत्तूपनिसेविनी सदा
सुधा विवादेन तवन्तिमागता,
तं मं सुधाय वरपञ्ञ भाजय ॥५९॥

[मैं मनुष्यों द्वारा पूजित श्रद्धा नाम की देवी हूँ। मैं सदा निष्पाप पुरुषों की संगति में रहती हूँ। अमृत के सम्बन्ध में विवाद होने के कारण तेरे पास आयी हूँ। श्रेष्ठ-प्रज्ञ ! तू मुझे अमृत दे ॥५९॥]

तब कोसिय ने "यहाँ प्राणी जिस-तिस के कहने का विश्वास करके, तदनुसार आचरण करते हुए प्रायः कर्तव्य की अपेक्षा अकर्त्तव्य ही अधिक करते हैं। यह सब तेरे ही कारण होता है" कह, गाथाएँ कहीं—

दानं दमं चागं अथो पि संयमं
आदाय सद्धाय करोन्ति हेकदा
थेय्यं मुसाकूटं अथो पिपेसुणं
करोन्ति हेके पुन विच्चुता तया ॥६०॥

भरियासु पोसो सदिसीसु पेखवा
सीलूपपन्नासु पतिब्बतासु पि
विनेत्वा छन्दं कुलधीतियासु पि
करोति सद्धं पन कुम्भदासिया ॥६१॥

त्वं एव सद्धे परदारसेविनी
पापं करोसि कुसलं पि रिञ्चसि,
न तादिसी अरहसि आसनूदकं
कुतो सुधा, गच्छ न मय्ह रुच्चसि ॥६२॥

[दान, (इन्द्रिय-) दमन, त्याग तथा संयम भी लोग श्रद्धा प्रेरित होकर करते हैं ? चोरी, झूठ, ठगी तथा चुगलखोरी भी तेरे द्वारा पतित होकर करते हैं ॥६०॥ आत्म-सदृशी भार्य्याओं के प्रति अपेक्षावान होते हुए भी, उनके सदाचारिणी तथा पतिव्रता होने पर भी, कुल-कन्याओं का प्रेम छोड़ कुम्भ-दासी की बात पर विश्वास कर लेते हैं ॥६१॥ हे श्रद्धे ! तू ही परस्त्री-गामिनी है। तू ही पापाचारिणी है। तू ही कुशल-कर्मों को छुड़ाने वाली है। तेरे सदृश को आसन तथा जल मिलना योग्य नहीं। अमृत तो कहाँ मिलेगा ? जा, तू मुझे अच्छी नहीं लगती ॥६२॥]

वह वहीं अन्तर्ध्यान हो गयी। कोसिय ने भी उत्तर-दिशा में स्थित ह्री के बात बातचीत करते हुए दो गाथाएँ कहीं—

दीघञ्जरत्ति अरुणस्मि ऊहते
या दिस्सति उत्तमरूपवण्णिनी

तथूपमा मं पटिभासि देवते
आचिक्ख मे त्वं कतमासि अच्छरा ॥६३॥

काला निदाघे रिव अग्गिजातिव
अनिलेरिता लोहितपत्तमालिनी
का तिट्ठसि मंदं इवावलोकयं
भासेसमाना व गिरं न मुञ्चसि ॥६४॥

[रात्रि के अन्त में अरुणोदय होने पर जो उत्तम रूप धारिणी 'उषा' दिखायी देती है, हे देवी ! तू मुझे उसके समान प्रतीत होती है। तू बता कि तू कौन अप्सरा है ? ॥६३॥ वायु से प्रकम्पित रक्त-वर्ण पत्रों वाली ग्रीष्म-कालीन काल-लता अथवा अग्नि-जात लता की तरह तू कौन है जो खड़ी मन्द-मन्द देख रही है। ऐसा लगता है कि कुछ बोलना चाहती है, किन्तु बोल नहीं रही है। ॥६४॥]

तब उसने गाथा कही—

हिराह देवी मनुजेसु पूजिता
अपापसत्तूपनिसेविनी सदा
सुधाविवादेन तवन्तिममागता
सा तं न सक्कोमि सुधं पि याचितुं,
कोपीनरूपा विय याचनित्थिया ॥६५॥

[मैं मनुष्य द्वारा पूजित 'ह्री' नाम की देवी हूँ। मैं सदा निष्पाप प्राणियों की संगति में रहती हूँ। अमृत-सम्बन्धी विवाद के कारण तेरे पास आयी हूँ। किन्तु तो भी मैं अमृत भी नहीं माँग सकती हूँ। स्त्रियों का (कुछ) माँगना निर्लज्ज होने जैसा है ॥६५॥]

यह सुन तपस्वी ने गाथाएँ कहीं :—

धम्मेन ञायेन सुगते लच्छसि,
एसो हि धम्मो न हि याचना सुधा,
तं तं अयाचन्ति अहं निमंतय,
सुधाय यं पिच्छसि तं पि दम्मि ॥६६॥

सा त्वं मया सकम्हि अस्समे
निमंतिता कञ्चनवेल्लिविग्गहे,
त्वं हि मे सब्बरसेहि पूजिया
तं पूजयित्वान सुधं पि अस्सिय ॥६७॥

[धर्म से तथा जान से हे सुगात्रे तू ही पायेगी। अमृत का न मांगना ही धर्म है तुझ न मांगने वाली को ही मैं निमन्त्रित करता हूँ। न केवल 'अमृत' और भी जो इच्छा करेगी, वह भी दूंगा ॥७६॥ हे कच्चन गात्रे ! तू आज मेरे आश्रम में निमंत्रित है। तू ही सभी रसों द्वारा पूज्य है। तेरी पूजा करके ही, मैं शेष अमृत ग्रहण करूँगा ॥६७॥]

इससे आगे अभिसम्बुद्ध-गाथायें हैं—

सा सोसियेनानुमता जुतीमता
अद्धा हिरी रम्मं पाविसि-य-अस्समं
उदाञ्ञवन्तं फलं अरियपूजितं
अपापसत्तूपनिसेवितं सदा ॥६८॥
रुक्खग्गहाणा बहुकेत्थ पुप्फिता
अम्बा पियाला पनसा च किंसुका
सोभञ्जना लोद्द-म-थो पि पद्मका
केका च भंगा तिलका च पुप्फिता ॥६९॥
साला करेरि बहुकेत्थ जम्बुयो
अस्सत्थनिग्रोधमधुका च वेदिसा
उद्दालका पाटलि सिन्धुवारिता
सुपुञ्ञगन्धा मुचलिन्दकेतका ॥७०॥
हरेणुका बेळुका वेणुतिन्दुका
सामाकनीवार-म-अथोपि चीनका
मोचा कदली बहुकेत्थ सालियो
पवीहयो आभुजिनोपि तण्डुला ॥७१॥
तस्स च उत्तरे पस्से जाता पोक्खरणी सिवा
अकक्कसा अपब्भरा सादु अप्पटिगन्धिका ॥७२॥

तत्थ मच्छा सन्निरता खेमिनो बहुभोजना
सिंगुसवंका सकुला सतवङ्का च रोहिता
अलिगग्गरकाकिण्णा पाथीना काकमच्छका ॥७३॥

तत्थ पक्खी सन्निरता खेमिनो बहुभोजना
हंसा कोञ्चा मयूरा च चक्कवाकाय कुक्कुहा
कुणालका बहूचित्रा सिखण्डिजीव जीवका ॥७४॥

तत्थ पानायमायन्ति नानमिगगणा बहू
सीहा व्यग्घा वराहा च अच्छकोकतरच्छयो ॥७५॥

पलासादा च गवजा महिसा रोहिता रुरू
एणेय्या वराहा चेव गणिनों नीकसूकरा
कदलिमिगा बहू चेत्थ बिळारा ससकाण्णिका ॥७६॥

छमागिरी पुप्फविचित्तसन्थता
दिजाभिघुट्ठा दिजसंघसेविता ॥७७॥

[कोसिय से अनुज्ञात प्रभासम्पन्न वह 'ह्रीं', जलज फलों से युक्त, आर्य-पूजित, निष्पाप प्राणियों से सेवित सुरम्य आश्रम में प्रविष्ट हुई ॥६८॥ यहाँ (इस आश्रम में) बहुत से घने पेड़ पुष्पित हैं-आम हैं, प्रियाल हैं, कटहल हैं, किंसुक है, सोभञ्जन हैं, लोद्द हैं, पद्म हैं, केक हैं, भंग हैं, और तिलक हैं ॥६९॥ यहाँ (इस आश्रम में) बहुत से पेड़ हैं—शाल हैं, करेरी हैं, जम्बु हैं, अश्वत्थ हैं, निग्रोध हैं, मधुक हैं, वेदिस हैं, उद्दाल है, पाटली हैं, सिन्धु-वारिता हैं, सुपुण्यगन्ध हैं, मुचलिन्द हैं तथा केतक ।।७०॥ (इस आश्रम में) हरेणुक हैं, वेळुक हैं, वेणु-तिन्दुक हैं, सामाक हैं, नीवार है, चीनक हैं, मोच हैं, केले हैं, धान हैं, नाना प्रकार के चावल हैं, खाद्य (?) चावल है ॥७१॥ उसकी उत्तर दिशा में कल्याणकारी पुष्करिणी है, सुन्दर, सुतीर्थ तथा सुगन्धी-युक्त ॥७२॥ उस पुष्करिणी में अभय-प्राप्त तथा बहु-भोजन-प्राप्त मछलियाँ हैं—सिंगु हैं, सवंक हैं, सकुल हैं,,सतवंक हैं, रोहित हैं, अलिगग्गरक हैं, पाठी हैं तथा काकमच्छ हैं ॥७३॥ वहाँ अभय-प्राप्त तथा बहु-भोजन प्राप्त पक्षी हैं–हंस हैं, कौञ्च हैं, मयूर हैं, चक्रवाक हैं, कुक्कुट हैं, कोयल हैं,

विशेषरूप से सुन्दर मयूर हैं, जीव-जीवक हैं ।।७४।। वहां नाना प्रकार के मृग पानी पीने के लिए आते हैं—सिंह, व्याघ्र, सूअर, रीछ कतररीछ (?) ।।७५।। (और) गेण्डा, गवज, महिष, मृग, रुरु-मृग, एणि-मृग, सूअर गो-कर्ण, नीक-सूअर, कदली-मृग, बिल्ले तथा शशकर्णित ।।७६।। वहाँ का पार्वत्य-प्रदेश नाना प्रकार के पुष्पों से ढका था, वहाँ पक्षियों काम मधुर कलरव था तथा पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड रहते थे ।।७७।।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने कोसिय के आश्रम का वर्णन किया। अब 'ह्री' देवी के वहाँ प्रवेश करने की बात को प्रकट करते हुए कहा—

सा सुत्तचा नीलदुमाभिलम्बिता
विज्जुमहामेघरिवानुपज्जथ
तस्सा सुसम्बन्धसिरं कुसामय
सुचिं सुगन्धं अजिनूपसवितं
अत्रिच्छकोच्छं, हिरिं एतद अब्रवि
निसीद कल्याणि सुखयिदं आसनं ।।७८।।

[वह सुन्दर छवि-वाली, हरित-वर्ण वृक्ष-शाखा को पकड़े हुए, महामेघ द्वारा आमंत्रित बिजली की तरह वहाँ पहुँची। उसके लिए सुसम्बद्ध सिरों वाला, कश-निर्मित, पवित्र, सुगन्धित, अजिनचर्म के आस्तरण वाला आसन बिछाकर उसने 'ह्री' को कहा—कल्याणी! बैठ। यह आसन सुख के लिये हैं ।।७८।।]

तस्सा तदा कोच्छगताय कोसियो
यद् इच्छमानाय जटाजिनंधरो
नवेहि पत्तेहि सयं सहूदकं
सुधाभिहासि तुरितो महामुनि ।।७९।।

[उस समय उस इच्छामति तथा आसन पर बैठी हुई 'ह्री' के लिये जटा-जिनधारी कोसिय महामुनि दक्षिणोदक तथा नवीन-पत्तों के साथ स्वयं शीघ्रता से सुधा ले आया ।।७९।।]

सा तं पटिग्गय्ह उभोहि पाणिहि
इच्च-अब्रवि अत्तमना जटाधरं

हन्दा हं एतरहि पूजिता तया
गच्छेय्य ब्रह्मे तिदिवं जिताविनी ॥८०॥

[उसने उसे दोनों हाथों से स्वीकार किया और तब वह सन्तुष्ट हो उस जटाधारी से बोली—"हन्त ! मैं अब तेरे द्वारा पूजित हुई हूँ। हे ब्रह्मे ! अब मैं विजयी होकर स्वर्ग-लोक जाती हूँ ॥८०॥]

सा कोसियेनानुमता जुतीमता
उदीरिता वण्णमदेन मत्ता
सकासे गन्त्वान सहस्सचक्खुनो
अयं सुधा वासव, देहिमे जयं ॥८१॥

[कोसिय द्वारा अनुज्ञात, उसके द्वारा कही गई, वह प्रकाशवति सहसचक्षु (इन्द्र) के पास जाकर बोली; "हे वासव ! वह सुधा है। अब मुझे जय दे" ॥८१॥]

तं एनं सक्कोपि तदा अपूजयि
सहिन्दा च देवा सुरकञ्ञं उत्तमं
सा पञ्जली देवमनुस्सपूजिता
नवम्हि कोच्छम्हि यदा उपाविसि ॥८२॥

[तब शक्र ने भी सभी देवताओं के साथ उस सुरकन्या की पूजा की। जिस समय वह नवीन आसन पर विराजमान हुई, उस समय सभी देव-मनुष्यों ने हाथ जोड़कर उसकी पूजा की ॥८२॥]

इस प्रकार शक्र ने उसकी पूजा करके सोचा, "कोसिय ने औरों को अमृत न दे इसी को क्यों दिया ?" इस बात को जानने के लिए उसने दुबारा मातलि को भेजा।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने—

तं एव संसी पुनरेव मातलिं
सहस्सनेत्तो तिदसानं इन्दो
गन्त्वान वाक्यं मम ब्रूहि कोसियं

आसाय सद्धा-सिरिया च कोसियं
हिरी सुधं केन-म-अलत्थ हेतुना ॥८३॥

देवेन्द्र सहस्रचक्षु ने फिर मातलि को कहा, जाकर कोसिय से मेरा वाक्य कहो—हे कोसिय ! श्री, आशा और श्रद्धा को सुधा नहीं मिली। 'ह्री' को किस कारण से मिली ? ॥८३॥]

उसका कहना स्वीकार कर वैजयन्त रथ पर चढ़ कर गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

तं सुप्लवत्थं उदतारयी रथं
दद्दल्लमानं उपकिरिय सादिसं
जम्बोनदीसं तपनेय्य सन्निभं
अलंकतं कञ्चनचित्तसंतिकं ॥८४॥

सुवण्णचन्देत्थं बहूनिपातिता
हत्थिगवस्सा किकिव्यग्घदीपियो
एणेय्यका लंघमयेत्थ पक्खियो
मिगेत्थ वेळूरियमया युधायुता ॥८५॥

तत्थ अस्सराज हरयो अयोजयुं
दससतानि सुसुनागसादिसे
अलंकते कञ्चनजालुरच्छदे
आवेळिने सद्दगमे असंगिते ॥८६॥

तं यानसेट्ठं अभिरुय्ह मातलि
दस दिसा इमा अभिनादयित्थ
नभं च सेलं च वनस्पतीनि च
ससागरं पब्यथयित्थ मेदिनिं ॥८७॥

स खिप्पं एव उपगम्म अस्समं
पावारमेकंसकतो कतञ्जलि
बहुस्सुतं वद्धं विनीतवन्तं
इच्च-अवत्री मातलि देवब्राह्मणं ॥८८॥

इन्दस्स वाक्यं निसामेहि कोसिय
दूतो अहं, पुच्छति तं पुरिंददो
आसाय, सद्धा सिरिया च कोसिय
हिरी सुधं केन-म-अलत्थ हेतुना ॥८९॥

[उसने सुखपूर्वक जाने के लिए उस जाज्वल्यमान, आवश्यक सामग्री सहित, स्वर्ण-ईर्षावाले, स्वर्णमय, अलंकृत, स्वर्णिभ-चित्रों से युक्त रथ को चालू किया ॥८४॥ इस रथ में बहुत से स्वर्णिभ-चन्द्रमा बने हुए थे, हाथी थे, बैल थे, घोड़े थे, मुर्गियाँ थीं; व्याघ्र थे, चीते थे, एणि-मृग थे, नानारत्नमय पक्षी थे, तथा अपने-अपने जूथ के साथ बिल्लौरमय मृग थे ॥८५॥ उस रथ में एक हजार, तरुण हाथियों के समान बलशाली, अलंकृत, सुनहरी झील तथा आवेठिन नामक कर्मालंकार वाले, आवाज लगाने मात्र से ही चलने वाले, शीघ्रगामी घोड़ों को जोता ॥८६॥ मातली ने उस श्रेष्ठ यान पर चढ़ कर चारों दिशाओं को गुंजा दिया--आकाश को, पर्वतों को, जंगलों को, सागर को तथा पृथ्वी को ॥८७॥ वह शीघ्र ही आश्रम पहुँच गया। उसने अपना दिव्य वस्त्र एक कन्धे पर कर लिया और हाथ जोड़कर उस बहुश्रुत गुण-वृद्ध, व्रती, देव-ब्राह्मण से बोला ॥८८॥ "कोसिय ! इन्द्र का वाक्य सुनें। मैं उसका दूत हूँ। इन्द्र पूछता है कि आशा श्रद्धा और श्री के रहते 'ह्री' ने ही 'अमृत' क्यों प्राप्त किया ? ॥८९॥]

उसने उसकी बात सुन, उत्तर दिया--

सद्धासिरी मं पटिभाति मातलि
सद्धा अनिच्चा पन देवसारथि
आसा विसंवादिकसम्मता हि मे
हिरी च अरियम्हि गुणे पतिट्ठिता ॥९०॥

[हे मातली ! श्री तो 'धनी' प्रतीत हुई, श्रद्धा 'अनित्य' प्रतीत हुई, आशा 'संदिग्ध' प्रतीत हुई और ह्री आर्य-गुण में स्थित प्रतीत हुई ॥९०॥]

अब उसका गुण वर्णन करता हुआ बोला—

कुमारियो या च इमा गोत्तरक्खिता
जिण्णा च या या च सभत्तुइत्थियो

ता छन्द रागं पुरिसेसु उग्गतं
हिरिया निवारेन्ति सचित्तं अत्तनो ॥९१॥
संगामसीसे सरसत्तिसंयुते
पराजितानं पततं पलायिनं
हिरिया निवत्तन्ति जहित्व जीवितं
ते सम्पटिच्छन्ति पुना हिरीमना ॥९२॥
वेला यथा सागरवेगवारिनि
हिरायं हि पापजनं निवारणी
तं सब्बलोके हिरिं अरियपूजितं
इन्दस्स तं वेदय देवसारथि ॥९३॥

[ये जो गोत्र-रक्षिता कुमारियाँ अथवा सस्वामा स्त्रियाँ हैं अथवा बूढ़ियाँ हैं, जब उनके मन में पुरुष के प्रति राग जागता है, तो वे ह्री ही से अपने चित्त को रोक लेती हैं ॥९१॥ शर तथा शक्ति (आयुधों) के बीच संग्राम में जब लोग पराजित होकर गिरने लगते हैं अथवा भागने लगते हैं, तो (लोग) ह्री के कारण ही अपने प्राणों का मोह छोड़ कर रुक जाते हैं और वे लाज वाले फिर (अपने स्वामी को शत्रु के हाथ से छुड़ा लेते हैं) ॥९२॥ जिस प्रकार समुद्र-तट सागर की लहर को रोकता है, उसी प्रकार 'ह्री' आदमी को पाप करने से रोकती है। हे सारथी ! इन्द्र को इसी आर्य-पूजित 'ह्री' का परिचय दे ॥२३॥]

यह सुन मातलि बोला—

को ते इमं कोसिय दिट्ठिं ओदहि
ब्रह्मा महिन्दो अथा वा पजापति,
हिरायं देवेसु हि सेट्ठसम्मता
धीता महिन्दस्स महेसि जायथ ॥९४॥

[हे कोसिय ! यह विचार किसने तेरे मन में डाला ! ब्रह्मा ने, महेन्द्र ने अथवा प्रजापति ने ? महेन्द्र-कन्या 'ह्री' हे महर्षी ! देवताओं में श्रेष्ठ हो गयी ॥९४॥]

उसके ऐसा कहते ही कोसिय का अन्तिम क्षण आ पहुँचा। तब मातलि

ने उसे साथ ही ले चलने की इच्छा से कहा, "कोसिय ! तेरा आयुसंस्कार समाप्त हो गया। दान-धर्म भी पूरा हो गया। अब मनुष्य लोक में रहकर क्या करेगा ? देव-लोक चलें।" उसने यह गाथा कही—

हन्देत्थ दानि तिदिवं समक्कम
रथं समारुय्ह ममायितं इमं
इन्दो च तं इन्द-सगोत्त कंखति,
अज्जेव त्वं इन्दसहव्यतं वज ॥९५॥

[हन्त ! हम इस सुन्दर रथ पर चढ़कर स्वर्ग-लोक चलें। तेरा (पूर्व-जन्म का) सगोत्र इन्द्र तेरी आकांक्षा करता है। आज ही तू इन्द्र के सहवास को प्राप्त हो ॥९५॥

इस प्रकार जब कोसिय के साथ बातचीत हो रही थी, उसी समय कोसिय मर कर ओपपातिक देव पुत्र होकर दिव्य-रथ पर विराजमान हुआ। उसे मातलि शक्र के पास ले गया। शक्र उसे देख कर प्रसन्न हुआ और अपनी लड़की 'ह्री' को उसकी पटरानी बना दिया। उसका ऐश्वर्य्य असीम था।

इस अर्थ को जानकर 'श्रेष्ठ जनों के कर्म इसी प्रकार शुद्ध होते हैं' प्रकट करने के लिये शास्ता ने अन्तिम गाथा कही—

एवं समिज्झन्ति अपापकम्मिनो
अथो सुचिण्णस्स फलं न नस्सति
ये केचि-म-अद्दक्खु सुधाय भोजनं
सब्बेव ते इन्दसहव्यतं गता ॥९६॥

[इसी प्रकार निष्पाप लोक शुद्ध होते हैं। शुभ-कर्म का फल नष्ट नहीं होता। जिसने सुधा-भोजन का अनुमोदन किया, वह इन्द्र-लोक को प्राप्त हुआ ॥९६॥

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला 'भिक्षुओं, न केवल अभी मैंने इस अदान-शील कंजूस-मक्खीचूस का पहले भी दमन किया है' कह जातक का मेल बैठाया। उस समय ह्री-देवी उत्पल-वर्णा थी, कोसिय दानी भिक्षु पञ्चशिख अनुरुद्ध, मातलि आहन्द, सूर्य काश्यप, चन्द्र मौद्गल्यायन, नारद सारिपुत्र, शक्र तो मैं ही था।

⊙

५३६. कुणाल जातक

"येवमक्खायति. . . ." यह शास्ता ने कुणाल-सरोवर पर विहार करते समय मन के उचाटपन से पीड़ित पाँच सौ भिक्षुओं के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

(दान-कथा आदि क्रम से कही जाने वाली) अनुपर्वी-कथा इस प्रकार है :—

शाक्य तथा कोलिय कपिलवस्तु और कोलिय-नगर के बीच रोहिनी नदी पर एक ही बांध बाँध कर खेती करते थे। जेठ महीने के अन्त में खेती के कुम्हला जाने पर दोनों नगर-वासियों के कमकर लोग इकट्ठे हुए। कोलिय-वासी बोले-"इस पानी को यदि दोनों लेंगे तो यह न तुम्हारे लिए ही पर्याप्त होगा और न हमारे लिये ही। हमारी खेती को एक ही पानी और चाहिए। यह पानी हमें दें।" कपिलवस्तु-वासी बोले : "जब तुमने अपने कोठे भर रखे होंगे तो हम रक्त-वर्ण स्वर्ण, नील-वर्ण मनि तथा काले कार्षापणों के साथ हाथ में टोकरी और थैली आदि लेकर तुम्हारे घर-द्वारों पर घर-घर न घूम सकेंगे। हमारी भी खेती एक ही पानी से हो जायेगी। यह पानी हमें ही दे दें!"

"हम नहीं देंगे!"

"हम भी नहीं देंगे!"

इस प्रकार बात बढ़ते-बढ़ते बढ़ गयी। एक उठा और उसने दूसरे को एक लगा दी। उसने भी उसे एक। इस प्रकार उन्होंने परस्पर मार-पीट की और राजकुल को बीच में घसीट कर झगड़ा बढ़ा दिया। कोलिय कमकर बोले-"तुम कपिलवस्तु वासी लेकर जाओ। जो कुत्ते, गीदड़ आदि की तरह अपनी बहन के साथ रहते हैं, ऐसों के हाथी-घोड़े अथवा इनके ढाल आदि हथियार हमारा

क्या करेंगे !" शाक्य कमकर बोले: "तुम अब कोढ़ी के बच्चे लौट जाओ। जो अनाथ अशरण होकर तिरश्चीन-प्राणियों की तरह कोल-वृक्ष में रहते रहे हैं, उनके हाथी घोड़े अथवा ढाल आदि हथियार हमारा क्या करेंगे ?" उन्होंने जाकर उस काम के अधिकारी अमात्यों को यह बात कही। अमात्यों ने राज-कुल में कही। तब शाक्य युद्ध के लिए निकल पड़े, "बहन के साथ रहने वालों की शक्ति और बल दिखायेंगे।" कोलिय भी युद्ध के लिए तैयार हुए, "कोल-वृक्ष में रहने वालों की शक्ति और बल दिखायेंगे।"

दूसरे आचार्यों का मत है कि शाक्य और कोलियों की दासियाँ नदी पर पानी लेने गयीं। वहाँ चाटियाँ जमीन पर रख बैठकर गप मारने लगीं। किसी एक की चाटी दूसरी ने अपनी समझ कर ले ली। उस चाटी के लिए "मेरी चाटी तेरी चाटी" झगड़ा हो गया। यह झगड़ा बढ़कर दो नगरों के दास-कमकरों तक और वहाँ से भोजक-अमात्यों तथा उपराजाओं तक जा पहुँचा। सभी युद्ध के लिए तैयार होकर निकल पड़े। इस वर्णन की अपेक्षा पहला वर्णन ही अधिकांश अट्टकथाओं में आया है। वही समीचीन प्रतीत होता है। इसलिए उसी को ग्रहण करना चाहिए। वे सन्ध्या समय युद्ध के लिए तैयार होकर निकलने वाले थे।

उस समय भगवान ने श्रावस्ती में विहार करते समय, प्रातःकाल लोक का विचार करते हुए, उन्हें इस प्रकार युद्ध के लिए सज्जित हो निकलते देखा। उन्होंने विचार किया "मेरे जाने पर यह कलह शान्त हो जायेगा अथवा नहीं ?" उन्होंने देखा, "मैं वहाँ पहुँच कर कलह-शान्ति के लिए तीन जातक-कथायें सुनाऊँगा।" उससे कलह शान्त हो जायेगा। फिर एकता-महात्म्य प्रकट करने के लिए दो जातक-कथायें सुनाऊँगा और अत्त-दण्ड सूत्र का उपदेश दूँगा। उपदेश सुन दोनों नगरों के निवासी ढाई-ढाई सौ कुमार देंगे। मैं उन्हें प्रव्रजित करूँगा। बड़ा समूह एकत्र होगा।" इस प्रकार निश्चय कर, शारीरिक कृत्य समाप्त कर, श्रावस्ती में भिक्षाटन कर, पिण्डपात से लौट, शाम को बिना किसी को सूचित किये, अपना पात्र चीवर स्वयं ही लिए, गन्धकुटी से निकल, दोनों सेनाओं के बीच, आकाश में पालथी मार कर बैठे और उन्हें धमकाने के हेतु, अन्धकार फैलाने के लिए काली-किरणें छोड़ीं। फिर उन भयभीत हृदयों पर अपने आप प्रकट करने के लिए छः वर्ण की बुद्धिरश्मियाँ छोड़ीं। कपिलवस्तु-वासियों ने भगवान को देखा तो सोचा, "हमारे श्रेष्ठ सम्बन्धी शास्ता आ गये हैं। शायद

उन्होंने हमारी कलह करने की तैयारो देख ली है। शास्ता के आ पहुँचने पर हम किसी के शरीर में शस्त्र नहीं घोंप सकते। चाहे कोलिय-वासी हमें मारें चाहे कष्ट दें।" उन्होंने शस्त्र रख दिए। कोलिय-वासियों ने भी वैसा ही किया।

तब भगवान (आकाश से) उतर कर रमणीय-प्रदेश में बालुका तट पर बिछे बुद्धासन पर बैठें। उस समय उनके शरीर से अनुपम बुद्ध-रश्मि निकल रही थी। वे राजागण भी भगवान को नमस्कार कर बैठे। शास्ता ने जानते हुए भी उनसे पूछा, "महाराज ! यहाँ कैसे आये ?"

"भन्ते ! न नदी-दर्शन के लिए और न खेलने के लिए, हम लोग यहाँ संग्राम उपस्थित होने के कारण आये।"

"महाराजाओं ! तुम्हारे कलह का क्या कारण है।"

"भन्ते ! पानी के लिए।"

"महाराजओं ! पानी का मूल्य कितना होता है ?"

"भन्ते ! थोड़ा सा।"

"महाराजाओं ! भूमि का मूल्य कितना होता है।"

"भन्ते ! भूमि अमूल्य होती है।"

"महाराजाओं ! क्षत्रियों का कितना मूल्य होता है।"

"भन्ते ! क्षत्रिय अमूल्य होते हैं।"

"महाराओं, थोड़े मूल्य पानी के लिए अमूल्य क्षत्रियों का नाश क्यों करते हो। कलह में आनन्द नहीं है। एक वृक्ष-देवता और काल-सिंह का बद्ध-वैर इस सारे कल्प जारी रहा।" यह कह शास्ता ने कन्दन-जातक[1] कही। फिर :"महाराज ! दूसरों का अन्धविश्वासी नहीं होना चाहिए। दूसरों का अन्ध-विश्वासी होने से एक खरगोश की बात पर विश्वास कर तीन हजार योजन विस्तार के हिमालय के सारे चतुष्पाद महासमुद्र में गिरने वाले हुए। इसलिए दूसरे का अन्ध विश्वासी नहीं होना चाहिए।" इतना कह दद्दभ जातक[2] कही। फिर "महाराज ! कभी दुर्बल भी महाबलवान् की कमजोरी देख लेता है, कभी महाबलवान् भी दुर्बल की, चिरैया ने भी हाथी को मार डाला" कह लटुकिक

---

१ कदंन जातक (४७५)।
२. दद्दभ जातक (३२२)।

जातक[1] कही। इस प्रकार कलह का शमन करने के उद्देश्य से तीन जातकें कह,[2] एकता का महत्व प्रकट करने के लिए दो जातकें कहीं। "एकीभूतों को कोई परास्त नहीं कर सकता" कह रुक्ख-धम्म जातक कही। फिर "महा-राज जब तक एक होकर रहे, कोई भेद पैदा नहीं कर सका, किन्तु जब परस्पर झगड़ने लगे तो एक शिकारी उन्हे मार कर ले गया, झगड़ने में सुख नहीं है," कह वट्टक जातक[3] कही। इस प्रकार यह पाँच जातकें कह अन्त में अत्त-दण्ड सूत्र कहा।

राजागण श्रद्धाभिभूत हो सोचने लगे, "यदि शास्ता न आते हम परस्पर एक दूसरे को मारकर रक्त की नदी बहा देते। शास्ता के कारण हमारी जान बची। यदि शास्ता गृहस्थ रहते तो दो हजार द्वीपों से घिरे हुए चारों महा-द्वीपों का राज्य हस्तगत कर लेते, सहस्राधिक पुत्र होते, उससे क्षत्रिय-परिवार होता। उस सम्पत्ति का त्याग कर, इन्होंने अभिनिष्क्रमण कर बोधि लाभ किया। अब भी क्षत्रियों से घिरे ही विचरे।" यह सोच दोनों नगर के निवासियों ने ढाई-ढाई सौ कुमार दिये। भगवान् उन्हें प्रव्रजित कर महावन चले गये। अगले दिन से उन्हें साथ ले एक कपिलवस्तु पुर में और एक दिन कोलिय नगर में, इस प्रकार दोनों नगरों में भिक्षाटन करने लगे। दोनों नगरवासियों ने महान सत्कार किया।

क्योंकि वे दूसरों के प्रति गौरव-भावना से प्रव्रजित हुए थे, अपनी रुचि से नहीं इसलिए उसके मन में प्रव्रज्या से अरुचि उत्पन्न हुई। पूर्व भार्याओं ने भी उनमें अरुचि जगाने के लिए जो-कुछ कह कह कर संदेश भेजे। वे और भी उद्विग्न हो गये। भगवान् ने जब ध्यान लगाकर देखा तो उनकी 'अरुचि' का पता लगने पर सोचा, "ये भिक्षु मेरे जैसे बुद्ध के साथ रहते समय उद्विग्न होते हैं, इनके लिए किस प्रकार की धर्म-कथा अनुकूल होगी?" उन्हें कुणाल धर्म-देशना का ख्याल आया। तब उनके मन में आया, "मैं इन भिक्षुओं को हिमालय ले जा कुणाल कथा से इन्हें स्त्रियों के दोष से परिचित कर, इनकी अभिरुचि दूर कर, इन्हें सोतापत्ति-मार्ग पर प्रतिष्ठित करूँगा" उन्होंने पूर्वाह्ण

---

१. लटुकिक जातक (३५७)।
२. रुक्खधम्म जातक (७४)।
३. वट्टक जातक (३५)।

समय पहन, पात्र-चीवर ले, कपिलवस्तु में भिक्षाटन कर, भोजन के पश्चात' भिक्षाटन से लौटकर, भोजन के समय ही उन पाँच सौ भिक्षुओं को बुलवा कर पूछा--"भिक्षुओं, क्या तुमने रमणीय हिमालय प्रदेश देखा है ?"

"भन्ते ! नहीं ।"

"हिमालय की चारिका करने चलोगे ?"

"भन्ते ! हम ऋषिबल रहित हैं, कैसे जायेंगे ?"

"यदि कोई ले चले तो चलोगे ?"

"भन्ते ! हाँ ।"

शास्ता ने उन सबको अपने ऋषिबल से ले आकाश में ऊपर जा, हिमालय पहुँच, गगन-तल में स्थित हो, रमणीय हिमालय प्रदेश में कञ्चन पर्वत, मणि पर्वत, हिंगुल पर्वत, अञ्जन पर्वत, सानु पर्वत तथा फलिक पर्वत, इस प्रकार नाना-विधि पर्वत; पाँच महानदियाँ; कण्णमुण्डक; रथकार, सिंह प्रपात छद्दन्त, तियग्गल, अनोतप्त तथा कुणाल-दह, ये सात सरोवर दिखाये । हिमालय तो पाँच सौ योजन ऊँचा है और तीन हजार योजन चौड़ा है, उसका यह रमणीय-प्रदेश अमने प्रताप से दिखाया । वहाँ रहने वाले सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि चतुष्पदों में से भी कुछ दिखाये । वहाँ मनोहर बाग-बगीचे, फूल-फलदार वृक्ष, नाना प्रकार के पक्षी-समूह, जल तथा स्थल पर पैदा होने वाले पुष्प और हिमालय के पूर्व और स्वर्ण-तल तथा पच्छिम की ओर हिंगुल-तल दिखाया । इन मनोहर बाग-बगीचों आदि के देख लेने के बाद से उन भिक्षुओं का पूर्व भार्याओं सम्बधी राग जाता रहा । तब शास्ता उन भिक्षुओं को ले, आकाश से उतरे और हिमालम के पच्छिम की ओर साठ योजन के शिला-तल पर, सात योजन के कल्पस्थायी शालवृक्ष के नीचे, तीन योजन की मनोशिला पर, उन भिक्षुओं के बीच, छवर्ग बुद्ध-रश्मियों को फैलाते हुए तथा समुद्र की कोख में से निकले ज्वलन्त सूर्य की तरह बैठकर, मधुर-स्वर में उन भिक्षुओं को सम्बोधित कर बोले, "भिक्षुओं, इस हिमालय में जो कुछ तुमने नयी बात देखी हो, उसके बारे में पूछो ।"

उस समय दो सुन्दर कोयल एक लकड़ी के दोनों सिरों को मुँह से पकड़े और बीच में अपने स्वामी को बैठाये आकाश से लिए जा रही थीं । उनके

आगे-आगे आठ सुन्दर कोयल थीं, आठ पीछे, आठ दक्षिण की ओर, आठ बायीं ओर, आठ नीचे तथा आठ ऊपर छाया किए हुए। उन भिक्षुओं ने उस पक्षी समूह को देख कर शास्ता ने पूछा--

"भन्ते ! ये कौन पक्षी हैं !

"भिक्षुओं ! ये मेरी वंश-परम्परा हैं। ये पहले के मेरे अनुचर हैं। उस समय यह पक्षि-समूह भारी था। साढ़े तीन हजार पक्षि-कन्याएँ मेरे चारों ओर रहतीं थीं। क्रमशः कम होकर अब इतनी रह गयीं।"

"भन्ते ! किस प्रकार के वन-खण्ड में ये पक्षि-कन्याएँ तुम्हारे चारों ओर रहतीं थीं ?"

,'तो भिक्षुओं, सुनो", कह उनका ध्यान केन्द्रित कर पूर्व-जन्म की बात प्रकट करते हुए कहा—

ख. अतीत कथा

ऐसा कहा जाता है, ऐसा सुना जाता है कि कुणाल नाम का पक्षी ऐसे वन-खण्ड में रहता था, जहाँ सभी औषधियाँ प्राप्त थीं, जहाँ अनेक प्रकार के फूल तथा फूल मलाएँ थीं; जहाँ हाथी, बैल, भैंस, स्वर्ण-वर्ष मृग, चँवरी-मृग-चितकबरा-मृग गेण्डा, गो-कर्ण, सिंह, व्याघ्र, चीता, भालू रीछ (?) उपद्र-मृग, कदली-मृग, बिल्ले, खरगोश, तथा कण्णिक (?) विचरते थे, जहाँ तरुण हाथियों से घिरे हुए बड़े-बड़े हाथी, नाग, हस्तिपोतकों के संघ रहने थे, जहाँ काले सिंह बंदन, शरभ-मृग, एणि मृग, वात-मृग, चितकबरे-मृग, घोड़ी-मुख यक्षणियाँ, किन्नर दक्ष तथा राक्षस निवास करते थे, जहाँ कली; मंजरी और बड़े पुष्पों से युक्त अनेक समूह थे, जहाँ चील, चकोर वारण मोर, पराभूत (?) जीव-जीवक, चेलावक, भिंकार, कोयल, आदि (?) सैकड़ों प्रकार के पक्षी थे और जो प्रदेश अञ्जन, मनोशिला, हरिताल, हिंगु लक, सोना, चाँदी, स्वर्ण आदि सैकड़ों प्रकार की धातुओं से मण्डित था। वह अत्यन्त सुन्दर था। उसके पंख अतीव मनोहर थे। उसी कुणाल-पक्षी स्वामी की साढ़े तीन हजार स्त्रियाँ पक्षि-कन्यायें परिचारिका थीं। दो कन्यायें काठ को मुँह में लेकर उस कुणाल स्वामी को बीच में बैठाकर उड़ती थीं "इस कुणाल स्वामी को रास्ते में कष्ट न हो।" पाँच सौ पक्षि-कन्यायें नीचे नीचे उड़ती थीं, "यदि यह

कुणाल स्वामी आसन से गिरेगा तो हम इसे परों पर सँभाल लेंगी।" पाँच सौ पक्षि-कन्यायें ऊपर-ऊपर उड़ती थीं, "कुणाल स्वामी को धूप से कष्ट हो।" पाँच सौ पक्षि-कन्यायें दोनों ओर उड़ती थीं, "इस कुणाल स्वामी को शीत, गरमी, तृण, धूल, हवा अथवा ओस से कष्ट न हो।" पाँच सौ पक्षि-कन्यायें आगे-आगे जातीं थीं "कुणाल स्वामी को ग्वाले, पशु-पालक, घसियारे लकड़हारे अथवा जंगल में काम करने वाले काष्ट से वा ठीकरे से वा हाथ से वा ढेले से वा डन्ड से वा शस्त्र से अथवा कंकरों से चोट न करें। यह कुणाल स्वामी वृक्षों से लताओं से बेड़ों से, स्तम्भों से, पत्थरों से अथवा बलवान पक्षियों से न टकरावे।" पाँच सौ पक्षि-कन्यायें पीछे-पीछे उड़ती थीं, चिकनी चुपड़ी, सुन्दर मधुर वाणी बोलती हुई, "यह कुणाल स्वामी बैठा-बैठा घबरा न जाये।" पाँच सौ पक्षि-कन्यायें किशा-विदिशा में उड़ती थीं, अनेक वृक्षों से नाना प्रकार के फल लाती हुई, "यह कुणाल स्वामी भूख से कष्ट न पाये।"

वे पक्षि-कन्यायें उस कुणाल-स्वामी को आराम से आराम में, उद्यान से उद्यान में, नदी तट से नदी तट में, पर्वत शिखर से पर्वत-शिखर में, आम्रवन से आम्रवन में, जामुन-वनसे जामुन-वन में, कटहल-वन से कटहल वन में तथा नारिवलों के समूह से नारियलों के समूह में शीघ्र ही रति-क्रीड़ा के लिए प्राप्त होतीं।

"भिक्षुओं इस प्रकार उन पक्षि-कन्याओं से रोज-रोज घिरा रहने पर भी कुणाल स्वामी उन्हें इस प्रकार डाँटता था, "चण्डालिनों तुम्हारा नाश हो, चाण्डालिनों तुम्हारा विनाश हो, चोर हो धूर्त हो, असति हो, चंचल हो, अकृतज्ञ हो, हवा की तरह जहाँ चाहे वहाँ पहुंच जाने वाली हो।"

इतना कह भिक्षुओं, तिरश्चीन योनि में रहते समय भी स्त्रियों की अकृतज्ञता, बहुमायावीपन, अनाचार, दुश्शीलता जानता था। उस समय मैं उनके वश में न होकर उन्हें ही अपने वश में रखता था" इस कथा द्वारा शास्ता ने उन भिक्षुओं की अरुचि दूर कर दी और चुप हों गये। उसी समय दो काली कोयलें स्वामी को डण्डे पर लिए, नीचे-ऊपर आदि चार होकर वहाँ आ पहुंची। उन्हें भी देख कर भिक्षुओं ने शास्ता से पूछा। शास्ता ने "भिक्षुओं, यह पहले मेरा पूर्णमुख नाम मित्र पुष्य-कोकिल था। यह उसकी वंश परम्परा है," कह उपरोक्त प्रकार ही भिक्षुओं के पूछने पर कहा—

उसी हिमालय पर्वत-राज के पूर्व सुसूक्षम-सुनिपुण पर्वत से बहने वाली नदियाँ जिस हरित-कुणाल सरोवर में गिरती हैं,

जहाँ नीले-उत्पल, कुमुद, पद्म, श्वेतपद्म, शतपत्र, सोगन्धिक, मन्दालक (आदि) नवीन-जात, सुगन्धित, मनोज्ञ पुष्प हैं,

जहाँ करवक, मुचलिन्द, केतक, चेतस, वजुळ, पुन्नाग, बकुल, तिलक, पिपक असन, साल, सलक, चम्पक, अशोक, नाग-वृक्ष, तिरीट, भुज-पत्र, लोद तथा चन्दन का वन है,

जहाँ काल-गलु (?) पद्मक, पियंगु, देवदारूक तथा कदली का समूह है, जहाँ ककुध, कुजट, अंकोल; कच्चिकार, कण्णिकार, कणवेर, कोरण्ड, कोविलार किंसकु, योधिय, वनमल्लिक, अनङ्ग, अनवद्य, भण्डी, रुचिर, भगिनी आदि पुष्पों की मालायें थीं,

जहाँ जाति-सुमन, मधु-गन्धिक, धनकारिक, तालीस, तगर, उसीर; कोट्ठ तथा कच्छ फैले हुए थे,

जहाँ अति-मुक्तक; संकुसुमित लतायें थीं,

जहाँ हंस, बत्तख, कादम्ब तथा कारण्डव निनाद करते थे, जहाँ विद्याधर सिद्ध, श्रमण तथा तपस्वी-गण रहते थे तथा जहाँ वरदेव, यक्ष, राक्षस, दानव, गन्धर्व, किन्नर, महीरग थे--ऐसे रमणीय वनखण्ड में पूर्ण मुख नाम का पुष्य-कोकिल रहता था, अत्यन्त मधुर-भाषी, विलासपूर्ण-अनुरक्त आँखों वाला। उसी पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल की साढ़े तीन सौ स्त्रियाँ पक्षि-कन्यायें परिचारिका थीं। दो पक्षि-कन्यायें मुँह में काष्ट लेकर उस पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को बीच में बिठा कर उड़ती थीं, "इस पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को मार्ग में कष्ट न हो।" पचास पक्षि-कन्यायें नीचे नीचे उड़ती थीं, "यदि पूर्ण-मुख पुष्यकोकिल नीचे गिरेगा तो हम इसे परों पर सँभाल लेंगी।" पचास पक्षि-कन्यायें ऊपर ऊपर उड़ती थीं, "पूर्ण-कोकिल को धूप से कष्ट न हो।" पचास पक्षि-कन्यायें दोनों ओर उड़ती थीं, "पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को शीत, गरमी, तृण धूल, हवा अथवा ओस से कष्ट न हो।" पचास पक्षि-कन्यायें आगे-आगे जाती थीं, पूर्णमुख पुष्य-कोकिल को ग्वाले, पशु पालक, घसियारे लकड़हारे, अथवा जंगल में काम करने वाले काष्ठ से वा ठीकरे से वा हाथ से वा ढेले से वा डण्ड से वा शस्त्र से अथवा

कंकरों से चोट न कर, यह पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल वृक्षों से, लताओं से पेड़ों से, स्तम्भों से, पत्थरों से अथवा बलवान पक्षियों से न टकराये।'' पचास पक्षि-कन्यायें पीछे-पीछे उड़ती थीं, चिकनी-चुपड़ी, सुन्दर मधुर-वाणी बोलती हुई, ''यह पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल बैठा-बैठा घबरा न जाय।'' पचास पक्षि-कन्यायें दिशा-विदिशा में उड़ती थीं, अनेक वृक्षों से नाना प्रकार के फल लाती हुई, ''यह पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल भूख से कष्ट न पाये।''

वे पक्षि-कन्यायें उस पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को आराम से आराम में, उद्यान से उद्यान में, नदी तट से नदी-तट में, पर्वत-शिखर से पर्वत-शिखर में, आम्रबन से आम्रवन में, जामुन-वन में, कटहल-वन से कटहल-वन में तथा नारियलों के समूह से नारियलों के समूह में शीघ्र ही रति क्रीड़ा के लिए प्राप्त होतीं।

'भिक्षुओं! वह पूर्णमुख पुष्य-कोकिल उन पक्षि-कन्याओं से घिरा होने पर इस प्रकार उनकी प्रशंसा, करता, ''बहुत अच्छा बहनों, यह तुम कुलवन्तियों के योग्य ही है कि तुम इस प्रकार स्वामी की सेवा करो'' तब पूर्णमुख पुष्य-कोकिल जहाँ कुणाल स्वामी था वहाँ पहुँचा। कुणाल स्वामीं की परिचारिकता पक्षि-कन्याओं ने उस पूर्णमुख पुष्य-कोकिल को दूर से आते देखा। देख कर जहाँ पूर्णमुख पुष्य-कोकिल था वहाँ पहुँची। पहुँच कर उस पूर्णमुख पुष्य-कोकिल को इस प्रकार बोली—''सौम्य पूर्ण-मुख! यह कुणाल स्वामी अति कठोर, अत्यन्त कठोर-भाषी है। अब तुझसे भी हमें प्रिय-वाणी सुनने को मिले।'' ''हाँ, बहनों,'' कह वह जहाँ कुणाल स्वामी था वहाँ पहुँचा। जाकर कुणाल स्वामी का कुशल-समाचार पूछ, उसके साथ एक ओर बैठ वह पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल उस कुणाल स्वामी को इस प्रकार बोला— ''सौम्य कुणाल! तू किस कारण से सुजात, कुलवन्ती, सम्यक आचरण करने वाली स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करता है, अप्रिय बोलने वाली स्त्रियों के साथ भी मधुर-भाषी होना चाहिए। प्रिय बोलने वालियों के साथ तो कहना ही क्या!'' यह कहने पर कुणाल स्वामी ने उसे इस प्रकार धिक्कारा--दुष्ट बृषल तेरा नाश हो। दुष्ट बृषल तेरा विनाश हो। तेरे समान स्त्रियों के वश में और कौन पण्डित है?''

इस प्रकार अनादृत होकर पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल वहीं से लौट गया।

फिर थोड़े ही समय बाद एक बार पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को भयानक बीमारी हो गयी, मुंह से रक्त जाने लगा, बड़ी वेदना हुई, मरणान्तक। तब पुष्य कोकिल की परिचारिकाओं पक्षि-कन्याओं के मन में हुआः "यह पूर्ण-मुखपुष्य-कोकिल रोगी हो गया है। अच्छा हो, इस रोग से मुक्त हो जाय।" वे उसे अकेला छोड़ जहाँ कुणाल स्वामी था, वहाँ पहुँची। कुणाल स्वामी ने उन पक्षि-कन्याओं को दूर से ही आते देखा। देख कर पूछा—"चण्डलिनियों! तुम्हारा स्वामी कहाँ है?"

"मित्र कुणाल! पूर्णमुख पुष्य-कोकिल रोगी है। अच्छा है, उस रोग से मुक्त हो जाय।"

ऐसा कहने पर उस कुणाल स्वामी ने उन पक्षि-कन्याओं को इस प्रकार फटकाराः "चण्डालिनियों! तुम्हारा नाश हो। चण्डालिनियों! तुम्हारा विनाश हो। चोर हो, धूर्त हो, असति हो, चंचल हो, अकृतज्ञ हो, हवा की तरह जहाँ चाहे वहाँ पहुँच जाने वाली हो।" यह कह वह जहाँ पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल था, वहाँ पहुंचा और पहुँच कर उस पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को इस प्रकार बोला—"मित्र पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल! मैं हूँ"

"मित्र कुणाल स्वामी! मैं हूँ।"

तब कुणाल स्वामी ने उस पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को पंखों और चोंच से ले, उठा कर, नाना प्रकार की औषधियाँ पिलाई। उस पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल का वह रोग शान्त हो गया।

उसके निरोग होने पर वे पक्षि-कन्यायें भी लौट आयीं। कुणाल स्वामी ने भी कुछ दिन पूर्ण-मुख को फलाफल खिला, जब उसका शरीर सशक्त हो गया, कहाः "मित्र! अब तू अपनी सेविकाओं के साथ रह। मैं भी अपने निवास-स्थान जाता हूँ।" वह बोला—"ये मुझे रुग्णावस्था में छोड़ भाग गयीं। मुझे इन धूर्तिनियों की अपेक्षा नहीं है।" "तो सौम्य! तुझे स्त्रियों के पाप के बारे में कहूँगा" कह पूर्ण-मुख को ले, वह हिमालय के पार्श्व पर मनोशिल तक पहुँचा और सात योजन के शाल के नीचे मनोशिलासन पर बैठा। सपरिवार पूर्ण-मुख एक ओर बैठा। सारे हिमालय में घोषणा हो गयी। "आज कुणाल पक्षि-राज हिमालय में मनोशिलासन पर बैठ कर बुद्ध-लीला से धर्मोपदेश देगा, उसे सुनें।" परम्परा से यह घोषणा छः कामावचर देवताओं तक फैल गयी और वे बड़ी संख्या में इकट्ठे हुए। बहुत सारे नाग,

सुपर्ण, गिज्झ और वन के देवताओं ने उस बात की घोषणा की। उस समय आनन्द नाम का गृहराज दस हजार गीधों के साथ गृद्ध-पर्वत पर रहता था। वह भी उस हल्ले को सुन कर धर्म सुनने के लिए, अनुयाइयों सहित आकर एक ओर बैठा। पाँच अभिञ्जाओं से युक्त नारद तपस्वी भी, दस हजार अनुयाइयों सहित हिमालय में घूम रहा था। उसने देव-घोषणा सुनी तो सोचा, "मेरा मित्र स्त्रियों के दोष कहेगा। मुझे भी वह देशना सुननी चाहिए।" वह हजार तपस्विों सहित ऋद्धिबल से वहाँ पहुँच एक ओर बैठ गया। बुद्धों की देशना में जैसी भीड़ हो जाती है, वैसा ही समूह इकट्ठा हो गया।

तब बोधिसत्व ने पूर्वजन्म-स्मरण ज्ञान के बल पर स्त्रियों के दोष प्रकट करने वाली पूर्वजन्म की बातें पूर्ण-मुख को साक्षी करके कही।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने कहा--

"भिक्षुओं, पूर्ण-मुख पुष्य-कोकिल को रोग मुक्त हुए अधिक समय नहीं हुआ था" तभी कुणाल स्वामी ने कहा--

"देखी है मैंने पूर्ण-मुख कृष्णा, जिसके दो पिता थे, पाँच पति थे और तब भी वह छठे पुरुष में आसक्त थी, उसकी गरदन से छिन्न-शिरा की तरह लिपटी हुई। आगे यह वाक्य (=गाथा) है--

अथ अज्जुनो नकुलो भीमसेनो
युधिट्ठिलो सहदेवो च राजा
एते पती पञ्चमतिच्च नारी
अकासि खुज्ज वामनेन पापं ॥१॥

[अर्जुन, नकुल, भीमसेन, युधिष्ठिर और सहदेव—इन पाँच पति राजाओं को लाँघ कर नारी ने कुबड़े-बौने के साथ पाप कर्म किया ॥१॥]

"देखी है मैंने सच्च तपावी नामक श्रमणी जो श्मशान में रहती थी, तीन-भात छोड़कर चौथा भात खाती थी; उसने सुनार के साथ पाप किया।

"देखी है मैंने पूर्ण-मुख ! काकति नाम की देवी, समुद्र में रहने वाली' बेनतेय की भार्या; उसने नर कुबेर के साथ पाप किया।

"देखी है मैंने पूर्ण-मुख ! कुंगवी लोम-सुन्दरी, एलक-कुमार की कामना करने वाली; उसने धनन्तेवासी षड़ंग-कुमार के साथ पाप किया।

"ऐसा ही मैंने जाना है : ब्रह्मदत्त की माता ने कोशलराज को छोड़ पंचाल-चण्ड के साथ पाप किया। इन्होंने तथा अन्यों ने पाप-कर्म किया। इसलिए न मैं स्त्रियों का विश्वास करता हूं और न उनकी प्रशंसा करता हूँ। जिस प्रकार मही, पृथ्वी समान भाव से अनुरक्त है, जैसे वसुन्धरा उत्तम, अधम सभी का आधार है, सभी को सहन करती है किसी पर कोप नहीं करती है, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ हैं, आदमी को चाहिए इनका विश्वास न करें।

सीहो यथा लोहितमंसभोजनो
वाळामिगो पञ्चहत्थो सुरुद्धो
पसय्हखाद परहिंसनेरतो
तथ, इत्थियो, तायो न विस्ससे नरो ॥२॥

[जैसे रक्त-माँस भोजी, कठोर-हृदय, चारों पैरों तथा पाँचवें मुँह वाला दुष्ट-मृग, सिंह, दूसरों की हिंसा में रत रहता है और जबर्दस्ती पकड़ कर अपना ग्रास बना लेता है, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ हैं। आदमी को चाहिए इनका विश्वास न करे ॥२॥]

"निश्चय से न इनका यथार्थ नाम वैश्या है, न नारी है, न गणिका है, और न बन्धकी है; इनका यथार्थ नाम वधिका है। ये चोरों के समान वेणी-श्रृंगार किये रहती हैं। शराबी की तरह प्रलाप करने वाली हैं। बनिये की तरह बात बनाने वाली हैं। ईर्षा-मृग के सीगों की तरह उलटी होती हैं। साँप की तरह द्वि-जिह्वा होती हैं। प्रताप की तरह थकी रहती हैं। पाताल की तरह कठिनाई से भरी जा सकने वाली होती हैं। राक्षसी की तरह कठिनाई से संतुष्ट होने वाली होती हैं। यम की तरह ले जाने वाली होती हैं। दीप-शिखा की तरह सभी कुछ भक्षण करने वाली होती हैं। नदी की तरह सभी को बहा ले जाने वाली होती हैं। हवा की तरह जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली होती हैं। सुमेरु-पर्वत की तरह सभी को अपने समान बना लेने वाली होती हैं। विष वृक्ष के समान नित्य फल-दातृ होती हैं। आगे यह वाक्य (=गाथा) है--

यथा चोरो यथा दिद्धो वाणिजो व विकत्थनी
इस्सासिंग इवावत्ता दुज्जिह्व उरगो यथा ॥३॥
सोब्भं इव पटिच्छन्ना पातालं इव दुप्पुरा
रक्खसी विय दुत्तोसा यमो व एकन्त हारियो ॥४॥
यथा सिखी नदी वातो नेरु नावसमाकता
विसरुक्खो विय पञ्चधा नासयन्ति घरे भोगं
रतनानन्तकरित्थियो ॥५॥

[अर्थ ऊपर आ ही गया है ॥ ३--५॥]

इससे आगे नाना प्रकार से अपना वाणी का सौन्दर्य प्रकट करते हुए कहा। "मित्र पूर्णमुख ! ये चार समय पर अनर्थकारी होते हैं। इन्हें दूसरे के यहाँ नहीं रहने देना चाहिए। (१) बैल, (२) गऊ, (३) गाड़ी, (४) स्त्री। इन चारों को पण्डितजन को चाहिए कि घर से वाहर न रखें--

गोणं धेनुं च यानञ्च
भरियं जातिकुले न वासये,
भजन्ति रथं अजानका
अतिवाहेन हनन्ति पुंगवं ॥६॥
दोहेन हनन्ति वच्छकं
भरिया जातिकुले पदुस्सति ॥७॥

[बैल, गऊ, गाड़ी और स्त्री को रिश्तेदारों के यहाँ न रखें। अजानकार लोग रथ चलाते हैं और अति-हाँकने से बैल को मार डालते हैं। अति-दोहन से बछड़ा मारा जाता है और स्त्री जातिकुल में दूषित हो जाती है ॥६-७॥]

'मित्र ! पूर्णमुख ! ये छः काम पड़ने पर अनर्थकारी होते हैं--(१) बिना डोरी का धनुष, (२) सम्बन्धियों के यहाँ भार्या, (३) उस पार गयी हुई नौका (४) भग्न-धुरी रथ, (५) दूर का मित्र, तथा (६) बुरा साथी। मित्र पूर्णमुख ! आठ बातें होने से स्त्री पति से घृणा करने लगती है--(१) दरिद्र होने से, (२) रोगी होने से, (३) बूढ़ा होने से, (४) शराबी होने से, (५) मूढ़ होने से, (६) प्रमादी होने से, (७) सभी बातों में (स्त्री का) अनुगामी होने से, (८) सब धन देने से। यहाँ यह वाक्य (=गाथा है) ।--

दलिद्दं आतुरं चापि जिण्णकं सुरसोण्डकं
पमत्तं मुद्धपत्तं च रत्तं किच्चेसु हापनं
सब्बकामपदानेन अवजानन्ति सामिकं ॥८॥

"मित्र ! पूर्णमुख ! नौ बातों से स्त्री दोषी मानी जाती है--(१) आरामों में जाने वाली होती है, (२) उद्यानों में जाने वाली होती है, (३) नदी तट पर जाने वाली होती है, (४) रिश्तेदारों में जाने वाली होती है, (५) दूसरे कुलों में जाने वाली होती है, (६) शीशे तथा दुशालों से अपनी सजावट करने वाली होती है,, (७) शराब पीने वाली होती है, (८) बाहर देखने वाली होती है, तथा दरवाजे पर खड़ी होने वाली होती है। यहाँ यह वाक्य (=गाथा) है—

आरामसीला उय्यानं ञ्जातिपरकुलं
दुस्समण्डनं अनुपुत्ता या च इत्थि मज्जपायिनी ॥९॥
या च निल्लोकनसीला या च पद्वारठायिनी
नवहि एतेहि ठानेहि पदोसं आहरतित्थियो ॥१०॥

"मित्र पूर्णमुख ! स्त्री चालीस तरह से पुरुष को फँसाती है—(१) अंगड़ाई लेती है, (२) विनम्र बनती है, (३) क्रीड़ा करती है, (४) शर्मीली बनती है, (५) नाखून से नाखून लड़ाती है, (६) पाँव पर पाँव रखती है,(७) काठ से जमीन पर लकीरें खीचतीं है, (८) बच्चे को ऊपर उछालती है, (९) बच्चे को नीचे उछालती है, (१०) खेलती है, (११) खिलाती है, (१२) चूमती है, (१३) चुमवाती है, (१४) खाती है; (१५) खिलवाती है, (१६) बच्चे को देती है, (१७) बच्चे से माँगती है, (१८) नकल करती है, (१९) ऊँचा बोलती है, (२०) नीचा बोलती है, (२१) प्रकट रूप से बोलती है, (२२) छिपाकर हंसती है, (२३) नाच, गा, बजा, रो, विलास करके तथा विभूषित होकर हँसती है, (२४) देखती है, (२५) हिलाती-डुलाती है, (२६) छिपी चीज को हिलाती है, (२७) जाँघों को उघाड़ती है, (२८) जाँघों को नंगा करती है, (२९) स्तनों को दिखाती है, (३०) काछ दिखाती है, (३१) नाभी दिखाती है, (३२) आँखों को तानती है, (३३) भौंहों को ऊपर उठाती है (३४),

होंठों को काटती है, (३५) जिह्वा को काटती है, (३६) जिह्वा को हिलाती है, (३७) वस्त्र को खोलती है, (३८) वस्त्र को बाँधती है, (३९) बालों को खोलती है, (४०) बालों को बाँधती है। पच्चीस बातों से पूर्ण-मुख दुष्टा स्त्री की पहचान होती है--(१) स्वामी के प्रवास में रहने की प्रशंसा करती है, (२) प्रवास में जाने पर स्मरण नहीं करती है, (३) आने पर अभिनन्दन नहीं करती है, (४) उसका दोष कहती है; (५) उसका गुण नहीं कहती, (६) उसका बुरा कहती है, (७) उसका भला नहीं करती, (८) उसे हानि पहुँचाती है, (९) उसे लाभ नहीं पहुचाती, (१०) मुँह ढक कर सोती है, (११) मुँह फेरकर सोती है, (१२) अस्थिर होती है, (१३) शोर मचाती है, (१४) लम्बा साँस लेती है, (१५) दुखी (की तरह) रहती है, (१६) बार-बार पेशाब-पाखाने जाती है, (१७) उल्टा आचरण करती है, (१८) पर-पुरुष की आवाज सुनकर कान खोलती है, (१९) उधर ध्यान देती, है, (२०) भोग्य-पदार्थों का विनाश करने वाली होती है, (२१) पड़ोसियों से यारी लगाती है, (२२) उसके पैर बाहर होते हैं, (२३) गलियों में अति घूमने वाली होती है, (२४) स्वामी के प्रति गौरव रहित होती हैं, तथा (२५) प्रदुष्टमना होती है। यहाँ यह वाक्य (--गाथा) है--

पवासं अस्स [वण्णेति] गतं नानुसोचति
दिस्वा पतिं आगतं नाभिनन्दति
भत्तारवण्णं न कदाचि भासति
एते पदुट्ठाय भवन्ति लक्खणा ॥११॥

अनत्थं तस्स चरति असञ्ञता
अत्थं च हापेति अकिच्चकारिनी,
परिदहित्वा सयति परमुखी
एते पदुट्ठाय भवन्ति लक्खणा ॥१२॥

परिवत्तकजाता च भवति कुंकुमी
दीघं च अस्ससति दुक्ख वेदिति
उच्चारपस्सावं अभिण्ह गच्छति....॥१३॥

विलोमं आचरति अकिञ्चकारिनी
सद्दं निसामेति परस्स भासतो
निहतभोगा च करोति सन्थवं. . ॥१४॥

किच्छेन लद्धं कसिराभतं धनं
वित्तं विनासेति दुक्खेन सम्भतं
पटिविस्सकेहि च करोति सन्थवं. . .॥१५॥

निक्खन्तपादा विसिखानुचारिनी
निच्चं ससामिम्हि पदुट्ठमानसा
अतिचारिनी होति तथेव अगारवा. . .॥१६॥

अभिक्खणं तिट्ठति द्वारमूले
थनानि कच्छानि च दस्सयन्ति
दिसोदिसं पेक्खति भन्तचित्ता.... ॥१७॥

सब्बा नदी वंकगती सब्बे कट्ठमया वना
सब्बित्थियो करे पापं लभवाने निवातके ॥१८॥

सचे लभेथ खणं वा रहो वा
निवातकं वापि लभेथ तादिसं
सब्बा च इत्थी करेय्युं नो पापं
अञ्ञं अलद्धा पीठसप्पिनापि(सद्धि) ॥१९॥

नरानं आरामकरासु नारिसु
अनेकचित्तासु अनिग्गहासु च,
सब्बअत्तना पीतिकरापि वेसिया
न विस्ससे, तित्थसमा ही नारियो ॥२०॥

[अर्थ ऊपर आ गया है ॥११-१७॥ सभी नदियाँ टेढ़ी होती हैं। सभी वनों में लकड़ी है। एकान्त मिलने पर सभी स्त्रियाँ पाप करती हैं ॥१८॥ यदि उसे अवसर मिले, छिपा स्थान मिले अथवा वैसा एकान्त स्थान मिले, तो सभी स्त्रियाँ पाप करती हैं। कोई और न मिले तो लंगड़े-लूले के साथ भी ॥१९॥ आदमियों में अनुरक्त, चंचल तथा काबू से बाहर की स्त्रियों का विश्वास न

करे । अपने से सर्वथा प्रसन्न स्त्रियों का भी विश्वास न करे । स्त्रियाँ पानी के घाट के समान होती हैं ॥२०॥]

इसी प्रकार: पूर्व समय में वाराणसी में कण्डरी नाम का राजा था, बहुत ही सुन्दर । अमात्य उसके लिए प्रति दिन हजार सुगन्धित भार लाते थे । उनसे उसके भवन का परिभण्ड (?) बनाकर सुगन्धित भारों को फाड़, सुगन्धित इँधन बना भोजन पकाते थे । उसकी भार्या भी सुन्दर थी । नाम था किन्नरा । पुरोहित भी उसका पंचालचण्ड नामी था, समान-आयु वाला, बुद्धिमान् । राजा के महल के आश्रम से भवन की चार-दीवारी के अन्दर एक जामुन का पेड़ उग आया । उसकी शाखायें चार-दीवारी के ऊपर लटकती थी । उसकी छाया के नीचे एक घृणित, बदशक्ल लूला रहता था ।

एक दिन किन्नरा ने झरोखे से उसे देखा । वह उस पर आसक्त हो गयी । रात को राजा के साथ रति-क्रीड़ा कर उसे नींद आ जाने पर वह आहिस्ता से उठी और नाना प्रकार का श्रेष्ठ भोजन स्वर्ण-निर्मित सकोरे में रख, उसे पल्ले में बांध, कपड़े की रस्सी से झरोखे से उतर, जम्बु-वृक्ष पर चढ़, शाखा से उतर, लूले को खिलाना और उसके साथ पाप-कर्म किया । फिर जिस मार्ग से आयी थी, उसी मार्ग से प्रासाद पर चढ़, शरीर में सुगन्धी ला, राजा के साथ लेटी । इसी प्रकार वह उसके साथ निरन्तर पाप-कर्म करती । राजा भी नहीं जानता था ।

एक दिन जब वह नगर घूमकर राजभवन में प्रवेश करने जा रहा था, उसने जम्बुवृक्ष की छाया में पड़े हुए, अत्यन्त दयनीय-दशा को प्राप्त एक कुबड़े को देखा । उसे देख, वह पुरोहित से बोला, "इस मनुष्य-प्रेत को देखते हो !"

"देव ! हाँ ।"

"क्या कोई स्त्री इस प्रकार के घृणित पुरुष पर भी आसक्त हो सकती है ?"

यह बात सुनी तो कुबड़े के मन में अभिमान पैदा हुआ, 'यह राजा क्या बात करता है ! मालूम होता है अपनी देवी के मेरे पास आने की बात नहीं जानता है ।' उसने जम्बुवृक्ष की ओर हाथ जोड़कर कहा, "हे जम्बुवृक्षवासी देवता ! हे स्वामी ! सुन । एकमात्र तू ही इस बात को जानता है ।" पुरोहित ने उसे ऐसा करते देख, सोचा, "निश्चय से पटरानी जम्बुवृक्ष से आकर इसके

साथ पाप-कर्म करती है।" उसने राजा से पूछा, "देव ! रात को आपकी देवी का शरीर-स्पर्श कैसा रहता है ?"

"मित्र ! और तो कुछ नहीं जानता। हाँ, आधी रात को उसका शरीर-स्पर्श ठंडा रहता है।"

"तो देव ! किसी दूसरी स्त्री की बात रहने दें। आपकी पटरानी किन्नरा देवी ही इसके साथ पाप-कर्म करती है।"

"मित्र ! क्या कहता है ! क्या इस प्रकार की विलास-प्रिया इस घृणित के साथ रमण करती है ?"

"देव ! तो परीक्षा कर देखें।"

उसने 'अच्छा' कहा और सन्ध्याकालीन भोजन के अनन्तर रात को उसके साथ लेटकर उसकी जाँच करने के लिए, स्वाभाविक निन्द्रा आने के समय निद्रागत सा होकर पड़ रहा। देवी भी उठी और उसने वैसा ही किया। राजा उसके पीछे-पीछे जा जम्बु की छाया में खड़ा हुआ ? कुबड़े ने देवी पर क्रोध कर 'तू बहुत देर करके आयी है' कह, हाथ से कंकर फेंक कर मारी। वह 'स्वामी ! क्रोध न करें। राजा के सो जाने की प्रतीक्षा कर रही थी' कह उसकी चरण-दासी की तरह व्यवहार करने लगी। उसके कंकर मारने से उसका बाला कान से निकलकर राजा के पाँव में जा पड़ा। 'यह पर्याप्त है' सोच, राजा उसे ले चला आया। वह भी उसके साथ उसी प्रकार रमण कर पहले ही की तरह जा कर राजा के पास लेटने लगी। राजा ने रोक दिया। अगले दिन उसने आज्ञा दी कि 'किन्नर देवी मेरे दिये हुए सभी अलंकार पहन कर आवे।' वह 'मेरा सिंह-कुण्डल स्वर्णकार के पास है' कह कर नहीं गयी। दुबारा बुलायी जाने पर एक ही कुण्डल धारण किये पहुँची। राजा ने पूछा--

"तेरा (दूसरा) कुण्डल कहाँ है ?"

"सुनार के पास।"

उसने सुनार को बुलाकर पूछा—"इसका कुंडल क्यों नहीं देता ?"

"देव ! मेरे पास नहीं है।"

राजा क्रोधित हुआ। 'चण्डालिनी ! मेरे जैसे को तेरा स्वर्णकार बनना होगा' कह, वह कुण्डल आगे डाल पुरोहित को कहा—"मित्र ! तूने सत्य कहा था। जा इसका सिर कटवा डाल।"

उसने उसे राजभवन में ही एक ओर बिठा दिया और राजा से जाकर बोला—"देव ! किन्नर देवी के प्रति क्रुद्ध न हों। सभी स्त्रियाँ ऐसी ही होती हैं। यदि स्त्रियों की दुश्चरित्रता देखनी हो तो मैं इनका पाप तथा मायावीपन दिखाऊँगा। आर्य भेष बदलकर जनपद में घूमें।" राजा ने 'अच्छा' कहा और माँ को राज्य सौंप उसके साथ चारिका के लिए निकल पड़ा। वे योजन भर मार्ग जाकर महामार्ग पर बैठे थे। उन्होंने देखा कि एक गृहस्थ पुत्र के लिए "मंगल" कर एक कुमारी को डोली में बिठा बहुत से लोगों के साथ चला जा रहा है। उसे देख, पुरोहित बोला, "यदि इच्छा हो तो मैं तुम्हारे साथ इस कुमारी का रमण करा सकता हूँ।"

"क्या कहते हो ! इतने आदमी हैं ! ऐसा नहीं हो सकता।"

"देव। तो देखें।"

उसने आगे-आगे जा, सड़क से हटकर एक कनात गाड़ी और राजा को उसमें बिठा, स्वयं सड़क के किनारे बैठ रोने लगा। गृहस्थ ने उसे देख पूछा—

"तात ! क्यों रोता है ?"

"मेरी भार्या के पैर भारी हो गये हैं। उसे मैं उसके मायके पहुँचाने जा रहा था। रास्ते में ही गर्भ परिपात हो गया। इस कनात में वह कष्ट पा रही है। कोई औरत उसके पास नहीं है। मैं भी वहाँ नहीं जा सकता। कह नहीं सकता क्या होगा ?"

"एक स्त्री चाहिए। रो मत। बहुत स्त्रियाँ हैं। एक चली जायेगी।"

"तो यह कुमारी ही चली जाय। इसका भी मंगल होगा।"

उसने सोचा, "ठीक तो कहता है। इस निमित्त से पुत्र-वधू का भी मंगल होगा। वह भी बेटा-बेटी वाली होगी।" उसने उसे ही भेजा दिया। वह कनात के अन्दर गयी। वहाँ राजा को देख उस पर मुग्ध हो गयी और उसके साथ रमण किया। राजा ने भी उसे अँगूठी दी। जब वह काम समाप्त कर बाहर आयी तो उससे पूछा—"क्या हुआ ?"

"स्वर्ण-वर्ण पुत्र।"

गृहस्थ उसे ले चल दिया। पुरोहित ने भी राजा के पास पहुँच कहा, "देव ! देखा। कुमारियाँ भी ऐसी पापिन होती हैं। अन्य स्त्रियों का तो कहना ही क्या ! लेकिन क्या तुमने उसे कुछ दिया ?"

"हाँ, अँगूठी दी है।"

"यह उसे नहीं देंगे।"

उसने शीघ्रता से आगे बढ़ रथ को रोक लिया और "क्या है ?" पूछने पर बोला : "यह मेरी ब्राह्मणी के जूड़े में रखी अँगूठी ले आयी है" और उसे कहा "अम्म ! अंगूठी दे।"

उसने वह देते हुए ब्राह्मण के हाथ नाखून से नोच डाले और बोली, "चोर ! यह ले।"

इस प्रकार ब्राह्मण ने राजा को नाना उपायों से अनेक अतिचारिनियों का दर्शन करा कर कहा, "देव ! इधर ऐसा हीं है। आयें अन्यत्र चलें।" राजा सारे जम्बुद्वीप में घूमा। फिर 'वे सभी स्त्रियाँ ऐसी ही होंगी, इनसे हमें क्या, आओ रुकें' कह वाराणसी लौट पुरोहित ने राजा से निवेदन किया, "महाराज स्त्रियाँ ऐसी ही होती हैं। यह प्रकृति से ही पापिन हैं। देवी ! किन्नर देवी को क्षमा करें।" पुरोहित के कहने से राजा ने उसे क्षमा कर दिया, किन्तु उस जगह से निकलवा दिया। उसे उसके स्थान से च्युत कर एक दूसरी देवी को पटरानी बनाया। उस कुबड़े को भी वहाँ से निकलवा; जम्बू शाखा भी कटवा डाली। उस समय कण्डरी पञ्चाल-चण्ड था उसने अपने अनुभव की बात सुनाते हुए ही गाथा कही—

यं वे दिस्वा कण्डरी-किन्नरानं
सब्बित्थियो न रमन्ती अगारे
तं तादिसं मच्चं चजित्वा भरिया
अञ्ञं दिस्वा पुरिसं पीठसप्पिं ॥२१॥

[कण्डरी तथा किन्नर की बात देखकर जानना चाहिए कि सभी स्त्रियाँ घर में रमण नहीं करती हैं। उस देवी ने उस राजा सदृश पुरुष को छोड़कर दूसरे कुबड़े के साथ रमण किया ॥२१॥

और भी पूर्व समय में बक नाम का राजा धर्मानुसार राज्य करता था। उस समय वाराणसी के पूर्व-द्वार पर रहने वाले एक दरिद्र पुरुष की पञ्चपाप नामक कन्या थी। पूर्व जन्म में भी वह एक दरिद्र-कन्या ही थी। वह मिट्टी गूँधकर घर की दीवार लीप रही थी। एक प्रत्येक-बुद्ध को अपनी सहारा लेने की

जगह को थोड़ा और झुकाने के लिए मिट्टी की अपेक्षा थी। उसने सोचा, ' मिट्टी कहाँ मिलेगी ?" उसे ध्यान आया, "वाराणसी में मिल सकेगी।" उसने वस्त्र धारण किया और पात्र हाथ में ले, नगर में प्रविष्ट हो उसके पास जा खड़ा हुआ। उसने क्रोधभरी नजर से देखते हुए कहा, "श्रमण ! मिट्टी भी नहीं मिली" और बड़ा सा मिट्टी का ढेला लाकर पात्र में डाल दिया। उसने उस मिट्टी से अपने सहारे की जगह को ठीक कर लिया। मिट्टी का ढेला देने के फल-स्वरूप उसका शरीर कोमल हो गया। किन्तु क्रोध से देखने के कारण उसके हाथ, पाँव, मुख, आँखें और नाक बद-शक्ल हो गयी। इसी से उसका नाम 'पञ्चपापा' पड़ गया।

एक दिन वाराणसी-नरेश रात को भेष बदल कर नगर का हाल जानने के लिए उधर जा निकला। उसने भी गाँव की बालिकाओं के साथ खेलते-खेलते बिना जाने राजा का हाथ पकड़ लिया। वह उसके हाथ के स्पर्श के प्रभाव से होश ठिकाने न रख सका। उसे ऐसा लगा, मानो दिव्य-स्पर्श छू गया हो। स्पर्श-रागाभिभूत हो उसने उस अवस्था में भी उसे हाथों से पकड़ पूछा, "तू किसकी लड़की है !"

"द्वार पर रहने वाली की।"

फिर यह जान कि उसका कोई स्वामी नहीं है, उसने कहा, "मैं तेरा स्वामी होऊँगा। जा माता-पिता से अनुमति ले आ।" वह माता-पिता के पास पहुंची और बोली, "एक पुरुष मुझे चाहता है।" "वह भी कोई दरिद्र ही होगा, यदि तुझे चाहता है, अच्छा" कह उन्होंने आज्ञा दे दी। उसने जाकर माता-पिता से आज्ञा मिलने की बात कही। वह उसके साथ उसी घर में रहा और प्रातःकाल होते-होते राजभवन चला गया। तब से राजा भेष बदल कर नियमित रूप से वहाँ जाता और अन्य किसी स्त्री की ओर देखना न चाहता।

एक बार उस लड़की के पिता को रक्तातिसार हो गया। बिना पानी के दूध-घी-मधु तथा शक्कर से बनी हुई खीर उसकी दवाई थी। दरिद्रता के कारण वे उसे प्राप्त न कर सकते थे। तब पञ्चपापा की माँ ने उसे कहा—"अम्म ! क्या तेरा स्वामी खीर प्राप्त कर सकेगा ?"

"माँ ! मेरा स्वामी हमसे भी दरिद्र होगा। तो भी मैं उससे पूछूंगी। चिन्ता न करें।"

उसके आने के समय वह चिन्ताकुल हो बैठ रही। राजा ने आकर पूछा, "चिन्तित क्यों है ! "

जब उसे कारण मालूम हुआ, तो भद्रे ! ऐसी महँगी औषधि कहाँ से ला सकूँगा, " कह, सोचने लगा, "मैं सदैव ऐसे ही नहीं चला सकता। रास्ते में खतरा भी हो सकता है। यदि इसे रनिवास में ले जाऊँ तो लोग इसके दिव्य-स्पर्श की बात न जानने के कारण मजाक करेंगे कि हमारा राजा यक्षिणी को ले आया है। मैं सारे नगरवासियों को इसके स्पर्श से परिचित करा निन्दा से मुक्त होऊँगा।" तब बोला, "भद्रे ! चिन्ता न कर। मैं तेरे पिता के लिए खीर लाऊँगा।" फिर उसके साथ रमण कर राजभवन गया और अगले दिन वैसी खीर पकवा, पत्ते लेकर दो दोने बनवाये और उनमें से एक में खीर डाली और दूसरे में चूळमणि। उन्हें बाँध, रात को ले जाकर दिया और बोला, "भद्रे ! हम द्ररिद्र हैं। बड़ी कठिनाई से व्यवस्था की। अपने पिता से कहना कि आज इस दोने में से खीर खाये। कल इसमें से।" उसने वैसा ही किया। उसका पिता ओज की अधिकता से थोड़ी ही खीर खाकर तृप्त हो गया। शेष माँ को दे उसने स्वयं भी खायी। तीनों सुखी हुए। चूळमणि वाला दोना अगले दिन के लिए रख दिया। राजा ने अपने घर पहुँच, मुँह धोकर कहा, "मेरी चूळमणि लाओ।" "देव ! दिखायी नहीं देती।"

सारे नगर में खोजो।"

"खोजने पर भी नहीं मिली।"

"तो नगर के बाहर दरिद्र गृहों में भात रखने के पत्तों के दोनों तक में खोजो।"

खोजने पर जब उसके घर में मणि मिल गयी तो उसके माता-पिता को चोर मान, बाँध कर ले गये। उसका पिता बोला—

"स्वामी ! हम चोर नहीं है। इस मणि को कोई दूसरा लाया है।"

"कौन लाया है ?"

"हमारा दामाद।"

"वह कहाँ है ?"

"हमारी लड़की जानती है।"

तब पिता ने उससे बात-चीत की—

"अम्म ! अपने स्वामी को पहचानती है !"

"नहीं पहचानती हूँ।"

"यदि ऐसा है तो हमारे प्राण नहीं बच सकते ।"

तात ! वह अँधेरे में आकर अंधेरे में ही चला जाता है। इसलिए उसकी शक्ल नहीं पहचानती हूँ। हाँ हाथ के स्पर्श से उसे पहचान सकती हूँ।"

उसने राज-पुरुषों से कहा। उन्होंने राजा से कहा। राजा ने अजानकार की तरह कहा, "तो उस स्त्री को राजाङ्गन में कनात में रख कर, हाथ भर का छेद कर नगरबासियों को इकट्ठा कर, हाथ के स्पर्श से चोर को पकड़वाओ।" राज-पुरुष वैसा करने के लिए उसके पास पहुँचे, तो उसकी शक्ल ही देखरर उन्हें घृणा हो गयी। वे बोले, "यह पिशाची है।" घृणा के मारे वे उसे छू नहीं सके। किन्तु वे उसे ले आये और राजाङ्गन में कनात के अन्दर रख सारे नगर वासियों को इकट्ठा किया। जो जो आता और छेद में से हाथ आगे बढ़ाता, वह उस-उस के हाथ का स्पर्श करके कहती, "यह नहीं।" आदमी उसके दिव्य-स्पर्श सदृश स्पर्श में आसक्त हो उसे छोड़ कर न जा सकते। वे सोचते, "यदि यह दण्डनीय है, तो इसका दण्ड चुकाकर भी, इसे दासी, काम करने वाली बनाकर भी घर ले चलेंगे।" राजपुरुषों ने उन्हें डण्डे से पीट कर हटाया। उपराज से लेकर सभी पागल से हो गये। तब राजा ने "शायद मैं होऊँ" कह हाथ बढ़ाया। उसका हाथ पकड़ते ही वह चिल्लायी, मैंने चोर पकड़ लिया।" राजा ने उन आदमियों से पूछा, "जब इसने तुम्हारे हाथ को पकड़ा तो तुम क्या सोचने लगे !" उन्होंने यथार्थ बात कह दी ! तब राजा बोला, "मैंने अपने घर लाने के लिए ही ऐसा किया। अन्यथा इसके स्पर्श से अपरिचित तुम मेरी निन्दा करते। इसलिए मैंने तुम सबको स्पर्श करा दिया। अब बताओ, यह किसके घर रहने योग्य है?"

उसका अभिषेक कर उसे पटरानी बनाया गया। उसके माता-पिता को भी ऐश्वर्य दिलाया गया। तब से वह उसमें इतना आसक्त हुआ कि न इजलास लगाता और न किसी दूसरी स्त्री की ओर देखता। वे भेद डालने का अवसर देखने लगीं।

उसे एक दिन स्वप्न में दो की पटरानी होने का लक्षण दिखायी दिया। उसने राजा से कहा। राजा ने स्वप्न की व्याख्या करने वालों को बुला कर

पूछा, "इस प्रकार का स्वप्न दिखायी देने पर क्या होता है ?" उन्होंने दूसरी स्त्रियों से रिश्वत लेकर उत्तर दिया, "महाराज ! देवी का सर्वश्वेत हाथी पर बैठे दिखायी देना तुम्हारे मरण का पूर्व लक्षण है और हाथी के कन्धे पर बैठे-बैठे चन्द्र का स्पर्श करना तुम्हारे शत्रु–राजा के आगमन का पूर्व लक्षण है।" राजा ने पूछा, "अब क्या करना चाहिए !" "देव ? उसे मार नहीं सकते। इसे नौका पर चढ़ा नदी में बहा देना योग्य है।" राजा ने आहार, वस्त्र और अलंकारों सहित उसे रात को नौका में बिठा नदी में छोड़ दिया। वह नदी में बहती हुई, नीचे जहाँ पावारिय राजा नौका में बैठा जल-क्रीड़ा कर रहा था, उसके सामने जा लगी। उसके सेनापति ने नौका देखते ही कहा, "यह नौका मेरी है।" राजा बोला, "नौका के भीतर का सामान मेरा है।" नौका के पास आने पर उसे देख पूछा, "पिशाचिन् सी तू कौन है ?" उसने मुस्कुरा कर बक राजा की पटरानी होने की बात कह सारी कथा कह सुनायी : वह पञ्चपापा सारे जम्बुद्वीप में प्रसिद्ध थी। राजा ने उसे हाथ से ऊपर उठाया। हाथ में लेते ही स्पर्श-राग के वशीभूत हो दूसरी स्त्रियों को स्त्री तक न मान, उसे पटरानी बना दिया। वह उसे प्राणवद् प्यारी हो गयी।

बक को जब यह समाचार मिला तो बोला "मैं उसे अपनी पटरानी नहीं बनाने दूंगा।" उसने सेना तैयार की और नदी के दूसरे तट पर उसके मुकाबिले पड़ाव डाल संदेश भिजवाया "या तो मेरी भार्या दे दे अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाये।" वह युद्ध के लिए तैयार हो गया। दोनों राजाओं के आमात्यों ने सोचा, "स्त्री के लिए मरना योग्य नहीं है। पूर्व-स्वामी होने से यह बक की है और नौका में मिलने से पावारिय की। इसलिए एक एक सप्ताह एक एक के घर में रहे।" आपस में मंत्रणाकर उन्होंने राजाओं को समझाया। वे दोनों प्रसन्न हुए और उन्होंने नदी के दोनों तटों पर आमने सामने नगर बसा लिए। वह दोनों की पटरानी हो गयी। दोनों उसपर मस्त हो गये। वह एक के घर में सप्ताह भर रहकर नौका से दूसरे के घर जाती। नौका खेकर ले जाने वाले बूढ़े लँगड़े-लूले मल्लाह के साथ नदी के बीच में पाप-कर्म करती। उस समय कुणाल पक्षी-राज बक था। इसलिए इस अपनी देखी बात को लाते हुए उसने कहा—

वकस्त च पावारिकस्स रञ्ञो
अच्चन्तका मानुगतस्स भरिया
अवाचरी वद्धवमानुगस्स
कं वा इत्थी नातिचरे तदञ्ञं ॥२२॥

[अत्यन्त कामुक राजा बक तथा पावारिक की रानी ने जब अपने वश में आये भेजने वाले के साथ अनाचार किया तो स्त्री और किसके साथ अनाचार नहीं करेगी ? ॥२२॥]

और भी। पूर्व समय में ब्रह्मदत्त की भार्या का नाम था पियङ्गानि। झरोखा खोलने पर उसने मंगल—घोड़े के साईस को देखा। राजा के सो जाने पर वह झरोखे से उतरी और उसके साथ रमण कर फिर महल पर चढ़, शरीर पर सुगन्धित-चूर्ण मल, राजा के साथ जा लेटी। एक दिन राजा ने सोचा, "क्या बात है कि देवी का शरीर रोज रोज आधी रात के समय ठण्डा होता है ? मैं इसका पता लगाऊँगा"। एक दिन वह निद्रित की तरह पड़ रहा और जब वह उठ कर जाने लगी तो उसके पीछे पीछे हो लिया। जब उसने देखा कि वह साईस के साथ रमण करती है, तो वह वापिस आ कर शैय्या पर लेट रहा। वह भी रमण कर आकर छोटी चारपाई पर लेट रही। अगले दिन राजा ने उसे अमात्यों के बीच ही बुला उसका कर्म प्रकट किया। 'फिर सभी स्त्रियाँ पापिन होती हैं' सोच उसका वध करने योग्य, बेड़ी डालने योग्य अंगहीन कर देने योग्य दोष को क्षमा कर उसे पदच्युत कर, दूसरी स्त्री को पटरानी बनाया। उस समय कुणाल राजा ही ब्रह्मदत्त था। इसलिए अपनी देखी बात ही लाकर उसने कहा—

पिंगियानि सब्बलोकिस्सास्स
रञ्ञो पिया ब्रह्मदत्तस्स भरिया
अवाचरी बद्धवसानुगस्स
तं वापि सा नाज्झग कामकामिनी ॥२३॥

[सर्व लोकेश्वर ब्रह्मदत्त राजा की प्रिया भार्या ने वशीभूत के साथ अनाचार किया। उस कामुका ने उसे भी नहीं छोड़ा ॥२३॥]

पूर्व (-जन्म) की कथाओं द्वारा स्त्रियों के दोष कह और भी तरह से उनके दोष प्रकट करते हुए कहा—

खुद्दानं लहुचित्तानं अकतञ्ञूनं दूभिनं
नादेवसत्तो पुरिसो थीनं सद्धातुं अरहति ॥२४॥
न ता पजानन्ति कतं न किच्चं
न मातरं पितरं भातरं वा
अनरिया समतिक्कन्तधम्मा
सस्सेव चित्तस्स वसं वजन्ति ॥२५॥

चिरानुवुत्थं पि पियं मनापं
अनुकम्पकं पाणसमं पि सन्तं
आवासु किच्चेसु च नं जहन्ति
तस्माहं इत्थीनं न विस्सासामि ॥२६॥
थीनं हि चित्तं यथा वानरस्स
कन्नप्पकन्नं यथा रुक्खछाया
चलाचलं हदयं इत्थियानं
चक्कस्स नेमि विय परिवत्तति ॥२७॥
यदा न पस्सन्ति समेक्खमाना
आदेय्यरूपं पुरिसस्स वित्तं
सण्हाहि वाचाहि नयन्ति-मेतं
कम्बोजका जलजेनेव अस्सं ॥२८॥
यदा न पस्सन्ति समेक्खमाना
आदेय्यरूपं पुरिसस्स वित्तं
समन्ततो नं परिवज्जयन्ति
तिण्णो नदीपारगतो व कुल्लं ॥२९॥
सिलेसूपमा सिखिरिवा सब्बभक्खा
तिक्खा भया नदी-रिव सीघसोता
सेवन्ति हेता पियं अप्पियं च
नावा यथा ओरकूलं परं च ॥३०॥

न ता एकस्स वा द्विन्नं आपणो व पसारितो
य ता मय्हं ति मञ्ञेय्य वातं जालेन बाधये ॥३१॥

यथा नदी च पन्थो च पानागारं सभा पपा
एवं लोकित्थियो नाम, वेला तासं न विज्जति ॥३२॥

धतासन समा हेता कण्डसप्पसिरुपमा
गावो बहितिण्णस्सेव ओमसन्ति वरं वरं

धतासनं कुञ्जरं कण्हसप्पं
मुद्धाभिसित्तं पमदा च सब्बा
एते न सो निच्चयत्तो भजेथ
तेसं भवे दुब्बिदु सब्बभावो ॥३४॥

नाच्चन्तवण्णा न बहून कन्ता
न दक्खिणा पमदा सेवितब्बा
न परस्स भीत्या न धनस्स हेतु
एतित्थियो पञ्च न सेवितब्बा ॥३५॥

[जिस आदमी के सिर भूत न आया हो ऐसे किसी भी आदमी के लिए यह उचित नहीं है कि वह क्षुद्र, शीघ्र परिवर्तनशील, अकृतज्ञ तथा (मित्र-) द्रोही स्त्रियों का विश्वास करे ॥२४॥ ये उपकार को पहचानती हैं और न कर्तव्य को, न माता को, पिता को और न भाई को। ये निर्लज्ज, धर्म की सीमा को लाँघने वाली, अपने चित्त के ही वश में हो जाती हैं ॥२५॥ जो चिरकाल तक साथ रहा हो, जो प्रिय हो, जो मन को अच्छा लगने वाला हो, जो अनुकम्पा करने वाला हो तथा जो प्राण के समान हो, ऐसे पुरुष को भी ये आपत्ति आ पड़ने पर, काम आ पड़ने पर छोड़ देती हैं। इसलिए मैं स्त्रियों का विश्वास नहीं करता ॥२६॥ स्त्रियों का चित्त वानर के चित्त के समान होता है, वह वृक्ष की छाया की तरह ऊँचा-नीचा होता है। स्त्रियों का चित्त चंचल होता है। वह चक्र की नेमी की तरह ऊपर नीचे आता जाता रहता है ॥२७॥ जब इन्हें खोजते-खोजते कहीं किसी पुरुष के पास ऐसा धन दिखायी देता है जो उससे लिया जा सकता है तो वह उसे चिकनी चुपड़ी बातों से ऐसे ही फँसा लेती हैं जैसे कम्बोज-वासी शैवाल से घोड़ों को ॥२८॥ जब इन्हें खोजते-खोजते कहीं किसी पुरुष के

पास ऐसा धन नहीं दिखायी देता जो उससे लिया जा सकता हो, तो वह उसे वैसे ही छोड़ देती हैं जैसे नदी पार हो जाने पर आदमी नौका को ॥२९॥ श्लेषोपम, अग्नि-शिखा के समान सर्वभक्षी, तीक्षण, नदी की तरह वेगवती स्त्रियाँ प्रिय-अप्रिय सभी का उसी प्रकार सेवन करती हैं जैसे नौका इस पार तथा उस पार का भी ॥३२॥ जिस प्रकार खुली हुई दुकान किसी एक या दो आदमियों की नहीं होती उसी प्रकार स्त्रियाँ भी किसी एक या दो की नहीं होतीं। जो पुरुष उन्हें अपनी समझे वह जाल से हवा को भी बाँध सकता है ॥३१॥ जैसे नदी, रास्ता, पानागार, सभा तथा प्याउ, वैसे ही स्त्रियाँ। इनका कोई खास समय नहीं ॥३२॥ ये अग्नि के समान हैं, ये कृष्ण-सर्प के फन के समान हैं, ये नयी-नयी घास की इच्छा करने वाली गौओं के समान हैं ॥३३॥ अग्नि, हाथी; काले सर्प, राजा तथा सभी स्त्रियों का कभी भी पूर्ण विश्वास न करें। उनका स्वभाव दुर्ज्ञेय ही रहता है ॥३४॥ न अन्यत्त रूपवती; न अनेकों की प्रिया, न अति दक्ष स्त्री का सेवन करे और न परायी स्त्री का तथा न धन के लिए संगति करने वाली का। इन पाँच प्रकार की स्त्रियों की संगति न करे ॥३५॥]

ऐसा कहने पर जनता ने बोधिसत्व को साधुवाद दिया—"ओह ! सुकथित है।" वह इस प्रकार स्त्रियों के अवगुण कह कर चुप हो गया।

यह सुन आनन्द गृध्र-राज ने 'मित्र कुणाल-राज ! मैं भी अपने ज्ञान-बल से स्त्रियों के दुर्गुण कहता हूँ' कह उनके अवगुण आरम्भ किये।

इस बात को प्रकट करते हुए भगवान् ने कहा-तब आनन्द गृध्र-राज ने कुणाल पक्षी की कथा का आदि, मध्य तथा अवसान जानकर उस समय ये गाथायें कहीं—

पुण्ण पि चे मं पठवि धनेन
दज्ज इत्थिया पुरिसो सम्मताय
लद्धा खणं अति मञ्ञेय तं पि
तासं वसं असतीनं न गच्छे ॥३६॥
उट्ठाहकञ्च पि अलीनवुत्ति
कोमारभत्तारं पियं मनापं

आवासु किच्चेसु न नं जहन्ति
तस्मा हि इत्थीनं न विस्ससामि ॥३७॥

न विस्ससे इच्छति मं ति पोसो
न विस्ससे रोदति मे सकासे
सेवन्ति हेता पियं अप्पियं च
नावा यथा ओर कुलं परं च ॥३८॥

न विस्ससे साखपुराणसन्थतं
न विस्ससे मित्तपुराणचोरं
न विस्ससे राजा सखा ममं ति
न विस्ससे इत्थि दसन्नं मातरं ॥३९॥

न विस्ससे रामकरासु नारिसु
अच्चन्त सीलासु असञ्ञतासु
अच्चन्तपेमानुगतस्स भरिया
न विस्ससे तित्थसमा हि नारियो ॥४०॥

हनेय्यु छिन्देय्युं पि छेदयेय्युं
कण्ठं पि छेत्वा रुधिरं पिवेय्युं
मा दीनकामासु असञ्ञतासु
भावं करे गङ्गतित्थूपमासु ॥४१॥

मुसा तासं यथा सच्चं सच्चं तासं यथा मुसा
गावो बहितिणस्सेव ओमसन्ति वरं वरं ॥४२॥

गतेन एता पलोभेन्ति पेक्खितेन मिहितेन च
अथो पि दुन्निवत्थेन मञ्जुना भणितेन च ॥४३॥

चोरियो कठिना हेता वाळा च लपसक्खरा
न ता किञ्चि न जानन्ति यं मनुस्सेसु वञ्चनं ॥४४॥

असा लोकित्थियो नाम वेला तासं न विज्जति,
सारत्ता च पगब्भा च सिखी सब्बघसो यथा ॥४५॥

नत्थ इत्थीनं पियो नाम अप्पियो पि न विज्जति,
सेवन्ति हेता पियं अप्पियं च
नावा यथा ओरकुलं परं च ॥४६॥
नत्थ इत्थीनं पियो नाम अप्पियो पि न विज्जति,
धनत्ता पतिवेल्लन्ति लता व दुमनिस्सिता ॥४७॥
हत्थिबन्धं अस्सबन्धं गोपुरिसं च चण्डालं
छवडाहकं [रेप्फछड्डुकं]
सधनं अनुपतन्ति नारियो ॥४८॥
कुलपुत्तं पि जहन्ति अकिञ्चनं छवकसमं
सदिसं अपि गच्छन्ति [अनुपतन्ति] धनहेतु नारियो ॥४९॥

[यदि यह सारी पृथ्वी धन से पूर्ण हो और पुरुष अनुरक्त होने के कारण उसे स्त्री को दे दे । समय आने पर वह उस पुरुष को भी अवहेलना करेगा। इसलिए असतियों के वश न हो ॥३६॥ उत्साही, आलस्य-रहित, प्रिय, मनोरम कुमार-पति को भी वे आपत्ति आने पर, मौका पड़ने पर छोड़ देती हैं। इसलिए मैं स्त्रियों का विश्वास नहीं करता ॥३७॥ 'मुझे चाहती है' समझकर पूरुष स्त्री का विश्वास न करे, "मेरे पास रोती है" समझ कर पुरुष स्त्री का विश्वास न करे । ये प्रिय तथा अप्रिय सभी का उसी प्रकार सेवन करती हैं जैसे नौका इस पार और उस पार का ॥३८॥ पुराने पत्तों वाली शाखा का विश्वास न करे, पुराने मित्र चोर का विश्वास न करे, 'मेरा साथी है' समझकर राजा का विश्वास न करे और 'दस सन्तानों की माता है' समझ कर स्त्री का विश्वास न करे ॥३९॥ मूर्खों की रति-भाजन, शील-अतिक्रान्त, असंयत नारियों का विश्वास न करे । 'अत्यन्त प्रेमानुगत भार्या है' समझ कर भी विश्वास न करे । नारियाँ तीर्थों के समान सर्व-साधारणा होती हैं ॥४०॥ ये मार भी डाल सकती हैं, काट डाल सकती हैं, कटवा डाल सकती हैं और गला काट कर खून भी पी सकती हैं, इन हीन विचार वाली असंयत नारियों का कभी विश्वास न करे । क्योंकि ये गंगा (नदी) के तीर्थ के समान एवं साधारण हैं ॥४०॥ उनका झूठ भी सत्य जैसा है और सत्य भी झूठ जैसा है । वे गउओं के नित्य नया घास खोजने की तरह अच्छा-अच्छा खोजती हैं ॥४२॥ वे चाल से, नजर से, मुस्कराहट से, वस्त्र और मधुर वाणी से लुभाती

हैं ॥४३॥ चौरणि, कठोर हृदया, दुष्टा तथा मधुर भाषिणी––ये मनुष्यों के ठगने को कुछ समझती ही नहीं ॥४४॥ लोक में स्त्रियाँ असति होती हैं, उनका कोई समय नहीं। वे सभी पर अनुरक्त होने वाली तथा प्रगल्भा होती हैं, अग्नि शिखा के समान सभी को ग्रहण करने वाली ॥४५॥ स्त्रियों का प्रिय अप्रिय कोई भी नहीं। जिस प्रकार नौका इस तीर तथा उस तीर दोनों का स्पर्श करती है, उसी प्रकार ये प्रिय तथा अप्रिय दोनों का सेवन करती हैं ॥४६॥ स्त्रियों का प्रिय अप्रिय कोई नहीं, धन के लिए वे किसी के भी साथ वैसी ही लिपट जाती हैं जैसे लता पेड़ के साथ ॥४७॥ धन के लिए नारियाँ हथवान, साइस, ग्वाले, चाण्डाल, मुर्दा जलाने वाले तथा भंगी (तक) के पास चली जाती हैं ॥४८॥ अकिंचन होने से, स्त्रियाँ कुलपुत्र का भी त्याग कर देती हैं और धन के लिए चाण्डाल-समान पुरुण के पास भी चली जाती हैं ॥४९॥

इस प्रकार अपने प्रान के अनुसार आनन्द गृध्र-राज ने स्त्रियों के दुर्गुण कहे और चुप हो गया। उसकी बात सुन नारद ने भी अपने ज्ञान के अनुसार उनके अवगुण कहे।

उन्हें प्रकट करते हुए शास्ता ने कहा––तब उस समय नारद देव-ब्राह्मण ने आनन्द गृध्रराज की कथा का आदि, मध्य तथा अवसान जान कर ये गाथायें कहीं—

चत्तारो मे न पूरेन्ति, ते मे सुणाथ भासतो
समुद्दो ब्राह्मणो राजा इत्थि चापि दिजम्पति ॥५०॥

सरिता सागरं यन्ति या काचि पथविं सिता
ता समुद्दं न पुरेन्ति, ऊनत्ता हि न पूरति ॥५१॥

ब्राह्मणो च अधियानं वेदं अक्खानपञ्चमं
भिय्यो पि सुतं इच्छेय्य, ऊनत्ता हि न पूरति ॥५२॥

राजा च पठविं सब्बं ससमुद्दं सपब्बतं
अज्झावसे विजिनित्वा अनन्तरतनोचितं
पारं समुद्दं पत्थेति, ऊनता हि न पूरति ॥५३॥

एकमेकाय इत्थिया अट्ठअट्ठ पतिनो सिया
सूरा च बलवन्ता च सब्बकामवसाहरा,
करेय्य नवमे छन्दं, ऊनत्ता हि न पूरति ॥५४॥

सब्बित्थियो सिखिरिव सब्बभक्खा
सब्बित्थियो नदिरिव सब्बवाही
सब्बित्थियो कण्टकानं पसाखा
सब्बित्थियो धनहेतु वजन्ति ॥५५॥

वातं जलेन परो परामसे
ओसिञ्चिया सागरं एकपाणिना
सकेन तालेन हनेय्य घोसनं
यो सब्ब भावं पमदासु ओस्सजेय्य ॥५६॥

चोरीनं बहुबुद्धीनं यासु सच्चं सुदुल्लभं
थीनं भावो दुराजानो मच्छस्सेवोदके गतं ॥५७॥

अनला मुदुसम्भासा दुप्पूरा ता नदीसमा
सीदन्ति, नं विदित्वान आरका परिवज्जये ॥५८॥

आवट्टनी महामाया ब्रह्मचरियविकोपना
सीदन्ति, नं विदित्वान आरका परिवज्जये ॥५९॥

यं एता उपसेवन्ति छन्दसा वा धनेन वा
जातवेदो व संठानं खिप्पं अनुडहन्ति नं ॥६०॥

[हे द्विजपति ! मेरा कहना सुन। समुद्र, ब्राह्मण, राजा तथा स्त्री—इनकी कभी तृप्ति नहीं होती ॥५०॥ पृथ्वी पर जितनी नदियाँ हैं वे सभी सागर में जा कर गिरती हैं, किन्तु वे समुद्र को नहीं भरती, न्यूनता के कारण पूर्ति नहीं होती ॥५१॥ ब्राह्मण (चार) वेद, पाँचवें इतिहास के अतिरिक्त और भी श्रुतिज्ञान की इच्छा करता है, न्यूनता के कारण तृप्ति नहीं होती ॥५२॥ ससमुद्र नथा सपर्वत अनन्त रतनों की राशि सारी पृथ्वी को जीत कर भी राजा समुद्र पार जीतने की भी इच्छा करता है, न्यूनता के कारण पूर्ति नहीं होती ॥५३॥ यदि एक एक स्त्री के शूर, बलवान् तथा सभी कामनायें पूरी

करने वाले आठ-आठ भी पति हों तो वह नौवें की इच्छा करती हैं, न्यूयनता के कारण पूर्ति नहीं होती ॥५४॥ सभी स्त्रियाँ नदी की तरह सर्वभक्षिणी होती हैं; सभी स्त्रियाँ नदी की तरह सभी को बहा ले जाने वाली होती हैं; सभी स्त्रियाँ काँटों की झाड़ी होती हैं; और सभी स्त्रियाँ धन के लिए निकल कर चली जातीं हैं ॥५५॥ जो स्त्रियों का एकान्त विश्वास करे वह जाल से हवा को रोके, एक हाथ से सागर को उलीचे तथा एक हाथ से ताली बजाये ॥५६॥ जिस प्रकार पानी में गयी मछली का पता नहीं लगता उसी प्रकार चौरिणी, बहु बुद्धिमान स्त्रियों का भी भाव दुर्ज्ञेय है, क्योंकि उनमें सत्य दुर्लभ है ॥५७॥ झूठ बोलने वाली, मधुर बोलने वाली, नदी के समान भरी ही न जा सकने वाली स्त्रियाँ डूबती हैं--ऐसा जान कर उनसे दूर ही दूर रहे ॥५८॥ जादूगरनी, महामायाविनी, ब्रह्मचर्य्य को कुपित करने वाली स्त्रियाँ डूबती हैं—ऐसा जान कर उनसे दूर ही दूर रहे ॥५९॥ जो-जो रोग से अथवा धन से इनका सेवन करते हैं, उन्हें ये अग्नि की तरह शीघ्र ही जला डालती हैं ॥६०॥]

इस प्रकार नारद के स्त्रियों के दोष करने पर बोधिसत्व ने विशेष प्रकार से उनके दोष कहे।

यह प्रकट करने के लिए शास्ता ने कहा--जब उस समय कुणाल शकुन ने नारद देव-ब्राह्मण के कथन का आदि, मध्य तथा अन्त जान कर ये गाथायें कहीं—

सल्लपे निसितखग्गपाणिना
पण्डितो अपि पिसाचदोसिना
उग्गतेजउरगं पि आसिदे
एको एकपमदं हि नालपे ॥६१॥
लोकचित्तमथना हि नारियो
नच्चगीतभणितमिहितावुधा
बाधयन्ति अनुपट्ठितासति
दीपे रक्खसिगणो व वाणिजे ॥६२॥
नत्थि तासं विनयो न संवरो
मज्जमंसनिरता असञ्ञता
ता गिलन्ति पुरिसस्स पाभतं
सागरे व मकरं तिमिङ्गिलो ॥६३॥

पञ्चकामगुणसातगोचरा
उद्धता अनियता असञ्ञता
ओसरन्ति पमदा पमादिनं
लोणतोय वतियं व आपका ॥६४॥
यं नरं उपरमन्ति नारियो
छन्दसा च रतिया धनेन वा
जातवेद सदिसं पि तादिसं
रागदोसवतियो डहन्ति नं ॥६५॥
अड्ढं ञत्वा पुरिसं महद्धनं
ओसरन्ति सधनं सह अत्तना
रत्तचित्तं अतिवेठयन्ति नं
साल मालुवलता कानने ॥६६॥
ता उपेन्ति विविधेन छन्दसा
चित्रबिम्बमुखियो अलंकता
ऊहसन्ति पहसन्ति नारियो
संवरो व सति मायकोविदा ॥६७॥
जातरूपमणिमुत्तभूसिता
सक्कता पतिकुलेसु नारियो
रक्खिता अतिचरन्ति सामिकं
दानवं व हदयन्तरस्सिता ॥६८॥
तेजवापि हि नरो विचक्खणो
सक्कतो बहुजनस्स पूजितो
नारिनं वसगतो न भासति
राहुना उपगतो व चन्दिमा ॥६९॥
यं करेय्य कुपितो दिसो दिसं
दुट्ठचित्तो वसं आगतं अरि
तेन भिय्यो व्यसनं निगच्छति
नारिनं वसगतो अपेक्खवा ॥७०॥

केसलूननखछिन्नतज्जिता
पादपाणिकसदण्डताळिता
हीनं एव उपगता हि नारियो
ता रमन्ति कुणपे व मक्खिका ।।७१।।
ता कुलेसु विसिखन्तरेसु वा
राजधानिनिगमेसु वा पुन
ओड्डितं नमुचि पासवाकरं
चक्खुना परिवज्जे सुखत्थियो ।।७२।।
ओसजित्व कुसलं तपो गुणं
यो अनरिय चारितानि-म-आचरि
देवताहि निरयं निमिस्सति
छेदगामि मणियं व वाणिजो ।।७३।।
सो इध गरहितो परत्थ च
दुम्मती उपगतो सकम्मुना
गच्छति अनियतो गळागळं
दुट्ठगद्रभरथो व उप्पथे ।।७४।।
सो उपेति निरयं पतापनं
सत्तिसिम्बलिवनञ्च-म-आयसं
आवसित्वा [न] तिरच्छान योनियं
पेतराजविसयं न मुञ्चति ।।७५।।
दिब्बखिड्डरतियो च नन्दने
चक्कवति चरितं च मानुसे
नासयन्ति पमदा पमादिनं
दुग्गतिं च पटिपादयन्ति नं ।।७६।।
दिब्बखिड्डरतियो न दुल्लभा
चक्कवत्तिचरितं च मानुसे
सोवण्णब्यम्हनिलया व अच्छरा
ये चरन्ति पमदाहं अनत्थिका ।।७७।।

कामधातुसमतिक्कमा गति
रूपधातुया भावो न दुल्लभो
वीतराग विसयुपपत्तिया
ये चरन्ति पमदाहं अनत्थिका ॥७८॥

सब्बदुक्खसमतिक्कमं सिवं
अच्चन्तं अचलितं असंखतं
निब्बुतेहि सुचि ही न दुल्लभं
ये चरन्ति पमदाह अनत्थिका ॥७९॥

[पण्डित को चाहिए कि वह भले ही सिर पर तलवार लिये आदमी से बात कर ले, भले ही क्रोधित पिशाच से बात कर ले, भले ही भयानक सर्प के पास चला जाय; किन्तु अकेला अकेली स्त्री से कभी बात न करे ।६१॥ नृत्य, गीत, वाणी तथा मुस्कराहट रूपी आयुध से लोक के चित्त को मथ डालने में समर्थ नारियाँ अनुपस्थित स्मृति-जन को उसी प्रकार पीड़ित करती हैं जैसे द्वीप की राक्षसियों ने व्यापारियों को ॥६२॥ उनमें न विनय होती है और न संयम होता है । वे असंयमी (नारियाँ) मद्य-मांस भक्षण में रत रहती हैं । जिस प्रकार सागर में (सब से बड़ी) तिमिंगल मछली मगर को निगल जाती है, उसी प्रकार ये पुरुष के धन को निगल जाती हैं ॥६३॥ पञ्च काम भोगों के मजे को खोजने वाली उद्धत, अनियत, असंयत नारियाँ प्रमादी पुरुष के पास वैसे ही जाती हैं जैसे नदियाँ समुद्र के पास ॥६४॥ प्रेम, रति अथवा धन के हेतु से जिस पुरुष के साथ नारियाँ रमण करती हैं, उस अग्नि समान पुरुष को भी वे रागद्वेष के वशीभूत हो जला डालती हैं ॥६५॥ यह जान लेने पर कि पुरुष बहुत धनी है वे अपने धन के साथ उसके पास पहुँचती हैं और तब वे उस अनुरक्त चित्त को ऐसे लिपटती हैं जैसे कानन में पालुव लता शाल वृक्ष को ॥६६॥ वे चित्र-विचित्र शरीर वाली, अलंकृत, मायाविनी, संयम-रहित नारियाँ नाना ढँग के द्वन्द्व से समीप आती हैं । वे हँसती हैं और मुस्कराती हैं ॥६७॥ सोने, माणिक्य-मोती से विभूषित, पति-कुलों में आदृत नारियाँ स्वामी के साथ अतिचार करती हैं जैसे दानव द्वारा हृदय में छिपा कर रखी हुई नारी ने किया ॥६८॥ तेजस्वी, बुद्धिमान्, सत्कृत,

बहुत जनों द्वारा पूजित आदमी भी नारियों के वशीभूत होने पर मन्द-प्रभा हो जाता है जैसे राहु से ग्रसा हुआ चन्द्रमा ।।६९।। क्रोधी, दुष्ट-चित्त शत्रु अपने वश में आये शत्रु की जितनी हानि करता है उससे भी कहीं अधिक उस आदमी की हानि होती है जो तृष्णा के कारण स्त्रियों के वश में हो जाता है ।।७०।। खींच कर बाल उखाड़ दिये गये, नखों से शरीर छील दिया गया, तर्जित; पाँव, हाथ, चाबुक तथा डण्डे से ताड़ित होने पर भी नारियाँ हीन-पुरुष के पास जाती हैं जैसे मक्खियाँ लाश में रमण करती हैं ।।७१।। वे स्त्रियाँ (वास्तव में) कुलों में, गलियों में, राजधानियों में अथवा निगमों में मार द्वारा फैलाये गये जाल हैं । सुखार्थी बुद्धिमान को उससे बचना चाहिए ।।७२।। जो तप का त्याग कर अनार्याचरण करता है वह देवताओं द्वारा नरक में भेज दिया जाता है जैसे महार्घ वस्तु दे कर छिद्र-युक्त मणि को प्राप्त करने वाला बनिया ।।७३।। वह मूर्ख अपने कर्म के कारण यहाँ और वहाँ दोनों लोक में निन्दित होता है तथा देव-लोक और मनुष्य-लोक से च्युत होकर अनिश्चित काल के लिए नरक में जाता है जैसे दुष्ट गर्दभ वाली गाड़ी ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर ।।७४।। वह तपन-शील नरक को प्राप्त होता है, शक्ति सदृश अयस-निर्मित काँटों वाले सिम्ब-लिवन को । वह पशु योनि को प्राप्त हो, प्रेत-योनि तथा असुर-योनि से मुक्त नहीं होता ।।७५।। स्त्रियाँ प्रमादियों की नन्दन वन की दिव्य-क्रीड़ा-युक्त रति तथा मनुष्य-लोक के चक्रवर्ती चरित का नाश कर देती हैं और उनकी दुर्गति का कारण होती हैं । ७६।। जो स्त्रियों के प्रति अनासक्त रहते हैं उन्हें दिव्य-क्रीड़ा-रति भी दुर्लभ नहीं और मनुष्य-लोक में चक्रवर्ती राज्य भी दुर्लभ नहीं तथा स्वर्णमय-विमानों में रहने वाली अप्सराएँ भी दुर्लभ नहीं ।।७७।। जो स्त्रियों के प्रति अनासक्त रहते हैं उन्हें काम-धातु के अतिक्रमण से प्राप्त होने वाली गति तथा रूप-धातु का भाव भी दुर्लभ नहीं और वीतरागों का उत्पत्ति स्थान शुद्धवास लोक भी दुर्लभ नहीं ।।७८।। जो स्त्रियों के प्रति अनासक्त रहते हैं उन पवित्र वैरागियों को सब दुःखों का अन्त-स्वरूप, शिव-स्वरूप, अविनाश-स्वरूप, स्थिर-स्वरूप, असंस्कृत निर्वाण भी दुर्लभ नहीं ।।७९।।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने अमृत महानिर्वाण तक धर्मोपदेश ले जाकर समाप्त किया । हिमालय में किन्नर-महासर्प आदि ने तथा आकाश-स्थित देवताओं ने 'ओह ! बुद्ध लीला का कथन' कह साधुकार दिया । गृध्रराज आनन्द, देव-

ब्राह्मण नारद, पूर्ण-मुख तथा पुष्य-कोकिल अपनी-अपनी परिषद् ले यथा स्थान गये। बोधिसत्व भी अपनी जगह चला गया। अन्य (जन) बीच-बीच में आकर बोधिसत्व के पास उपदेश ग्रहण कर, तदनुसार चल, स्वर्ग-परायण हुए।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला जातक का मेल बैठाते हुए अन्तिम गाथा कही—

> कुणालोहं तथा आसिं, उदायी फुस्सकोकिलो
> आनन्दो गिज्झराजासि, सारिपुत्तो च नारदो,
> एवं धारेथ जातकं ॥८०॥

[उस समय मैं कुणाल था, उदायी पुष्य-कोकिल था, आनन्द गृध्रराजा था तथा सारिपुत्र नारद था—उसी प्रकार जातक को ग्रहण करना चाहिए ॥८०॥]

वे भिक्षु जाते समय शास्ता के प्रताप से गये, आते समय अपने-अपने प्रताप से ही आये। शास्ता ने महावन में उन्हें योग-विधि बतायी। वे उसी दिन अर्हत्व को प्राप्त हुए। देवताओं का बड़ा जोड़-मेला हुआ! तब बोधिसत्व ने महासमय सुत्त का उपदेश दिया।

⊙

५३७. महासुतसोम जातक

"कस्मा तुवं . . ." यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय अंगुलि-माल स्थविर के बारे में कही।

क. वर्तमान कथा

उसका जन्म तथा प्रव्रज्या अंगुलिमाल सूत्र के वर्णन-क्रम के अनुसार जाननी चाहिए। उसने सत्य-बल से मूढ़-गर्भा स्त्री को चंगा किया। उसके बाद से उसे भिक्षा अत्यन्त सुलभ हो गयी। वह एकान्तवास करने लगा और आगे चलकर अर्हत्व लाभ कर अस्सी महास्थविरों में से एक प्रसिद्ध स्थविर हुआ। उस समय धर्मसभा में बातचीत चली, 'आयुष्मानों! ओह! भगवान् ने वैसे रौद्र, रक्त-पाणी, महान् चोर अंगुलिमाल का बिना डण्ड से, बिना शस्त्र से दमन कर, उसे निर्विष बना, बड़ा दुष्कर कर्म किया। ओह! बुद्धों की दुष्कर-कारिता!" शास्ता ने गन्धकुटी में बैठे दिव्य-श्रोत से बात-चीत सुनी तो सोचा, "आज मेरा जाना बहुत उपकारी हो महान् धर्म-देशना होगी।" यह समझ वे अनुपम बुद्ध-लीला से धर्म सभा में पहुँचे और बिछे आसन पर विराजमान हो बोले, "भिक्षुओं, इस समय बैठे क्या बातचीत कर रहे थे?" "अमुक बातचीत।" भिक्षुओं, इस समय यदि मैंने परमा-भिसम्बोधि-प्राप्त अवस्था होने पर इसका दमन किया तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। मैंने पूर्व-चर्य्या के समय प्रदेश-ज्ञान प्राप्त रहने पर भी इसका दमन किया" कह शास्ता ने पूर्व-जन्म की कथा कही—

ख. अतीत कथा

पूर्व समय में कुरु राष्ट्र में इन्द्र-प्रस्थ नगर में कोरव्य नामक राजा धर्मा-नुसार राज्य करता था। बोधिसत्व उसकी पटरानी की कोख से पैदा हुआ।

श्रुत-धन होने से वह सुतसोम नाम से प्रसिद्ध हुआ। बड़े होने पर राजा ने उसे प्रसिद्ध आचार्य के पास शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला भेजा। वह आचार्य-भाग लेकर, निकल कर मर्गारूढ़ हुआ।

वाराणसी में काशी-नरेश का पुत्र ब्रह्मदत्त कुमार भी उसी प्रकार कहा जाकर पिता द्वारा भेजा गया। वह भी निकल कर उसी मार्ग पर चला। सुतसोम मार्ग चलकर नगर-द्वार की शाला में फट्टे पर विश्राम करने के लिए बैठा। ब्रह्मदत्त कुमार भी जाकर उसके साथ उसी फट्टे पर बैठा। सुतसोम ने उसका स्वागत करते हुए पूछा, "मित्र! रास्ते में थक गये हो, कहाँ से आये हो!"

"वाराणसी से।"

"किसा पुत्र है?"

"ब्रह्मदत्त का।"

"क्या नाम है?"

"ब्रह्मदत्त कुमार।"

"किस उद्देश्य से आया है?"

उसने उत्तर दिया 'शिल्प सीखने के लिए', और यह दूसरे मार्ग चलने से थके हुए को भी उसने उसी प्रकार पूछा। उसने भी सभी कुछ बता दिया। वे परस्पर मित्र बन गये। उन्होंने तय किया कि हम क्षत्रिय हैं। एक ही आचार्य के पास शिल्प सीखने चलें। नगर में प्रविष्ट हो, आचार्य-कुल पहुँच, आचार्य को अभिवादन कर, अपनी जाति प्रकट कर उन्होंने शिल्प सीखने के लिए आने की बात कही। उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। उन्होंने 'आचार्य-भाग' देकर शिल्प सीखना आरम्भ किया। न केवल वे ही, जम्बुद्वीप के और भी एक सौ राजपुत्र उसके पास शिल्प सीखते थे। सुतसोम उनमें ज्येष्ठ-शिष्य हो गया। शिल्प का प्रदर्शन करते हुए वह अचिरकाल में ही पारंगत हो गया। वह कहीं अन्यत्र नहीं गया। 'मेरा मित्र है' सोच उसने ब्रह्मदत्त-कुमार का ही शिष्याचार्य बन उसे शिल्प सिखाया। शेष लोगों का भी क्रमशः विद्याध्ययन समाप्त हुआ। उन्होंने (आचार्य को अपने-अपने प्रदेश में आने का निमंत्रण दिया और प्रणाम करके, सुतसोम के साथ विदा हुए। सुतसोम ने रास्ते पर खड़े हो उन्हें विदा देते समय कहा, "तुम अपने-

अपने पिता को शिल्प दिखा, राज्य पर प्रतिष्ठित होओगे। प्रतिष्ठित होने पर मेरा कहना करना।"

"आचार्य ! क्या ?"

"पक्ष के दिनों में उपोसथ-व्रती होकर हिंसा न करना।"

बोधिसत्व अंग-विद्या से परिचित था। उसने 'भविष्य में वाराणसी-कुमार के कारण महान विपत्ति आयेगी' जान उन्हें इस प्रकार उपदेश दे विदा किया। उन सबने अपने जनपद में पहुँच, पिताओं को शिल्प दिखा, राज्य पर प्रतिष्ठित होने तथा उसके उपदेशानुसार चलने की बात सूचित करने के लिए भेंट सहित पत्र भेजे। बोधिसत्व ने यह समाचार जान 'अप्रमादपूर्वक रहो" कह पत्र भेजे।

उनमें से वाराणसी-नरेश मांस के बिना भोजन न करता था। उसके निमित्त उपोसथ दिन के लिये भी मांस लेकर रखा जाता था। एक दिन इस प्रकार रखा हुआ मांस रसोइए की असावधानी से राज-भवन के बढ़िया जाति के कुत्ते खा गये। रसोइये को जब मांस न दिखायी दिया तो वह कार्षापणों की मुट्ठी लिये मांस खोजता फिरा। तब भी उसे मांस न मिला। वह सोचने लगा, 'यदि बिना मांस का भोजन ले जाता हूँ तो मेरा प्राण नहीं बचेगा, क्या करूँ ?' उसने सोचा, 'एक उपाय है।' वह सन्ध्या समय कच्चे-श्मशान में गया और उसी क्षण मरे पुरुष की जाँघ का मांस लाकर, उसे अच्छी तरह पका कर राजा को दिया। जैसे ही राजा ने उसे जीभ के सिरे पर रखा उसकी जिह्वा ने हजार चटखारे लिये, उसका सारा शरीर चैतन्य हो गया। क्यों ? पहले भी सेवन किया रहने से। उसने ठीक पिछले जन्म में यक्ष होकर बहुत मनुष्य-मांस खाया था। इसलिए वह उसका प्रिय था। उसने सोचा, 'यदि मैं इसे चुपचाप खालूंगा, तो यह मुझे इस मांस का नाम नहीं बतायेगा।" यह सोच उसने थूक के साथ उसे जमीन पर गिरा दिया। "देव ! निर्दोष है, खायें" रसोइया बोला।

"मैं इसके निर्दोष होने की बात जानता हूँ, यह किसका मांस है ?" पूछते हुए उसने और आदमियों को विदा कर दिया।

"देव ! और दिनों जैसा ही मांस है।"

"और दिन यह रस नहीं होता था ?"

"देव ; आज अच्छी तरह पका है ।"

"क्या पहले भी ऐसे ही नहीं पकाता था ?"

उसे चुप देख राजा बोला--"यथार्थ बात कह, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी ।" उसने 'अभय' की याचना कर यथार्थ बात कह दी। तब राजा बोला, ' 'हल्ला मत कर, आज से स्वाभाविक पका हुआ मांस तू स्वयं खाकर, मेरे लिए मनुष्य-मांस ही पकाया कर ।"

"देव ! क्या यह दुष्कर कृत्य नहीं है ?"

"डर मत । दुष्कर कृत्य नहीं है ।"

"रोज-रोज कहाँ पाऊँगा ।"

"क्या कारागार में बहुत मनुष्य नहीं है ?"

उस दिन से वह वैसा ही करने लग गया । आगे चलकर कारागार के मनुष्य समाप्त हो जाने पर उसने पूछा--'अब क्या करूँ ?"

"रास्ते में हजार की थैली फेंको, जो उसे उठाये, उसे 'चोर' बना कर मार डालना ।"

उसने वैसा ही किया । आगे चलकर जब हजार की थैली उठाने वाला भी कोई न दिखायी दिया तो उसने पूछा—

"अब क्या करूँ ?"

"समय-सूचक (?) भेरी वादन के समय नगर में गड़बड़ी होती है। तू घरों के बीच में अथवा चौरास्ते में खड़ा होकर मनुष्य को मार कर मांस ला ।"

उसके बाद से वह स्थूल मांस ले जाता । जहाँ तहाँ लाशें दिखायी देने लगीं ।मनुष्यों का रोने-पीटने का शब्द सुनायी देने लगा, "मेरी माता नहीं दिखायी देती, पिता नहीं दिखायी देता, बहन नहीं दिखायी देती ।" भयभीत नागरिक खोज करने लगे, "इन मनुष्यों को सिंह खाता है, व्याघ्र खाता है अथवा कोई यक्ष खाता है"? फिर जख्मों को देखकर उन्होंने अनुमान लगाया कि मालूम होता है कि कोई मनुष्य खाता है। जनता ने राजाङ्गण में खड़े होकर हल्ला मचाया । राजा बोला—

"तात । क्या बात है ?"

"देव ! इस नगर में मनुष्यों को खाने वाला चोर है, उसे पकड़वायें ।"

"मैं कैसे जानूंगा ? क्या मैं नगर की रखवाली करता घूमता हूँ ?"

नागरिकों ने सोचा, 'राजा को नगर की परवाह नहीं, कालहत्थी सेनापति से कहेंगे। उन्होंने जाकर उसे सब हाल कहा और चोर के खोजने की प्रार्थना की। 'सप्ताह भर प्रतीक्षा करो, खोज करके चोर को दिखाऊंगा' कह लोगों को विदा किया और आदमियों को आज्ञा दी, "तात! नगर में आदम-खोर चोर है। तुम जहाँ-तहाँ छिप कर उसे पकड़ो।" उन्होंने अच्छा कहा और उसके बाद से नगर की खोज रखने लगे। रसोइये ने भी एक घर की दरार में छिपे रहकर एक स्त्री को मार और उसका घना मांस ले एक टोकरी भरना आरम्भ की। तब उन आदमियों ने पकड़ा, पीटा और उसके हाथ पीछे बाँधकर चिल्लाना शुरू किया, "आदम-खोर चोर को पकड़ लिया।" जनता ने घेर लिया। उसकी अच्छी तरह मरम्मत कर, मांस की टोकरी गर्दन से बाँध उसे ले जाकर सेनापति के सामने पेश किया। सेनापति सोचने लगा, "क्या यह स्वयं माँस खाता है, अथवा दूसरे मांस के साथ मिलाकर बेचता है, अथवा किसी दूसरे के कहने से मारता है?" उसने यह बात पूछते हुए पहली गाथा कही—

कस्मा तुवं रसका एदिसानि
करोसि कम्मानि सुदारुणानि,
हनासि इत्थी पुरिसे च मूळ्हो
मंसस्स हेतु अदु धनस्स कारणा ॥१॥

[हे रसोइये। तू इस प्रकार के क्रूर कर्म क्यों करता है? हे मूढ़ पुरुष तू जो स्त्री तथा पुरुषों की हत्या करता है वह मांस के लिए अथवा धन के लिए ॥१॥]

न अत्तहेतु न धनस्स कारणा
न पुत्तदारस्स सहायञातिनं
भत्ता च मे भगवा भुमिपालो
सो खादति मंसं भदन्ते एदिसं ॥२॥

[न अपने लिये, न धन के लिये, न पुत्र-दारा के लिए और न अन्य सम्बन्धियों के लिए। भगवान् भूमिपाल मेरे मालिक हैं। भदन्तो! वह इस प्रकार का माँस खाते हैं ॥]

सेनापति—सचे तुवं भत्त रत्थे-पयुत्तो
करोसि कम्मानि सुदारुणानि
पातो व अन्तेपुरं पापुणित्वा
लपेय्यासि मे राजिनो सम्मुखे तं ॥३॥

[यदि तू स्वामी के लिए यह दारुण कर्म करता है तो क्या कल प्रातःकाल रनिवास में राजा के सम्मुख यह बात कह सकेगा ? ॥३॥]

रसोइया—तथा करिस्सामि अहं भवन्ते
यथा तुवं भाससि कालहत्थी
पातो व अन्तेपुरं पापुणित्वा
वक्खामि ते राजिनो सम्मुखे तं ॥४॥

[भदन्त ! मैं वैसा ही करूँगा, जैसा हे कालहत्थी ! तू मुझे कहता है। मैं प्रातःकाल रनिवास में जाकर राजा के सामने तुझे यह बात कह दूँगा ॥४॥]

सेनापति ने उसे दृढ़-बन्धन में ही सुला, रात के बीतने पर प्रातःकाल मंत्रियों के साथ मन्त्रणा की। उन सबके एक मत हो जाने पर, सभी जगह पहरा रख, नागरिकों को अपने हाथ में कर और रसोइये की गर्दन में भी मांस की टोकरी बाँध, वह राज-भवन की ओर बढ़ा। सारे नगर में हल्ला मच गया। रात में कल भोजन किया था। शाम को उसे भोजन नहीं मिला। 'अब आता होगा, अब आता होगा' करके उसने रसोइये की प्रतीक्षा करते हुए बैठे-बैठे ही सारी रात बिता दी। 'आज भी रसोइया नहीं आया, नागरिकों का बड़ा शोर सुनाई देता है, यह क्या है ?' सोचते हुए उसने झरोखे से उसे उस प्रकार लाये जाते हुए देखा। राजा समझ गया कि बात खुल गयी। वह धैर्य धारण कर पलंग पर बैठा। कालहत्थी ने भी उसके पास पहुँच निवेदन किया। उसने भी उसे उत्तर दिया।

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा—

ततो रत्या विवसने सुरियस्स उग्गमनं पति
कालो रसकं आदाय राजानं उपसंकमि ॥५॥

[तब रात के बीतने पर और सूर्य के उदय होने पर काल (हत्थी) रसोइये को लेकर राजा के पास पहुँचा ।।५।।]

कालहत्थी—सच्चं किर महाराज रसको पेसितो तया
हनाति इत्थी पुरिसे तुवं मंसानि खादसि ।।६।।

[महाराज ! क्या सचमुच तुम रसोइये को भेज कर स्त्री-पुरुषों को मर-वाते हो और उनका मांस खाते हो ? ।।६।।]

राजा— एवमेवं तथा काळ रसको पेसितो मया
मम अत्थं करोन्तस्स किमेतं परिभाससि ।।७।।

[हे कालहत्थी ! हाँ मैंने ही रसोइये को भेजा । मेरा काम करने पर उसे ऐसे क्यों दोष देता है ? ।।७।।]

यह सुन सेनापति ने सोचा, "यह अपने ही मुँह से स्वीकार करता है । ओह ! इसका दुस्साहस ! इतने समय तक यह मनुष्यों को खाता रहा । इसे रोकता हूँ ।" वह बोला—

"महाराज ! ऐसा न करें । मनुष्य-मांस न खायें ।"

"कालहत्थी ! क्या कहता है ? मैं इससे विरत नहीं रह सकता ।"

"महाराज ! यदि विरत नहीं होंगे तो अपना और राष्ट्र का नाश करेंगे ।"

"इस प्रकार नष्ट होने पर भी मैं विरत नहीं ही रह सकता ।" तब सेना-पति ने उसे समझाने के लिए कथा कही—

पूर्वकाल में महासमुद्र में छः बड़े मच्छ थे । उनमें से आनन्द, तिमन्द तथा अज्झोहार ये पाँच-पाँच सौ योजन के । तीतिमिति, मिगल और तिमिल पिङ्गल हजार-हजार योजन के । वे सभी पत्थर की काई खाने वाले थे । उनमें से आनन्द समुद्र के एक तरफ रहता था, बहुत-से मच्छ उसके दर्शन के लिए जाते थे । एक दिन उन सबका विचार हुआ कि "सारे द्विपद चतुष्पदों का राजा दिखायी देता है । हमारा राजा नहीं है । हम भी इसे राजा बनायेंगे ।" सभी ने एकमत हो आनन्द को राजा बनाया । इसके बाद से मच्छ सायं

प्रात:काल आनन्द की सेवा में जाने लगे। एक दिन एक पर्वत की काई खाते हुए बिना जाने काई ही समझ कर आनन्द ने एक मछली खा ली। उसे वह मांस रुचिकर लगा। उसने बाहर निकलकर देखा, यह अत्यन्त मधुर क्या है?' पता लगा--माँस-खण्ड। यह सोच कि इतने समय तक अपरिचित रहने के कारण नहीं खाया वह विचारने लगा, "शाम और सुबह को जब मच्छ सेवा में आकर वापिस लौटूंगा तो एक या दो मच्छ खाया करूँगा। प्रकट रूप से खाने से कोई एक भी मेरे पास न आयेगा। सभी भाग जायेंगे।" इसलिए वह छिपकर जो-जो पीछे रहता उसे-उसे मार कर खाने लगा। मच्छ कम होने लगे तो सोचने लगे, 'जाति के लिए भय कहाँ से पैदा हुआ है?' तब एक पंण्डित मच्छ के मन में हुआ कि 'मुझे आनन्द की क्रिया अच्छी नहीं लगती। परीक्षा करूंगा।' जिस समय मच्छ आनन्द की सेवा में गये वह आनन्द के कान के पीछे छिप कर खड़ा हो गया। आनन्द ने मच्छों को विदा कर पीछे रहने वालों को खाया। उस मच्छ ने उन्हें देख दूसरों को कह दिया। वे सभी डर के मारे भाग गये। उसके बाद से मच्छ-रस की चाट लग जाने के कारण आनन्द और कुछ न खाता। वह भूख से कष्ट पाता हुआ सोचने लगा, 'वे सब कहाँ गये?" उन मच्छों को खोजते हुए उसने एक पर्वत देखकर सोचा, "मालूम होता है मेरे भय के कारण वे इस पर्वत के आश्रय रहते हैं। मैं पर्वत की खोज करके पता लगाऊँगा।" उसने सिर और पूँछ के सिरों को दोनों ओर से मिलाकर पर्वत को घेर लिया। उसने सोचा, "यदि यहाँ होंगे तो भाग जायेंगे।" पर्वत को घेरने पर उसने अपनी ही पूँछ को देखकर सोचा "यह मच्छ मुझे ठग कर पर्वत की ओट में रहता है।" उसने क्रुद्ध हो पचास योजन पूँछ को धर दबाया और उसे कोई दूसरा मच्छ समझ मुर-मुर करके खा डाला। बड़ी तीव्र वेदना हुई। रक्त की गन्ध से आकर्षित हुए मच्छों ने उसे नोच-नोच कर खाना आरम्भ किया और खाते-खाते सिर तक आ पहुँचे। महाशरीरी होने से कहीं रुक नहीं सके। वहीं उसका प्राणान्त हो गया। पर्वताकार सा हड्डियों का ढेर हो गया। आकाश चारिनी तपस्विनी परिव्राजिकाओं ने मनुष्यों को कहा। जम्बुद्वीप भर के मनुष्य जान गये। इस कथा को लाकर प्रकट करते हुए कालहत्थी ने कहा--

आनन्दो सब्बमच्छानं खादित्वा रसगिद्धिमा
परिक्खीणाय परिसाय अत्तानं खादिया मतो ॥८॥
एवं पमत्तो रसगारवे रतो
बालो यदी आयतिं नावबुज्झति
विधम्मपुत्ते चजि आतके च
परिवत्तिय अत्तानं एव खादति ॥९॥
इदं ते सुत्वान विहेतु छन्दो
मा भक्खसी राज मनुस्स मंसं
मा त्वं इमं केवलं वारिजो व
द्विपदाधिप सुञ्ञं अकासि रट्ठं ॥१०॥

[रस-तृष्णा के वशीभूत हो आनन्द ने सभी मच्छों को खाने के बाद अपने को खाना आरम्भ किया और इस प्रकार मरण को प्राप्त हुआ ॥८॥ इस प्रकार रस-तृष्णा के वशीभूत हुआ मूर्ख आदमी यदि भावी भय को नहीं देखता तो वह अपने पुत्रों, पुत्रियों तथा रिश्तेदारों का नाश कर बाद में अपने को ही खाता है ॥९॥ हे राजन ! यह बात सुन कर (मनुष्य-मांस की) इच्छा को छोड़े। मनुष्य-मांस न खायें। हे राजन ! आप उस आनन्द मच्छ की तरह सारे राष्ट्र को शून्य न बनायें ॥१०॥]

यह सुन राजा 'कालहत्थी ! तू भी उपमा देना नहीं जानता है, मैं भी जानता हूँ, कह मनुष्य-मांस के लोभ के कारण पुरानी-कथा लाकर दिखाता हुआ बोला—

सुजातो नाम नामेन यस्स अत्रजोरसो
जम्बुपेसिं अलद्धान मतो तो तस्स संखये ॥११॥
एवमेव अहं काळ भुत्ता भक्खं रसुत्तमं
अलद्धा मानुसं मंसं मञ्ञे हस्सामि जीवितं ॥१२॥

[सुजात नाम का कुटुम्बी था। उसका पुत्र जम्बु-पेशी न पाकर उसकी लालसा में ही मर गया ॥११॥ उसी प्रकार हे काल हत्थी ! मैंने भी उत्तम-रस खाया है। मुझे लगता है कि यदि मुझे मनुष्य-मांस नहीं मिलेगा तो मैं प्राण छोड़ दूंगा ॥१२॥]

तब कालहत्थी ने "यह राजा अत्यन्त रस-लोलुप है, दूसरे उदाहरण दूँगा" सोच, कहा, "महाराज, रुकें।"

"नहीं रुक सकता हूँ॥"

"यदि नहीं रुकेगा तो रिश्तेदारों तथा राज्यश्री से विहीन हो जायेगा",—

पूर्व समय में भी यहीं वाराणसी में पंचशीलों की रक्षा करने वाला श्रोत्रीय-कुल था। उसके कुल में एक पुत्र था। वह माता-पिता का प्रिय, मन को अच्छा लगने वाला, पण्डित तथा तीनों वेदों में पारंगत था। वह सम-वयस्क तरुणों के साथ मण्डली बना घूमता था। शेष मण्डली मत्स्य-मांस खाकर सुरा पीने वाली थी। वह माणवक न मांस आदि खाता था और न शराब ही पीता था। उन्होंने सोचा, "यह सुरा न पीने के कारण हमें 'पैसा' नहीं देता है। इसे चतुराई से सुरा पिलायेंगे।" उन्होंने इकट्ठे होकर "मित्र ! उत्सव मनायेंगे।"

"तुम सुरा पीते हो, मैं नहीं पीयूँगा। तुम ही जाओ।"

"मित्र ! तेरे पीने के लिए दूध ले चलेंगे।"

उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। धूर्तों ने उद्यान पहुँच पद्मनी के पत्तों में तेज सुरा बाँध कर रखी। तब सुरा-पान के समय माणवक के लिये दूध लाया गया। एक धूर्त बोला, 'पुष्कर मधु ले आओ।" लाये जाने पर उसने पद्मनी-पत्र के दोने में नीचे छेद करके उसे मुँह पर रख खींच कर पिया। इस प्रकार दूसरों ने भी मँगवाकर पी। तरुण ने पूछा, "यह क्या है ?" और उसने "पुष्कर मधु" समझ सुरापान किया। उसे अंगारों पर पका हुआ मांस दिया। वह भी खाया। इस प्रकार उसके बार-बार पीकर मत्त हो जाने के समय, वे बोले, "यह पुष्कर मधु नहीं है, यह सुरा है।" वह बोला "इतने समय तक इस मधुर रस से अपरिचित रहा। 'सुरा' लाओ।" उसे फिर दी गयी। उसकी प्यास और बढ़ गयी। जब उसने फिर माँगी तो, वे बोले, "समाप्त हो गयी।" "तो मँगाओ," कह कर उसने हाथ की अँगूठी निकाल कर दे दी। इस प्रकार सारे दिन उनके साथ पीते रहकर वह मत्त हुआ, लाल-लाल आँखें लिए, काँपता हुआ, बकवास करता हुआ घर पहुँचा और

जाकर पड़ रहा । पिता ने जब यह जाना कि उसने सुरा पी थी, तो सुरा का नशा उतरने पर कहा, "तात ! श्रोत्रीय कुल में जन्म लेकर तूने सुरा पी, ठीक नहीं किया । फिर ऐसा न करना।"

"तात ! मेरा अपराध क्या है ?"

"तूने सुरा पी।"

"तात ! क्या कहते हैं । मैंने इससे पूर्व ऐसे मधुर-रस का पान ही नहीं किया।"

ब्राह्मण ने बार-बार समझाया । वह भी बोला, "नहीं छोड़ सकता।" ब्राह्मण ने 'ऐसा होने पर तो वंश उजड़ जायेगा और धन का नाश हो जायेगा' सोच गाथा कही—

माणवो अभिरूपोसि, कुले जातोसि सोत्थिये
न त्वं अरहसि तात अभक्खं भक्खयेतवे ॥१३॥

[हे माणवक । तेरा सुन्दर वर्ण है । तू श्रोत्रीय कुल में पैदा हुआ है । हे तात ! तेरे लिए अभक्षय का ग्रहण करना उचित नहीं है ॥१३॥]

इतना कह कर उसने और भी कहा—"तात ! रुक । यदि नहीं रुकेगा तो या तो मैं घर से निकल जाऊँगा, नहीं तो तुझे देश से निकलवा दूँगा।" तरुण ने "ऐसा होने पर भी मैं सुरा छोड़ नहीं सकता" कह दो गाथायें कहीं—

रासनं अञ्ञतरं एतं यस्मा मं त्वं निवारये,
सोहं तत्थ गमिस्सामि यत्थ लच्छामि एदिसं ॥१४॥
सो वाहं निप्पतिस्सामि न ते वच्छामिसन्तिके
यस्स मे दस्सनेन त्वं नाभिनंदसि ब्राह्मण ॥१५॥

[जिससे तू मुझे वंचित रखना चाहता है, वह रस-विशेष है । मैं वहीं जाऊँगा जहाँ वैसा रस मिलेगा। हे ब्राह्मण । तुझे मेरा दर्शन अच्छा नहीं लगता । मैं चला जाऊँगा, तेरे पास नहीं बसूँगा ॥१४-१५॥]

यह कह उसने और भी कहा, "जो तुझे अच्छा लगे कर, मैं सुरा पान नहीं छोड़ूंगा।" तब ब्राह्मण ने "यदि तू हमें छोड़ता है, तो हम भी तुझे छोड़ते हैं" कह गाथा कही—

अद्धा अञ्ञे पि दायादे पुत्ते लच्छाम माणव,
त्वञ्च जम्म विनस्ससु यत्थ पत्तं न [तं] सुणोम ॥१६॥

[हे तरुण ! हम किसी अन्य को गोद लेकर पुत्र बना लेंगे। हे दुष्ट तू वहाँ जाकर रह, जहाँ से हमें फिर तेरा नाम भी सुनने को न मिले ॥१६॥]

वह उसे न्यायालय में ले गया और उसके "अपुत्र" होने की घोषणा कर उसे (देश से) निकलवा दिया। वह आगे चलकर निराधार हो, दरिद्र हो, चीथड़े पहन, हाथ में ठूठा ले भीख माँगता हुआ, एक दीवार के पास पड़ा-पड़ा मर गया। यह बात लाकर कालहत्थी ने राजा को दिखाते हुए, महाराज ! यदि तू हमारा कहना नहीं मानेगा तो तुझे देश-निकाला दे देंगे' कह गाथा कही—

एवमेव तुवं राज दिपदिन्द सुणोहि मे
पब्बाजेस्सन्ति तं रट्ठा सोण्डमाणवकं यथा ॥१७॥

[हे मनुजेन्द्र ! हे राजन् ! मेरी बात सुन। जिस प्रकार सुरापान करने वाले तरुण को देश-निकाला दे दिया उसी प्रकार तुझे भी राष्ट्र से निकाल देंगे ॥१७॥]

इस प्रकार कालहत्थी के उपमा देने पर भी राजा ने अपनी असमर्थता प्रकट करने के लिए और भी उदाहरण दिया—

सुजातो नाम नामेन भवितत्तान सावको
अच्छरं कामयन्तो व न सो भुञ्जि न सो पिवि ॥१८॥
कुसग्गे उदकं आदाय समुद्दे उदकं मिने
एवं मानुसका कामा दिब्बकामान सन्तिके ॥१९॥
एवमेव अहं काळ भुत्वा भक्खं रसुत्तमं
अलद्धा मानुसं मंसं मञ्ञे हेस्सामि जीवितं ॥२०॥

[योगियों के शिष्य सुजात ने जब अप्सरा की इच्छा की तो न उसने खाया और न पिया ॥१८॥ कुशाग्र पर पानी की बूंद ले लेकर जैसे कोई समुद्र को मापे, उसी प्रकार दिव्य काम भोगों की तुलना में मानुषी काम-भोग हैं ॥१९॥

हे काळहत्थी ! इस प्रकार मैंने उत्तम रस का अनुभव किया है। यदि मुझे मनुष्य-मांस नहीं मिलता तो मैं प्राण छोड़ दूंगा ॥२०॥]

यह सुन कालहत्थी ने 'यह राजा अत्यन्त रस-लोलुप है, इसे समझा दूंगा' सोच 'अपनी सन्तान का मांस खा आकाशचारी स्वर्ण हंस भी नष्ट हो गये' प्रगट करने के लिए दो गाथायें कहीं—

> यथापि ते धतरट्ठा हंसा बेहासयंगमा
> अवुत्ति परिभोगेन सब्बे अब्भत्थतं गता ॥२१॥
> एवमेव तुवं राज दिपदिन्द सुणोहि मे
> अभक्खं राज भक्खेसि तस्मा पब्बाजयन्तितं ॥२२॥

[जिस प्रकार वे आकाशगामी धृतराष्ट्र हंस अपनी संतति को खा जाने के कारण सारे के सारे विनाश को प्राप्त हुए, उसी प्रकार हे मनुजेन्द्र ! हे राजन् ! तू मेरी बात सुन। तू अभक्ष्य खाता है। इसलिए तुझे देश से निकाल देंगे ॥२१-२२॥]

राजा और भी उपमा देना चाहता था। लेकिन नागरिक उठा खड़े हुए। उन्होंने उसे मुँह खोलने ही नहीं दिया। बोले—"स्वामी सेनापति ! क्या करते हैं ? क्या मनुष्य-भक्षक चोर को लिए फिरते हैं ? यदि नहीं बाज आता तो इसे देश-निकाला दें।" राजा बहुतों की आवाज सुनकर डर के मारे कुछ न बोल सका। सेनापति ने उसे फिर भी पूछा—"क्या रुक सकेंगे ?"

"नहीं सकता।"

फिर उसने सारे रनिवास तथा बेटा-बेटी को सभी अलंकारों से सजा-धजाकर पास खड़ा किया और कहा—"महाराज ! इन सम्बन्धियों की ओर, मन्त्रियों की ओर और राज्यश्री की ओर देखें। विनाश को प्राप्त न हों। मनुष्य मांस से विरत हों।"

"ये सब मुझे मनुष्य-मांस से बढ़कर प्रिय नहीं हैं।"

"तो महाराज ! इस नगर और राष्ट्र से निकलें।"

'कालहत्थी ! मुझे राज्य की अपेक्षा नहीं है। निकलता हूं। हाँ, एक खड्ग और एक रसोइया दे दो।"

उसे तलवार, मनुष्य-मांस पकाने का बर्तन और टोकरी लिए रसोइया

देकर, राष्ट्र से निकाल बाहर किया। वह रसोइये को ले, नगर से निकला और आरण्य में प्रविष्ट हो निग्रोध के एक पेड़ के नीचे निवास-स्थान बना रहने लगा। वहाँ रहते समय जंगल के रास्ते पर खड़ा हो, मनुष्यों को मार, लाकर रसोइये को देता। वह उसे माँस पकाकर देता। इस प्रकार दोनों दिन काटते। "मैं मनुष्य-भक्षक चोर हूँ" कह कर जब वह पीछा करता तो कोई भी होश सँभाले खड़ा न रह सकता। सभी जमीन पर गिर पड़ते। उनमें से वह जिसे चाहता उसे सीधा अथवा उल्टा लटकाये लाकर रसोइये को देता। एक दिन उसे आरण्य में कोई आदमी नहीं मिला। लौट आने पर उसने पूछा—'देव। क्या हुआ ?"

"चूल्हे पर बर्तन रख।"

'देव! माँस कहाँ है ?"

"मैं मांस लाऊँगा।"

रसोइया समझ गया, आज जान नहीं बचेगी। उसने कांपते हुए, चूल्हे में आग जलाकर उस पर बर्तन रखा। तब उस मनुष्य-भक्षक ने तलवार के प्रहार से उसे मार, उसका माँस पकाकर खाया। उसके बाद से वह अकेला रह गया और स्वयं ही पकाकर खाने लगा। 'मनुष्य-भक्षक रास्ता चलतों को मारता है' यह बात सारे जम्बुद्वीप में फैल गयी।

उस समय एक धनी ब्राह्मण पाँच सौ गाड़ियाँ लाद व्यापार करता हुआ पूर्वान्त से अपरान्त जाता था उसने सोचा, "मनुष्य-भक्षक चोर राह चलते आदमियों को मारता है। मैं धन देकर जंगल को पार करूँगा।" उसने अटवी के द्वार पर रहने वाले मनुष्यों को हजार देकर कहा "मुझे जंगल पार करा दो।" वे उनके साथ रास्ते पर हो लिया। उसने जाते समय अपने सारे काफिले को आगे किया फिर स्वयं नहा-धोकर, लेप कर, सभी अलंकारों से अलंकृत हो, श्वेत-वृषक जुते रथ में बैठ, उन मार्ग-सहायक पुरुषों से घिरा हुआ होकर पीछे पीछे चला। मनुष्य-भक्षक पेड़ पर चढ़ कर मनुष्यों को देखने लगा। "इन मनुष्यों को खाने में क्या रखा है ?" सोच उसकी तृष्णा जाती रही। लेकिन जब ब्राह्मण को देखा तो उसे खाने की इच्छा से उसके मुँह में से लार टपकने लगी। जब वह उसके समीप आया तो मैं मनुष्य-भक्षक चोर हूँ" कह कर, तलवार घुमाते हुए वह इतनी जोर से झपटा, मानों बालू से आँखें भर दी हों। एक भी खड़ा नहीं रह सका। सभी

पृथ्वी पर पेट के बल लेट गये। उसने रथ में बैठे हुए ब्राह्मण को पैर से पकड़ा और सिर नीचा कर पीठ पर लटका लिया और ले चला। ब्राह्मण का सिर उसके टखनों से टकराता जाता था। आदमियों ने "अरे! हमने ब्राह्मण से हजार लिए हैं। हमारे पुरुषत्व को धिक्कार है। हम उसे पकड़ सकें या न पकड़ सकें, थोड़ा पीछा तो करें' सोच उसका पीछा किया। मनुष्य-भक्षक ने भी रुककर जब किसी को पीछे आता न देखा तो वह धीरे हो लिया। उस समय एक वीर पुरुष शीघ्रता से उसके पास पहुँच गया। उसे देख, उसने एक बाड़ लांघते समय, खेर के एक ठूंठ पर से जाते हुए उसे एड़ी से उखाड़ दिया। उसके पैर से खून बहने लगा। उस पुरुष ने उसे देख कहा 'अरे! मैंने इसे बींध दिया। तुम केवल पीछे पीछे चले आओ। मैं इसे पकड़ूंगा।, वे उसे दुर्बल जान पीछे लगे। जब उसने जाना कि वे पीछे लगे हैं, उसने ब्राह्मण को छोड़ दिया और अपने आप को सुखी किया। मार्ग-सहायकों को ब्राह्मण मिल गया, तो वे रुक गये। बोले, "हमें चोर से क्या?" मनुष्य-भक्षक भी अपने न्यग्रोध-वृक्ष के नीचे पहुँचा और शाखाओं की ओट में पड़ रहा। उसने प्रार्थना की, "आर्ये वृक्ष देवते! यदि सप्ताह के भीतर मेरा जख्म ठीक कर सकेगी तो सारे जम्बुद्वीप के एक सौ क्षत्रियों की गर्दन के ख़ून से तेरा तना धोकर, (उनकी) आँतें चारों ओर लिपेट कर, पाँच प्रकार के मधुर-मांस से बलि-कर्म करूँगा' खाना पीना न मिलने से उसका शरीर सूख गया। सप्ताह के भीतर उसका जख्म भी अच्छा हो गया। उसने समझा देव कृपा से ही वह स्वस्थ हुआ। कुछ दिन मनुष्य-मांस खाने से जब उसके शरीर में बल आ गया तो वह सोचने लगा। "देवता ने मुझ पर बहुत उपकार किया है। मैं अपने आपको उसकी मिन्नत से मुक्त करूँ।" वह तलवार लेकर राजाओं को लाने के उद्देश्य से पेड़ के नीचे से चल दिया।

पूर्व जन्म में जब वह यक्ष था, उस समय साथ साथ मनुष्य-मांस खाने वाले एक साथी यक्ष ने उसे देख, पहचान लिया, "यह मेरा पूर्व जन्म का साथी है।" उसने पूछा—

"मित्र! मुझे पहचानता है।"

"नहीं पहचानता हूँ।"

उसने उसे पूर्व-जन्म की बातें बतायीं। उसने पहचान कर कुशल-क्षेम पूछा।

"कहाँ उत्पन्न हुआ है ?" पूछने पर उसने जन्म ग्रहण करने का स्थान, राष्ट्र से निकाले जाने की कथा, वर्तमान निवास स्थान, ठूंठ से जख्मी हो जाने की बात और देवता की मिन्नत से मुक्त होने के लिए जाने की सब बात कहकर आग्रह किया—"मित्र ! तुझे भी इस कार्य को पूरा कराना होगा। आ दोनों चलें।"

'मित्र ! मैं चलता। किन्तु, मुझे एक कार्य है। हाँ, मैं अर्धपदलक्षण मन्त्र जानता हूँ। उससे बल, गति तथा तेज (?) की प्राप्ति होती है। वह मन्त्र ले।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। यक्ष भी उसे वह मन्त्र दे चला गया। मनुष्य-भक्षक उस मन्त्र को धारण करने वाला होने से वायु के सदृश वेग वाला तथा अत्यन्त बलशाली हो गया। उसने सप्ताह के अन्दर ही उद्यान आदि जाने वाले एक सौ राजाओं को देख, वायु-वेग से झपटकर, नाम सुना, चिल्लाते-दहाड़ते उन्हें भयभीत कर, पैरों से पकड़, सिर नीचा कर; एड़ी से सिर टकराते हुए, वायु-वेग से ला, हाथ की हथेलियाँ पृथ्वी को छूती थीं। वे हवा के लगने से कुम्हलायी हुई करण्डमाला के समान लटकने लगीं। वह 'सुत-सोम' को 'सहायक-आचार्य' मान और 'सारा जम्बुद्वीप शून्य न हो जाय' सोच नहीं लाया "बलि-कर्म करूँगा" सोच, आग जला वह बैठकर लकड़ी छीलने लगा। वृक्ष-देवता ने देखकर सोचा, यह मुझे बलि देने जा रहा है। मैंने इसका जख्म भी अच्छा नहीं किया है। अब महाविनाश करेगा। क्या करना चाहिए ?" फिर यह सोच कि 'मैं इसे नहीं रोक सकता, वह चतुर्महाराजिक देवताओं के पास गया और कहा, "इसे रोकें।" हम असमर्थ हैं, कहने पर वह शक्र के पास पहुँचा और वह बता कर कहा, 'इसे रोकें।' शक्र बोला, मैं नहीं रोक सकता। किन्तु रोक सकने वाले का पता बता सकता हूँ।"

"कौन है ?"

"देवताओं सहित लोक में और कोई नहीं है। कुरु राष्ट्र में इन्द्रप्रस्थ नगर में सुतसोम नाम का कोरव्य राजपुत्र है। वह इसका घमण्ड चूर करके दमन करेगा। और राजाओं को प्राण दान देगा। इसे मनुष्य-मांस से रोकेगा। सारे जम्बुद्वीप में अमृत का अभिसिञ्चन करेगा। यदि राजाओं को प्राण दान देना चाहता है, तो उसे कह कि सुतसोम को लाकर बलि-कर्म करे।"

उसने 'अच्छा' कहा और जल्दी से आकर प्रव्रजित-वेष में उससे थोड़ी दूर चला। पैरों की आहट से उसने समझा कि कोई राजा भागा होगा। उसे देख सोचा, 'प्रव्रजित भी क्षत्रिय ही होते हैं। इसे लेकर पूरे एक सौ एक करके बलिकर्म करूँगा।' उसने हाथ में तलवार लेकर उसका पीछा किया। तीन योजन तक पीछा करते रहने पर भी उसे नहीं पा सका। शरीर से पसीना छूट गया। वह सोचने लगा, 'पहले मैं हाथी को भी, घोड़े को भी, रथ को भी, दौड़ते हुओं को भी पकड़ लेता था। आज इस प्रव्रजित को स्वाभाविक गति से जाते हुए भी, पूरी सामर्थ्य से भी दौड़ कर नहीं पकड़ सकता। क्या कारण है?' फिर सोचा प्रव्रजित कहना मानने वाले होते हैं, मैं इसे 'ठहर' कहूँगा और ठहरने पर पकड़ूंगा। यह सोच बोला, "श्रमण ठहर।"

उत्तर मिला—"तू रुकने का प्रयत्न कर।"

उसने 'प्रव्रजित तो प्राण-रक्षा के लिए भी झूठ नहीं बोलते, तू झूठ बोलता है' कह गाथा कही—

तिट्ठाहीति मया वुत्तो सो त्वं गच्छसि यम्मुखो,
अठितो ठितोम्हीति लपसि
ब्रह्मचारि इदं ते समण अयुत्तं,
असिं च मञ्ञसि कंकपत्तं ॥२३॥

[मेरे 'ठहर' कहने पर तू आगे-आगे जाता है। बिना ठहरे ही कहता है कि मैं ठहरा हूँ। हे ब्रह्मचारी! हे श्रमण! तेरे लिए यह अनुचित है। क्या तू मेरी तलवार को सारस का पर मानता है? ॥२२॥]

तब देवता ने दो गाथायें कहीं—

ठितोहं अस्मि सद्धम्मेसु
न नामगोत्त परिवत्तयामि,
चोरं च लोके अठित वदन्ति
अपायिकं नेरयिकं इत्तो चुतं ॥२४॥
सचे पि सहसि राज सुतं गण्हाहि खत्तिय,
तेन यञ्ञं यजित्वान एवं सग्गं गमिस्ससि ॥२५॥

[हे राजन् ! मैं सद्धर्म में 'स्थित' हूं। मैं (तेरी तरह) अपने नाम गोत्र को कलंकित नहीं करता हूँ। लोक में यहाँ से च्युत होकर नरक में जाने वाले चोरों को ही 'अस्थित' कहा जाता है। हे राजन् ! यदि सामर्थ्य है तो सुतसोम क्षत्रिय को पकड़ कर ला और उससे यज्ञ कर। ऐसा करने से स्वर्ग जायेगा ॥२४-२५॥]

ऐसा कहकर वह देवी प्रव्रजित वेष छोड़, अपने स्वाभाविक रूप में, आकाश में सूर्य के समान ठहरी। उसने उसकी बात सुन और रूप देख पूछा—

"तू कौन है ?"

"इस वृक्ष पर रहने वाली देवी।"

अपनी देवी के दर्शन हो गये, सोच वह प्रसन्न हुआ और बोला-"स्वामी देवराज ! सुतसोम के लिए चिन्ता न करें। अपने वृक्ष में प्रवेश करें।"

देवी उसके सामने ही वृक्ष में अन्तर्धान हो गयी। उस समय सूर्यास्त हो गया था। चाँद निकल आया था। मनुष्य-भक्षक वेदवेदांग में कुशल था, नक्षत्रों की चाल जानता था। उसने आकाश की ओर देख कर सोचा; "कल पुष्य नक्षत्र होगा। सुतसोम नहाने के लिए उद्यान जायेगा। वहाँ उसे पकड़ूंगा। किन्तु वहाँ बहुत से पहरेदार होंगे। चारों ओर तीन तीन योजन तक सारे जम्बुद्वीप निवासी पहरा दे रहे होंगे। मैं पहरा बैठने के पहले, प्रथमयाम में ही मृगाचिर उद्यान पहुँच मंगल-पुष्कारिणी में उतर बैठ रहूँगा।" वह जाकर पुष्कारिणी में उतरा और पद्मनी पत्र से सिर ढक कर बैठा रहा। उसके तेज से मच्छ-मछुवे आदि पीछे हट कर पानी के किनारे-किनारे पृथक्-पृथक् हो विचरने लगे। 'इसका ऐसा तेज कहाँ से आया ? पूर्व-कर्म के फल से। काश्यप बुद्ध के समय उसने खीर-भोजन दान दिया था। उसी से महाबलशाली हुआ। अग्नि-शाला बनवा कर भिक्षुसंघ का शीत भगाने के लिए आग, लकड़ी और लकड़ी चीरने के लिए कुल्हाड़ी दी थी। उससे तेजस्वी हुआ। इस प्रकार जैसे ही उसने उद्यान में प्रवेश किया था, उसी समय एक दम प्रातःकाल ही चारों ओर तीन योजन तक पहरा बैठ गया। राजा भी प्रातःकाल ही, जल-पान करके, अलंकृत हाथी के कन्धे पर सवार हो, चतुरंगिनी-सेना के साथ नगर से निकला। उसी समय तक्षशिला से नन्द नाम का एक ब्राह्मण आया। उसके पास सौ के मूल्य की चार गाथायें

थी। वह उन्हें लिए एक सौ बीस योजन मार्ग तैकर वहाँ पहुँचा था। रात को नगर-द्वार पर रह, सूर्योदय होने पर नगर में दाखिल हो, राजा को पूर्व-द्वार से निकलते देख उसने हाथ उठा कर 'जय' बुलायी। राजा ने उधर देखा तो ऊँचे स्थान पर खड़े ब्राह्मण के फैलाये हाथ को देख, वह जाते जाते हाथी से उसके समीप पहुँचा और बोला—

कस्मिं नु रट्ठे तव जातिभूमि,
अथ केन अत्थेन इधानुपत्तो
अक्खाहि मे ब्राह्मण एतमत्थं,
किं इच्छसी देमि तयज्ज पत्थितं ॥२६॥

[तेरा जन्म किस राष्ट्र का है? यहाँ तू किस उद्देश्य से आया है? हे ब्राह्मण! तू मुझे यह बात कह। वह कौन सी चीज है, जो तू चाहता है और मैं तुझे दूँ? ॥२६॥]

उसने उत्तर दिया—

गाथा चतस्सो धरणीमहेस्सर
सुगम्भीरत्था वरसागरूपमा;
तवेव अत्थाय इधागतोस्मि,
सुणोहि गाथा परमत्थसंहिता ॥२७॥

[हे पृथ्वी-पति! मेरे पास चार गाथायें हैं, जिनका अर्थ गम्भीर है, जो श्रेष्ठ सागर के समान हैं। मैं तेरे ही लिये यहाँ आया हूँ। मेरी परम अर्थ-वान् गाथायें सुनें ॥२७॥]

फिर बोला "महाराज! ये काश्यप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सौ के मूल्य की चार गाथायें हैं। यह सुनें कि आप सुनी बात पर विचार करने वाले हों, तुम्हें उनका उपदेश देने के लिए आया हूँ।" राजा सन्तुष्ट होकर बोला, "आचार्य तूने बहुत अच्छा किया। मैं (इस समय) रुक नहीं सकता। आज पुष्य-नक्षत्र के कारण सिर से स्नान करने का दिन है। आकर सुनूँगा। तुम मत घबराना।" उसने आमात्यों को आज्ञा दी, "जाओ ब्राह्मण के लिए अमुक घर में रहने की व्यवस्था कर, खाने बिछाने की व्यवस्था करो" और

स्वयं उद्यान में प्रवेश किया। उसकी अठारह हाथ ऊँची चार-दीवारी थी। परस्पर एक दूसरे से सटकर खड़े हुए हाथियों ने उसे चारों ओर से घेर रखा था। उसके बाद घोड़े। उसके बाद रथ। उसके बाद धनुर्धारी पैदल। क्षुब्ध महासमुद्र की तरह सेना उबली पड़ी थी। राजा ने बड़े-बड़े आभरण उतारे, हजामत बनवायी, उबटन मलवाया और फिर पुष्करिणी में राजकीय ठाट-बाट से स्नान कर बाहर आया। वह गीले वस्त्र पहने खड़ा था। उस समय उसके पास सुगन्धित मालायें तथा अलंकार लाये गये। मनुष्य-भक्षक ने सोचा, "अलंकार पहन लेने पर राजा भारी हो जायेगा। अभी जब हलका है, तभी इसे ले चलूंगा।" वह चिल्लाता हुआ, दहाड़ता हुआ सिर पर तलवार घुमाता 'मैं मनुष्य-भक्षक चोर हूँ; सुनाता हुआ माथे पर' अगंली रखे, पानी से निकला। उसकी आवाज सुनते ही, हाथी-सवार हाथियों से, घुड़ सवार घोड़ों से, रथ वाले रथों पर से गिर पड़े। सेना हथियार छोड़ पेट के बल लेट गयी। मनुष्य-भक्षक ने सुतसोम को ऊपर उठा लिया। अन्य राजाओं को तो वह पैर से पकड़, सिर नीचे कर, उनके सिर को एड़ी से ठुकराता हुआ ले गया। किन्तु बोधिसत्व के पास पहुँच उसने झुक कर, उठाकर कन्धे पर बिठा लिया। फिर द्वार से जाने में प्रपञ्च होगा, सोच, सामने की अठारह हाथ ऊँची दीवार लाँघ, गलितमद हाथियों के सिरों पर से जा, पर्वत-शिखरों को गिराते हुए की तरह वायु-वेग वाले घोड़ों की पीठ को पार कर, श्रेष्ठ रथों के ऊपर से जा लट्टू को घुमाते हुए की तरह, नील-वर्ण (?) निग्रोध-पत्रों को मलते हुए की तरह वह एक झपाटे में ही तीन योजन चला गया। तब उसने पीछे देखा कि सुत-सोम के लिए कोई पीछे आ तो नहीं रहा है। जब उसे कोई न आता दिखायी दिया तो धीरे हो लिया। सुतसोम के बालों से पानी की बूंदें उसके बदन पर गिरने लगीं। उसने सोचा, 'ऐसा कोई नहीं जिसे मरने से डर न लगता हो, यह कदाचित मृत्यु-भय के ही कारण रो रहा है।' वह बोला—

न वे रुदन्ति मतिमन्तो सपञ्ञा
बहुस्सुता ये बहुठानचिन्तिनो,
दीपं हि एतं परमं नरानं
यं पण्डिता सोकनुदा भवन्ति ॥२८॥

[बुद्धिमान, प्रज्ञावान, बहुत श्रुत तथा बहुत बातों का विचार करने वाले रोते नहीं हैं। आदमियों का यही पर द्वीप-शरणस्थान है कि पण्डित शोक को जीत लेते हैं ॥२८॥]

अत्तानं ञाति उद पुत्तदारं
धञ्ञं धनं रजतं जातरूपं
किं नु त्वं सुतसोमानुतप्पे
कोरव्यसेट्ठ वचनं सुणोम ॥२९॥

[हे सुतसोम ! हे कोरव्य श्रेष्ठ ! मैं तुझसे यह बात सुनना चाहता हूँ कि तुझे अपना-आप रिश्तेदार, पुत्र, दारा, धान्य, धन, चाँदी और सोना—इनमें से कौन सी चीज, अनुतप्त कर रही है ? ॥२९॥]

सुतसोम ने उत्तर दिया—

न वाहं अत्तानं अनुत्थुनामि
न पुत्तदारं न धनं न रट्ठं
सतञ्च धम्मो चरितो पुराणो
तं संगरं ब्राह्मणस्सानुतप्पे ॥३०॥

कतो मया संगरो ब्राह्मणेन
रट्ठे सके इस्सरिये ठितेन
तं संगरं ब्राह्मणस्सप्पदाय
सच्चानुरक्खी पुनरावजिस्सं ॥३१॥

[न मैं अपने आप को सोचता हूँ। न पुत्र-दारा को न धन को और न राष्ट्र को। मैंने सत्पुषों के पुराने-धर्म के अनुसार आचरण किया है। वह ब्राह्मण को दिया हुआ वचन अनुतप्त करता है ॥३०॥ अपने राष्ट्र में ऐश्वर्य-शाली रहने की स्थिति में मैंने ब्राह्मण को वचन दिया है। वह वचन पूरा करके, सत्य की रक्षा करके फिर आ जाऊँगा ॥३१॥]

तब मनुष्य भक्षक बोला—

न वाहं एतं अभिसद्दहामि
सुखी नरो मच्चुमुखा पमुत्तो

अमित्तहत्थं पुनरावजेय्य
कोरब्यसेट्ठ न हि मं उपेहि ॥३२॥
मुत्तो तुवं पोरिसादस्स हत्था
गन्त्वा सकं मन्दिरं कामकामि
मधुरं पियं जीवितं लद्ध राज
कुतो तुवं एहिसि मे सकासं ॥३३॥

[मुझे इस बात में विश्वास नहीं है कि मृत्युमुख से मुक्त हुआ सुखी नर फिर दुबारा शत्रु के हाथ आयेगा। कोरव्य-श्रेष्ठ (दुबारा) मेरे पास नहीं आयेगा ॥३२॥ मनुष्य-भक्षक के हाथ से मुक्त हो कर अपने भवन जाकर हे कामना करने वाले राजन् ! आप मधुर प्रिय जीवनलाभ करें। हे कामना वाले ! फिर आना होगा ॥३३॥]

यह सुन बोधिसत्व ने सिंह के समान निर्भय गर्जना की—

मतं वरेय्य पोरसुद्धसीलो
न जीवितं गरहितो पापधम्मो
न हि तं नरं तायते दुग्गतीहि
यस्सापि हेतु अलिकं भणेय्य ॥३४॥

सचे पि वातो गिरिं आवहेय्य
चन्दो च सुरियो च छमा पतेय्युं
सब्बा वा नज्जो पीटसोतं वजेय्युं
न त्वेव अहं राज मुसा भणेय्य ॥३५॥

[सदाचारी मृत्यु को अच्छा समझता है। वह निन्दित पापकर्म करता हुआ जीने की इच्छा नहीं करता। जिसके लिए आदमी झूठ बोलता है, वह आदमी का दुर्गति से त्राण नहीं कर सकता ॥३४॥चाहे वायु पर्वत को उड़ा ले जाय, चाहे चन्द्रमा तथा सूर्य पृथ्वी पर आ पड़ें और चाहे सभी नदियाँ उलटी बहने लग जायँ, तो भी हे राजन् ! मैं झूठ नहीं बोलूंगा ॥३५॥]

ऐसा कहने पर भी उसने विश्वास नहीं ही किया। तब बोधिसत्व ने, 'यह मेरा विश्वास नहीं करता, इसे शपथ करके भी विश्वास कराऊँगा' सोच कहा,

"मित्र नरभक्षक ! मुझे कन्धे पर से उतार । शपथ करके भी मैं तुझे विश्वास कराऊँगा ।" ऐसा कहने पर जब उसने उतार कर पृथ्वी पर खड़ा किया तो उसने शपथ करते हुए कहा—

असिञ्च सत्तिञ्च परामसामि
सपथं पि ते सम्म अहं करोमि,
तया पमुत्तो अनणो भवित्वा
सच्चानुरक्खी पुनरावजिस्सं ॥३६॥

[मित्र ! मैं तलवार और शक्ति को छूकर शपथ करता हूँ कि तुझसे छूट कर, उऋण होकर सत्य-रक्षी मैं फिर चला आऊँगा ॥३६॥]

तब मनुष्य-भक्षक ने "यह सुतसोम क्षत्रिय के लिए अकरणीय शपथ करता है । मुझे इससे क्या ? मैं भी क्षत्रिय राजा हूँ । अपनी ही बाँह से रक्त लेकर देवता के लिए बलि-कर्म करूँगा । यह बहुत दुखी होता है" सोच कहा—

यो ते कतो संगरो ब्राह्मणेन
रट्ठे सके इस्सरिये ठितेन
तं संगरं ब्राह्मणस्सप्पदाय
सच्चानुरक्खी पुनरावजस्सु ॥३७॥

[अपने राष्ट्र में ऐश्वर्यशाली रहने की स्थिति में तूने ब्राह्मण को जो वचन दिया है, वह वचन पूरा करके, सत्य की रक्षा करके, फिर चला आ ॥३७॥]

तब बोधिसत्व ने, "मित्र ! चिन्ता न कर ! सत्पुरुषों के योग्य चार गाथायें सुन, धर्मोपदेशक की पूजा कर, प्रातःकाल ही चला आऊँगा," कह, गाथा कही—

यो मे कतो संगरो ब्राह्मणेन
रट्ठे सके इस्सरिये ठितेन
तं संगरं ब्राह्मणस्सप्पदाय
सच्चानुरक्खी पुनरावजिस्सं ॥३८॥

[अपने राष्ट्र में ऐश्वर्यशाली रहने की स्थिति में मैंने ब्राह्मण को जो वचन

दिया है, वह वचन पूरा करके सत्य की रक्षा करके फिर चला आऊँगा ॥३८॥]

तब मनुष्य-भक्षक बोला, "तुमने क्षत्रिय के लिए अकरणीय शपथ ग्रहण की है। इसे याद रखना।" राजा ने उत्तर दिया, "मित्र मनुष्य-भक्षक ! तू मुझे बचपन से जानता है। मैंने हँसी में भी कभी झूठ नहीं बोला है। अब मैं राज्याभिषिक्त हो, धर्माधर्म का जानकार हो क्या झूठ बोलूँगा ? मेरा विश्वास कर। मैं तेरा बलि-कर्म पूरा कराऊँगा।" तब मनुष्य-भक्षक ने उसे विदा किया— "तो महाराज जायँ, तुम्हारे न आने से बलि-कर्म न होगा। देवता को भी तुम्हारे बिना स्वीकार न होगा। मेरे बलि-कर्म में बाधा न डालना।"

हाथी के समान बल वाला वह राहु मुख से मुक्त चन्द्रमा की तरह शीघ्रही नगर आ पहुँचा। उसकी सेना भी अभी तक नगर के बाहर ही खड़ी थी। उसका विश्वास था, "सुतसोम राजा पण्डित है, मधुर कर्म कथिक है। एक दो बात करके ही मनुष्य-भक्षक का दमन कर सिंहमुख से मुक्त श्रेष्ठ हाथी की तरह चला आयेगा।" उसे यह भी चिन्ता थी कि लोग हमारी निन्दा करेंगे कि "राजा को, मनुष्य-भक्षक को सौंप चले आये।" जब सेना ने राजा को दूर से ही आते देखा तो अगवानी करके प्रणाम किया और कुशल-क्षेम पूछा, "महाराज ! मनुष्य-भक्षक ने ऐसा काम किया जो मेरे माता-पिता भी आसानी से नहीं कर सकते थे। वैसे प्रचण्ड, दुस्साहसी ने मेरी धर्म-कथा सुनकर मुझे छोड़ दिया।" तब उन्होंने राजा को अलंकृत कर हाथी के कंधे पर बिठाया और घेर कर नगर में ले गये। उसे देख सभी नगर-निवासी प्रसन्न हुए। वह भी धर्म-पिपासा के मारे माता-पिता से मिलने भी नहीं गया। उनसे पीछे भी भेंट कर लूंगा सोच उसने राजभवन में प्रवेश कर, राज्यासन पर बैठ ब्राह्मण को बुलवा भेजा। फिर आज्ञा दी, "इसकी हजामत आदि कराओ।" जब लोग उसकी हजामत करा, नहला, (चन्दनादि का) लेप करा, वस्त्रालंकार पहना कर ले आये तो राजा ने स्वयं उसके बाद स्नान किया और अपना भोजन उसे दिला उसके खा चुकने पर स्वयं भोजन किया। फिर उसे महामूल्यवान आसन पर बिठा, धर्म-गौरव से उसकी सुगन्धी तथा मालादि से पूजा कर, स्वयं नीचे आसन पर बैठ निवेदन किया, "आचार्य ! मेरे लिए जो गाथायें लाये, उन्हें सुनायें।"

इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए शास्ता ने कहा--

मुत्तो च सो पोरिसादस्स हत्था
गन्त्वान तं ब्राह्मणं एतदवोच:
सुणोम गाथायो सतारहायो
या मे सुता अस्सु हिताय ब्रह्मे ॥३९॥

[उस मनुष्य-भक्षक के होने से मुक्त होने पर उसने जाकर उस ब्राह्मण को ऐसा कहा : हे ब्राह्मण ! जिन गाथाओं को सुनने से मेरा कल्याण हो मैं उन सौ के मूल्य की गाथाओं को सुनूं ॥३९॥]

बोधिसत्व के प्रार्थना करने पर ब्राह्मण ने हाथों में सुगन्धी मल, थैली में से सुन्दर पुस्तक निकाल, दोनों हाथों में ले, 'तो महाराज ! काश्यप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट, राग मदादि का मर्दन करने वाली, आसक्ति का नाश (संसार) चक्र का उपच्छेद तथा तृष्णा का क्षय करने वाली और विराग-स्वरूप, निरोध-स्वरूप अमृत-महानिर्वाण के समीप ले जाने वाली, सौ के मूल्य की चारगाथायें सुनें' कह, पुस्तक देख कर पढ़ना आरम्भ किया--

सकिदेव सुतसोम सब्भि बोतु समागमो,
सा नं संगति पालेति नासब्भि बहुसंगमो ॥४०॥
सब्भिरेव समासेथ
सब्भि कुब्बेथ सन्थवं,
सतं सद्धम्मं अञ्ञाय सेय्यो होति न पापियो ॥४१॥

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता
अथो सरीरं पि जरं उपेति
सतंच धम्मो न जरं उपेति
सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति ॥४२॥
नभा च दूरे पठवी च दूरे
पारं समुद्दस्स तदाहु दूरे
ततो हवे दूरतरं वदन्ति
सतञ्च धम्मं असतञ्च राज ॥४३॥

[सत्पुरुषों के साथ एक बार का समागम भी रक्षा करता है, असत्पुरुषों के साथ दीर्घकालीन संगति भी नहीं ॥४०॥ सत्पुरुषों के ही साथ रहे, सत्पुरुषों की ही संगति करे, सत्पुरुषों का सद्धर्म जानने से भला ही होता है, बुरा नहीं ॥४१॥ सुचित्रित राज-रथ पुराने पड़ जाते हैं, शरीर जरा को प्राप्त हो जाता है, किन्तु सत्पुरुषों (=बुद्धों) का धर्म जरा को प्राप्त नहीं होता। सन्त जन सत्पुरुषों से ऐसा कहते हैं ॥४२॥ आकाश दूर है, पृथ्वी दूर है, समुद्र का वह पार और भी दूर है। हे राजन्! सत्पुरुषों तथा असत्पुरुषों का धर्म इससे भी अधिक दूर है ॥४३॥]

इस प्रकार काश्यप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट ढंग से ही ब्राह्मण ने सौ के मूल्य की चारों गाथाओं का उपदेश दिया और चुप रहा। बोधिसत्व ने उन्हें सुना तो प्रसन्न हो सोचा, "मेरा आना सफल हुआ।" फिर सोचा, "ये गाथायें न तो श्रावक-भाषित हैं, न ऋषि-भाषित और न कवि-रचित। ये सर्वज्ञ द्वारा ही भाषित हैं। इनका कितना मूल्य होना चाहिए? ब्रह्म-लोक तक इस सारे चक्रवाल को सात रत्नों से भर कर देने पर भी यथार्थ मूल्यांकन नहीं होता। मैं इसे तीन सौ योजन के कुरुराष्ट्र में सात योजन के इन्द्रप्रस्थ नगर का राज्य दे सकता हूँ। लेकिन क्या इसका राज्य करने का भाग्य है?" उसने अंग-विद्या के विचार से देखा तो उसे दिखायी नहीं दिया। तब सेनापति-पद आदि के बारे में विचार किया। एक ग्राम-भोजक होना भी उसके भाग्य में नहीं दिखायी दिया। फिर धन-लाभ के बारे में विचार करते हुए करोड़ से विचार करना आरम्भ किया। उसे उसके भाग्य में चार हजार कार्षापण से अधिक न दिखायी दिया। उसने निश्चय किया, "इतनी ही पूजा करूँगा।" तब उसने हजार-हजार की चार थैलियाँ दिला कर, प्रश्न किया, "आचार्य! अन्य क्षत्रियों को इन गाथाओं का उपदेश करने से तुम्हें क्या मिलता है?" उसने उत्तर दिया, "महाराज! एक-एक गाथा के सौ-सौ, इसीलिए इनका नाम सौ के मूल्य का हो गया।" बोधिसत्व 'आचार्य! तुम जिस वस्तु को लिए घूमते हो, उसके यथार्थ मूल्य को नहीं जानते। अब से ये हजार-हजार के मूल्य की हुई कह, गाथा कही—

सहस्सियो इमा गाथा न इमा गाथा सतारहा
चत्तारि त्वं सहस्सानि खिप्पं गण्हाहि ब्राह्मण ॥४४॥

[ये गाथाएँ सौ-सौ के मूल्य की नहीं हैं। ये गाथाएँ हजार-हजार के मूल्य की हैं। हे ब्राह्मण ! तू ये चार हजार शीघ्र ले ॥४४॥]

फिर उसे एक सुखपूर्वक जाने लायक रथ दे, आदमियों को आज्ञा दी, "ब्राह्मण को सकुशल घर पहुँचाओ", और उसे विदा किया। उस समय 'सौ के मूल्य की गाथाओं को हजार के मूल्य की करके उनकी पूजा की' सुन कर लोग राजा सुतसोम को 'साधु', कहने लगे। उसके माता-पिता ने वह आवाज सुनी, तो पूछा 'यह क्या आवाज है ?' उन्हें यथार्थ बात पता लगी तो धन का लोभ होने से वे बोधिसत्व के प्रति क्रुद्ध हुए। वह भी ब्राह्मण को विदा कर, उनके पास जा, प्रणाम कर खड़ा हुआ। उसके पिता ने यह भी कुशल-क्षेम न पूछा कि इस प्रकार के मनुष्य-भक्षक दुस्साहसी चोर से मुक्त होकर चला आया, धन का लोभ होने से यही प्रश्न किया कि "तात ! क्या तूने सचमुच चार गाथाएँ सुन कर चार हजार दिये ?" जब सुना "सचमुच" तो बोला—

असीतिया नीतिया च गाथा
सतारहा चापि भवेय्यु गाथा
पच्चत्तं एव सुतसोम जानाहि
सहस्सियो नाम कुथत्थि गाथा ॥४५॥

[अस्सी की, नब्बे की और सौ की भी गाथा हो सकती है। (किन्तु) हे सुतसोम ! तुम प्रत्यक्ष ही इसको जान कि गाथा कहीं हजार की भी हुई है ? ॥४५॥]

तब बोधिसत्व ने, "तात ! मैं धन की वृद्धि का नहीं, किन्तु ज्ञान की वृद्धि का इच्छुक हूँ" प्रकट करते हुए गाथाएँ कहीं—

इच्छामि वोहं सुतवुद्धि अत्तनो,
सन्तो च मं सप्पुरिसा भजेय्युं
अहं सवन्तीहि महोदधीव
न हि तात तप्पामि सुभासितेन ॥४६॥
अग्गि यथा तिणकट्ठं डहन्तो
न तप्पति सागरो वा नदीहि

एवं पि ते पण्डिता राजसेट्ठ
सुत्वा न तप्पन्ति सुभासितेन ॥४७॥
एकस्स दासस्स यदा सुणोमि
गाथा अहं अत्थवती जनिन्द
तं एव सक्कच्च निसामयामि
न हि तात धम्मेसु मं अत्थि तित्ति ॥४८॥

[मैं अपने ज्ञान में वृद्धि चाहता हूँ और यह चाहता हूँ कि मुझे सत्पुरुषों का आश्रय करना मिले। जिस प्रकार नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार हे तात ! सुभाषितों से मेरी तृप्ति नहीं होती ॥४६॥ जिस प्रकार अग्नि तृण-काष्ठ को जलाती हुई तृप्त नहीं होती और सागर नदियों को पा कर तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार हे राजश्रेष्ठ ! पण्डितजन सुभाषित से तृप्त नहीं होते ॥४७॥ हे जनेन्द्र ! यदि मैं अपने दास के मुँह से भी सार्थक गाथा सुनूँ, तो उसे भी मैं आदरपूर्वक सुनता हूँ। हे तात ! धर्म से मेरी तृप्ति नहीं होती ॥ ॥४८॥]

यह कह, "आप धन के लिए मेरा तिरस्कार न करें 'मैं धर्म सुन कर आता हूँ' शपथ करके आया हूँ। अब मैं मनुष्य-भक्षक के पास जाता हूँ। वह राज्य सँभालें" कह (राज्य) सौंपते हुए गाथा कही—

इदं ते रट्ठं सधनं सयोग्गं
सकायुरं सब्बकामूपपन्नं,
किं कामहेतु परिभाससे मं
गच्छाम अहं पोरिसादस्स कन्ते ॥४९॥

[यह है तेरा राष्ट्र धन-सहित, योग्य (?) सहित, अलंकारों-सहित और सभी काम-भोगों सहित। काम-भोग के साधनों के लिए मेरा क्या तिरस्कार करता है ! मैं मनुष्य-भक्षक के पास जाता हूँ ॥४९॥]

उस समय राजा के पिता का दल उबल पड़ा। बोला, "तात सुतसोम ! यह क्या कहता है चतुरंगिनी सेना ले चोर को पकड़ेंगे।" उसने गाथा कही—

अत्तानुरक्खाय भवन्ति हेते
हत्थारोहा रथिका पत्तिका च

अस्सारोहा येव धनुग्गहासे
सेनं पयुञ्जाम हनाम सत्तुं ॥५०॥

[ये हाथी-सवार, ये रथ-वाले, ये पैदल, अश्वारोही तथा ये धनुर्धर आत्म-रक्षा के लिए ही होते हैं। हम सेना को ले कर शत्रु का नाश करेंगे ॥५०॥]

उसके माता-पिता की आँखों से अश्रु बहने लगे। उन्होंने प्रार्थना की तात ! मत जा।" सोलह हजार नर्तकियाँ तथा शेष परिजन भी रोने-पीटने लगे, देव ! हमें अनाथ कर के कहाँ जाते हैं ?" सारे नगर में कोई भी होश सँभाले न रख सका। सभी चिल्लाने लगे, "मनुष्य-भक्षक को वचन दे कर आया है। अब सौ-सौ के मूल्य की चार गाथाएँ सुन कर, धर्म कथिक का सत्कार कर, माता-पिता को प्रणाम कर फिर चोर के पास जा रहा है।" उसने माता-पिता का कहना सुन गाथा कही—

सुदुक्करं पोरिसादो अकासि
जीवं गहेत्वान अवस्सजी मं
तं तादिसं पुब्बकिच्चं सरन्तो
दुब्भे अहं तस्स कथं जनिन्द ॥५१॥

[मनुष्य-भक्षक ने बड़ी दुष्कर बात की। उसने मुझे जीते जी पकड़ कर छोड़ दिया। मैं उसके उस पूर्व-उपकार को स्मरण कर अब हे जनेन्द्र ! उससे कैसे द्रोह करूँ ? ॥५१॥]

उसने माता-पिता को आश्वासन दिया, 'हे माँ ! हे तात ! आप मेरी चिन्ता न करें। मैं पुण्य-कर्मा हूँ। मुझे काम-भोग तथा ऐश्वर्य (?) दुर्लभ नहीं है।" इस प्रकार माता-पिता को प्रणाम कर और शेष जनों को आश्वस्त कर चला गया।

इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए शास्ता ने कहा—

वन्दित्वा सो पितरं मातरं च
अनुसासेत्वा नेगमञ्च बलञ्च
सच्चवादी सच्चानुरक्खमानो
अगमासि सो येन सो पोरिसादो ॥५२॥

[माता-पिता को प्रणाम कर तथा निगम के लोगों और सेना को आश्वस्त कर वह सत्यवादी सत्य की रक्षा के हेतु जहाँ वह नर-भक्षक था वहाँ गया ॥५२॥]

उधर नर-भक्षक ने सोचा, "मेरा मित्र सुतसोम यदि आता हो आये और न आता हो तो न आये। वृक्ष-देवता को मेरा जो करना हो करे। इन राजाओं को मार कर पाँच प्रकार के मधुर मांस से बलि-कर्म करूँगा।" यह निश्चय कर उसने चिता बनायी, आग जलायी और उसके प्रज्वलित होने की प्रतीक्षा करने लगा। जिस समय वह बैठा लकड़ी को छील कर तेज बना रहा था, उसी समय सुतसोम आ पहुँचा। नर-भक्षक उसे देख सन्तुष्ट हुआ। उसने प्रश्न किया—

"मित्र ! जा कर कर्त्तव्य पूरा कर आया ?"

"हाँ महाराज ! काश्यप-बुद्ध द्वारा उपदिष्ट गाथाएँ मैंने सुनीं। धर्म-कथिक का सत्कार किया। इस प्रकार जाने से कर्त्तव्य पूरा हुआ।"

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए गाथा कही—

कतो मया संगरो ब्राह्मणेन
रट्ठे सके इस्सरिये ठितेन
तं संगरं ब्राह्मणस्सप्पदाय
सच्चानुरक्खी पुनरागतोस्मि
यजस्सु यञ्ञं हन्त्वान मम मंसं
खादाहि वा मं सम्म पोरिसाद ॥५३॥

[मैंने अपने राष्ट्र में ऐश्वर्यशाली रहते समय ब्राह्मण को वचन दिया था। ब्राह्मण को दिये उस वचन को पूरा कर के सत्य की रक्षा करने के लिए मैं फिर चला आया। मुझे मार कर यज्ञ कर अथवा हे नर-भक्षक ! मेरा मांस खा ॥५३॥]

तब नर-भक्षक ने सोचा "इस राजा को भय नहीं है। यह किसके प्रभाव से मृत्यु-भय से मुक्त हो कर बोल रहा है ? और कुछ नहीं, यह कहता है 'काश्यप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट गाथाएँ सुनीं।' उन्हीं का प्रताप होगा। मैं भी इससे कहलवा कर गाथाओं को सुनूँगा। इस प्रकार मैं भी भय-रहित हो जाऊँगा।" यह निश्चय कर उसने गाथा कही—

न हायते खादितुं मय्हं पच्छा
चितका अय ताव साधूमिळाव
निद्धूमके पचितं साधु पक्कं
सुणाम गाथायो सतारहायो ॥५४॥

[पीछे खाने से भी मेरा खाना चला नहीं जायेगा। अभी चिता में से धुआँ निकल रहा है। बिना धुएँ की आग पर पकाने से अच्छा पकता है। (तब तक) सौ-सौ के मूल्य की गाथाएँ सुनूं ॥५४॥]

यह सुन बोधिसत्व ने, "यह नर-भक्षक पापी है, इसका थोड़ा निग्रह कर, इसे थोड़ा लज्जित कर कहूँगा', सोच, कहा—

अधम्मिको त्वं पोरिसादकासि
रट्ठातो भट्ठो उदरस्स हेतु,
धम्मञ्च इमा अभिवदन्ति गाथा,
धम्मो अधम्मो चकुहि समेति ॥५५॥
अधम्मिकस्स लुद्दस्स निच्चं लोहितपाणिनो
नत्थि सच्चं कुतो धम्मं, किं सुतेन करिस्ससि ॥५६॥

[हे नर-भक्षक ! तू अधार्मिक है। तू पेट के लिए राष्ट्र से भ्रष्ट हुआ है। इन गाथाओं में धर्म कहा गया है। धर्म तथा अधर्म दोनों बराबर कैसे होंगे ? ॥५५॥ रक्त-हस्त अधार्मिक शिकारी के पास सत्य ही नहीं है तो धर्म कहाँ से होगा; धर्म सुन कर क्या करेगा ? ॥५६॥]

ऐसा कहने पर भी उसने क्रोध नहीं किया। क्यों ? बोधिसत्व की मैत्री की महानता के कारण। उसने 'मित्र सुतसोम ! क्या मैं अधार्मिक हूँ ?' पूछते हुए गाथा कही—

यो मंसहेतु मिगवं चरेय्य
यो वाहने पुरिसं अत्तहेतु
उभो पि ते पेच्च समा भवन्ति
कस्मा नो अधम्मिकं ब्रूसि मं त्वं ॥५७॥

[जो मांस के लिए शिकार करता है, और जो अपने लिए नर-हत्या करता है, दोनों ही परलोक में बराबर होते हैं। तू मुझे ही अधार्मिक क्यों कहता है ? ॥५७॥]

यह सुन बोधिसत्व ने उसके मत का खण्डन करते हुए गाथा कही--

पञ्च पञ्च नखा भक्खा खत्तियेन पजानता,
अभक्खं राज भक्खेसि, तस्मा अधम्मिको तुवं ॥५८॥

[पाँच और पाँच अर्थात् दस प्राणी ज्ञानी क्षत्रिय द्वारा भक्ष्य नहीं है, अथवा पाँच नखों वाले प्राणियों में से पाँच ज्ञानी क्षत्रिय द्वारा भक्ष्य हैं । हे राजन् ! तू अभक्ष्य मांस खाता है, इसलिए तू अधार्मिक है ॥५८॥]

जब इस प्रकार उसका निग्रह हुआ, तो अन्य गति न देख अपने पाप को छिपाते हुए उसने गाथा कही--

मुत्तो तुवं पोरिसादस्स हत्था
गन्त्वा सकं मन्दिरं कामकामी
अमित्तहत्थं पुनरागतोसि
नक्खत्तधम्मे कुसलोसि राज ॥५९॥

[हे पूर्णेच्छ ! तू नर-भक्षक के हाथ से मुक्त हो, अपने घर जा कर फिर शत्रु के हाथ में चला आया ! हे राजन् ! तू नीति-शास्त्र में कुशल नहीं है ॥५९॥]

तब बोधिसत्व ने, "मित्र ! मेरे जैसा ही नीति का जानकार होना चाहिए। मैं उससे परिचित हूँ, किन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं करता" कह, गाथा कही—

ये खत्तधम्मे कुसला भवन्ति
पायेन ते नेरयिका भवन्ति,
तस्मा अहं खत्तधम्मं पहाय
सच्चानुरक्खी पुनरागतोस्मि
यजस्सु यञ्ञं खाद मं पोरिसाद ॥६०॥

[जो 'नीति' में कुशल होते हैं, वे प्रायः नरकगामी होते हैं । इसलिए मैं

नीति' छोड़ सत्य की रक्षा के लिए पुनः चला आया। यज्ञ कर और हे नर-भक्षक ! मुझे खा ॥६०॥]

नर-भक्षक बोला——

पासादवासा पठवीगवास्सं
कामित्थियो कासिकचन्दनञ्च
सब्बं तहिं लब्भति सामिताय
सच्चेन किं पस्ससि आनिसंसं ॥६१॥

[प्रासाद, पृथ्वी, गौ, अश्व, स्त्रियाँ, काशी का वस्त्र तथा चन्दन, सभी कुछ तुझे प्राप्य है। तू सत्य में और क्या लाभ देखता है ॥६१॥]

बोधिसत्व ने उत्तर दिया——

न केचिमे अत्थि रसा पथब्या
सच्चं तेसं साधुतरं रसानं
सच्चे ठिता समनब्राह्मणा च
तरन्ति जातिमरणस्सपारं ॥६२॥

[पृथ्वी में जितने भी रस हैं, सत्य का रस उन सब में श्रेष्ठ है। सत्य पर जो श्रमण-ब्राह्मण स्थित रहते हैं, वे जन्म-मरण के बन्धन को पार कर जाते हैं ॥६२॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने 'सत्य' का माहात्म्य कहा। तब नर-भक्षक ने विकसित पद्म तथा पूर्ण चन्द्रमा की शोभा वाला उसका चेहरा देख सोचा-"यह सुतसोम देखता है कि मैंने अंगारों की चिता बनायी है और मैं शूल छील रहा हूँ। किन्तु इसके मन में जरा त्रास तक नहीं है। क्या यह सौ-सौ के मूल्य की गाथाओं का प्रताप है अथवा सत्य का और अथवा अन्य ही किसी चीज का?" उसने उससे पूछने का संकल्प कर, पूछने के लिए गाथा कही——

मुत्तो तुवं पोरिसादस्स हत्था
गन्त्वा सकं मन्दिरं कामकामी
अमित्तहत्थं पुनरागतोसि,

न हू नून ते मरणभयं जनिन्द,
अलीनचित्तो चसि सच्चवादी ।।६३।।

तू नर-भक्षक के हाथ से मुक्त हुआ और हे पूर्णेच्छ ! तू अपने भवन जा कर फिर शत्रु के हाथ में आया । हे जनिन्द ! तुझे मृत्यु भय नहीं है ! हे सत्यवादी ! तू आसक्ति-रहित है ।।६३।।]

बोधिसत्व का उत्तर था—

कता मे कल्याणा अनेकरूपा
यञ्ञा यिट्ठा ये विपुला पसत्था
विसोधितो परलोकस्स मग्गो
धम्मे ठितो को मरणस्स भाये ।।६४।।

कता मे कल्याणा अनेकरूपा
यञ्ञा यिट्ठा ये विपुला पसत्था
अनानुतप्पं परलोकं गमिस्सं,
यजस्सु यञ्ञं खाद मं पोरिसाद ।।६५।।

पिता च माता च उपट्ठिता मे
धम्मेन मे इस्सरियं पसत्थं
विसोधितो परलोकस्स मग्गो,
धम्मे ठितो को मरणस्स भाये ।।६६।।

पिता च माता च उपाट्ठिता मे
धम्मेन मे इस्सरियं पसत्थं
अनानुतप्पं परलोकं गमिस्सं
यजस्सु यञ्ञं खाद मं पोरिसादो ।।६७।।

ञातीसु मित्तेसु कता मे कारा
धम्मेन मे इस्सरियं पसत्थं...।।६८।।

ञातीसु मित्तेसु कता मे कारा
धम्मेन मे इस्सरियं पसत्थं
अनानुतप्पं........................ ।।६९।।

दिन्नं मे दानं बहुधा बहुन्नं
सन्तप्पिता समणाब्राह्मणाच
विसोधितो परलोकस्स मग्गो·····॥७०॥

दिन्नं मे दानं बहुधा बहुन्नं
सन्तप्पिता समणाब्राह्मणा च
अनानुतप्पं परलोकं गमिस्सं,
यजस्सु यञ्ञं खाद मं पोरिसाद ॥७१॥

[मैंने अनेक प्रकार के शुभ-कर्म किये हैं तथा बहुत और प्रशंसित (दानादि) यज्ञ किये हैं। मैंने परलोक का मार्ग शुद्ध कर लिया है। धर्म-स्थित होने पर मृत्यु से कौन डरता है?॥६४॥ मैंने अनेक प्रकार के शुभ-कर्म किये हैं तथा बहुत और प्रशंसित (दानादि) यज्ञ किये हैं। मैं अनुताप-रहित होकर परलोक जाऊँगा। हे नर-भक्षक! तू अपना यज्ञ कर और मुझे खा ॥६५॥ मैंने माता पिता की सेवा की है और धर्मानुसार ऐश्वर्य प्राप्त किया है। मैंने परलोक का मार्ग साफ कर लिया है। धर्म-स्थित होने पर मृत्यु से कौन डरता है? ॥६६॥ मैंने माता-पिता की सेवा की है और धर्मानुसार ऐश्वर्य प्राप्त किया है। मैं अनुताप-रहित होकर परलोक जाऊँगा। हे नर-भक्षक! तू अपना यज्ञ कर और मुझे खा ॥६७॥ मैंने अपने रिश्तेदारों तथा मित्रों के प्रति अपना कर्तव्य किया है और धर्मानुसार ऐश्वर्य प्राप्त किया है·········॥६८॥ मैंने अपने रिश्तेदारों तथा मित्रों के प्रति अपना कर्तव्य किया है और धर्मानुसार ऐश्वर्य प्राप्त किया है। मैं अनुताप रहित·····॥६९॥ मैंने बहुतों को बहुत दान दिया है। मैंने श्रमण ब्राह्मणों,को संतर्पित किया है। मैंने अपना परलोक···॥७०॥ मैंने बहुतों को बहुत दान दिया है। मैंने श्रमण-ब्राह्मणों को संतर्पित किया है' मैं अनुताप-रहित.. .॥७१॥]

यह सुना तो नर-भक्षक ने सोचा, "यह सुतसोम राजा सत्पुरुष है, ज्ञान-युक्त है। यदि मैं इसे खाऊँगा तो मेरा सिर सात टुकड़े हो जायेगा अथवा मुझे पृथ्वी ही विवर देगी।" इससे वह भयभीत हो गया और मित्र! तुझे मैं नहीं खा सकता' कह गाथा कही—

विसं पजानं पुरिसो अदेय्य
आसीविसं जलितं उग्गतेजं
मुद्धापि तस्स विपतेय्य सत्तधा
यो तादिसं सच्चवादिं अदेय्य ॥७२॥

[आदमी चाहे तो विष खा ले और चाहे तो ज्वलंत, उग्र तेजवान विषधर सर्प को पकड़ ले, किन्तु जो तेरे जैसे सत्यवादी को खायेगा उसके सिर के भी सात टुकड़े हो जा सकते हैं ॥७२॥]

इस प्रकार उसने बोधिसत्व को 'तू मेरे लिए हलाहल विष के समान है तुझे कौन खायेगा' कह, उन गाथाओं को सुनने की इच्छा से (उससे सुनाने की) प्रार्थना की। बोधिसत्व ने उसके मन में धर्म के लिए गौरव पैदा करने के लिए कहा, "तू इस प्रकार का निर्दोष धर्म सुनने का अधिकारी नहीं है।" उसके इस प्रकार मना करने पर भी नर-भक्षक ने सोचा, "सारे जम्बुद्वीप में इसके समान पण्डित नहीं है। यह मेरे हाथ से छूट कर, जाकर, उन गाथाओं को सुनकर, धर्म-कथिक का सत्कार कर, फिर सिर पर मृत्यु लिये चला आया। वे गाथायें अत्यन्त साधु होंगी।" उसने अत्यन्त आदरपूर्वक सुनने की इच्छा से प्रार्थना करते हुए गाथा कही—

सुत्वा धम्मं विजानन्ति नरा कल्याण पापकं
अपि गाथा सुनित्वान धम्मे मे रमतीमनो ॥७३॥

[आदमी धर्म सुन कर ही भला-बुरा जानते हैं। हो सकता है कि गाथायें सुनकर मेरा मन भी धर्म में रम जाय ॥७३॥]

तब बोधिसत्व ने 'अब नर भक्षक वास्तव में सुनता चाहता है, मैं इसे सुनाऊँगा' सोच, कहा, 'तो मित्र। अच्छी तरह सुन।' इस प्रकार उसे सावधान कर, नर-ब्राह्मण की तरह ही गाथाओं की स्तुति कर, छः कामावचर देवलोकों के महान् घोष और देवताओं द्वारा दिये गये 'साधुकार' के बीच बोधिसत्व ने नर-भक्षक को धर्मोपदेश दिया—

सकिदेव सुतसोम सब्भि होतु समागमो,
सा नं संगति पालेति नासब्भि बहुसंगमो ॥७४॥

सब्भिरेव समासेथ सब्भि कुब्बेथ सन्थवं
सतं सद्धम्म अञ्ञाय सेय्यो होति न पापियो ॥७५॥
जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता
अथो सरीरं पि जरं उपेति,
सतञ्च धम्मो न जरं उपेति,
सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति ॥७६॥
नभा च दूरे पठवी च दूरे
पारं समुद्दस्स तद आहु दूरे
ततो हवे दूरतरं वदन्ति
सतञ्च धम्मं असतञ्च राज ॥७७॥

[अर्थ ऊपर आ गया है ॥७४॥]

उन गाथाओं के सुकथित होने से और उसके अपने पाण्डित्य के कारण उसे ये गाथायें सर्वज्ञ बुद्ध-कथित गाथाओं के समान प्रतीत हुई। उन पर विचार करने से उसका सारा शरीर पाँच प्रकार की प्रीति से भर गया। उसके मन में बोधिसत्व के प्रति कोमलता छा गयी। उसे वह ऐसा लगा मानो श्वेत-छत्र दाता पिता ही हो। उसने "सुतसोम को देने योग्य हिरण्य-स्वर्ण नहीं दिखायी देता, मैं एक-एक गाथा के लिए एक-एक 'वर दूंगा' सोच गाथा कही—

गाथा इमा अत्थवती सुव्यञ्जना
सुभासिता तुय्हं जनिन्द सुत्वा
आनन्दचित्तो सुमनो पतीतो,
चत्तारि ते सम्म वरे ददामि ॥७८॥

[हे राजन् ! यह अर्थ तथा व्यंजनों से युक्त सुभाषित गाथायें सुन कर मेरा मनआनन्दित हुआ है और प्रीति से भर गया है। हे मित्र ! मैं तुझे चार 'वर' देता हूँ ॥७८॥]

तब बोधिसत्व ने 'तू क्या वर देगा' कह, रोष प्रकट करते हुए कहा—

यो न अत्तनो मरणं बुज्झसि त्वं
हिताहितं विनिपातञ्च सग्गं

गिद्धो रसे दुच्चरिते निविट्ठो
किं त्वं वरं पस्ससि पापधम्म ॥७९॥
अहञ्च तं देहि वरं ति वज्जं
त्वं चापि दत्वान अवाकरेय्य,
सन्दिट्ठिकं कलहं इमं विवादं
को पण्डितो जानं उपब्बजेय्य ॥८०॥

[तू, जो न अपने मरने को ही जानता है, न अपना हित-अहित तथा नरक-स्वर्ग ही पहचानता है. (नर-मांस के) रस में आसक्त हो, दुराचारी बना है, हे पापी ! तू क्या वर देगा ॥७९॥ मैं यदि तुझे कहूँ कि 'वर दे', और दे कर भी न दे; तो कौन बुद्धिमान् जान-बूझ कर तुझसे यहीं यह झगड़ा मोल ले ॥८०॥]

तब नर-भक्षक ने 'यह मेरा विश्वास नहीं करता, इसे विश्वास कराऊँगा' सोच गाथा कही--

न तं वरं अरहति जन्तु दातुं
यं वापि दत्वान अवाकरेय्य
वरस्सु सम्म अविकम्पमानो
पाणं चजित्वान ति दस्स एव ॥८१॥

[हे आदमी ! वह वर देने योग्य नहीं है जो देता हूँ कह कर भी न दिया जाय । तू निश्चित होकर वर माँग । मैं प्राणों का त्याग करके भी 'वर' अवश्य दूँगा ॥८१॥]

बोधिसत्व ने, 'यह अति-शूर की तरह बोलता है । मेरा कहना करेगा । मैं वर ग्रहण कर लूँ । यदि पहले ही यह वर माँग लूँ कि 'मनुष्य-माँस नहीं खाऊँगा' तो यह अत्यन्त कष्ट पायेगा । पहले दूसरे तीन वर ले कर पीछे यह वर लूँगा' सोच कहा--

अरियस्स अरियेन समेति सक्खि
पञ्ञस्स पञ्ञाणवतां समेति,

पस्सेय्य तं वस्ससतं अरोगं
एतं वरानं पठमं वरामि ॥८२॥

[आर्य की आर्य-पुरुष के साथ और प्रज्ञावान की प्रज्ञावान के साथ संगति मेल खाती है। मैं तुझे सौ वर्ष तक रोग-रहित देखूं, यही मैं पहला वर चाहता हूँ ॥८२॥]

यह सुना तो उसे यह सोचकर हर्ष हुआ कि यह ऐश्वर्य से च्युत हो, अब नर-मांस भक्षण में लगे हुए महान् अनर्थकारी मुझ चोर के ही (दीर्घ) जीवन की इच्छा करता है, ओह ! यह मेरा कितना हितचिंतक है ! उसने उससे वञ्चा कर (?) वर का लिया जाना बिना जाने ही उसे वर देते हुए गाथा कही--

अरियस्स अरियेन समेति सक्खि
पञ्ञस्स पञ्ञावता समेति
पस्से पि मं वस्ससतं अरोगं
एतं वरानं पठमं ददामि ॥८३॥

[आर्य की आर्य के साथ और प्रज्ञावान की प्रज्ञावान के साथ संगति मेल खाती है। मैं तुझे यह पहला वर देता हूँ कि तू मुझे सौ वर्ष तक रोग-रहित देखे ॥८३॥]

तब बोधिसत्व ने कहा—

ये खत्तिया ये इध भूमिपाला
मुद्धाभिसित्ता कतनामधेय्या
न तादिसे भूमिपती अदेसि,
एतं वरानं दुतियं ददामि ॥८४॥

[जो यहाँ क्षत्रिय हैं, जो भूमिपाल हैं, जो राज्यभिषिक्त हैं, तू ऐसे भूमिपालों को मत खाना--यह वरों में दूसरा वर माँगता हूँ ॥८४॥]

इस प्रकार उसने दूसरा वर माँगते हुए सौ से अधिक राजाओं के प्राणों की रक्षा चाही। नर-भक्षक ने भी यह वर देते हुए कहा--

ये खत्तिया ये इध भूमिपाला
मुद्धाभिसित्ता कतनामधेय्या
न तादिसे भूमिपती अदेसि
एतं वरानं दुतियं ददामि ॥८५॥

[अर्थ स्पष्ट है—॥८५॥]

क्या वे राजागण उनकी बातचीत सुनते थे ? सब नहीं सुनते थे। नर-भक्षक ने धुएँ और आग के उपद्रव के भय से वृक्ष की ओट में आग जलायी थी। बोधिसत्व वृक्ष और अग्नि के बीच बैठ कर उससे बातचीत कर रहे थे। इसलिए सारी बात न सुन उन्होंने आधी-आधी बात सुनी। उन्होंने आपस में एक-दूसरे को सान्त्वना दी कि डरो मत। अब सुतसोम नर-भक्षक का दमन करेगा।' उस समय बोधिसत्व ने यह गाथा कही—

परोसतं खत्तिया ते गहीता
तलावुता अस्सुमुखा रुदन्ता
सके ते रट्ठे पटिपादयाहि
एतं वरानं ततियं ददामि ॥८६॥

[तूने शताधिक क्षत्रिय पकड़ रखे हैं। उनके हाथ की हथेलियों में छेद कर दिये हैं। वे अश्रुमुख रो रहे हैं। उनको उनके अपने-अपने राष्ट्र पहुँचा दे—मैं तुझसे यह तीसरा 'वर' माँगता हूँ ॥८६॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने तीसरा वर माँगते हुए उन-उन क्षत्रियों को उनके उनके राष्ट्र पहुँचा देने का वर माँगा। क्यों ? क्योंकि वह बिना खाये भी वैर-भाव के कारण उन सब को 'दास' बना कर जंगल में ही बसा सकता था, मार कर छोड़ दे सकता था, अथवा प्रत्यन्त-देश में ले जा कर बेंच दे सकता था। इसलिए उन्हें उन-उनके राष्ट्र वापिस भेजने का वर माँगा। नर-भक्षक ने भी 'वर' देते हुए यह गाथा कही—

परोसतं खत्तिया ते गहीता
तलावुता अस्सुमुखा रुदन्ता

सके ते रट्ठे पटिपादयाहि,
एतं वरानं ततियं ददामि ॥८७॥

[अर्थ स्पष्ट है ॥८७॥]

बोधिसत्व ने चौथा 'वर' माँगते हुए यह गाथा कही—

छिद्दं ते रट्ठं ब्याधितं भयाहि,
पुथू नरा लेनं अनुप्पविट्ठा
मनुस्समसं विरमेहि राज
एतं वरानं चतुत्थं वरामि ॥८८॥

[तेरा राष्ट्र छितरा गया है। रोग-युक्त हो गया है। भय के कारण बहुत से आदमी जहाँ-तहाँ जा छिपे हैं। राजन ! नर-भक्षण छोड़ दे। मैं यह चौथा वर माँगता हूँ ॥८८॥]

यह कहे जाने पर नर-भक्षक ने ताली बजायी और हँसते हुए कहा, "मित्र सुतसोम ! यह क्या कहता है, मैं तुझे यह वर कहाँ दे सकता हूँ ? यदि लेना चाहे तो दूसरा 'वर' ले।" उसने यह गाथा कही—

अद्धा हि सो भक्खो ममं मनापो,
एतस्स हेतुं पि वनं पविट्ठो,
सोहं कथं एत्तो उपारमेय्यं
अञ्ञं वरानं चतुत्थं वरस्सु ॥८९॥

[निश्चय से यह मेरा प्रिय खाद्य है। इसी के लिए मैंने वन प्रवेश किया है। मैं इससे कैसे विरत रह सकता हूँ। कोई अन्य चौथा वर माँग ॥८९॥]

बोधिसत्व ने "तू कहता है कि मनुष्य-मांस प्रिय है, उसका त्याग नहीं कर सकता, जो 'प्रिय' के लिए पाप करता है, वह मूर्ख होता है," कह गाथा कही—

न वे पियं मे ति जनिन्द तादिसो
अत्तं निरंकत्वा पियानि सेवति,

अत्ता व सेय्यो परमा व सेय्यो,
लब्भा पिया ओचितत्थेन पच्छा ॥९०॥

[हे राजन् ! यह मुझे प्रिय नहीं है कि तेरे जैसे पुरुष अपनी हानि करके 'प्रिय' का सेवन करता है। अपना आप ही सबसे बढ़ कर श्रेष्ठ है। दूसरे उचित 'प्रिय' पीछे भी मिल जाते हैं ॥९०॥]

यह सुन नर-भक्षक भयभीत हुआ। वह सोचने लगा, मैं सुतसोम द्वारा माँगे हुए वर को बिना दिये भी नहीं रह सकता और नर-भक्षण भी नहीं छोड़ सकता।" उसने आँखों में आँसू भर कर गाथा कही--

पियं ये मानुसं मंसं
सुतसोम विजानहि
नम्हि सक्को निवारेतुं
अञ्ञं तुवं सम्म वरं वरस्सु ॥९१॥

[हे सुतसोम ! यह तू जान ले कि मुझे नर-मांस प्रिय है। तू मुझे इससे नहीं रोक सकता। तू अन्य कोई 'वर' माँग ॥९१॥]

बोधिसत्व ने उत्तर दिया--

यो वे पियं मे ति पियानुकंखी
अत्तं निरंकत्वा पियानि सेवति
सोण्डो व पीत्वान विसस्स थालं
तेनेव सो होति दुक्खी परत्थ ॥९२॥
योवीध संखाय पियानि हित्वा
किच्छेन पि सेवति अरियधम्मं
दुक्खितोव पीत्वान यथोसधानि
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥९३॥

[जो 'प्रिय' समझ कर प्रिय की कामना से, अपनी हानि करके 'प्रिय' का सेवन करता है, वह विष भरा पात्र भी लेने वाले शराबी की तरह पीछे दुःख को प्राप्त होता है ॥९२॥ जो विचार पूर्वक 'प्रिय' का त्याग कर कठि-

नाई से भी आर्य-धर्म का सेवन करता है, वह कष्ट से भी औषध पी लेने वाले रोगी की तरह आगे चल कर सुखी होता है ॥९३॥]

यह सुन विचारा नर-भक्षक रोता हुआ गाथा कहने लगा--

ओहाय अहं पितरं मातरं च
मनापिके कामगुणे च पञ्च
एतस्स हेतुम्हि वनं पविट्ठो
तं ते वरं किं ति-म-अहं ददामि ॥९४॥

[इसी के लिए मैंने माता-पिता को छोड़ा। इसी के लिए पाँच मनोरम काम-भोगों को छोड़ा। इसी के लिए वन में प्रवेश किया। अब मैं तुझे यह वर कैसे दूँ ?॥९४॥]

तब बोधिसत्व ने यह गाथा कही--

न पण्डिता दिगुणं आहु वाक्यं
सच्चप्पटिञ्ञा च भवन्ति सन्तो,
वरस्सु सम्म इति मं अवोच,
इच्च-अब्रवी त्वं न हि ते समेति ॥९५॥

[पण्डित दो बात नहीं करते। सन्त जन सत्य-प्रतिज्ञ होते हैं। तूने मुझे कहा है कि 'हे सुतसोम ! वर माँग।' अब तेरी यह बात (पहली से) मेल नहीं खाती ॥९५॥]

नर-भक्षक फिर रोता हुआ बोला—

अपुञ्ञलाभं अयसं अकित्ति
पापं बहुं दुच्चरितं किलेसं
मनुस्स मंसस्स कते उपागा,
तं ते वरं किं ति-म-अहं ददेय्यं ॥९६॥

[इस मनुष्य-मांस के हेतु मैं अपुण्य, अयश, अकीर्ति, बहुत पाप तथा दुश्चरित्रता को प्राप्त हुआ। अब मैं तुझे यह 'वर' कैसे दूँ ? ॥९६॥]

तब बोधिसत्व ने उसे उसकी कही पहली गाथा (सं० ८१) का स्मरण कराते हुए 'वर' के दान में उत्साहित करते हुए गाथायें कहीं--

पाणं चजन्ति सन्तो नापि धम्मं
सच्चप्पटिञ्ञा च भवन्ति सन्तो,
दत्वा वरं खिप्पं अवाकरोहि
एतेन सम्पज्ज सराजसेट्ठ ॥९८॥
चजे धनं यो पन अंगहेतु
अंगं चजे जीवितं रक्खमानो,
अंगंधनं जीवितं चापि सब्बं
चजे नरो धम्मं अनुस्सरन्तो ॥९९॥

[सन्त-पुरुष प्राणों का त्याग कर देते हैं, किन्तु धर्म का नहीं। सन्त-जन सत्य-प्रतिज्ञ होते हैं। इसलिए हे सुराज श्रेष्ठ ! तू इस बात को कि 'वर दिया' शीघ्र प्रकट कर और सत्य-पालन से युक्त हो ॥९८॥ शरीर के अंग विशेष की रक्षा के लिए धन का त्याग कर दे; जीवन की सुरक्षा के लिए अंग-विशेष का त्याग कर दे। आदमी को चाहिए कि धर्म को स्मरण कर, धन, अंग तथा शरीर सभी का त्याग करे ॥९९॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने इन बातों से उसे सत्य पर आरूढ़ कर, अब अपना गौरव प्रकट करने के लिए गाथा कही—

यस्सापि धम्मं पुरिसो विजञ्ञा
ये चस्स कंखं विनयन्ति सन्तो
तं हिस्स दीपञ्च परायनञ्च
न तेन मित्तिं जरयेथ पञ्ञो ॥१००॥

[जिस सन्त जन से आदमी धर्म सीखे, अथवा जो उसके सन्देहों की निवृत्ति करे, वह उसके लिए द्वीप (समान) होता है, वह उसका शरण-स्थान होता है। प्रज्ञावान् को चाहिए कि उससे मैत्री न बिगाड़े ॥१००॥]

इतना कह कर फिर कहा, "मित्र ! गुणी आचार्य के वचन का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। मैंने तरुणाई के समय भी सहायक-आचार्य होकर तुझे

बहुत कुछ सिखाया। अब बुद्ध-लीला से सौ-सौ के मूल्य की गाथायें कहीं। इसलिये मेरा कहना मानना चाहिये।" यह सुना तो नर-भक्षक ने सोचा, "सुतसोम ! मेरा आचार्य है और पण्डित है। मैंने इसे 'वर' भी दिया है। क्या कर सकता हूँ ? एक जन्म में मरना तो निश्चित ही है। मनुष्य-मांस नहीं खाऊँगा। इसे 'वर' देता हूं।" वह उठा। उसकी आंखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। उसने सुतसोम नरेन्द्र के पाँव में गिर कर 'वर' देते हुए यह गाथा कही—

अद्धा हि सो भक्खो ममं मनापो,
एतस्स हेतुं पि वनं पविट्ठो,
सचे व मं याचसि एतमत्थं
एतं पि ते सम्म वरं ददामि ॥१०१॥

[निस्सन्देह यह मेरा अत्यन्त प्रिय भोजन है। इसी के लिए मैंने वन-प्रवेश किया है। किन्तु यदि तू मुझसे यही बात चाहता है, तो हे मित्र ! मैं तुझे यह वर भी देता हूँ ॥१०१॥]

तब बोधिसत्व ने कहा "मित्र ! ऐसा ही हो। शील में प्रतिष्ठित होकर मरना भी सुन्दर है। महाराज ! तुम्हारे दिये 'वर' को ग्रहण करता हूँ। आज से तू आचार्य-पथ पर प्रतिष्ठित हुआ। ऐसा होने पर भी मेरी प्रार्थना है, यदि मुझसे स्नेह है तो पञ्चशील ग्रहण कर।"

"अच्छा मित्र ! शील दे।"

"महाराज ! लें।"

वह बोधिसत्व को पाँच अंगों से नमस्कार कर एक ओर बैठा। बोधिसत्व ने भी उसे शीलों में प्रतिष्ठित किया।

उस समय वहाँ एकत्र हुए भुम्मा देवताओं ने बोधिसत्व के प्रति प्रीति प्रकट करते हुए 'अवीची से भवाग्र तक दूसरा कोई नहीं है जो नर-भक्षक से मनुष्य-माँस छुड़ा सकता। ओह ! सुतसोम ने बड़ी कठिन बात की' कह ऊँचे स्वर से वन को गुंजाते हुए 'साधु' साधु' कहा। उनका स्वर सुनकर चातुम्महाराजिका (देवताओं ने), और इस प्रकार ब्रह्मलोक तक एक घोषणा हो गयी।

पेड़ों पर टँगे हुए राजाओं ने भी देवताओं का वह 'साधुकार' सुना। वृक्ष-देवता ने भी अपने निवास-स्थान से ही साधुकार दिया। इस प्रकार देवताओं का स्वर तो सुनायी देता था, रूप नहीं दिखायी देता था। देवताओं की 'साधुकार' की आवाज सुन राजाओं ने सोचा, "सुतसोम के कारण जान बची नर-भक्षक का दमन करके सुतसोम ने बड़ी कठिन बात की।" उन्होंने बोधिसत्व की स्तुति की। नर-भक्षक बोधिसत्व को प्रणाम कर एक ओर खड़ा हुआ। तब उसे बोधिसत्व ने कहा : 'मित्र! क्षत्रियों को मुक्त कर दे।" उसने सोचा, "मैं इनका शत्रु हूँ। मेरे द्वारा मुक्त होने पर यह कहेंगे 'पकड़ो शत्रु को' और इस प्रकार मेरी हिंसा भी कर सकते हैं। जान चली जाय तो भी मैं अब सुतसोम के हाथ से लिये शील को नहीं तोड़ सकता। इसे साथ ले जाकर ही उन्हें मुक्त करूँगा। इस प्रकार मैं निर्भय रहूँगा।" उसने बोधिसत्व को प्रणाम कर "सुतसोम! हम दोनों जाकर क्षत्रियों को मुक्त करेंगे" कह गाथा कही––

सत्था च मे होसि सखा च मेसि,
वचनं पि ते सम्म अहं अकासिं
तुवं पि मे सम्म करोहि वाक्यं
उभोपि गन्त्वान पमोचयाम ॥१०२॥

[तू मेरा अनुशासक भी है, सखा भी है और मैंने तेरा कहना भी किया है। मित्र तू भी मेरा कहना कर। हम दोनों चलकर (क्षत्रियों को) मुक्त करें ॥१९२॥]

बोधिसत्व ने उत्तर दिया—

सत्था च ते होमि सखा च त्यम्हि,
वचनं पि मे सम्म तुवं अकासि,
अहं पि ते सम्म करोमि वाक्यं
उभो पि गन्त्वान पमोचयाम ॥१०३॥

[मैं तेरा अनुशासक भी हूँ, सखा भी हूँ। और मित्र! तू ने मेरा कहना भी किया है। हे मित्र! मैं भी तेरा कहना करता हूं। हम दोनों चलकर (क्षत्रियों को) मुक्त करेंगे ॥१०३॥]

यह कह, उनके पास पहुँच, कहा—

कम्मासपादेन विहेठितत्ता
तलावुता अस्सुमुखा रुदन्ता
न जातु दुब्बेथ इमस्स रञ्ञो,
सच्चप्पटिञ्ञं मे पीटस्सुणाथ ॥१०४॥

[तुम्हें कल्माष-पाद ने कष्ट दिया है। तुम्हारे (हाथों की) हथेलियों में छेद हैं। तुम अश्रु-मुख रो रहे हो। तुम इस राजा से द्वेष न करना। यह मेरी सत्य-प्रतिज्ञा सुनो ॥१०४।']

उन्होंने उत्तर दिया--

कम्मासपादेन विहेठितम्हा
तलावुता अस्सुमुखा रुदन्ता
न जातु दुब्मेम इमस्स रञ्ञो,
सच्चप्पटिञ्ञं ते पटिस्सुणाम ॥१०५॥

]हमें कल्माष-पाद ने कष्ट दिया है। हमारे (हाथों की) हथेलियों में छेद हैं। हम अश्रुमुख रोते हैं। हम निश्चय से इस राजा से द्वेष नहीं रखेंगे--हम तेरी इस सत्य-प्रतिज्ञा को स्वीकार करते हैं ॥१०५॥]

तब बोधिसत्व ने 'तो अच्छा मेरे सामने प्रतिज्ञा करो' कह गाथा कही--

यथा पिता व अथवापि माता
अनुकम्पका अत्थकामा पजानं
एवमेव नो होतु अयञ्च राजा,
तुम्हे च वो होथ यथेय पुत्ता ॥१०६॥

[जैसे माता अथवा पिता अपनी सन्तान पर दया करने वाले, उसका भला चाहने वाले होते हैं, उसी प्रकार यह राजा होवे और तुम पुत्रों के समान होओ ॥१०६॥]

उन्होंने भी स्वीकार करते हुए यह गाथा कही--

यथा पिता वा अथवापि माता
अनुकम्पका अत्थकामा पजानं
एवमेव नो होतु अयं च राजा
मयं पि हेस्साम, तत्थेव पुत्ता ॥१०७॥

[जैसे माता अथवा पिता अपनी सन्तान पर दया करने वाले, उसका भला चाहने वाले होते हैं, उसी प्रकार हमारे लिये यह राजा भी होवे और हम भी पुत्रों के समान होंगे ॥१०७॥]

इस प्रकार बोधिसत्व ने उनसे प्रतिज्ञा करा नर-भक्षक को बुला कर कहा, "आ, क्षत्रियों को मुक्त कर।" उसने तलवार से एक राजा का बन्धन काट डाला। राजा सप्ताह भर निराहार रहने से वेदना के मारे, बन्धन कटते ही मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। यह देख बोधिसत्व ने करुणा कर के कहा, "मित्र नर-भक्षक इस तरह (बन्धन) मत काट।" फिर एक राजा को दोनों हाथों से मजबूती से पकड़, छाती से लगाकर कहा, 'अब बन्धन काट।' तब नर-भक्षक ने तलवार से काटा। बोधिसत्व ने भी बलवान होने के कारण उसे छाती पर ले, ओरस-पुत्र के समान मृदु-चित्त के साथ उतार कर भूमि पर लिटाया। इस प्रकार उन सभी को जमीन पर लिटा उनके जख्म धोये और बच्चों के कान में से धागा निकालने की तरह, धीरे से रस्सी निकाल, पीप और रक्त को धो, जख्मों को निर्दोष किया। फिर 'मित्र नर-भक्षक! एक वृक्ष की छाल पत्थर पर घिस कर ला' कह छाला मँगवा, सत्य-क्रिया कर उनके हाथ के तलों पर मली। उसी क्षण जख्म अच्छे हो गये। तब नर-भक्षक ने चावल ले वारण (वारुणि ?) पेय पकाया। दोनों ने शताधिक क्षत्रियों को वारण पान कराया। वे सब सन्तुष्ठ हुए। सूर्य भी अस्त हो गया। अगले दिन भी प्रातःकाल, मध्याह्न में और शाम को भी वारण ही मिला तीसरे दिन भात सहित यवागु पिलाया। वे उसी समय निरोग हो गये। तब बोधिसत्व ने उनसे पूछा—

"जा सकोगे ?"—

"जायेंगे"

उनके ऐसा कहने पर बोधिसत्व ने नर-भक्षक को कहा, "मित्र नर-भक्षक!

आ अपने राष्ट्र चलें।" वह उसके पाँव में गिर कर रोने लगा और बोला, "मित्र ! तू राजाओं को लेकर जा। मैं यहीं फल-मूल खाता हुआ रहूँगा।"

"मित्र। यहाँ क्या करेगा ? तेरा राष्ट्र रमणीय है। वाराणसी का राज्य कर।"

"मित्र ! क्या कह रहे हो ? मैं वहाँ नहीं जा सकता। सारे नगर-निवासी मेरे बैरी हैं। वे मुझे गालियाँ देंगे, 'इनसे मेरी मां खाई, इसने मेरा पिता खाया।' वे 'इस चोर को पकड़ों' कह पत्थर मार-मार कर ही मुझे मार डालेंगे। मैंने तुम से शील ग्रहण किये हैं। जान बचाने के लिये भी मैं दूसरे को नहीं मार सकता। मैं नहीं जाता हूँ। नर-मांस छोड़ कर अब और कितना जीऊँगा। अब मेरे भाग्य में तुम्हारा दर्शन नहीं है।"

यह कहते-कहते वह रो पड़ा और बोला, "आप जायँ।" तब बोधिसत्व ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए उसे आश्वस्त किया, "मित्र ! मेरा नाम सुतसोम है। मैंने तेरे सदृश दारुण आदमी को वशीभूत कर लिया। वाराणसी निवासियों का कहना ही क्या है ! मैं तुझे वहाँ प्रतिष्ठित करूँगा। अपने राज्य के दो हिस्से करके एक तुझे दूंगा :"

"तुम्हारे नगर में भी मेरे बैरी है।"

'इसने मेरा कहना मान कर बड़ी बात की है। इसे जैसे तैसे इसके पुराने पद पर प्रतिष्ठित करना ही है' सोच, उसे लुभाने के लिये उसने नगर की सम्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा--

चतुप्पदं सकुणञ्चापि मंसं
सूदेहि रन्धं सुकतं सुनिट्ठितं
सुधं व इन्दो परिभुञ्जियान
हित्वा कथेको रमसी अरञ्ञे ॥१०८॥

[रसोइयों द्वारा पकाया हुआ, अच्छी तरह तैयार किया हुआ, परोसा हुआ चतुष्पदों और पक्षियों का मांस वैसे ही खाना, जैसे इन्द्र अमृत का सेवन करता है। यह सब छोड़कर यहाँ वन में अकेला कैसे रहेगा ? ॥१०८॥]

ता खत्तिया वेल्लि विलाकमज्झा
अलंकता सम्परियारयित्वा

इन्दं व देवेसु पमोदयिंसु
हित्वा कथेको रमसी अरञ्ञे ।।१०९।।

[छोटी, मध्यम तथा बड़ी, स्वर्णिम, अलंकृत क्षत्राणियाँ तुझे घेर कर उसी प्रकार तेरा मनोविनोद करती थीं, जैसे देवलोक में अप्सरायें इन्द्र का। उन्हें छोड़ यहाँ बन में अकेला कैसे रहेगा? ।।१०९।।]

तम्बूपधाने बहुगोणकम्हि
सुचिम्हि सब्बसयनम्हि सञ्ञते
सयनस्स मज्झम्हि सुखं सयित्वा
हित्वा कथेको रमसी अरञ्ञे ।।११०।।

[रक्त-वर्ण तकियों वाले, अनेक कम्बलों वाले, शुद्ध, अनेक बिछौनों वाले बिस्तर के बीच में सुख पूर्वक सो कर तू अब यहाँ वन में अकेला कैसे रहेगा? ।।११०।।]

पाणिस्सरं कुम्भथूनं निसीथे
अथो पि वे निप्पुरिसं हि तुरियं
बहुं सुगीतं च सुवादितं च
हित्वा कथेको रमसी अरञ्ञे ।।१११।।

[रात में पाणी-स्वर, कुम्भ थून, स्त्रियों द्वारा वादित तूर्य, बहुत प्रकार का संगीत और सुवाद्य-ये सब छोड़कर तू वन में अकेला कैसे रमण करेगा? ।।१११।।]

उय्यानसम्पन्नपहूतमाल्यं
मिगाचिरूपेतपुरं सुरम्मं
हयेहि नागेहि रथे हुपेतं
हित्वा कथेको रमसी अरञ्ञे ।।११२।।

[अनेक प्रकार के फूलों से लदे हुए उद्यानों वाला, अजिर मृगों से युक्त, घोड़ों; हाथियों तथा रथों से युक्त सुरम्य नगर है, उसे छोड़कर तू वन में अकेला कैसे रमण करेगा? ।।११२।।]

इस प्रकार बोधिसत्व ने 'सम्भव है यह पूर्वानुभूत रस को याद कर जाने के लिये तैयार हो जाये' सोच पहले भोजन का प्रलोभन दिया, दूसरा काम रतिका, तीसरा शयन का, चौथा नृत्य-गीत और वाद्य का तथा पाँचवाँ उद्यान का तथा नगर का। इस प्रकार इतने प्रलोभन देकर कहा, "महाराज! आयें मैं आपको साथ लेकर वाराणसी जाऊँगा और वहाँ (राज्यपर) प्रतिष्ठित कर बाद में अपने राष्ट्र जाऊँगा। यदि वाराणसी का राज्य नहीं मिलेगा तो अपने राज्य में से आधा दूँगा। जंगल में रहने से क्या लाभ? मेरा कहना करें।" उसकी बात सुन वह साथ जाने के लिये इच्छुक हुआ और सोचने लगा, "सुतसोम मेरा भला चाहनेवाला है, दयालु है, पहले कल्याण-मार्ग में प्रतिष्ठित कर अब कहता है. 'पुराने ऐश्वर्य पर प्रतिष्ठित करूँगा। यह प्रतिष्ठित कर सकेगा। इसके साथ ही जाना चाहिये। मुझे जंगल से क्या?" उसने प्रसन्न हो उसका गुणानुवाद करने के लिये 'मित्र सुतसोम! सत्संगति से बढ़कर भला और कुसंगति से बढ़कर बुरा कुछ नहीं' कह गाथायें कहीं--

काळपक्खे यथा चन्दो हायतेव सुवे सुवे
काळपक्खूपमो राज असतं होति समागमो ॥११३॥

यथाहं रसकं आगम्य सूदकं पुरिसाधमं
अकासिं पापकं कम्मं येन गच्छामि दुग्गतिं ॥११४॥

सुक्कपक्खे यथा चन्दो वड्ढते एव सुवे सुवे
सुक्कपक्खूपमो राज सतं होति समागमो ॥११५॥

यथाहं तवं आगम्म सुतसोम विजानहि
काहामि कुसलं कम्मं येन गच्छामि सुग्गतिं ॥११६॥

थले यथा वारि जनिन्द वट्टं
अनद्धनेय्यं अचिरट्ठितिकं
एवं पि चे होति असतं समागमो
अनद्धनेय्यो उदकं थले व ॥११७॥

सरे यथा वारिजनिन्दवट्टं
चिरट्ठितिकं नरविरिसेट्ठ

एवं पि चे होति सतं समागमो
चिरट्ठितिको उदकं सरे व ॥११८॥
अब्यायिको होति सतं समागमो,
यावं पि तिट्ठेय्य तत्थेव होति
खिप्पं हि वेति असतं समागमो
तस्मा सतं धम्मो असब्भि आरका ॥११९॥

[जिस प्रकार कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा दिन-दिन क्षीण होता जाता है, उसी तरह हे राजन् ! असत्पुरुषों की संगति कृष्ण-पक्ष के ही समान है ॥११॥ जैसे मैंने नीच रसोइये की संगति के कारण पाप-कर्म किया जिससे दुर्गति को प्राप्त होता हूँ ॥११४॥ जिस प्रकार शुक्ल-पक्ष का चन्द्रमा दिन-दिन बढ़ता है, उसी तरह हे राजन् ! सत्पुरुषों की संगति शुक्ल-पक्ष के ही समान होती है ॥११५॥ हे सुतसोम ! यह जान ले जिस प्रकार तेरी संगति के कारण मैं कुशल कर्म करता हूँ, जिससे सद्गति को प्राप्त होता हूँ ॥११६॥ हे राजन् ! जिस प्रकार स्थल पर बरसा हुआ जल चिरस्थायी नहीं होता है उसी प्रकार असत्पुरुषों की संगति भी स्थल की वर्षा की तरह चिरस्थायी नहीं होती ॥११७॥ हे नर-वीर्य श्रेष्ठ ! जिस प्रकार तालाब में बरसा हुआ पानी देर तक ठहरनेवाला होता है, उसी प्रकार तालाब के पानी की ही तरह सत्पुरुषों की संगति चिर-स्थायी होती है ॥११८॥ सत्पुरुषों की संगति क्षीण नहीं होती । जब तक भी रहती है, वैसी ही रहती है । असत्पुरुषों की संगति शीघ्र ही क्षीण हो जाती है । इसलिये सत्पुरुषों का अर्थ असत्पुरुषों के धर्म से दूर-दूर है ॥११९॥]

इस प्रकार उस नर-भक्षक ने सात गाथाओं द्वारा बोधिसत्व का ही गुणानु-वाद किया । वह नर-भक्षक को तथा उन राजाओं को ले प्रत्यन्त-ग्राम गया । प्रत्यन्त-ग्रामवासियों ने बोधिसत्व को देख, नगर में जाकर कहा । अमात्य सेना लेकर आये और घेर लिया । बोधिसत्व उस समूह सहित वाराणसी पहुँचा । रास्ते में जन-पदवासी भेंट ले, साथ-साथ हो लिये । बड़ी जनता इकट्ठी हो गयी । सभी उसके साथ वाराणसी पहुँचे ।

उस समय-नर भक्षक का पुत्र राज्य करता था सेनापति कालहत्थी ही था । नगर-वासियों ने राजा को सूचना दी—"महाराज सुतसोम नर-भक्षक का

दमन कर उसे साथ लिये चला आ रहा है। हम उसे नगर में प्रवेश न करने देंगे।" उन्होंने जल्दी से नगर-द्वार बन्द कर लिये और हाथों में शस्त्र लेकर खड़े हो गये। बोधिसत्व ने जब यह जाना कि द्वार बन्द है तो नर-भक्षक को तथा सौ से अधिक राजाओं को छोड़, कुछ अमात्यों को साथ ले आकर कहा, "मैं सुतसोम राजा हूँ, द्वार खोलो।" द्वार खुल गया। बोधिसत्व ने नगर में प्रवेश किया। राजा और कालहत्थी ने अगवानी कर, ले जाकर प्रासाद पर चढ़ाया। उसने राज्य-सिंहासन पर बैठ नर-भक्षक की पटरानी तथा शेष अमात्यों को बुलवाकर कालहत्थी से पूछा—"कालहत्थी! राजा को नगर में क्यों नहीं आने देते?"

"इसने राज्य करते समय इस नगर के बहुत से आदमी खाये। क्षत्रियों द्वारा न करने योग्य कार्य किये। सारे जम्बुद्वीप को उजाड़ दिया। यह ऐसा पापी है। इसीलिये नहीं आने देते। अब फिर वैसा ही करेगा।"

"चिन्ता मत करो। मैंने इसका दमन कर इसे शीलों में प्रतिष्ठित किया है। यह अपने प्राणों की रक्षा के लिये भी किसी को कष्ट नहीं देगा। अब इससे भय नहीं है। ऐसा मत कहो। पुत्रों का कर्तव्य है कि माता-पिता की सेवा करें। माता-पिता की सेवा करने वाले ही स्वर्ग जाते हैं। दूसरे नरक जाते हैं।"

इस प्रकार उसने नीचे आसन पर बैठे हुए पुत्र-राज को उपदेश दे सेनापति को भी अनुशासित किया, "कालहत्थी! तू राजा का मित्र तथा सेवक दोनों है। तुझे राजा ने ही महान् ऐश्वर्य दिया तुझे भी चाहिये कि तू राजा का उपकार करे।"

इस प्रकार सेनापति का अनुशासन कर उसने देवी को भी उपदेश दिया, "देवी! भी अपने घर से आयी और इसकी पटरानी बनी और पुत्र-पुत्री वाली हुई। तुझे भी उसकी सेवा करनी चाहिये।" इस प्रकार इसी उपदेश की पूर्ति के लिये धर्मोपदेश करते हुए गाथायें कहीं—

> **न सो राजा यो अजेय्यं जिनाति**
> **न सो सखा यो सखारं जिनाति**
> **न सा भरिया या पतिनो विभेति,**
> **न ते पुत्ता ये न भरन्ति जिण्णं ॥१२०॥**

[जो माता-पिता को (जीत कर राज्य प्राप्त करे) वह राजा नहीं, जो (छल-कपट से) मित्र को जीत ले वह सखा नहीं, जो पति से भय खाये वह भार्या नहीं और जो बूढ़े (माता-पिता) की सेवा न करे वह पुत्र नहीं ॥१२०॥]

न सा सभा यत्थ न सन्ति सन्तो
न ते सन्तो ये न भणन्ति धम्मं
रागं च दोसं च पहाय मोहं
धम्मं भणन्ता क भवन्ति सन्तो ॥१२१॥

[जहाँ सत्यपुरुष न हों वह सभा नहीं, जो धर्म न कहें वे सत्पुरुष नहीं। राग, द्वेष तथा मोह को छोड़कर धर्म की बात करने वाले ही सत्पुरुष कहलाते हैं ॥१२१॥]

नाभासमानं जानन्ति मिस्सं बालेहि पण्डितं
भासमानं च जानन्ति देसेन्तं अमतं पदं ॥१२२॥

[बिना बोले मूर्खों से पृथक् पण्डित की पहिचान नहीं होती। अमृत-पद का उपदेश देने पर, बोलने पर ही पण्डित की पहचान होती है ॥१२२॥]

भासये जोतये धम्मं पग्गण्हे इसिनं धजं
भासितधजा इसयो, धम्मो हि इसिनं धजा ॥११३॥

[धर्म का व्याख्यान करे और उसे प्रकाशित करे। ऋषियों की ध्वजा को धारण करे। सुभाषित ही ऋषियों की ध्वजा हैं और धर्म ही ऋषियों की ध्वजा है ॥१२३॥]

बोधिसत्व की धर्म कथा सुन राजा और सेनापति सन्तुष्ट हुए और उन्होंने सोचा, "चलें, महाराज को लायें।" उन्होंने नगर में मुनादी कर दी और नागरिकों को एकत्र कर आश्वासन दिया, "तुम डरो मत, राजा धर्म में प्रतिष्ठित हो चुका है। आओ उसे ले आयें।" जनता को साथ ले बोधिसत्व को आगे कर, राजा के पास पहुँच उसे प्रणाम किया। फिर नाई को बुलवा, हजामत बनवा, स्नान और वस्त्र पहन चुकने के बाद, राजा को रत्नों के ढेर में बिठा, अभिषेक कर नगर में प्रवेश कराया। नर-भक्षक राजा ने शताधिक राजाओं तथा

गोधिसत्व का बहुत सत्कार किया। 'सुतसोम राजा ने नर-भक्षक का दमनकर उसे राज्य पर प्रतिष्ठित किया', यह बात सारे जम्बुद्वीप में प्रसिद्ध हो गयी। इन्द्रप्रस्थ निवासियों ने दूत भेज राजा को बुला भेजा। वह वहाँ महीना भर रहा। उसके बाद कहा--"मित्र! हम जाते हैं। तू प्रमाद-रहित रहना। नगर-द्वार और राज-भवन के द्वार पर पाँच-पाँच दान शालायें बनवा। दस राजधर्मों के विरुद्ध न जा दुर्गति से बचे रहना।" इस प्रकार उसने नर-भक्षक को उपदेश दिया। शताधिक राजधानियों की सेना बहुत करके इकट्ठी हो गयी। उस सेना सहित वह वाराणसी से निकला। नर-भक्षक भी आधी दूर तक साथ पहुँचाने गया। बोधिसत्व ने जिन राजाओं के साथ वाहन नहीं थे, उन्हें वाहन दे सभी को विदा किया। वे भी उसके साथ प्रेमालाप कर तथा यथायोग्य प्रमाण, आलिंगन कर अपने-अपने जनपद गये।

बोधिसत्व ने भी नगर के पास पहुँच, इन्द्रप्रस्थवासियों द्वारा देव-नगर की भाँति सजाये नगर में बड़े ठाट-बाट से प्रवेश किया। फिर माता-पिता को प्रणाम कर, कुशल-क्षेम पूछ राज-प्रासाद के ऊपर चढ़ा। वह धर्मानुसार राज्य करता हुआ सोचने लगा, 'वृक्ष-देवता का मुझ पर बहुत उपकार है। मैं इसे बलि मिलने की व्यवस्था करूँगा।" उसने उस नयग्रोध वृक्ष से थोड़ी ही दूर पर बड़ा भारी तालाब खुदवा, बहुत से परिवारों को भेज गाँव बसा दिया। गाँव बड़ा हो गया अस्सी हजार दुकानों से युक्त। उस वृक्ष के नीचे शाखाओं के सिरे से लेकर समतल कर घेरा, वेदिका, तोरण द्वार आदि बना दिया। देवता को प्रसन्नता हुई। कम्मासदम्भ के दमन के स्थान पर बसा होने से वह गाँव कम्मासदम्भ निगम गाँव हुआ। सभी राजाओं ने बोधिसत्व के उपदेशानुसार चल, दानादि पुण्य-कर्म कर, स्वर्ण लाभ किया।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला, "भिक्षुओं, न मैंने केवल अभी अंगुलिमाल का दमन किया है, पहले भी किया ही है" कह जातक का मेल बैठाया। उस समय नर-भक्षक राजा अंगुलिमाल था, कालहत्थी सारिपुत्र, नन्द ब्राह्मण आनन्द, वृक्ष देवता काश्यप, शक्र अनुरुद्ध, शेष राजागण बुद्ध-परिषद, माता-पिता महाराज-कुल और सुतसोम राजा तो मैं ही था।



